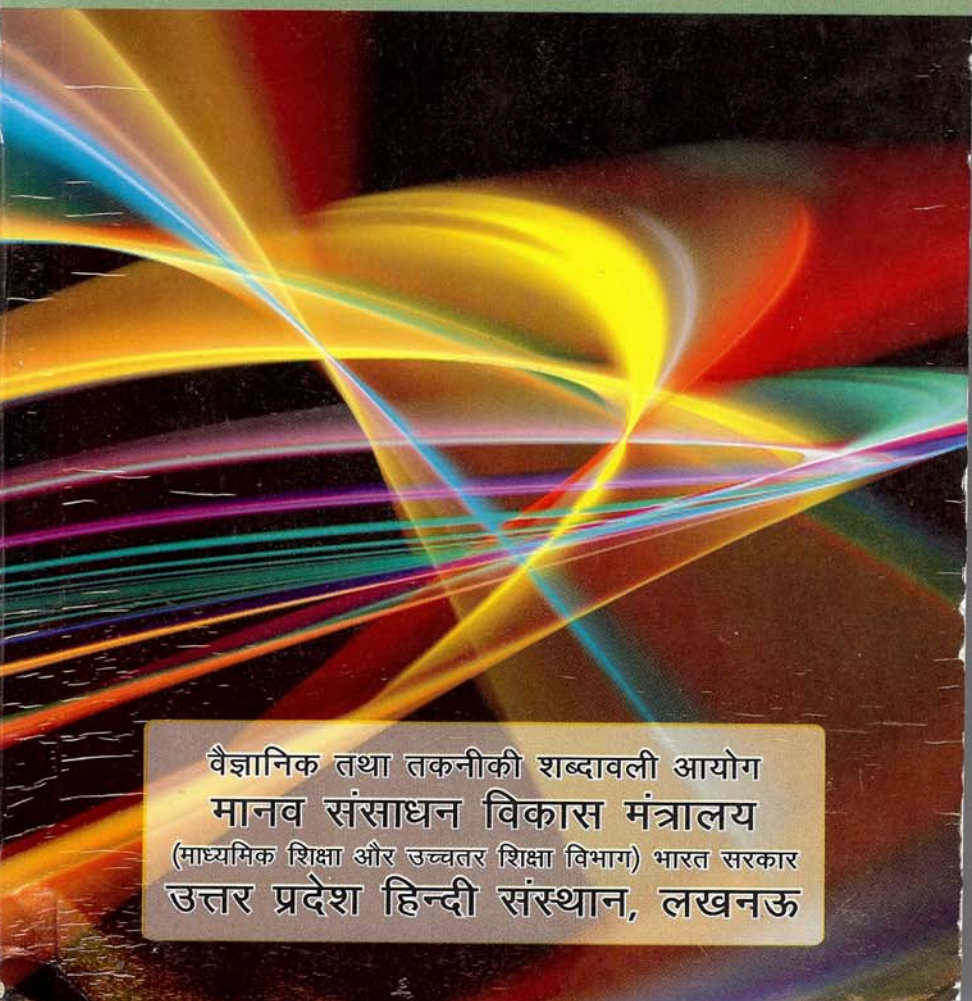
समकालीन भारतीय दर्शन

डॉ. लक्ष्मी सक्सेना



वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
(माध्यमिक शिक्षा और उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

BVP - 1925

8/2/18

45/66

समकालीन भारतीय दर्शन

(संशोधित संस्करण)

ग्रन्थमाला संख्या - 99

समकालीन भारतीय दर्शन

सम्पादक
डॉ. लक्ष्मी सक्सेना

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
(उच्चतर शिक्षा विभाग), भारत सरकार
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

प्रकाशक :
मनीष शुक्ल
निदेशक
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
लखनऊ।

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, (माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा विभाग) भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा प्रकाशित।

© उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।

ISBN : 978-93-82175-67-4

प्रथम संस्करण : 1974
द्वितीय संस्करण : 1983
तृतीय संस्करण : 2002
चतुर्थ संस्करण : 2005
पंचम संस्करण : 2010
षष्ठ संस्करण : 2016

प्रतियाँ : 500

मूल्य : रु० 200=00 (दो सौ मात्र)

मुद्रक
रोहिताश्व प्रिण्टर्स
268, ऐशबाग रोड, लखनऊ
फोन : 2692973

प्रकाशकीय

पिछली कुछ शताब्दियों में विशेष रूप से दर्शन जैसे विशिष्ट चिंतन क्षेत्र ने असाधारण ऊँचाइयाँ छुयी हैं और इसमें भारतीय मनीषियों का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अतीत हो या वर्तमान, दर्शन की यह ऊँचाइयाँ भारतीयता की विशिष्ट धरोहर है। दर्शन और चिंतन परम्परा की निष्णात विद्वान स्वर्गीय डॉ. लक्ष्मी सक्सेना की यह पुस्तक 'समकालीन भारतीय दर्शन' इन्हीं दार्शनिकों और चिंतकों के योगदान को समग्रता में देखने-समेटने का स्तुत्य प्रयास है। प्रोफेसर लक्ष्मी सक्सेना इस क्षेत्र की असाधारण विद्वान रहीं हैं। उन्होंने कई अन्य पुस्तकें भी इस सन्दर्भ में लिखी हैं। इनमें 'समकालीन पाश्चात्य दर्शन', 'सौन्दर्यशास्त्र : एक तत्वमीमांसीय अध्ययन' और 'ब्रेडले का दर्शन' आदि अत्यन्त चर्चित हैं। इनसे गुजरते हुए चिंतन विशेष ही नहीं, समकालीन भारतीयता की भी तथ्यपूर्ण झलक मिलती है और सुप्रसिद्ध पश्चिमी विचारक नीत्शे का यह कथन हमें स्मरण हो आता है कि 'भारतीय दर्शन यूरोपीय दर्शन के समानान्तर और समकक्ष है।' वस्तुतः भारतीय दर्शन तो प्राचीनतम दर्शन है। उसके दर्पण में विदेशी विद्वान भी प्रायः अपने चिंतन-मनन की ऊँचाइयों की पड़ताल करते रहे हैं।

इस पुस्तक 'समकालीन भारतीय दर्शन' का प्रथम प्रकाशन 1974 में हुआ था। इसमें विभिन्न विद्वानों ने स्वामी विवेकानन्द, गांधी जी, टैगोर और राधाकृष्णन जैसे दार्शनिकों/चिंतकों के सारगर्भित विचारों को जिस तरह संक्षेप में प्रस्तुत किया है, उसकी जितनी सराहना की जाय, वह कम होगी। इसकी लोकप्रियता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि पिछले चार दशकों में समय-समय पर इसके पाँच संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। विद्वान लेखिका प्रोफेसर लक्ष्मी सक्सेना के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए इस पुस्तक का यह छठा संस्करण हम हिन्दी ग्रन्थ अकादमी की प्रकाशन योजना के अन्तर्गत प्रकाशित कर रहे हैं। आशा है, छात्रों, शाधार्थियों और विद्वतजन के बीच इस संस्करण को भी पूर्ववत् लोकप्रियता प्राप्त होगी।

मनीष शुक्ल
निदेशक

निवेदन

प्रगति के लिए समर्पित निरंतर चिंतन और सक्रियता ही मनुष्य को अन्य प्राणियों से अलग करती है, उनके बीच सर्वाधिक विशिष्ट बनाती है। इस चिंतन-यात्रा में वह लौकिक ही नहीं, पारलौकिक प्रश्नों से भी साक्षात्कार करता रहा है। ईश्वरीय सत्ता, ब्रह्माण्ड के आदि और अंत से लेकर आत्मा व जीवन पूर्व और परिवर्ती अस्तित्व आदि से जुड़े सवालों से मनुष्य आदि काल से जूझता रहा है। विभिन्न कालों में अनेक महान दार्शनिक और चिंतक इस प्रक्रिया को निरंतर विस्तार देते रहे हैं।

इस सम्बन्ध में भारत की दार्शनिक परम्पराएँ अत्यन्त गौरवपूर्ण हैं। काल के लम्बे अंतराल में उनकी विविधता और गहनता पर केन्द्रित अनेकानेक ग्रंथों का सृजन हुआ। जहाँ तक इस पुस्तक 'समकालीन भारतीय दर्शन' का प्रश्न है, इसमें लेखक व सम्पादक की भूमिका में प्रोफेसर लक्ष्मी सक्सेना का योगदान अत्यन्त सारगर्भित है। इसमें 14 अध्यायों में बाँटा गया है और यह सर्वश्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, मुहम्मद इकबाल, सर्वपल्ली राधाकृष्णन, अरविन्द, कृष्ण चन्द्र भट्टाचार्य, जे. कृष्णमूर्ति, मानवेंद्रनाथ राय और देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय जैसे असाधारण चिंतकों, विद्वानों और दार्शनिकों पर केन्द्रित हैं। 'समकालीन भारतीय दर्शन की प्रवृत्तियाँ' विषयक आलेख इन सभी के योगदान को समग्रता में देखता है। इन अध्यायों को डॉ. लक्ष्मी सक्सेना के साथ-साथ श्री संगम लाल पाण्डेय, डॉ. जगदीश सहाय श्रीवास्तव, डॉ. रेवती रमण पाण्डेय, डॉ. देवकी नंदन द्विवेदी, श्री शिवानंद शर्मा और श्री समरजीत मिश्र आदि विद्वानों ने शब्द दिये हैं। डॉ. लक्ष्मी सक्सेना के सम्पादन में भिन्न-भिन्न विद्वानों द्वारा किया गया यह सारगर्भित आकलन 'समकालीन भारतीय दर्शन' के रूप में इस शोधपरक आयोजन को विशिष्टता प्रदान करता है।

जिस तरह से इस पुस्तक 'समकालीन भारतीय दर्शन' में विभिन्न विद्वानों के दार्शनिक विचारों को एक जगह संजोया गया है, वह भारतीयता की अनेकता में एकता जैसी आधारभूत चिंतन परम्परा को आगे बढ़ाता है। ऐसे में यह समाज के सभी जागरूक वर्गों के लिए उपादेय है। विश्वास है कि उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के इस गौरवमयी प्रकाशन के छठे संस्करण का भी पूर्ववत् स्वागत होगा।

उदय प्रताप सिंह
कार्यकारी अध्यक्ष

आमुख

प्रथम संस्करण

स्नातकोत्तर विद्यार्थी तथा दर्शन में विशेष रुचि लेने वाले सामान्य पाठकों के हाथ में 'समकालीन भारतीय दर्शन' को प्रस्तुत करते हुए मैं विशेष हर्ष एवं संतोष का अनुभव कर रही हूँ। इस विषय पर हिन्दी में पुस्तकों का अभाव है। यद्यपि अखिल भारतीय दर्शन परिषद के तत्वावधान में के. सच्चिदानंद मूर्ति द्वारा सम्पादित ग्रंथ 'समकालीन भारतीय दर्शन' प्रकाशित हुआ है किन्तु उक्त ग्रन्थ दर्शन के स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम की दृष्टि से नहीं लिखा गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में पाठ्यक्रम की आवश्यकताओं को पूरी तौर से ध्यान में रखने की कोशिश की गयी है, साथ ही समकालीन भारतीय दार्शनिक प्रवृत्तियों के साथ न्याय भी बरतने की कोशिश की गयी है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि इस पुस्तक को तैयार करने की मूल प्रेरणा मुझे अपने विद्यार्थियों से मिली है, जिनके सामने स्नातकोत्तर अध्ययन के लिए हिन्दी में उपयोगी पुस्तकों को प्राप्त करना स्वतंत्रता के इतने वर्षों के बाद आज भी एक समस्या बनी हुई है। परन्तु इस पुस्तक को तैयार करने के पीछे संभवतः एक अन्य आकांक्षा भी सक्रिय रही है कि मैं उन लोगों के सामने जो 'समकालीन भारतीय दर्शन' को दर्शन की संज्ञा देने में संकोच का अनुभव करते हैं, भारतीय दार्शनिक दृष्टि की उपयोगिता एवं मूल्य प्रस्तुत करूँ। इस संदर्भ में मुझे अनेक नामों के बीच विशेषतः डॉ. शिल्प का नाम स्मरण आता है, जिन्होंने रांची विश्वविद्यालय के डॉ. आर.एस. श्रीवास्तव की 'कंटेम्परेरी इंडियन फिलास्फी' के लिए भूमिका लिखते हुए जहाँ एक ओर उनके प्रयास की सराहना की है, वहीं पर दूसरी ओर इस बात की ओर भी आहिस्ते से संकेत किया है कि समकालीन भारतीय दर्शन में कुछ एक को छोड़कर शेष, जिनका वर्णन इस पुस्तक में किया गया है, दार्शनिक की कोटि में आने के अधिकारी नहीं हैं।

अतएव इस पुस्तक में समकालीन भारतीय दार्शनिक दृष्टिकोण को उसका प्रतिनिधित्व करने वाले कुछ प्रमुख दार्शनिकों के माध्यम से यथासंभव उन्हीं के शब्दों में, प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है। ऐसा इस विश्वास के साथ किया गया है कि समकालीन भारतीय दार्शनिकों ने अपने प्रयासों द्वारा पाश्चात्य दार्शनिक चिंतन को आत्मसात् करते हुए, उसे एक नवीन दिशा प्रदान की है। यह

निश्चित है कि मेरी अपनी दृष्टि में इस दर्शन का केवल एक ऐतिहासिक महत्त्व ही नहीं है और न ही उसने पाश्चात्य दार्शनिक चिंतन की कुछ फैशनेबुल प्रवृत्तियों का अनुगमन करके अपनी सर्जनावृत्ति को संतुष्ट कर लिया है। यह तो जैसा कि प्रथम अध्याय में प्रस्तुत किया गया है, केवल स्वातंत्र्योत्तर काल की ही विशेषता दिखलायी पड़ती है, जो अभी पर्याप्त तरल है, इसलिए यह पुस्तक युग विशेष की एक प्रवृत्ति के रूप में ही प्रस्तुत की गयी है।

इस पुस्तक में समकालीन भारतीय दर्शन के अन्तर्गत एम.एन. राय तथा देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय को भी सम्मिलित किया गया है, जो परम्परागत तथा नवीन भारतीय चिन्तन के लिए अपवाद प्रतीत हो सकते हैं। चट्टोपाध्याय भौतिकवादी दृष्टिकोण को और राय मानववाद को प्रस्तुत करते हैं। ये दोनों ही सशक्त चिंतक हैं और उन्होंने परम्परा से कुछ मुक्त होकर सोचने की चेष्टा की है। मानवतावाद तो आज के युग का सबसे आकर्षक वाद है और इसलिए इसका महत्त्व भी है। पर आमूल मानवतावाद की अपनी सीमाएँ हैं जिन्हें श्री अरविन्द तथा राधाकृष्णन् ने अपने तरीके से प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय ने भारतीय दर्शन के मूल ग्रन्थों से अपने चिंतन को संयुक्त करते हुए उन्हें भौतिकवाद का समर्थन करने वाला माना है और अपने निष्कर्षों का सशक्त युक्तियों से समर्थन किया है। पर भौतिकवाद की अपनी सीमाए हैं - जिनसे हम सभी परिचित हैं और इस युग के अध्यात्मवादी दार्शनिकों ने अनेक कोणों से उसकी सीमाओं को प्रस्तुत किया है।

पर विशुद्ध भारतीय दृष्टिकोण को, उसकी परिपूर्णता एवं समग्रता में प्रस्तुत करने का श्रेय तो परिपूर्ण अध्यात्मवाद के समर्थकों को है, जिनमें कुछ को ही इस पुस्तक में बानगी के तौर पर प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है। जिन्हें सम्मिलित नहीं किया जा सका है उन्हें अपनी तथा इस पुस्तक की सीमा के कारण ही नहीं सम्मिलित किया गया है। वैसे तो परिपूर्ण अध्यात्मवाद का प्रयोग एकांतिक रूप से श्री अरविन्द ने अपने दर्शन के लिए किया है पर एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में परिपूर्ण अध्यात्मवाद का प्रारम्भ रामकृष्ण देव ने ही किया था। अतएव वे एक विशेष अर्थ में इस युग के प्रवर्तक दार्शनिक तो नहीं, संत हैं। उनका व्यक्तित्व अपूर्व था और अपने प्रिय शिष्य विवेकानन्द के माध्यम से उन्होंने धर्म एवं दर्शन सम्बन्धी जो दृष्टि प्रस्तुत की वह युग के सभी दार्शनिकों में अपूर्व गूँज के साथ प्रतिध्वनित हुई। उनकी 'नर-नारायण' की कल्पना में कोरे अनुभवातीत सत् की अपर्याप्तता प्रस्तुत हुई और वह श्री अरविन्द की दार्शनिक दृष्टि के लिए भी केन्द्रीय है। यदि अतीन्द्रिय, अनुभवातीत सत् विश्व के कण-कण में व्याप्त है तो मानव तथा उसके विश्व के साथ सम्बन्ध तोड़ लेना सर्वथा अनुचित है। निःस्पृह एवं निरभिमानी होकर मानव की सेवा में रत

होना ही प्रभु की सच्ची सेवा है और मानवीय जीवन की परम उपलब्धि है। यही रामकृष्ण देव की अद्‌भुत वाणी का सार है जो जितना ही अपूर्व है उतना ही सरल भी। इस लोक की उपेक्षा करते हुए लोकोत्तर जीवन को प्राप्त करने की आकांक्षा रखने वाले साधकों को रामकृष्ण देव ने विश्व की ओर वापस आने का और मानव की सेवा करने का स्पष्ट शब्दों में आह्वान किया था, जिसे विवेकानन्द की वाणी ने विश्व के कोने-कोने में प्रसारित किया। साथ ही उन्होंने अपनी निजी अनुभूतियों के आधार पर धर्मों की एकता का भी अपूर्व संदेश दिया, जो धार्मिक एकता है वर्तमान कल्पना के मूल में है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि विश्व के आध्यात्मिक पक्ष की परमता पर बल देना और जगत के प्रति एक स्वस्थ भावात्मक दृष्टिकोण विकसित करने की महत्ता को प्रतिपादित करना लगभग इस युग के सभी अध्यात्मवादी दार्शनिकों की विशेषता है। इस भावात्मक ध्वनि के कारण उन्होंने परम्परागत भारतीय दृष्टिकोण को, जो श्री अरविन्द के शब्दों में शांकराद्वैत का ही पर्यायवाची रहा है, उसकी निषेधात्मक ध्वनि से पलायनवादी प्रवृत्ति से मुक्त करने का सफल प्रयास किया है और अपने इस प्रयास के लिए उन्हें पाश्चात्य दार्शनिक दृष्टि से प्रभावित होने की आवश्यकता नहीं। इस दिशा में कार्य करने के लिए उन्हें अपने ही दर्शन से तथा उसके मूल स्रोतों से पर्याप्त प्रेरणा मिली है। श्री अरविन्द तो अपने परिपूर्ण अद्वैत को प्रस्तुत करते हुए अनेक प्रसंगों में, अनेक बार कहते हैं कि उनका दर्शन सनातन दर्शन से, जो गीता एवं उपनिषद् में शब्दबद्ध है, अपनी प्रेरणा एवं आधार प्राप्त करता है।

इस पलायनवादी प्रवृत्ति के निषेध के अतिरिक्त समकालीन भारतीय दर्शन ने 'अतिप्राज्ञ' को अनावृत्त करने की दिशा में भी महत्त्वपूर्ण कदम उठाया है। यूँ तो 'अतिप्राज्ञ' की चर्चा हमें लगभग पूर्वी एवं पाश्चात्य सभी महान् दार्शनिकों में मिलती है पर समकालीन भारतीय दार्शनिकों में इसकी सबसे सार्थक चर्चा हमें कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के दर्शन में मिलती है। यहाँ पर यह स्मरण रखना आवश्यक है कि भट्टाचार्य परम्परागत वेदांत दर्शन, यानी अरविन्द के अनुसार शांकराद्वैत के समर्थक हैं। अरविन्द के परिपूर्णाद्वैत तथा रानडे के रहस्यवाद में भी अतिप्राज्ञ की चर्चा मिलती है। इन सभी दार्शनिकों का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व है और नव्य-भारतीय दर्शन के निर्माण में इन सभी का स्पष्ट योगदान है।

इस पुस्तक को तैयार करते समय जिन बातों को ध्यान में रखा गया है, उनका यहाँ पर उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। इस पुस्तक में दार्शनिकों के विचारों को प्रस्तुत करते समय यथाशक्ति तटस्थता बरतने की चेष्टा की गयी है। जिस भी दार्शनिक को प्रस्तुत किया गया है, उसकी युक्तियों को किसी एक अथवा एक से अधिक मूल ग्रंथों के आधार पर यथाशक्ति विस्तार से, प्रस्तुत

करने की चेष्टा की गयी है। साथ ही मूल टेक्स्ट में तथा फुटनोट्स में मूल ग्रंथों से पर्याप्त मात्रा में उद्धरण भी प्रस्तुत किये गये हैं ताकि पाठक मूल प्रस्तुति से सही अर्थों में लाभान्वित हो सकें और अपने लिए स्वतंत्र दृष्टिकोण का भी विकास कर सकें। यह उनके आगे के अध्ययन की दृष्टि से विशेष लाभकारी होगा, इसमें कोई संदेह नहीं। लेखों की शैली में भी यथासंभव एकरूपता रखने की चेष्टा की गयी है और साथ ही इस बात की भी कोशिश की गयी है कि यह पुस्तक केवल एक 'टेक्स्ट बुक' ही बनकर न रह जाय। लेखकों ने जितने श्रम से इस पुस्तक के अध्यायों को तैयार किया है, वह फुटनोट्स में दिये हुए उद्धरणों से स्वतः स्पष्ट है।

अंत में इस पुस्तक की कल्पना को साकार करने में मुझे जिन लोगों से सहयोग मिला है, उनके प्रति अपना आभार व्यक्त करना चाहूँगी। विभागीय सहयोगियों में डॉ. जगदीश सहाय श्रीवास्तव, श्री सभाजीत मिश्र, डॉ. रेवती रमण पाण्डेय तथा सेंट ऐंड्रयूज कालेज के श्री शिवानंद शर्मा के नाम तो उल्लेखनीय हैं ही पर प्रयाग विश्वविद्यालय के श्री संगमलाल पाण्डेय तथा देवकी नंदन द्विवेदी की मैं विशेष आभारी हूँ जिन्होंने लेख लिखने के मेरे अनुरोध को सहर्ष स्वीकार ही नहीं किया बल्कि उसमें विशेष रुचि लेते हुए उन्हें समय के भीतर लिखकर इस कार्य को इतने कम समय में पूरा करने में मदद की। इन सभी की मैं आभारी हूँ पर अपने विभागीय सहयोगियों में विशेष रूप से डॉ. रेवती रमण पाण्डेय की मैं सराहना करना चाहूँगी, जिन्होंने जर्मनी में रहते हुए 'गांधी' पर लेख लिखने के अपने दायित्व को केवल एक माह की दी हुई अवधि के भीतर पूरा किया। उनकी इस तत्परता के कारण ही यह ग्रंथ सचमुच पूरा हो सका है।

विभाग के डॉ. सभाजीत मिश्र तथा स्थानीय सेंट ऐंड्रयूज कालेज के दर्शन विभाग के अध्यक्ष श्री शिवानंद शर्मा के सहयोग के विषय में क्या कहूँ? लेख लिखने के दायित्व के निर्वाह के अतिरिक्त इन्होंने तो इसे अपना ही कार्य मान कर इसे पूरा करने की चेष्टा की है। सम्पादन विषयक इनके सुझाव एवं सहयोग के बिना तो यह ग्रंथ इतने कम समय में प्रकाशनार्थ पूरा न हो पाता। मैं अपना आभार व्यक्त करके इनके सहयोग की महत्ता कम न करना चाहूँगी।

डॉ. (श्रीमती) लक्ष्मी सक्सेना
पूर्व अध्यक्ष, दर्शन विभाग,
गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

:: विषय-सूची ::

अध्याय	विषय	लेखक	पृष्ठ संख्या
1.	समकालीन भारतीय दर्शन की प्रवृत्तियाँ	श्री संगमलाल पाण्डेय	1
2.	श्री रामकृष्ण देव	डॉ. जगदीश सहाय श्रीवास्तव	33
3.	स्वामी विवेकानन्द	डॉ. जगदीश सहाय श्रीवास्तव	62
4.	महात्मा गांधी	डॉ. रेवती रमण पाण्डेय	90
5.	रवीन्द्रनाथ ठाकुर	डॉ. रेवती रमण पाण्डेय	119
6.	मुहम्मद इक़बाल	डॉ. देवकी नंदन द्विवेदी	155
7.	सर्वपल्ली राधाकृष्णन्	डॉ. (श्रीमती) लक्ष्मी सक्सेना	179
8.	श्री अरविंद	डॉ. (श्रीमती) लक्ष्मी सक्सेना	221
9.	कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य	डॉ. (श्रीमती) लक्ष्मी सक्सेना	265
10.	प्रो. रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे : यौक्तिक रहस्यवाद	श्री शिवानन्द शर्मा	299
11.	मानवेंद्रनाथ राय	श्री सभाजीत मिश्र	324
12.	देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय : मार्क्सवादी दृष्टिकोण	श्री सभाजीत मिश्र	381
13.	जे. कृष्णमूर्ति	डॉ. (श्रीमती) रेनू श्रीवास्तव	409
	संवाद के झरोके से : दार्शनिक निष्कर्षों को प्रस्तुत करने का अन्यतम प्रयास	डॉ. (श्रीमती) लक्ष्मी सक्सेना	425
14.	आकलन — एक विशिष्ट काल खण्ड का	डॉ. (श्रीमती) लक्ष्मी सक्सेना	436
15.	जीवन के प्रति एक सकारात्मक दृष्टिकोण : स्वामी रामानन्द	डॉ. (श्रीमती) पूर्णिमा सहाय	453
16.	संदर्भ ग्रन्थ		477

●●●

अध्याय 1

समकालीन भारतीय दर्शन की प्रवृत्तियाँ

1. समकालीन भारतीय दर्शन क्या है?

समकालीन दर्शन का प्रयोग उस जीवित विचारधारा के अर्थ में किया जाता है, जिसमें विगत दर्शनों से कुछ भिन्नता और नवीनता रहती है और जो विगत दर्शनों को अप्रतिष्ठित करके अपने को प्रतिष्ठित करते हैं। यह पदावली अंग्रेजी पदावली, कन्टेम्पोरेरी फिलासफी का हिन्दी अनुवाद है। प्राचीन और मध्ययुगीन भारत में इसी अर्थ में नव्य दर्शन और नव्य-नव्य दर्शन का प्रयोग होता था।

इस समकालीन दर्शन का वर्णन तीन दृष्टिकोणों से किया जाता है। पहला दृष्टिकोण समस्त जीवित दार्शनिकों की कृतियों का विवेचन करना और उनको विभिन्न दार्शनिक मतों में वर्गीकृत करना है। डॉ. रुडोल्फ मेट्रज रचित 'ए हण्ड्रेड इयर्स आव ब्रिटिश फिलासफी' (ब्रिटिश दर्शन के सौ वर्ष) और डॉ. लुडविग स्टाइन रचित 'फिलासिकल करेण्ट्स आव द प्रजेण्ट डे' (वर्तमान काल की दार्शनिक धाराएँ) क्रमशः इंग्लैण्ड और जर्मनी के समकालीन दर्शन का वर्णन इसी प्रकार करते हैं। प्रो. के. सच्चिदानन्द मूर्ति ने समकालीन भारतीय दर्शन में इसी दृष्टिकोण से समकालीन भारतीय दर्शन का वर्णन किया है।[1] दूसरा दृष्टिकोण प्रतिष्ठित जीवित दार्शनिकों से उनके दर्शन के बारे में निबन्ध लिखवाकर समकालीन दर्शन के रूप को प्रकट करना है। कन्टेम्पोरेरी ब्रिटिश फिलासफी (समकालीन ब्रिटिश दर्शन) के तीन भाग इस प्रकार के समकालीन दर्शन का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इसी माला में डॉ. राधाकृष्णन् और डॉ. म्योरहेड ने 'कन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलासफी' नामक पुस्तक 1936 में प्रकाशित की है। 1952 में इसका दूसरा और परिवर्धित संस्करण निकला है। अंत में तीसरा दृष्टिकोण नयी और जीवित विचारधाराओं का वह वर्णन है, जिसमें न तो सभी जीवित दार्शनिकों का उल्लेख होता है और न किन्हीं जीवित दार्शनिक के स्वमत प्रतिपादन करने वाले निबंध होते हैं। इस दृष्टिकोण के उदाहरण लाइब्रेरी आव कन्टेम्पोरेरी थॉट' (समकालीन विचारधारा की पुस्तक माला) के

1. समकालीन भारतीय दर्शन : अखिल भारतीय दर्शन परिषद् प्रकाशन : 1962.

ग्रंथ हैं, जिसमें इंगलैण्ड, अमेरिका, जर्मनी, चीन, जापान और भारत के समकालीन दर्शन[1] का प्रकाशन हुआ है। यद्यपि समकालीन दर्शन के इन तीनों दृष्टिकोणों का महत्त्व है, तथापि समकालीन दर्शन के स्वरूप को समझने में तीसरा दृष्टिकोण अधिक सहायक होता है। हम तीसरे दृष्टिकोण से ही यहाँ समकालीन भारतीय दर्शन का वर्णन करेंगे, क्योंकि वही हमारे प्रतिपाद्य विषय या शीर्षक के लिए उपयुक्त है।

अब प्रश्न है कि समकालीन भारतीय दर्शन क्या है? पहले **समकालीन** और **भारतीय दर्शन** इन शब्दों की यहाँ व्याख्या अपेक्षित है। समकालीन का प्रयोग नितांत निश्चित अर्थ में जीवित दार्शनिकों के संदर्भ में होता है। किन्तु समकालीन भारतीय दर्शन में राजा राममोहन राय (1772-1833), दयानन्द सरस्वती (1824-1933), महात्मा गांधी (1869-1948), रवीन्द्रनाथ टैगोर (1861-1941), श्री अरविंद (1872-1950), कृष्णचंद्र भट्टाचार्य (1875-1949), रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे (1886-1957) आदि भी समकालीन माने जा रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में हमारा प्रस्ताव है कि उन्नीसवीं शती के दार्शनिकों का उल्लेख समकालीन दर्शन में किसी तरह संभव नहीं है और फिर बीसवीं शती के भी दो भाग किये जा सकते हैं- स्वातंत्र्यपूर्व युग और स्वातंत्र्योत्तर युग। वास्तव में इस समय भारत के समकालीन दर्शन में स्वातंत्र्योत्तर युग की दार्शनिक प्रवृत्तियों का वर्णन होना चाहिए। किन्तु अभी स्वातंत्र्यपूर्ण युग की कुछ विचारधाराओं का प्रचलन है और उनकी अप्रतिष्ठा नहीं हुई है। अतः उनका भी वर्णन करना अपेक्षित है। इन दोनों युगों का वर्णन हम आधुनिक भारतीय दर्शन के संदर्भ में करेंगे।

2. भारतीय दर्शन की खोज और उसका अर्थ

भारतीय दर्शन भी एक नया शब्द है। स्वातंत्र्यपूर्व युग के भारतीय दार्शनिकों की सबसे बड़ी उपलब्धि विश्व में भारतीय दर्शन की प्रतिष्ठा करना था। भारतीय दर्शन की खोज तो उन्नीसवीं शती में ही हो गयी थी और महान् दार्शनिक नीत्शे ने कह दिया था कि भारतीय दर्शन योरोपीय दर्शन के समानांतर और समकक्ष है।[2] किन्तु अधिकांश पश्चिमी दार्शनिक भारतीय दर्शन को उन्नीसवीं शती में मान्यता नहीं देते थे।

---

1. द्रष्टव्य : ए.सी. अण्डरवुड द्वारा लिखित 'कन्टेम्पोरेरी थॉट आफ इंडिया,' 1930.
2. देखिए, 'इम्पैक्ट आव इंडियन थॉट आन जर्मन प्योट्स एण्ड फिलासफर्स' : पिल्फ्रेड नोले- 1963, पृ. 67.

भारतीय दर्शन का संप्रत्यय सर्वथा नवीन है। इसके माध्यम से यह बोध कराया जाता है कि चार्वाकमत, जैनमत, बौद्धमत, वैशेषिकमत, न्यायमत, सांख्यमत, योगमत, मीमांसामत, वेदांतमत, शैवमत, शाक्तमत, वैष्णवमत आदि दर्शनों का केवल 'सर्वदर्शन संग्रह' के नाम पर संग्रह ही नहीं होता है, अपितु इन दर्शनों से एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रादुर्भूत हुआ है जिसे भारतीय दर्शन कहा जाता है। इस समन्वयात्मक रूप का सर्वप्रथम प्रतिपादन अद्वैतवेदांती आचार्य सुरेश्वर ने किया था, जिन्होंने कहा है-

"यया यया भवेत्पुंसा व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि।
सा सैव प्रक्रियेह स्यात्साध्वी सा चानवस्थिति।।

❖ ❖ ❖

यदर्थं सर्वशास्त्राणां प्रवृत्तिरतिविस्तरा।
आत्मज्ञानावतारार्थः सर्वशास्त्र समुच्चयः।।
विरोधः सर्वशास्त्राणां स्वाभिधेयव्यपेक्षया।
निवृत्यर्थं विरोधित्वादत' एतत्समीरितम्।।
स्वत एव यतः पुंसां प्रवृत्तिः स्वार्थसिद्धये।
तत्रानुवादि शास्त्रं स्यान्निवृत्तावेत तन्मितिः।।
अपि वात्स्यानादीनां शास्त्राणामुक्तहेतुतः।
प्रामाण्यमविरुद्धं स्यादैकात्म्यज्ञानजन्मने।।
प्रवर्तमानः पुरुषः शास्त्रोद्दीपितवर्त्मना।
प्रवृत्तिविषयं दुष्टं दृष्ट्वातो विनिवर्तते।।
अनित्यदुःखशून्यत्वं पदार्थानां ब्रुवन्स्कुम्।
बुद्धो पि रागद्युच्छित्तो यतते नात्मनिहनुतौ।।
त्याग एव हि सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तमम्।
त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्पक्परं पदम्।।"[1]

सुरेश्वराचार्य के मत से चार्वाक से लेकर वेदांत तक सभी दर्शनों का तात्पर्य आत्मज्ञान है। यह आत्मज्ञान वे रागोच्छेद या प्रवृत्तिमार्ग के निराकरण द्वारा कराते हैं। जैन, बौद्ध और चार्वाकमत भी वास्तव में निवृत्तिपरक है और इस कारण उनका समन्वय वैदिक परम्परा के दर्शनों से होता है। यह उल्लेखनीय है कि सुरेश्वराचार्य के द्वारा स्थापित इस समन्वय को आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने अपने प्रस्थानभेद में छोड़ दिया है और वे अवैतनिक मतों को, अर्थात्

1. बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य, वार्तिकम् 1/4/40-411

चार्वाक मत, जैन मत और बौद्ध मत को, अपने समन्वय से दूर रखते हैं और केवल वैदिक मतों का ही समन्वय करते हैं। किन्तु भारतीय दर्शन की जो गहरी परख सुरेश्वराचार्य ने दिखलायी है, उससे सभी दर्शनों की एकवाक्यता या एकता स्पष्ट हो जाती है। आधुनिक युग में अलबर्ट स्वाइट्जर ने भी समस्त दर्शनों का ऐसा ही समन्वय किया है और कहा है कि भारतीय दर्शन जगत् और जीवन के निषेध का दृष्टिकोण है। उनके मत से इसकी प्रतिक्रिया में आधुनिक काल में भारतीय दर्शन जगत् और जीवन के सत्यापन का दृष्टिकोण अपनाता है। यही आधुनिक दर्शन की प्राचीन भारतीय दर्शन से विशेषता या भिन्नता है।[1]

डॉ. अलबर्ट स्वाइट्जर के आरोप से प्राचीन भारतीय दर्शन को बचाने के लिए एक और समन्वयवाद बीसवीं शती में विकसित हुआ है। इसकी जड़ सांख्य के प्राचीन आचार्य आसुरि तक जाती है। भारत में विकसित सभी प्राचीन दर्शनों की एक आत्मा है, एक ध्वनि है या एक तात्पर्य है, इसको सुरेश्वराचार्य से भी पहले सांख्य आचार्य आसुरि ने एक अन्य दृष्टिकोण से कहा था। उन्होंने कहा था- 'एकमेव दर्शनम्, ख्यातिरेव दर्शनम्'-अर्थात् दर्शनशास्त्र एक है और दर्शनशास्त्र ज्ञान-मीमांसा है। आधुनिक युग के भारतीय दार्शनिकों ने इसी संप्रत्यय का विकास किया है। समस्त भारतीय दर्शन एक सोपान-परंपरा में रखे जा सकते हैं– ऐसा डॉ. उमेश मिश्र का मत है।[2] इन सोपान-परंपरा में प्रत्येक दर्शन का एक विशिष्ट दृष्टिकोण से समस्त दर्शन का बोध कराता है। इस सोपान-परम्परा को मानते हुए अनेक भारतीय दार्शनिकों ने आधुनिक युग में प्रत्ययवाद को जन्म दिया है। डॉ. सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त (1885-1952) और डॉ. पी.टी. राजू ने पृथक्-पृथक् ग्रंथ लिखकर प्राचीन भारतीय प्रत्ययवाद का विवेचन किया है। यह भारतीय प्रत्ययवाद भारत के समस्त दर्शनों का तात्पर्य है– यह दिखलाना समकालीन भारतीय दर्शन की बहुत बड़ी उपलब्धि है।

किन्तु इस उपलब्धि को भी आधुनिक साम्यवादी दार्शनिकों ने चुनौती दी है। उन्होंने यह दिखलाने का दावा किया है कि समस्त दर्शनों का समन्वय भौतिकवाद या लोकायत-दर्शन में होता है। प्रो. डी.डी. कौशाम्बी, प्रो. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय और रूसी विद्वान् एन.पी. एनिकोव इस दृष्टिकोण के समर्थक हैं। एनिकोव ने तो 1969 में एक पुस्तक ही लिख दी है, जिसका शीर्षक है– 'भारत की प्राचीन दार्शनिक विरासत के लिए आधुनिक बौद्धिक संघर्ष।'

---

1. द्रष्टव्य :, अलबर्टस्वाइट्जर : इंडियन थॉट एण्ड इट्स डेवलेपमेन्ट, 1935 ई.।
2. द्रष्टव्य :, हिस्ट्री ऑव इंडियन फिलॉसफी : द्वितीय भाग, अन्तिम अध्याय।

इस प्रकार भारतीय दर्शन की खोज एक बहुत बड़ी खोज है। इस खोज के कारण भारतवासियों ने विश्वदर्शन की या दर्शनशास्त्र की जो कल्पना की है उसमें पूर्व और पश्चिम का संतुलित मेल है। किन्तु समकालीन भारतीय दर्शन का प्रधान विषय भारतीय दर्शन की खोज और उसका विश्व-दर्शन में महत्त्व स्थापित करना ही नहीं है। यद्यपि स्वातंत्र्यपूर्ण युग में यह काम राष्ट्रीय महत्त्व का था, तथापि भारत के एक स्वतंत्र राष्ट्र हो जाने के बाद यह काम अब गौण हो गया है। इससे स्वातंत्र्योत्तर युग के दार्शनिकों का मुख्य कार्य समकालीन भारतीय दर्शन का और आगे अर्थ करना है। यह अर्थ क्या है? इसको समझने के पूर्व हमें यह जानना आवश्यक है कि समकालीन भारतीय दर्शन क्या नहीं हैं?

3. कुछ भ्रांत संप्रत्ययों का निराकरण

समकालीन भारतीय दर्शन के बारे में अनेक भ्रांत धारणाएँ प्रचलित हैं, जिनका निराकरण करना समकालीन भारतीय दर्शन के स्वरूप को समझने में अत्यधिक सहायक होगा। अतः सर्वप्रथम हम इन भ्रांत धारणाओं का निराकरण करेंगे:

(1) कुछ लोग समझते हैं कि अंग्रेजी राज्य स्थापित होने के पूर्व भारत में जो दार्शनिक विचारधाराएँ प्रचलित थीं, उनका आज जो जीवित रूप भारत में है वही समकालीन भारतीय दर्शन है। इस मत के अनुसार शांकर, अद्वैत वेदांत, रामानुज वेदांत, निम्बार्क वेदांत, वल्लभ वेदांत, माध्व वेदांत, चैतन्य वेदांत, नव्य-न्याय जीवित दर्शन और ये ही समकालीन भारतीय दर्शन हैं। किंतु, यद्यपि यह सत्य है कि ये जीवित हैं तथापि ये प्राचीन और मध्ययुगीन भारतीय दर्शन के ही रूप हैं और इनके जीवित रूपों को समकालीन भारतीय दर्शन नहीं कहा जा सकता है। समकालीन भारतीय दर्शन आधुनिक भारतीय दर्शन है जो आधुनिक युग में आधुनिकता लेकर भारत में विकसित हुआ। यह आधुनिकता इन प्राचीन दर्शनों के जीवित प्रकारों में नहीं है। आज कल बौद्धदर्शन, चार्वाक दर्शन, न्यायदर्शन और व्याकरण दर्शन का अनुशीलन भारत में बहुत बढ़ गया है, बढ़ रहा है। ये दर्शन कई शताब्दियों से भारत में मृतप्राय थे। इनके विकास के कारण अन्य दर्शनों के भी विशेष अध्ययन किये गये हैं, किये जा रहे हैं। अतएव क्या किसी प्राचीन दर्शन के अनुशीलन को समकालीन भारतीय दर्शन कहा जायगा? उदाहरण के लिए डॉ. गंगानाथ झा ने पूर्व-मीमांसा का, डॉ. टी.आर.वी. मूर्ति ने माध्यमिक बौद्ध दर्शन का और डॉ. सतीशचन्द्र चटर्जी ने न्याय दर्शन का मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया है। क्या ये ग्रंथ समकालीन भारतीय दर्शन का उन्नयन करते हैं? इन तीनों ग्रंथों की रचना

आधुनिक भारतीय दर्शन के आलोक में की गई है, इसीलिए ये ग्रंथ प्राचीन मतों के आधुनिक नवसृजन हैं। नवसृजन के कारण ये समकालीन भारतीय दर्शन के अंतर्गत आते हैं। किंतु जहाँ नवसृजन नहीं है वहाँ प्राचीन मत का अनुशीलन समकालीन भारतीय दर्शन के अन्तर्गत नहीं जायेगा। निष्कर्ष यह है कि किसी प्राचीन दर्शन का जहाँ नया भाष्य होता है, वहाँ आधुनिकता है और जहाँ केवल पंक्ति पांडित्य का प्रदर्शन तथा 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' वाला विवेचन है या ऐतिहासिक दृष्टिकोण से प्राचीन मतों का वर्णन है, वहाँ आधुनिकता नहीं है। उदाहरण के लिए सतीशचंद्र विद्याभूषण ने 'ए हिस्ट्री आव इंडियन लॉजिक' नामक पुस्तक लिखी है, जो शुद्ध इतिहास ग्रंथ है। किंतु श्येरबाटस्की ने 'बौद्ध न्याय' पर एक महान् ग्रंथ लिखा है जिसमें इतिहास के अतिरिक्त नवसृजन भी है।

(2) आधुनिक युग में अनेक प्राचीन दार्शनिक ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं तथा उनके चीनी और तिब्बती अनुवाद उपलब्ध हुए हैं। फिर मुद्रणालयों के विकास और आधुनिक विश्वव्यापी प्राच्य विद्या के अनुसंधान के कारण इन ग्रंथों के प्रकाशन हुए हैं और इनके फ्रांसीसी, अंग्रेजी, जर्मन, बंगाली, हिंदी आदि आधुनिक भाषाओं में अनुवाद हुए हैं। इन अनुवादों के आधार पर अनेक प्राचीन दार्शनिक सिद्धांतों का आविष्कार हुआ है, और उनकी विशुद्ध व्याख्या हुई है। अतः कुछ लोग समझते हैं कि ये कर्म समकालीन भारतीय दर्शन की क्रियाएँ हैं। किंतु यद्यपि इन कर्मों के माध्यम से आधुनिक युग में समस्त भारतीय दर्शन का जो इतिहास-लेखन हुआ है, वह निःसन्देह समकालीन भारतीय दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण क्रिया है, तथापि प्राचीन पाण्डुलिपियों के प्रकाशन तथा अनुवाद और उनके मतों के व्याख्यान समकालीन भारतीय दर्शन के अन्तर्गत नहीं है। प्रकाशन कला, अनुवाद कला, सम्पादन कला और पुस्तकालोचन दार्शनिक कर्म नहीं हैं। प्राचीन मतों की व्याख्या से जहाँ प्राचीन दर्शन का विकास होता है, वहाँ वह समकालीन दार्शनिक कर्म है। किंतु जहाँ उससे केवल प्राचीन मतों की ही व्याख्या होती है और उनके ऐतिहासिक सम्बन्ध का स्पष्टीकरण होता है, वहाँ वह समकालीन भारतीय दर्शन नहीं है। पांडित्य और दार्शनिकता में मौलिक भेद है। कुछ लोग पंडित और दार्शनिक दोनों हो सकते हैं, किंतु हमें उनके इन दोनों रूपों को पृथक् करना है। दार्शनिक भारतीय दर्शन को इस दृष्टि से नहीं देखता है कि प्राचीन भारतीय दर्शन विचित्र और विस्मयकारी है (तुलनीय दी वंडर दैट वाज इंडिया : ए.एल. बाशम, 1954) अथवा प्राचीन भारतीय दर्शन बहुत ही उदात्त और यशस्वी है (तुलनीय दी ग्लोरीज आव इंडिया एण्ड इण्डियन कल्चर : डॉ. प्रसन्न कुमार आचार्य)। वह भारतीय दर्शन को मैक्समूलर की भाँति इस रूप में देखता है

कि भारतीय दर्शन हमें आज क्या पढ़ा सकता है (तुलनीय इंडिया, ह्वाट इट कैन टीच अस, 1883)।

(3) कुछ लोग समझते हैं कि भारत में आज कल जिन-जिन धर्मों के मतानुयायी रहते हैं उन सब के मनीषियों के विचार समकालीन भारतीय दर्शन हैं। उदाहरण के लिए कन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलासफी (समकालीन भारतीय दर्शन) : प्रथम संस्करण 1936, प्रकाशक जार्ज एलेन एण्ड अनविन लिमिटेड, लन्दन, के प्रधान सम्पादक जे.एच. म्योरहेड ने उसके आमुख में इसकी कमी बताते हुए लिखा है कि इस ग्रंथ में इस्लाम धर्म के अनुयायियों का कोई लेख नहीं है, और सन् 1952 में इसी ग्रंथ के द्वितीय संस्करण के आमुख में सम्पादक सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने लिखा है कि उक्त कमी द्वितीय संस्करण में दूर कर दी गयी है और इसमें हिंदू, मुस्लिम, मसीही, तथा ज़रतुश्ती धर्मों के अनुयायियों के लेख सम्मिलित कर लिये गये हैं। स्पष्ट है कि इन दार्शनिकों के मत से भारत में जो लोग आजकल रहते हैं, उनके धर्म और दर्शन समकालीन भारतीय दर्शन के अंतर्गत हैं। किंतु यह मत भी ठीक नहीं है। हिंदू धर्म, इस्लाम धर्म, मसीही धर्म, ज़रतुश्ती धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म, यहूदी धर्म और सिक्ख धर्म आज भी भारत में जीवित हैं। इनके अलिरिक्त आदिम जातियों के धार्मिक अंधविश्वास भी जीवित हैं। किंतु ये सभी धर्म प्राचीन या मध्ययुगीन हैं। इनके अनुयायियों के दृष्टिकोणों में भी आधुनिकता की छाप पड़ सकती है। किंतु इस आधुनिकता को इनके धार्मिक विश्वासों से पृथक् करने की आवश्यकता है। ऐसा पृथक्करण करने पर प्रतीत होगा कि इन धर्मों के अनुयायियों के आधुनिक विचार समकालीन भारतीय दर्शन में आ सकते हैं, किंतु इनके धर्म समकालीन भारतीय धर्म नहीं हैं। कोई नया धर्म आधुनिक भारत में विकसित नहीं हुआ है। जो धार्मिक मत विकसित हुए हैं, वे प्राचीन धर्मों के ही अंतर्गत आ जाते हैं, और वास्तव में वे प्राचीन धर्म के ही परिष्कृत और शुद्ध रूप होने का दावा भी करते हैं। इसलिए समकालीन भारतीय दर्शन को भारत में विद्यमान विभिन्न धर्मों की उपज मानना बहुत बड़ी भूल है। किसी धर्म का जीर्णोद्धार दार्शनिक नवीनता के प्रभाव का द्योतक है। किंतु यह जीर्णोद्धार दार्शनिक नवीनता पर प्रहार करता है और कालांतर में उस नवीनता को अपनी प्राचीनता में समेट कर नष्ट कर देता है।

पुनश्च समकालीन भारतीय दर्शन में 'भारतीय' शब्द की व्याख्या भी महत्त्वपूर्ण है। आधुनिक भारत में मुस्लिम, मसीही और जरतुश्ती धर्मों के मानने वाले रह सकते हैं और रहते हैं। वे भारत के माननीय नागरिक हो सकते हैं, किंतु इससे यह नहीं सिद्ध होता है कि इस्लाम, मसीही धर्म और जरतुश्ती धर्म भारतीय हैं। कुछ विद्वान मानते हैं कि भारतीय संस्कृति मिश्रित

या समन्वयात्मक संस्कृति है और प्राचीन काल के हिंदू, बौद्ध तथा जैन धर्म, मध्ययुग का इस्लाम धर्म और आधुनिक युग में विशेष रूप से फैला मसीही मत इस समन्वयात्मक संस्कृति में घुले-मिले हैं। यदि ऐसा है तो फिर आधुनिक युग में सभी धर्मों के वर्तमान रूपों को क्यों नहीं भारतीय कहा जाता? क्यों सभी धर्मों के समन्वयात्मक रूप पर बल देकर एक नये धर्म का आविष्कार तथा प्रचार-प्रसार नहीं किया जाता? सच्चा समन्वय सभी धर्मों की खिचड़ी से नहीं हो सकता। उसका एक निजी स्वरूप होगा। स्पष्ट है कि ऐसा समन्वय भारत में अभी तक विकसित नहीं हुआ है। अतएव भारतीय धर्म का अर्थ निश्चित रूप से भारत में उत्पन्न धर्मों से होगा। इसलिए कन्टेम्पोरेरी इंडियन फिलासफी के सम्पादकों का जो मत समकालीन भारतीय दर्शन के बारे में दिया गया है, वह ठीक नहीं है। इसी प्रकार 'समकालीन भारतीय दर्शन' नामक ग्रंथ में प्रो. के. सच्चिदानन्द मूर्ति ने समकालीन भारतीय दर्शन की जो धारणा व्यक्त की है, वह भी प्रो. म्योरहेड और प्रो. राधाकृष्णन् की ही तद्विषयक अवधारणा है। आधुनिकता का सम्बम्ध धर्म से नहीं किंतु विज्ञान, प्रविधि, धर्म निरपेक्षतावाद और बुद्धिवाद से है।

भारत के मसीही और मुस्लिम लोग समकालीन दार्शनिक हो सकते हैं, और हुए हैं, किंतु फिर भी उनके दर्शन में उनके धर्म का कोई प्रभाव नहीं है। उदाहरण के लिए अकबर, दाराशिकोह, कबीर, दादू, रसखान आदि मुस्लिम अपने समय की एक प्रगतिशील विचारधारा के अग्रकर्त्ता थे, किंतु उन्होंने अपने इस्लाम धर्म का परित्याग कर दिया था और एक मानव धर्म या भक्तिधर्म को अपनी जीवन-पद्धति बनायी थी। ऐसे ही भारत के जो मुस्लिम और मसीही अपने धर्म से निरपेक्ष होकर आज शुद्ध दार्शनिक चिंतन करते हैं, वे निश्चय ही समकालीन भारतीय दार्शनिक हैं। जिस प्रकार केर्केगार्ड, मार्सेल, मेरीटेन आदि योरोपीय मसीहियों ने अपने धर्म का एक नया रूप विकसित किया, उस प्रकार भारत के किसी मसीही या मुस्लिम विचारक ने अपने धर्म का ऐसा आधुनिक रूप नहीं विकसित किया, जिसे भारतीय कहा जा सके। बहुत से मसीही और मुस्लिम भारत में ही धर्म निरपेक्षतावाद का दृष्टिकोण रखते हैं, किंतु उनके इस दृष्टिकोण का सम्बन्ध धर्म से किसी प्रकार का नहीं है। अतएव यद्यपि वे मुस्लिम या मसीही समाज में पैदा हुए हैं तथापि उन्हें मुस्लिम या मसीही दार्शनिक नहीं कहा जा सकता है। कुछ भी हो, समकालीन भारतीय दर्शन विभिन्न धर्मों का मेला नहीं है। वह यह कोई संयुक्त धर्म-संघ नहीं है। यह सत्य है कि उसमें एक ऐसी विचारधारा है, जो सभी धर्मों का समवेत स्वर है और वह मानव-धर्म, विश्व-धर्म, सर्व-धर्म-समभाव तथा सभी धर्मों की एकवाक्यता को अग्रसर करती है। किंतु इस विचारधारा का माननेवाला कोई

व्यक्ति अपने जन्मजात धर्म का पोषक नहीं हो सकता है। वह निश्चित रूप से एक क्रांतिकारी, धार्मिक और दार्शनिक है और अपने जन्मजात धर्म में महत्त्वपूर्ण संशोधन-परिवर्धन करता है। महात्मा गांधी, डॉ. भगवानदास, रवीन्द्रनाथ टैगोर और विनोबा भावे आदि ऐसे विचारक हैं जिन्होंने सच्चे अर्थ में सभी धर्मों की एकवाक्यता को मानते हुए अपने जन्मजात धर्म को छोड़ दिया। मौलाना अबुलकलाम आज़ाद, डॉ. ज़ाकिर हुसेन, प्रो. हुमायूँ कबीर आदि ऐसे जन्मजात मुस्लिम हैं, जिन्होंने सभी धर्मों की एकवाक्यता को मानते हुए अपने इस्लाम की नयी व्याख्या की है। किंतु इस प्रसंग में इन सभी लोगों का योगदान उतना भी नहीं है, जितना कबीर, दादू, चैतन्य, नानक आदि मध्ययुगीन भारतीय संतों का है। वास्तव में इन संतों के कारण हिंदू-मुस्लिम एकता की जो धारा बह चली थी, वह 20वीं शती में सूख गयी। फलतः इस शती में हिन्दू-मुस्लिम मतभेद जितना बढ़ गया है, उतना पिछली चार शताब्दियों में नहीं था। इस प्रकार धार्मिक समन्वयवाद के दृष्टिकोण का 20वीं शताब्दी में भयंकर पतन हुआ है। 1947 में हुए भारत-विभाजन तथा पाकिस्तान और भारत के अनवरत संघर्षपूर्ण सम्बन्धों के कारण यह स्थिति आज भी पतन के ही गर्त में है।

(4) कुछ लोग समझते हैं कि समकालीन भारतीय दर्शन का अर्थ भारतवासियों के द्वारा किया गया समकालीन पाश्चात्य दर्शन का विमर्श है। किंतु यह मत चिंत्य है। यदि भारतवासी पाश्चात्य दर्शन का अथवा समकालीन पाश्चात्य दर्शन का वैसा ही वर्णन और विमर्श करते हैं, जैसा पाश्चात्य दार्शनिक करते हैं, तो निश्चय ही भारतवासियों का यह विमर्श भारतीय दर्शन के अंतर्गत नहीं है। उदाहरण के लिये 'ए हिस्ट्री आव फिलासफी ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न' के द्वितीय भाग में अनेक भारतीय दार्शनिकों ने पाश्चात्य दर्शन का विवेचन किया है। कुछ विद्वानों ने आधुनिक पाश्चात्य दर्शन तथा समकालीन पाश्चात्य दर्शन पर भी ग्रंथ लिखे हैं। प्रो0 हीरालाल हलदार ने 'नषहेगलवाद' नामक एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ अंग्रेजी में लिखा है और डॉ. धीरेंदमोहनदत्त ने समकालीन दर्शन की मुख्य प्रवृत्तियाँ नामक एक प्रमेयबहुल ग्रंथ अंग्रेजी में लिखा है, कान्ट, स्पिनोजा, वर्कले जैसे पाश्चात्य दार्शनिकों पर इन पंक्तियों के लेखक के अतिरिक्त रासबिहारी दास, एन.ए. निकम, रमाकांत त्रिपाठी, श्रीराम माधव चिंगले आदि विद्वानों ने भी लिखा है। रामचंद्र दत्तात्रेय रानाडे ने थेलीज, हेराक्लाइट्स एरिस्टाटिल द्वारा एलियावासी दार्शनिकों की आलोचना तथा अरिस्टाटिल द्वारा प्रोटेगोरस मत की आलोचना नामक चार शोधपूर्ण निबंध आरम्भिक यूनानी दर्शन पर लिखे हैं। उनकी पुस्तक 'हेराक्लाइट्स' के उत्तर में श्री अरविंद ने भी हेराक्लाइट्स नामक एक पुस्तक लिखी है। क्या इन सब कृतियों को समकालीन भारतीय दर्शन कहा जा सकता है? मेरे विचार से इन सब कृतियों में

जहाँ-जहाँ भरतीय दर्शन के दृष्टिकोण से पाश्चात्य दर्शन की व्याख्या है, वहाँ-वहाँ उनके ऐसे अंश समकालीन भारतीय दर्शन में आ सकते हैं। किंतु मूलतः ऐसी रचनाएँ भरतीय दर्शन के क्षेत्र के बाहर हैं। भारतीय दर्शन का स्वरूप ही पाश्चात्य दर्शन के स्वरूप से भिन्न है।

आजकल समकालीन पाश्चात्य दर्शन का, विशेषतः भाषा-विश्लेषण, अस्तित्वाद और साम्यवाद का भारतवासियों पर इतना प्रभाव पड़ रहा है कि वे इन विषयों का विवेचन पूर्णतया पाश्चात्य दर्शन के दृष्टिकोण से ही कर रहे हैं। किंतु इसे समकालीन भारतीय दर्शन के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता है। यह निश्चित है कि यह प्रवृत्ति बढ़ती गयी तो भारतीय दर्शन का अपना व्यक्तित्व नष्ट हो जायगा। कुछ लोग कहते हैं कि साम्यवाद, अस्तित्ववाद और भाषाविश्लेषण के समकक्ष विमर्श भारतीय दर्शन में भी है और वे भारतीय दर्शन के इन पहलुओं का विवेचन कर रहे हैं। उनके प्रयत्नों से इस समय भारतीय व्याकरण-दर्शन, भारतीय अर्थ विज्ञान, भारतीय भौतिकवाद और भारतीय सद्वाद के नये-नये विवेचन प्रकाशित हो रहे हैं।

क्या इन विवेचनों को समकालीन भारतीय दर्शन के अंतर्गत रखा जा सकता है? मेरे विचार से यदि इन विवेचनों में प्राचीन भारतीय दर्शन का केवल पाश्चात्य दर्शन से तुलनात्मक वर्णन है अथवा इनमें पाश्चात्य दर्शन के दृष्टिकोण से भारतीय विषय-सामग्री का सर्वथा पाश्चात्य रूपान्तरण है तो ये सब विवेचन समकालीन पाश्चात्य दर्शन के अन्तर्गत हैं। पुनश्च यदि इन विवेचनों में प्राचीन भारतीय दर्शन का कुछ नवीन और सुसंगत विकास है अथवा प्राचीन भारतीय दर्शन के सिद्धान्तों को नयी युक्तियों से समकालीन पाश्चात्य दर्शन से अधिक तर्कसंगत दिखाया गया है तो निश्चय ही ऐसे विवेचन समकालीन भारतीय दर्शन के अंतर्गत हैं। जिस प्रकार प्रो. डी.डी. कौशाम्बी, एस.ए. डांगे और देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय जैसे साम्यवादी दार्शनिक प्राचीन भारतीय दर्शन की साम्यवादी व्याख्या कर रहे हैं, वह निश्चय ही समकालीन पाश्चात्य दर्शन के अनुरूप है, न कि समकालीन भारतीय दर्शन के। इसी प्रकार जो लोग प्राचीन भारतीय दर्शन में अस्तित्ववाद के उदाहरण पा रहे हैं वे भी निश्चित ही समकालीन पाश्चात्य दर्शन की सेवा कर रहे हैं।

(5) कुछ लोग समझते हैं कि आधुनिक काल में परम तत्त्व का स्वयं साक्षात्कार करना और दूसरों को भी कराना तथा उसके आधार पर परमतत्त्व की व्याख्या करना आधुनिक भारतीय दर्शन है। इस युग में यहाँ रामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ और रमण महर्षि ऐसे संत हुए हैं, जिन्होंने परमतत्त्व का साक्षात्कार किया है। किंतु ये सब वास्तव में उस संत-परम्परा के

अंदर आते हैं, जो प्राचीन काल से ही भारत में चल रही है। इनकी तत्वानुभूति का दार्शनिक रूप प्राचीन है। परंतु उसकी व्याख्या नवीन प्रणाली से हो सकती है। स्वामी विवेकानन्द और स्वामी अभेदानंद ने इस नवीन प्रणाली से ही अद्वैतानुभूति की व्याख्या की है। किंतु प्रणाली की नवीनता से आधुनिक मानस संतुष्ट नहीं होता है, वह विषयवस्तु की भी नवीनता का आकांक्षी है। इस कारण संत-परंपरा का सनातन महत्त्व चाहे जितना हो किंतु समकालीन भारतीय दर्शन में उसका आकारक महत्त्व नहीं है। आधुनिक भारतीय दर्शन किसी संत या ऋषि का संदेश (मेसेज) या इलहाम नहीं है। वह संरचनात्मक बुद्धिवाद है।

4. आधुनिक भारतीय दर्शन का संप्रत्यय

आधुनिक भारतीय दर्शन तीन प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ है। पहली प्रतिक्रिया पाश्चात्य दर्शन और संस्कृति के प्रति परंपरागत भारतीय दर्शनों की प्रतिक्रिया है। यह प्रतिक्रिया सबसे पहले राजा राममोहन राय के समय में आरंभ हुई और आज तक चल रही है। इस प्रतिक्रिया के निम्नलिखित विविध रूप हैं :

1. पाश्चात्य दर्शन और संस्कृति को स्वीकारना और उसका प्रयोग भारतीय परिस्थितियों में करना।
2. पाश्चात्य दर्शन और संस्कृति को पूर्णतया नकारना और परंपरागत भारतीय दर्शन और धर्म का समर्थन करना।
3. पाश्चात्य और भारतीय दर्शन के उभयगत सिद्धांतों की खोज करना और उनके आधार पर एक तुलनात्मक दर्शन का सृजन करना जो परंपरागत भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शन से भिन्न है।
4. परंपरागत भारतीय दर्शन का पाश्चात्य दर्शन की युक्तियों द्वारा पाश्चात्य दर्शन की शब्दावली में पाश्चात्य दर्शन से अविरोध दिखलाना।
5. परंपरागत भारतीय दर्शन को नवीन युक्तियों द्वारा पाश्चात्य दर्शन से श्रेष्ठतर दिखलाना तथा पाश्चात्य दर्शन का तार्किक खंडन करना।
6. पाश्चात्य दर्शन के दृष्टिकोण से भारतीय दर्शन की व्याख्या करना।
7. भारतीय दर्शन के दृष्टिकोण से पाश्चात्य दर्शन की व्याख्या करना।
8. परंपरागत भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शन का मंथन करके एक नये विश्वदर्शन का निर्माण करना।

राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, अनुकूलचंद्र मुखर्जी, डॉ. राधाकृष्णन्, कृष्णचंद्र भट्टाचार्य, राहुल सांकृत्यायन, डॉ. रामचंद्र दत्तात्रेय रानाडे और श्री अरविंद के दार्शनिक कार्य-कलाप उपर्युक्त प्रवृत्तियों के क्रमशः उदाहरण हैं।

दूसरी प्रतिक्रिया प्राचीन भारतीय दर्शन के प्रति आधुनिक भारतीय दर्शन की प्रतिक्रिया है। इस प्रतिक्रिया के भी निम्न रूप हैं :

1. प्राचीन भारतीय दर्शन सड़ गया है और उसका परित्याग अपेक्षित है। इससे प्राचीन भारतीय दर्शन के प्रति घृणा का भाव पैदा होता है।
2. प्राचीन भारतीय दर्शन उत्तम है। उसको स्वीकार करना उचित है। इससे उसके प्रति श्रद्धा का भाव पैदा होता है। फिर इस भाव को रखने वाले प्राचीन दर्शन का आधुनिक उपयोग करने लगते हैं।
3. प्राचीन भारतीय दर्शन के प्रति तटस्थता और ऐतिहासिकता का दृष्टिकोण रखना और उससे भिन्न तथा नवीन दर्शन की खोज करना।
4. प्राचीन भारतीय दर्शनों का समन्वय करना और इस समन्वय का विकास करना।
5. प्राचीन भारतीय दर्शन का परिष्कार या संशोधन-परिवर्धन करना और उनको एक नयी दिशा में मोड़ने का प्रयास करना।

श्री अरविंद के कुछ अनुयायी प्रथम पक्ष का समर्थन करते हैं। दयानंद सरस्वती, डॉ. राधाकृष्णन्, डॉ. रामचंद्र दत्तात्रेय रानाडे, गोपीनाथ कविराज आदि दार्शनिक द्वितीय पक्ष का समर्थन करते हैं। महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर और श्री अरविंद तथा रामावतार शर्मा तीसरे पक्ष को मानते हैं। रामावतार शर्मा ने अपने परमार्थ दर्शन को सप्तम दर्शन कहा है। प्रो. हरिमोहन झा ने दार्शनिक त्रैमासिक[1] में इस दर्शन पर काफी प्रकाश डाला है। अन्य लोगों के दर्शनों का वर्णन इस पुस्तक में अन्यत्र दिया गया है। चतुर्थ पक्ष का समर्थन अनेक विद्वान करते हैं, जिनमें से डॉ. उमेश मिश्र, बलदेव उपाध्याय, डॉ0 भीखनलाल आत्रेय, डॉ. गोपीनाथ कविराज, डॉ. राधाकृष्णन्, डॉ. सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त आदि को लिया जा सकता है। पाँचवें पक्ष का समर्थन करने वालों में कुप्पूस्वामी शास्त्री, प्रो. हिरियाणा लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, दयानन्द सरस्वती

1. दार्शनिक त्रैमासिक : जनवरी 1958 से लेकर जुलाई 1960 तक के अंक।

आदि लिये जा सकते हैं। कुप्पू स्वामी शास्त्री ने वेदान्त और मीमांसा का परिष्कार किया है। प्रो. हिरियाणा ने सांख्य वेदांत का परिष्कार किया है। तिलक ने भगवद्गीता के दर्शन का परिष्कार किया है और दयानंद सरस्वती ने वैदिक धर्म दर्शन का परिष्कार किया है। डॉ. टी.आर.वी. मूर्ति, राहुल सांकृत्यायन, डॉ. चन्द्रधर शर्मा आदि ने बौद्ध दर्शन का परिष्कार करके दिखलाया है कि शून्यवाद असद्वाद नहीं है। अनंतकृष्ण शास्त्री ने शतभूषणी में वेदांतदेशिक की शतदूषणी का खंडन करके अद्वैत वेदांत को परिष्कृत किया। किंतु तातार्चार्य ने विशिष्टाद्वैत सिद्धि लिखकर और वीर राघवाचार्य ने परमार्थ भूषणम लिखकर शतभूषणी से रामानुज वेदांत को परिष्कृत किया। इसी प्रकार राधाकृष्णन ने अद्वैत वेदांत को विशिष्टाद्वैतवाद और द्वैतवाद के दोषों से मुक्त किया और इनकी कमियाँ बतायीं, किंतु पी. श्रीनिवासाचार्य और नागराज शर्मा ने इन कमियों से क्रमशः विशिष्टाद्वैतवाद और द्वैतवाद को परिष्कृत किया।

तीसरी प्रतिक्रिया आधुनिक भारतीय दार्शनिकों की पारस्परिक प्रतिक्रिया है। उदाहरण के लिए गांधी-टैगोर विवाद, एनीबेसेन्ट-गांधी विवाद, राधाकृष्णन् और उनके आलोचकों का विवाद, कृष्णचंद्र भट्टाचार्य और उनके आलोचकों के विवाद तथा स्वातंत्र्यपूर्व प्रत्ययवाद और स्वातंत्र्योत्तर यथार्थवाद के विवाद लिये जा सकते हैं।

5. आधुनिक भारतीय दर्शन का इतिहास

भारत में उपर्युक्त प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप उन्नीसवीं शती के तीसरे दशक से ही आधुनिक भारतीय दर्शन का आरंभ होता है। इसके इतिहास को हम पाँच युगों में बाँट सकते हैं और प्रत्येक युग की विशिष्ट प्रवृत्ति का ज्ञान आसानी से प्राप्त कर सकते हैं।

भारतीय दर्शन का नया उपयोग और प्रयोग पाश्चात्य दर्शन के क्षेत्र में हो सकता है। इसका अनुभव और प्रयोग पाश्चात्य दार्शनिक शोपनहावर (1788-1860) ने अपनी रचनाओं में किया है। उसके दो शिष्य थे–नीत्शे और पाल डायसन। इन दोनों ने भी भारतीय दर्शन की आधुनिक उपयोगिता को आँका था। पाल डायसन ने तो अपना सारा जीवन ही भारतीय दर्शन को समर्पित किया था। उसने अद्वैतवाद का जितना प्रामाणिक अनुशीलन किया था, उतना किसी अन्य पाश्चात्य विद्वान् ने नहीं किया था। उसने अद्वैत वेदांत और उपनिषद् के दर्शन पर प्रामाणिक ग्रन्थ लिखे हैं।

(क) राजा राममोहन राय युग (1828-1880)

इसमें राजा राममोहन राय (1772-1833) के अतिरिक्त राधाकांत दबे, केशवचंद्र सेन (1838-1884), देवेन्द्रनाथ टैगोर (1817-1905) और रामकृष्ण परमहंस (1834-1886) आते हैं। इस युग की मुख्य प्रवृत्ति पाश्चात्य दर्शन को स्वीकारना तथा भारतीय दर्शन को उसके अनुकूल करना है। इस काम को राजा राममोहन राय ने सबसे पहले किया और उनका प्रभाव जितना व्यापक ढंग से पड़ा उतना किसी का नहीं। इस कारण इस युग को राजा राममोहन राय युग कहा जा सकता है। उन्होंने 1828 ई. में ब्रह्म-समाज की स्थापना की। उनके पश्चात् बहुत काल तक इसका उत्थान होता रहा। इसी युग में ब्रह्म-समाज के विरोध में सनातन धर्म का परिष्कार हुआ। राजा राधाकांत देव एक ऐसे विचारक थे जो राजा राममोहन राय के कट्टर विरोधी थे और परंपरागत भारतीय दर्शन के समर्थक थे उन्होंने शब्द-कल्पद्रुम नामक एक महान संस्कृत कोश पाँच भागों में लिखा है। संस्कृत का दूसरा महान कोश वाचस्पत्यम् भी तारानाथ भट्टाचार्य द्वारा इसी काल में लिखा गया। ये दोनों कोश विश्वकोश हैं और संपूर्ण संस्कृत वाङ्मय के नाना शास्त्रों के ज्ञान से भरे हुए हैं। किंतु इन सनातनी विद्वानों से अधिक योगदान साधु निश्चलादास का है, जिसने दादूपंथ को स्वीकार किया था और अद्वैत वेदांत को अपना दार्शनिक मत माना था। उसने 'विचार सागर' और 'वृत्ति प्रभाकर' नामक दो प्रौढ़ ग्रंथ हिन्दी में रचे हैं, जिनके समकक्ष आज भी कोई ग्रंथ किसी भी भाषा में नहीं है। धर्म और दर्शन दोनों में निश्चलदास का मत आज भी बहुत युगीन और नया है। वह हिंदू-मुस्लिम एकता का प्रस्तावक था और अद्वैत वेदांत का कट्टर समर्थक था। उसके समय में संस्कृत माध्यम से जो मुख्य दार्शनिक विचारधारा थी वह नव्यन्याय थी। नव्यन्याय के विद्वान् नवद्वीप, मिथिला और वाराणसी में थे, किंतु वे केवल प्राचीन ग्रंथों के टीकाकार ही थे। इसी काल में टी.एच. कोलबुक ने भारतीय दर्शन की खोज की और मैक्समूलर ने 1874 से 1884 तक 'सेक्रेड बुक्स आव द ईस्ट' के 31 ग्रंथों का सम्पादन करके 1883 में एक अद्वितीय पुस्तक लिखी, जिसका शीर्षक है– 'इण्डिया ह्वाट इट कैन टीच अस'। इस पुस्तक के प्रकाशन के बाद पश्चिमी दार्शनिकों को पता चल गया कि भारतीय दर्शन का आधुनिक दर्शन के निर्माण में उपयोग है।

(ख) स्वामी दयानंद युग (1875-1920)

स्वामी दयानंद (1824-1883) पहले राजा राममोहन राय के अनुयायी

थे। किंतु 1875 में उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की और 1881 में उन्होंने अपने को राजा राममोहन राय के सभी अनुयायियों से प्रथक् कर लिया। स्वामी विवेकानंद (1863-1902), स्वामी अभेदानंद (1866-), स्वामी रामतीर्थ (1873-1906), स्वामी श्रद्धानंद और गंगाप्रसाद उपाध्याय इस युग के अन्य विचारक हैं। इस युग की प्रधान प्रवृत्ति परंपरागत भारतीय दर्शन और धर्म को पाश्चात्य दर्शन और संस्कृति से उच्चतर सिद्ध करते हुए हिंदू धर्म की कुरीतियों को दूर करना तथा हिंदूदर्शन में स्वानुभूति से अधिक तर्क को महत्त्व देना है। स्वामी दयानंद सरस्वती ने इस काम की पहल की और उनका प्रभाव संपूर्ण उत्तरी भारत पर पड़ा। उनके प्रभाव से बाल-विवाह, बहु-विवाह, बेमेल विवाह, छुआछूत, जाति-पाँति आदि की कुरीतियाँ काफी मात्रा में टूटीं और वेद की वैज्ञानिक व्याख्याएँ कीं गयीं। इसके साथ ही साथ राष्ट्रीयता और हिन्दी भाषा के विकास हुए। महादेव गोविंद रानाडे और बाल गंगाधर तिलक को भी इन्हीं प्रवृत्तियों से जोड़ा जा सकता है। इस युग में एक ओर आर्य समाज का प्रचार होता है तो दूसरी ओर उसके विरोध में सनातन धर्म का। स्वामी दयानंद के विरोध में तिलक को सनातनधर्म का प्रतीक मान सकते हैं। स्वामी दयानंद सरस्वती ने वेदों के अध्ययन का काफी प्रचार किया। उन्होंने अपने व्याख्यान लेखन का माध्यम हिंदी रखा। वेदों के अंतर्गत जो वैज्ञानिक दृष्टिकोण और सिद्धांत हैं, उनकी खोज कर उन्होंने बल दिया। यह संयोग की बात है कि मैक्समूलर ने 1875 ई. में ही 'सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट' को आरम्भ किया। 1885 ई. में उन्होंने अंग्रेजी में भारतीय दर्शन के छः मत नामक ग्रंथ लिखा। उन्होंने ऋग्वेद का प्रथम प्रकाशन किया, इस कारण उनको भारतीय लोग मोक्षमूलर (मोक्षमूल ऋग्वेद का लाने वाला) कहते हैं। इसी काल में ओल्डेनबर्ग और श्येरबटस्की ने संत पीट्र्सवर्ग से बिबलोथिका बुद्धिका पुस्तकमाला के अंतर्गत 1897 ई. से अनेक बौद्ध ग्रंथों का प्रकाशन आरंभ किया। यह पुस्तकमाला 1937 ई. तक बौद्ध ग्रन्थों का प्रकाशन करती रही।

(ग) महात्मा गांधी युग (1920-1936)

इस युग में महात्मा गांधी (1869-1948) के अतिरिक्त श्रीमती एनीबेसेन्ट, डॉ. भगवानदास (1869-1958), गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर (1861-1941), मुहम्मद इकबाल (1873-1938), विनोबा भावे, किशोरीलाल मश्रूवाला, जवाहरलाल नेहरू, डॉ. राजेन्द्रप्रसाद, मौलाना अबुल कलाम आजाद, आचार्य नरेन्द्रदेव, संपूर्णानंद, डॉ. जाकिर हुसेन, श्री राजगोपालाचारी आदि विचारक आते हैं। इस युग की

मुख्य प्रवृत्ति पाश्चात्य दर्शन और संस्कृति के प्रति विद्रोह करना तथा यह सिद्ध करना है कि वर्तमान भारतीय जीवन-पद्धति और विचारधारा पाश्चात्य जीवन पद्धतियों और विचारधाराओं से अनुशासित नहीं रह सकती है।

सन् 1920 ई. में महात्मा गांधी ने नमक-असहयोग आंदोलन आरंभ किया। अतएव इसी समय से इस युग का आरंभ माना जा सकता है। यह युग एक दृष्टि से 1942 ई. के भारत छोड़ो आंदोलन तक चलता रहा। किंतु इसके पहले ही दार्शनिक-जगत में डॉ. राधाकृष्णन् और अनेक दार्शनिकों का उदय हुआ। इस कारण गांधी-युग को दर्शन के क्षेत्र में 1936 ई. तक ही माना जा सकता है। इस वर्ष डॉ. राधाकृष्णन् और प्रो. म्योरहेड के सम्पादकत्व में 'कन्टेम्पोरेरी इंडियन फिलासफी' का प्रकाशन होता है।

अभिनव स्वतंत्र चिंतन और कर्म का बीजारोपण गांधी-युग से आरंभ होता है। यहीं अभय तथा साहस की प्राप्ति होती है, सत्याग्रह नामक नये अस्त्र का प्रयोग होता है और सर्वोदय समाज नामक आदर्श समाज की कल्पना होती है। इस प्रवृत्ति के विचारक धर्म और दर्शन की सबसे बड़ी उपलब्धि उसकी समाजिक उपयोगिता मानते हैं और इस कारण इन सबके चिंतन मुख्यतः नीति-शास्त्र, समाज दर्शन, संस्कृति दर्शन, राजनीति दर्शन और इतिहास दर्शन के क्षेत्रों में हैं। इस युग के सभी विचारक महात्मा गांधी से अत्यधिक प्रभावित हैं। इसलिए इस युग को महात्मा गांधी-युग कहा जा सकता है। महात्मा गांधी की विचारधारा को हिंदू विचारधारा कहकर मुहम्मद इकबाल (1873-1938) ने इसके विरोध में मुस्लिम विचारधारा का समर्थन किया। रवीन्द्रनाथ टैगोर (1863-1902) ने गांधी विचारधारा को स्वदेशी पर बल देने वाली एक विचारधारा को स्वदेशी पर बल देने वाली एक विचारधारा दी। राजनीति में इसी प्रकार एनिबेसेन्ट और सुभाषचंद्र बोस की विचारधाराओं से गांधी की विचारधारा का टकराव हुआ। किंतु अंत में जितने अनुयायी गांधी विचारधारा के निकले उतने किसी अन्य के नहीं। गांधी ने जिस मानवतावाद को अग्रसर किया वह कहीं अन्यत्र देखने को नहीं मिलता है। सत्य और अहिंसा के साथ उन्होंने सत्याग्रह का अनुपम मेल करके एक प्रगतिशील मानवतावाद को जन्म दिया।

(घ) राधाकृष्णन् युग (1936-1952)

इस युग की प्रधान घटनाएँ विभिन्न भारतीय विश्वविद्यालयों में दर्शन के आचार्यों के पद पर भारतीय विद्वानों का पदारूढ़ होना तथा 'इण्डियन फिलासफिकल

कांग्रेस'[1] की स्थापना तथा उसके वार्षिक अधिवेशनों का होना है। इन घटनाओं से दर्शनशास्त्र पढ़ाने वाले विद्वान् संगठित हुए और उन्होंने सामूहिक चिंतन या सहचिंतन आरंभ किया; जिसके फलस्वरूप एक नया दर्शन उत्पन्न हुआ जिसे तुलनात्मक दर्शन कहा जाता है। इस दर्शन की मुख्य प्रवृत्ति प्रत्ययवाद या आदर्शवाद है। डॉ. राधाकृष्णन् इस युग के अग्रणी, वरिष्ठ और विश्वविश्रुत दार्शनिक हैं। इसलिए इस युग को डॉ. राधाकृष्णन्-युग कहा जा सकता है। सर्वप्रथम सी.ई.एम. जोड ने उनके ऊपर एक स्वतंत्र पुस्तक 1933 में प्रकाशित की, जिसका नाम काउन्टर अटैक फ्राम द ईस्ट : फिलासफी आव राधाकृष्णन् है। फिर 1952 में पाल आर्थर शिल्प ने राधाकृष्णन् का दर्शन अंग्रेजी में सम्पादित किया जिसमें अनेक विद्वानों ने राधाकृष्णन् के विभिन्न दार्शनिक योगदानों का वर्णन और मूल्यांकन किया है। इस युग को प्रत्ययवादी युग की भी संज्ञा दी जा सकती है। इस युग के अन्य दार्शनिक डॉ. सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, डॉ. रामचंद्र दत्तात्रेय रानाडे, डॉ. हीरालाल हलधर, डॉ. ब्रजेन्द्रनाथ शील, कृष्णचंद्र भट्टाचार्य, शिशिरकुमार मैत्र, अनुकूलचंद्र मुखर्जी, धीरेन्द्र मोहन दत्ता, यम. हिरियाणा, आनंद के. कुमारस्वामी, एम. सूर्यनारायण शास्त्री, एन.जी. दामले, टी.आर.बी. मूर्ति, पी.टी. राजू, हुमायूँ कबीर, रासबिहारी दास, जी. आर. मलकानी, ए.आर. बाडिया, हरिदास भट्टाचार्य, भीषन लाल आत्रेय, टी. एम. महादेव, उमेश मिश्र, यदुनाथ सिन्हा आदि हैं। इस युग में भारतीय दर्शन के इतिहास-ग्रंथ लिखे गये, जिनमें सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, डॉ. राधाकृष्णन्, हिरियाणा, उमेश मिश्र और यदुनाथ सिन्हा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। फिर इसी समय भारतीय ज्ञानमीमांसा, भारतीय नीतिशास्त्र, भारतीय सौंदर्यशास्त्र, भारतीय समाज विज्ञान आदि दर्शन के विभिन्न शाखाओं से संबंधित प्रामाणिक ग्रंथ तथा लेख लिखे गये। अंत में कुछ मौलिक दार्शनिक कृतियाँ रची गयीं जिनका विश्व भर में सम्मान हुआ। इन कृतियों में राधाकृष्णन् की आइडियलिस्टिक व्यू ऑफ लाइफ, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य की सब्जेक्ट ऐज फ्रीडम, अनुकूलचंद्र मुखर्जी की नेचर ऑफ सेल्फ, धीरेन्द्र मोहन दत्त की 'सिक्स वेज आव नोइंग', हिरियाणा की 'द मिशन आव फिलासफी', सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त की 'इण्डियन आइडियिलिज्म' और डॉ. भगवानदास की 'साइंस आव् इमोशन' पुस्तकें सर्वथा मौलिक ग्रंथ हैं, जिनका महत्त्व सदा के लिए रहेगा।

इस युग के प्रत्ययवाद का चरम विकास अद्वैतवेदान्त के आत्मानुभव में

---

1. इसकी स्थापना 1922 में हुई थी।

माना जाता है। इस आत्मानुभव का साक्षात्कार करने वालों में रमण महर्षि (1879-1950) अग्रगण्य हैं। उनके अनुयायियों की संख्या देश और विदेश में बढ़ रही है। टी.एम.पी. महादेवन् और आर्थर ओसबोर्न उनके प्रमुख समर्थकों में से हैं। जिड्डू कृष्णमूर्ति को भी हम इसी युग का दार्शनिक मानते हैं। उन्होंने भी प्रत्ययवाद का आश्रय लेकर अपने अध्यात्मवाद का विकास किया है। उन्होंने ईश्वरवाद, गुरुवाद, मोक्षवाद आदि का खंडन किया है। विचार-स्वातंत्र्य पर उन्होंने बहुत बल दिया है। आंतरिक अनुभूति प्राप्त करना और अपनी समस्त इच्छाओं का निराकरण करना उनके मत से प्रत्येक मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिए। श्री वसंतकुमार मल्लिक ने एक नये तत्त्वदर्शन का जन्म दिया है, जिससे प्रो. कालिदास भट्टाचार्य आदि दार्शनिक प्रभावित हैं। यह तत्त्व दर्शन संबद्ध द्वैतवाद या अकेवलवांद के नाम से पुकारा जाता है। द रियल एण्ड दि निगेटिव, रिलेटेड मलटिपिलसिटी, दी टावरिंग वेव और नान-एब्सील्यूट्स उनकी चार कृतियाँ हैं। साधु शान्तिनाथ भी इसी युग के एक अन्य दार्शनिक हैं, जो आरम्भ में अद्वैत वेदांती थे, किंतु बाद में अद्वैतवेदांत के आलोचक हो गये। उन्होंने संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, और बंगला में अनेक ग्रन्थ रचे हैं। उनका अन्तिम मत प्राच्य दर्शन-समीक्षा में दिया गया है। सभी दर्शनों का खंडन करना ही उनका अन्तिम मत है। वे कोई दार्शनिक निकाय नहीं मानते हैं।

इसी युग के एक अन्य दार्शनिक महर्षि श्री अरविंद (1872-1950) हैं। वे पहले दर्शन के प्रोफेसर थे और उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह राधाकृष्णन् युग के शास्त्रीय प्रत्ययवाद के अनुकूल है। इसलिए उनको भी हम इसी युग का एक दार्शनिक कह सकते हैं। किंतु इससे उनका महत्त्व डॉ. राधाकृष्णन् से कम नहीं हो जाता है। वास्तव में डॉ0 राधाकृष्णन् का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने अपने युग के जितने दार्शनिकों को अपनी कृतियों से प्रभावित किया है, उतना श्री अरविंद ने नहीं किया है। इसका कारण श्री अरविंद की दुरूह भाषा लथा अति नवीन विचारधारा है। परंतु दार्शनिक मौलिकता में श्री अरविंद राधाकृष्णन्-युग के सभी दार्शनिकों में अद्वितीय हैं। उनकी रचनाएँ एक नये दर्शन और एक नयी संस्कृति को जन्म दे रही हैं। उनके अनुयायियों की संख्या दिनानुदिन विश्व भर में बढ़ती जा रही है। जो लोग आरंभ में स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानंद या डॉ. राधाकृष्णन् से प्रभावित रहते हैं। और बाद में श्री अरविंद के दर्शन की ओर झुकते हैं वे अनुभव करते हैं कि जहाँ अन्य लोग केवल आधुनिक भाषा-शैली में एक नितांत आधुनिक दर्शन प्रस्तावित करते हैं। प्रो. एस.के. मैत्रा, प्रो. जे.एन. छब, डॉ. इंद्रसेन, डॉ. करण सिंह

और श्री अरविंद वसु ऐसे लोगों के उदाहरण हैं। ये लोग आरम्भ में डॉ. राधाकृष्णन् युग की विचारधारा से प्रभावित थे और बाद में श्री अरविन्द के दर्शन के अनुयायी हो गये। जिस प्रकार अनेक दार्शनिक श्री अरविन्द के अनुयायी हैं, उसी प्रकार कोई भी राधाकृष्णन् का अनुयायी नहीं है। इतना होते हुए भी इस प्रत्ययवादी युग को हम डॉ. राधाकृष्णन् का युग कहना ही उचित समझते हैं, क्योंकि इस युग की प्रमुख विशेषता सहचिंतन द्वारा एक प्रत्ययवादी विचारधारा को विकसित करना है। श्री अरविंद का दर्शन निःसन्देह इस युग की सर्वोत्तम देन है। प्रो. कृष्णचंद्र भट्टाचार्य का दर्शन इसी युग की देन है। उनके दर्शन के समर्थकों में धीरेन्द्रमोहन दत्त, टी.आर.वी. मूर्ति, कालिदास भट्टाचार्य, गोपीनाथ भट्टाचार्य, प्रवास जीवन चौधरी आदि उल्लेखनीय हैं। डॉ. रानाडे का दर्शन भी इसी युग की देन है। इसके समर्थकों में न.ग. दामले, जी.वी. तुलबुले, आर.आर. दिवाकर, के.वी. गर्जेन्द्रगडकर, रामनाथ कौल, वी. आर. कुलकर्णी, म.श्री. देशपांडे आदि उल्लेखनीय हैं। प्रशंसकों और समर्थकों की दृष्टि से श्री अरविंद, रमण महर्षि, डॉ. रानाडे, डॉ. राधाकृष्णन् और प्रो. कृष्णचंद्र भट्टाचार्य इस युग के महान दार्शनिकों में से हैं।

(च) स्वातंत्र्योत्तर युग (1952 से आज तक)

इसका आरंभ 1952 में होता है जिस वर्ष प्रथम भारतीय चुनाव हुआ। इलाहाबाद में 1954 ई. में अ.भा. दर्शन परिषद् की स्थापना इस युग की एक प्रमुख घटना है, जिसने हिंदी में दर्शन की प्रथम त्रैमासिक पत्रिका 'दार्शनिक' का प्रकाशन आरंभ किया है। दूसरी घटना डा. राधाकृष्णन् का दार्शनिक जगत से हटना है। इस युग में डॉ. राधाकृष्णन् युग की अधिकांश प्रवृत्तियों का ह्रास हो गया है। उदाहरण के लिए डॉ. राधाकृष्णन् युग के दार्शनिक, शास्त्रज्ञ, विद्वान थे। किंतु इस युग के दार्शनिक, शास्त्रज्ञ और विद्वान् होने का दावा नहीं करते हैं। फिर राधाकृष्णन् युग के अधिकांश दार्शनिक प्रत्ययवादी तथा अध्यात्मवादी थे और स्वातंत्र्योत्तर युग के दार्शनिक प्रायः प्रत्ययवाद का तो स्पष्ट निराकरण करते हैं। और इनमें से कुछ अध्यात्मवाद का भी स्पष्ट खंडन करते हैं और कुछ अध्यात्मवाद की चर्चा से ही दूर हैं। स्वदेशी चिंतन का अभाव तथा समकालीन पाश्चात्य दर्शन का घनघोर प्रभाव इस युग की प्रमुख विशेषता है। यथार्थवाद और भाषा-विश्लेषण ने प्रत्येक दार्शनिक को विमुग्ध कर लिया है। जो लोग प्रत्ययवाद और अध्यात्मवाद की चर्चा करने का प्रयास करते हैं वे भी भाषा-विश्लेषण के आलोक में मूल्यवाद को प्रस्तुत करते हैं। इस युग

के प्रमुख दार्शनिकों में प्रो. एन.बी. बनर्जी, डॉ. कालिदास भट्टाचार्य, डॉ. दयाकृष्ण, डॉ. आनंद गणेश जावडेकर, देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय, डॉ. गणेश्वर मिश्र आदि हैं।

6. स्वातंत्र्योत्तर दर्शन की मुख्य प्रवृत्तियाँ

राधाकृष्णन् युग का दार्शनिक शब्द प्रमाण को महत्त्व न देते हुए भी प्रस्थानत्रयी या किसी अन्य दार्शनिक ग्रंथ का भाष्यकार था। स्वतंत्र्योत्तर दार्शनिक भाष्यकार नहीं है। वह शब्द प्रमाण को महत्त्व नहीं देता है। किन्तु वह भाषा विश्लेषण और शब्द-शक्ति को महत्त्व देता है। और लौकिक भाषा-प्रयोग के विश्लेषण की विधि से या तर्क-शक्ति से अनुभव का विश्लेषण करता है।

स्वातंत्र्योत्तर युग की चार प्रवृत्तियाँ मुख्य हैं– मूल्यवाद, भाषा-विश्लेषण, अनुभववाद और साम्यवादी भौतिकवाद। इनमें से अंतिम दो अधिक संगठित हैं। इसलिए उनका वर्णन पहले किया जायगा।

(क) अनुभववाद

राधाकृष्णन् युग के जी.सी. चटर्जी, रासबिहारीदास और मानवेंद्रनाथ राय ने अपने को क्रमशः अनुभववादी, यथार्थवादी और भौतिकवादी घोषित किया था। इसके अतिरिक्त डॉ. यदुनाथ सिन्हा और नागराज शर्मा ने भारतीय प्रत्ययवाद के विरोध में भारतीय यथार्थवाद का परिष्कार किया था। ये सब यथार्थवादी दृष्टिकोण प्रचलित भारतीय प्रत्ययवाद और अद्वैतवाद के विरोध में थे और एक ओर अंग्रेज दार्शनिक बर्ट्रेंड रसेल, ह्वाइटहेड, जी.इ.मूर और सैम्युअल एलेक्जेंडर के प्रभाव के कारण थे तो दूसरी ओर द्वैतवेदांत, जैनमत और न्यायवैशेषिक के प्रभाव से। इनकी विचारधारा को हम स्वातंत्र्यपूर्व भारतीय यथार्थवाद कह सकते हैं।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय यथार्थवाद तार्किक प्रत्यक्षवाद से अधिक प्रभावित है। निकुंजबिहारी बनर्जी और के. सच्चिदानंद मूर्ति जैसे अनुभववादी हैं जो तार्किक प्रत्यक्षवाद से प्रभावित हैं।

के. सच्चिदानंद मूर्ति यथार्थवाद और अनुभववाद से प्रभावित अवश्य हैं, किंतु वे वस्तुतः मूल्यवादी दार्शनिक हैं और मूल्यों में उनका जितना विश्वास है, उतना वस्तुओं के मात्र सद्भाव में नहीं है। तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में केवल प्रो.

निकुंजबिहारी बनर्जी ही विशुद्ध यथार्थवादी हैं। यद्यपि ये अवस्था में रासबिहारी दास के समवयस्क हैं तथापि उनके दर्शन का स्पष्टीकरण स्वातंत्र्योत्तर युग में हुआ। यशदेवशल्य के सम्पादन में अनुभववाद नामक एक पुस्तक 1960 में प्रकाशित हुई थी जिसमें यशदेवशल्य के अतिरिक्त दयाकृष्ण, राजेन्द्रप्रसाद, श्रीचंद, नारायण मूर्ति, याकूब मसीह और सुरेशचंद्र के निबंध संकलित हैं। ये सभी निबंध समकालीन पाश्चात्य तार्किक प्रत्यक्षवाद पर हैं। इनमें कोई भारतीय दृष्टिकोण नहीं है और न इन लेखकों ने आगे चलकर अपने को तार्किक प्रत्यक्षवादी ही घोषित किया है। अतः इस पुस्तक का समकालीन भारतीय अनुभववाद में कोई महत्त्व नहीं है। किंतु इसके सभी लेखक तार्किक प्रत्यक्षवाद से प्रभावित हैं। 1959 में यथार्थवाद से 'समालोचक' नामक पत्रिका का एक विशेषांक निकला है जिसके सम्पादक डॉ. रामविलास शर्मा हैं। इसमें ब्रजगोपाल तिवारी, रामानंद तिवारी, सुरेन्द्र बारलिंगे और यशदेवशल्य के क्रमशः ये निबंध हैं– दर्शन में यथार्थवाद : दार्शनिक विश्लेषण। इन निबंधों से समकालीन भारतीय यथार्थवाद का रूप कुछ उभरता है। किंतु वह अभी प्राचीन भारतीय यथार्थवाद और समकालीन पाश्चात्य यथार्थवाद से स्वतंत्र नहीं हुआ है। यही आलोचना जी.सी. चटर्जी, रासबिहारी दास, यदुनाथ सिन्हा और निकुंजबिहारी बनर्जी के यथार्थवाद पर भी लागू होती है। आधुनिक भारतीय यथार्थवाद के किसी रूप का अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है।

(ख) साम्यवादी भौतिकवाद

साम्यवादी भौतिकवाद के मानने वालों में बौद्ध विद्वान् आ. नरेंद्रदेव, राहुल सांकृत्यायन और धर्मानंद कौशाम्बी को सबसे पहले गिना जाता है। किंतु वे यथार्थतः भौतिकवादी नहीं थे। वे बौद्ध सर्वास्तिवाद में प्रतिपन्न थे और साम्यवादी भौतिकवाद को उसी दिशा में एक विकसित मत मानते थे। साम्यवादी दृष्टिकोण से बौद्धमत नामक ग्रंथ में राहुल सांकृत्यायन, रामविलास शर्मा, देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय, वाई. बलराम मूर्ति और मुल्कराज आनंद के विभिन्न निबंध संग्रहीत हैं।[1] किंतु बौद्धधर्म से सर्वथा अप्रभावित भौतिकवादियों में मानवेंद्रनाथ राय अग्रगण्य हैं। यद्यपि वे आरंभ में मार्क्सवादी भौतिकवाद से प्रभावित थे तथापि उन्होंने एक ऐसे बुद्धिवाद और मानववाद का विशेष प्रचार किया जो अंत में साम्यवाद का विरोधी हो गया है। उन्होंने भारतीय प्रत्ययवादी और

1. देखें-बुद्धिज्म, द मार्क्सिस्ट एप्रोच, 1970.

अध्यात्मवादी विचारधारा का खंडन करके अपने मानववाद की स्थापना की है।

प्रो. डी.डी. कौशाम्बी और एस.ए. दांगे ने समस्त भारतीय इतिहास की ही व्याख्या मार्क्सवादी सिद्धांत ऐतिहासिक भौतिकवाद के द्वारा करने का प्रयास किया है। उनके पश्चात् देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय ने बताया है कि समस्त भारतीय दर्शनों का मूल स्वर भौतिकवाद है। इस प्रकार वर्तमान काल की राजनीतिक शक्ति का सहारा लेकर साम्यवादी विचारक कहने लगे हैं कि भारतीय दर्शन वास्तव में पश्चिमी दर्शन को कोई नया पाठ नहीं पढ़ाता है। उनका तात्पर्य यह है कि समकालीन भारत को अपने प्राचीन दर्शन का मूल मंतव्य है। कहना नहीं होगा कि यह विचारधारा निराधार है और कुछ चार्वाकमत, तंत्र आदि भारतीय दर्शनों को अधिक महत्त्व देने के कारण बनी है। अधिक से अधिक यह भारतीय दर्शन का एक पक्ष हो सकती है और इसे समस्त भारतीय दर्शनों के स्थान पर प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता है। यह समस्त भारतीय दर्शनों का समन्वय नहीं है।

(ग) भाषा-विश्लेषण

समकालीन पाश्चात्य भाषा-विश्लेषण का भारत में प्रचार करने वालों में धीरेंद्रमोहन दत्त, कालिदास भट्टाचार्य, दयाकृष्ण, के.जे. शाह, यशदेवशल्य आदि प्रमुख हैं। प्राचीन भारतीय भाषा-विश्लेषण और भाषा-दर्शन का प्रचार करनेवालों में गौरीनाथ शास्त्री, के.ए. सुब्रह्मण्यम, अय्यर, के. कुंजनी, राजा लक्ष्मण स्वरूप, रामचंद्र पांडेय, विष्णु प्रसाद भट्टाचार्य प्रमुख हैं। इन दोनों प्रकारों से स्वतंत्र कोई नया भारतीय भाषा-विश्लेषण भारत में पैदा हो रहा है, इसकी जानकारी इस लेखक को नहीं है। संभव है इन दोनों प्रकारों के विद्वानों ने अपने-अपने क्षेत्र के परिष्कार में कहीं-कहीं मौलिकता प्रदर्शित की हो। इस मौलिकता को लेकर आगे चलकर समकालीन भारतीय भाषा-विश्लेषण का संप्रदाय खड़ा हो सकता है। किन्तु अभी इसकी संभावना दूरवर्ती है, यह यथार्थ नहीं है। भाषा-विश्लेषण के क्षेत्र में एक ओर प्राचीन भारतीय व्याकरण दर्शन का परिष्कार हो रहा है और दूसरी ओर आधुनिक पाश्चात्य भाषा-विश्लेषण का अनुकरण।

(घ) मूल्यवाद

हमारे विचार से स्वातंत्र्योत्तर युग की सबसे प्रबल दार्शनिक धारा मूल्यवाद है। जैसे पश्चिम में तार्किक प्रत्ययवाद का विकास मूल्यात्मक प्रत्ययवाद में

हुआ, वैसे भारतीय प्रत्ययवाद का भी विकास परमार्थवाद या परम मूल्यवाद में हुआ है। परम मूल्यवाद ने एक और भावाद्वैत, आत्माद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत, भेदाभेद आदि के संघर्षों को शांत कर दिया है, क्योंकि वे सभी एक परमार्थ में विश्वास करते हैं और दूसरी ओर इसने परमार्थ में प्रकारता में भेद मानकर यथार्थवाद-प्रत्ययवाद, भौतिकवाद-अध्यात्मवाद आदि के विवाद को भी समाप्त कर दिया है। जिन लोगों ने मानववाद को अग्रसर किया है वे भी मूल्यवादी ही हैं, क्योंकि वे मानवीय मूल्यों की उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील हैं। भाषा-विश्लेषण और अनुभववाद भी सुंदरम् और शिवम् जैसे मूल्यों को स्वीकार करते हैं और उनकी एक ऐसी व्याख्या देने का प्रयत्न करते हैं जिससे उनका संबंध हो जाय। इसी प्रकार जनता-जनार्दन और दरिद्रनारायण की सेवा एक नया मूल्य है। विभिन्न धर्मों की एकता का जो प्रचार करते हैं वे एक प्रकार से इसी आध्यात्मिक मूल्य को विकसित करते हैं। इसी प्रकार समाजवाद और साम्यवाद के द्वारा भी लोग केवल मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा में संलग्न हैं। अतः हम मानवतावाद को एक ऐसा मूल्य सिद्धांत मान सकते हैं। फिर भी जो लोग इस सिद्धांत का विशेष प्रचार-प्रसार कर रहे हैं, उनमें डॉ. राधा कमल मुकर्जी, डॉ. दयाकृष्ण, डॉ. नंदकिशोर देवराज, अनंतगणेश जावड़ेकर आदि उल्लेखनीय हैं। प्रस्तुत लेखक भी मुख्यतः मूल्यवाद में ही प्रतिपन्न है। राम मनोहर लोहिया (1910-1967) का समाजवाद और दीनदयाल उपाध्याय का एकात्म मानववाद मूल्यवाद के ही अंतर्गत हैं। एकात्म मानववाद अद्वैत वेदांत के सिद्धांतों का सामाजिक क्षेत्रों में प्रयोग है। किंतु लोहिया का समाजवाद एक सर्वथा नवीन विचार-दर्शन है। वह एक संपूर्ण समाज-दर्शन है। सात क्रांतियों का सिद्धांत, चौखंभा राज्य की अवधारणा, विशेष अवसर का सिद्धांत, इंग्लैंड, अमरीकी तथा रूसी विचारधाराओं से समान दूरी का सिद्धांत, लोकभाषा, लोकभूषा, लोकाहार, लोकरीति और लोकदृष्टि का विकास श्रमजीवी और बुद्धिजीवी की आजीविका में संभव बराबरी आदि अनेक सिद्धांतों को जन्म देकर डॉ. लोहिया ने भारतीय समाजवाद को सूत्रबद्ध कर दिया है। यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं है कि उनका विचार-दर्शन एक नयी क्रान्ति का दर्शन है, वे भारतीय समाजवाद के संस्थापक और सूत्रकार हैं तथा उन्होंने महात्मा गांधी के विचार-दर्शन में अहिंसात्मक विधियों का प्रयोग करके एक नया विकास किया है। उनके दर्शन का विकास विशेषतः 1952 ई. से लेकर 1958 ई. तक हुआ है। अतः स्वातंत्र्योत्तर दर्शन में सबसे प्रथम स्थान उन्हीं के दर्शन का है। उन्होंने एक समग्र दृष्टि दी है, जिससे नवमूल्यांकन किया जा सकता है, प्राचीन और

कालातीत मूल्यों और उनकी मूर्तियों की स्थापना की जा सकती है। उनकी सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने मार्क्सवाद से आगे जाने वाला एक समाजवादी दर्शन दिया है और मार्क्सवाद की समाजवादी आलोचना की है तथा उन नवयुवकों को एक विचारदर्शन दिया है जो इंग्लैंड, अमरीका की वर्तमान दार्शनिक पद्धतियों से स्वतंत्र और अधिक प्रगतिशील एक विचार-पद्धति को विकसित करना चाहते हैं। वे सक्रिय राजनीति में भी आगे बढ़े थे और भारतीय राजनीतिक प्रतिपक्ष को वाणी, मन और कर्म से सबल करने में लगे थे। इस कारण भारत सरकार ने इनके विचार दर्शन का विरोध किया और दार्शनिक जगत में उनको अपने जीवनकाल में मान्यता न मिल पायी।

पाश्चात्य मूल्यवाद से समकालीन भारतीय मूल्यवाद की एक विशेषता यह है कि यह सुंदरम् से अधिक शिवम् को महत्त्व देता है, जब कि पाश्चात्य मूल्यवाद सुंदरम् को शिवम् से अधिक महत्त्व देता है। पुनश्च प्राचीन भारतीय परमार्थवाद भागवतम् या पावनत्व को शिवम् से भी अधिक महत्त्व देता था किंतु समकालीन भारतीय मूल्यवाद शिवम् को सर्वोत्तम मूल्य मानता है और जो कुछ अन्य मूल्यवान हो सकता है, उसको वह शिवम् से निम्नतर रखता है। और जहाँ, प्राचीन भारतीय परमार्थवाद मूल्य और मूल्य-लाभ को व्यक्तिगत मानता था वहाँ समकालीन भारतीय मूल्यवाद मूल्य और मूल्य-लाभ दोनों को समाजगत मानता है। मूल्यों का स्वरूप सामाजिक है और उनका स्थिरीकरण भी समाज के रूपों में ही होता है। सामाजिकता मूल्यों का प्रमुख आयाम है। नवमूल्यांकन और नवमूल्य-परिवर्तन समकालीन भारतीय जीवन की सबसे बड़ी घटना है। पुराने मूल्य टूट रहे हैं और नये मूल्य प्रतिष्ठित हो रहे हैं। धीरे-धीरे प्राचीन जीवन-पद्धति और पाश्चात्य जीवन-पद्धति दोनों समाप्त हो रही हैं और एक नयी जीवन-पद्धति निकल रही है। यह सब संक्रमणकालीन संकट के कारण सर्वसाधारण को स्पष्ट नहीं हो रहा है। किंतु जिनमें दूर दृष्टि और मूल्यबोध है। वे समझ रहे हैं कि समकालीन भारतीय जन-मानस और जन-जीवन मूल्य मंथन कर रहा है और इस मंथन में मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। संस्कृति दर्शन और धर्म दर्शन के नाम से उन प्राचीन मूल्यों का संरक्षण हो रहा है जो आज भी उपयोगी हैं। राजनीतिक सुधार, संस्था-सुधार, कानून-परिवर्तन आदि से नये उपयोगी मूल्यों की अवतारणा हो रही है। कला और विद्या का समाजोपयोगी पक्ष विकसित हो ही रहा है। स्वतंत्रता का लाभ अधिक से अधिक लोगों को मिलता जा रहा है।

किन्तु भारतीय मूल्यवाद अभी बचपन में ही है। नये मूल्यों की पर्याप्त खोज हो जाने के उपरांत ही मूल्यवाद का शास्त्रीय रूप उभरेगा। किंतु नव मूल्यबोध बहुतों को उपलब्ध हो चुका है, यह कम महत्त्व की बात नहीं है। आखिरकार दर्शनशास्त्र के अध्ययन का फल एक मूल्यबोध प्राप्त करना तो ही है।

7. प्रकीर्ण चिंतन की सामूहिक परंपरा

प्राचीन भारतीय दर्शन के सभी संप्रदाय ऋषि-प्रोक्त या आचार्य-प्रोक्त थे। प्रत्येक संप्रदाय के परवर्ती दार्शनिक अपने आद्य ऋषि या आचार्य के ग्रंथों का भाष्य, वार्तिक, टीका-टिप्पणी, व्याख्यान आदि लिखते थे। वैसे भी अपने संप्रदाय के सिद्धांतों से बंधे रहते थे। इसके विपरीत पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में सत्रहवीं शती से उन्नीसवीं शताब्दी तक जितने दार्शनिक हुए हैं वे प्रायः स्वतंत्र विचारक थे और अपना-अपना दार्शनिक संप्रदाय स्थापित करते थे। इन दोनों मार्गों से भिन्न एक तीसरा मार्ग बीसवीं शताब्दी में विकसित हुआ। इस शती के आरंभ से ही वहाँ प्रत्ययवाद, यथार्थवाद, और आलोचनात्मक यथार्थवाद नामक ऐसी विचारधाराओं का जन्म हुआ जो वास्तव में अनेक दार्शनिकों के एक समान चिंतन से उद्भूत और विकसित हुई। उनके पश्चात् वहाँ तो तर्कीय प्रत्यक्षवाद, मूल्यवाद, भाषा-विश्लेषण और अस्तित्व का उद्भव और विकास हुआ उसमें भी अनेक दार्शनिकों का योगदान रहा है। इस प्रकार सहचिंतन या सामूहिक चिंतन के फलस्वरूप यहाँ दार्शनिक क्रियाओं में सघनता और व्यापकता आ गयी है।

बीसवीं शती का भारतीय दर्शन भी इसी सामूहिक चिंतन या सहचिंतन का परिणाम है। यद्यपि टैगोर, गांधी और राधाकृष्णन् बीसवीं शती के प्रधान दार्शनिक माने जाते हैं, तथापि उनकी विचारधारा में उनके अनेक सहयोगियों का भी योगदान निहित है। यह कहने में भी अतिशयोक्ति नहीं प्रतीत होती है कि यदि इन सहयोगियों का चिंतन उनके साथ न होता तो वे अपनी विचारधारा को सोचने, सँवारने और संगठित करने में सफल न होते। अतएव समकालीन भारतीय दर्शन प्राचीन ग्रंथवाद, गुरुवाद और आप्ततावाद से मुक्त है। प्रत्ययवाद, मूल्यवाद, यथार्थवाद, भाषा-विश्लेषण और समाजवाद को जन्म देने में अनेक विचारकों का एक समान महत्त्व है। किसी एक विचारक को इन प्रवृत्तियों का मुख्य जनक या प्रवक्ता नहीं माना जा सकता है। स्वातंत्र्योत्तर दर्शन मूलतः

फुटकर दार्शनिक चिंतन में ही विश्वास करता है और मानता है कि दार्शनिक संप्रदाय या निकाय का निर्माण करना दोषरहित नहीं है। चिंतक निसर्गतः प्रकीर्ण है। इन प्रकीर्ण चिंतनों को एकत्र करके एक निकालय की संरचना करना प्रथम कोटि का दार्शनिक चिंतन नहीं है। वह एक द्वितीय कोटि का चिंतन है और दार्शनिक न होकर ऐतिहासिक अधिक होता है। इस कारण स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक किसी दार्शनिक निकाय में विश्वास नहीं करते हैं। वे उन्मुक्त दृष्टिकोण से प्रत्येक समस्या पर विचार करते हैं। उनके लिए दर्शन से अधिक दृष्टि का महत्त्व है। दृष्टि का विवेचन करने के कारण अब दर्शन के संप्रत्यय की भी विशेष छानबीन की जा रही है। दर्शन क्या है? दर्शन की परिभाषा क्या है? इस प्रश्न के उत्तर जो प्राचीन काल में दिये गये थे, उनसे भिन्न और नये उत्तर दिये जा रहे हैं। दर्शन विश्लेषण है, दर्शन मूल्यांकन है, दर्शन वैज्ञानिक अनुसंधान की पद्धति है, दर्शन इतिहास है, दर्शन संस्कृति है, दर्शन अध्यारोपवाद है, दर्शन निषेध की गति है इत्यादि उत्तर आज वैसे ही दिये जा रहे हैं जैसे प्राचीन भारतीय दर्शन में कहा जाता था कि दर्शन लोकायत है, दर्शन मीमांसा है, दर्शन सम्यक् संबोधि है, दर्शन तर्कणा है, दर्शन निदिध्यासन है, दर्शन योग है, दर्शन संयम है, दर्शन आत्मज्ञान है, दर्शन संश्लेषण या समन्वय है, आदि। इस प्रकार के विवेचनों ने सिद्ध कर दिया है कि अभी तक समकालीन भारतीय दर्शन में वास्तव में समकालीनता और भारतीयता का ही विचार अधिक हो रहा था और अब उससे आगे बढ़कर दर्शन की प्रकृति, गति और नियति पर विचार होने लगा है।

दृष्टि का महत्त्व स्थापित हो जाने से प्राचीन भारतीय दर्शन की प्रत्येक दृष्टि का एक नया मूल्य, उपयोग और प्रयोग हो रहा है। लोकायत दृष्टि का प्रयोग साम्यवादी विचारक कर रहे हैं, वैशेषिक दृष्टि का प्रयोग यथार्थवादी विचारक कर रह हैं, वेदांत की दृष्टि का प्रयोग परमार्थवादी कर रहे हैं और सांख्य तथ वेदांत की दृष्टियों का प्रयोग बुद्धिवादी कर रहे हैं। बौद्ध दृष्टियों और जैन दृष्टि का भी उपयोग आंरभ है। इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर दर्शन प्राचीन भारतीय दर्शन की अपनी विरासत का नया प्रयोग कर रहा है। यह प्रयोगवाद नवीनतम स्वातंत्र्योत्तर दर्शन है। इसने सिद्ध कर दिया है कि भारत पाश्चात्य दर्शन की समस्याओं का भी समाधान कर रहा है और वह अपने दृष्टिकोण से पाश्चात्य दर्शन की समस्याओं का भी समाधान कर रहा है। पश्चिम ने भारत पर दार्शनिक आक्रमण उन्नीसवीं शती से प्रारंभ किया है। किंतु राजा राममोहन राय से ही भारतीय दार्शनिकों ने पश्चिम पर भी प्रतिआक्रमण करना आरंभ

किया है। राधाकृष्णन् युग में जैसे भारत को राजनीतिक स्वतंत्रता मिली वैसे ही उसको दार्शनिक स्वतंत्रता भी मिली है। इस युग के कुछ दार्शनिकों ने अपने-अपने स्वतंत्र दर्शन स्थापित किये हैं। इसी बीच जब पश्चिम में तत्त्व दर्शन का निराकरण कर दिया गया तो उस घटना का कोई प्रभाव भारत पर नहीं पड़ा, क्योंकि भारत तत्त्व दर्शन के निराकरण को भी एक तत्त्वदर्शन बहुत पहले से मानता रहा है। फलतः जब पश्चिम में भी नयी प्रवृत्तियों का जन्म हुआ, जैसे भाषा-विश्लेषण, अस्तित्ववाद और केनामेनोलॉजी (प्रदृश्यात विज्ञान), तब इन प्रवृत्तियों की समकक्ष धाराएँ प्राचीन भारतीय दर्शन में भी लोगों को दीख पड़ीं। भाषा-विश्लेषण और फेनामेनालॉजी से भारतीय दर्शन को बहुत लाभ होने की संभावना है, क्योंकि ये दर्शन का मार्ग प्रशस्त करने की विधियाँ हैं, जिनका उपयोग करके भारतीय दार्शनिक अपनी दृष्टि को सबल बना सकते हैं। भाषा-विश्लेषण और फेनामेनालॉजी का निर्माण उस योरोप में हुआ जिसमें संस्कृत भाषा और भारतीय दर्शन का गहरा प्रभाव पड़ा था। इन दोनों प्रवृत्तियों की संरचना में साक्षात् या परम्परया प्राचीन भारतीय दर्शन का भी योगदान रहा है। इसी प्रकार विश्वव्यापी संस्कृति-दर्शन के निर्माण में भी प्राचीन भारतीय दर्शन का ज्ञान सहायक रहा है। इन प्रवृत्तियों के अधार पर हम कह सकते हैं कि भारतीय दर्शन ने पाश्चात्य दर्शन के साथ मिलकर जो सांस्कृतिक भूमि जर्मन, फ्रांस, इंग्लैंड, अमेरिका आदि देशों में बनायी है, उसी में ये दर्शन पनपे हैं, समकालीन पाश्चात्य दर्शन पर प्राचीन भारतीय दर्शन का प्रभाव पड़ा है या पड़ रहा है, यह एक निर्विवाद सत्य है।

दर्शन या विश्व-दर्शन के इतिहास में भारतीय दर्शन का इतिहास एक अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण भाग है। इस तथ्य का अनुभव सर्वप्रथम पाल डायन (1845-1918) ने किया जिन्होंने जर्मन भाषा में दर्शन का एक सामान्य इतिहास (जनरल हिस्ट्री ऑफ फिलासफी) तीन भागों में 1897-1917 में लिखा और उसके प्रथम भाग में संपूर्णतया भारतीय दर्शन का वर्णन किया। 1952 में डॉ. राधाकृष्णन् के सम्पादकत्व में भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय ने एक दर्शन का इतिहास अंग्रेजी में प्रकाशित किया है जिसमें एक भाग पूर्वी दर्शन पर है और दूसरा भाग पश्चिमी दर्शन पर। पूर्वी दर्शन में अधिकांशतः भारतीय दर्शन का विचार है। मास्को में विश्व-दर्शन का इतिहास 6 भागों में रूसी भाषा में प्रकाशित है, जिसमें भारतीय दर्शन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके अतिरिक्त भारतीय दर्शन के जितने विश्वकोश, अंग्रेजी, जर्मन रूसी आदि में प्रकाशित हैं, उनमें भारतीय दर्शन के विभिन्न वादों का वर्णन है। उदाहरण के लिए डेगोवर्ट

डी लेस और एम. रोजेन्थल तथा पी० यूडिन द्वारा क्रमशः अमेरिका और रूस से प्रकाशित दर्शन-विश्वकोश में पाश्चात्य दर्शन के साथ ही भारतीय दर्शन का भी पर्याप्त उल्लेख है। किंतु अभी आधुनिक भारतीय दर्शन का उतना महत्त्व नहीं है, जितना प्राचीन भारतीय दर्शन का।

अभी तक भारतीय दर्शन की मान्यता और प्रतिष्ठा का दाता इंग्लैन्ड और अमेरिका या अंग्रेजीभाषी राष्ट्र थे। इंगलैंड और अमेरिका ने जिसको दार्शनिक कहा उसी को हमने भी भारत में दार्शनिक मान लिया। किंतु अब रूस भी भारतीय दर्शन की मान्यता और प्रतिष्ठा का दाता हो रहा है। इंगलैंड, अमेरिका और रूस की सामाजिक और राजनीतिक पद्धतियों में अंतर है। इस कारण भारत में दार्शनिक इस समय प्रायः दो प्रकार के हैं– एक वे हैं जो अंग्रेजी दर्शन या इंगलैंड, अमेरिका से प्रभावित हैं और दूसरे वे हैं जो रूसी साम्यवाद से प्रभावित हैं। यह दार्शनिक प्रतिबद्धता स्वातंत्र्योत्तर दर्शन में बड़ा प्रभाव डाल रही है। इससे दार्शनिकों के दो विरोधी दल पनप रहे हैं। इन दोनों दलों के विरोध में तटस्थता, दल-निरपेक्षता और स्वदेशी प्रगति का आह्वान राममनोहर लोहिया ने दिया है। उनके प्रभाव के कारण स्वातंत्र्योत्तर दर्शन की एक ऐसी विचारधारा बढ़ रही है जो अमरीकी तथा रूसी दोनों दर्शनों की आलोचना करती है और भारतीय दृष्टियों का नव प्रयोग स्वदेशी चिंतन के आधार पर करती है। हम कब अपने दार्शनिकों को पहचानेंगे तथा उनको प्रतिष्ठा देंगे? कब हम विदेशी मान्यता और प्रतिष्ठा की लालसा का परित्याग करेंगे?

8. कुटी पर सूर्योदय

भारतीय तर्कशास्त्र में एक दोष है जिसे संस्कृत में 'कुट्यां प्रभातं' या 'कुटी प्रभात न्याय' कहा जाता है। इसी को हमने कुटी पर सूर्योदय कहा है। एक व्यापारी अपना माल एक बैलगाड़ी पर किसी नगर को ले जा रहा था। नगर में प्रवेश करने पर एक कुटी मिलती थी, जहाँ उसको चुँगी देनी पड़ती थी। उसने चुंगी से बचने के लिये एक ऐसा रास्ता पकड़ा जिस पर वह कुटी न पड़े। इस लक्ष्य से वह रात भर बैलगाड़ी चलाता रहा। किंतु प्रातः वह उसी कुटी पर पहुँच जाता है। वह चुंगी देने से बच नहीं सकता। बिलकुल यही हाल आधुनिक भारतीय दर्शन का है। आज पुनः वह उसी परिस्थिति में आ गया है जहाँ वह राजा राममोहन राय के युग में था।

उस समय दार्शनिक भाषा मूलतः संस्कृत थी और उसके अतिरिक्त हिंदी एक दार्शनिक भाषा के रूप में विकसित हो रही थी। राजा राममोहन राय के युग ने हिंदी के विकास को रोका और संस्कृत के स्थान पर अंग्रेजी को दार्शनिक विचार-विमर्श की भाषा बना दिया। उन्होंनें कोई ऐसा नया चिंतन नहीं दिया जिससे एक नया दर्शन उत्पन्न होता। उन्होंने पश्चिम से केवल समन्वय की बात ही नहीं चलायी किन्तु सार्वभौम या विश्वधर्म की कल्पना भी की और वेदांत धर्म का परिष्कार किया। उनके अनंतर भारतीय दर्शन का विकास आज तक अंग्रेजी के माध्यम से कई महत्त्वपूर्ण अर्थों में हुआ। किन्तु भारतीय दर्शन की मौलिक परिस्थिति यथार्थतः आज भी वही है।

पुनश्च उस युग में संस्कृत भाषा नव-चिंतन का माध्यम नहीं थी। उसमें उस समय शब्द कल्पद्रुम जैसे विश्वकोश बने तथा नव्य न्याय के अनेक टीकाग्रंथ और संग्रहग्रंथ लिखे गये। आज अंग्रेजी संस्कृत हो गयी है। उसमें संस्कृत और पालि के दर्शनों के बहुत अनुवाद और भाष्य हो गये हैं। अब उनका इतिहास, कोश और विश्वकोश बन रहा है। फिर जैसे उस युग में वैसे आज भी नव्य न्याय की ओर अंग्रेजी में काम करने वाले दार्शनिकों का ध्यान आकृष्ट हुआ है। गोपीनाथ कविराज, उमेश मिश्र, दिनेशचंद्र भट्टाचार्य, डैनियल, एच.एच. इंगल्स, विमल कृष्ण मतिलाल और जितेन्द्रनाथ महंती ने नव्य-न्याय के क्षेत्र में अंग्रेजी मे एक विश्लेषणात्मक साहित्य तैयार किया है जो मूलतः इतिहास, अनुवाद तथा टीका-टिप्पणी से संबंधित होते हुए भी कहीं-कहीं पाश्चात्य प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र या तर्कगणित से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। नव्य-न्याय का यह अनुशीलन अमेरिका, हॉलैंड, जर्मनी और भारत में हो रहा है। कदाचित् यह इस दृष्टिकोण से है कि चूँकि अभी तक नव्य-न्याय के ग्रंथों के अनुवाद और अध्ययन आधुनिक भाषाओं में नहीं हुए थे, इसलिए इसका अध्ययन होना चाहिये। पुनश्च कुछ लोगों का विचार है कि आधुनिक तर्कशास्त्र के विकसित हो जाने से नव्य-न्याय के साथ उसकी तुलना करने में भारतीय नैयायिकों के सिद्धान्तों का अच्छा वर्णन होगा। किंतु इस अध्ययन का जो भी महत्त्व है, वह ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टिकोण से ही है। इससे एक नया तर्कशास्त्र भविष्य में विकसित होगा, इसकी संभावना कम ही है। कुछ भी हो, अंग्रेजी में हतिहास और कोष लिखने की प्रवृत्तियाँ तथा नव्य-न्याय के किसी सिद्धांत को लेकर विशेषतः गंगेश की तत्त्व-चिंतामणि के किसी अंश को लेकर उसका अनुवाद, टिप्पणी और व्याख्यान करना वैसे ही है, जैसे राजा राममोहन राय के युग में संस्कृत में ये सारे कार्य होते थे। आधुनिक भारतीय दर्शन बहुत

चक्कर लगाकर पुनः अपने प्रस्थान-बिन्दु पर आ गया है।

एक नया प्रस्थान-बिंदु हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के माध्यम से वही सब कुछ करना है जो राजा राममोहन राय के युग से लेकर आज तक अंग्रेजी में हुआ है। यह अंग्रेजी के स्थान पर हिंदी या अन्य भारतीय भाषा को प्रतिष्ठित करता है। हिंदी में इस दिशा में काफी काम हो रहा है। संस्कृत और हिंदी के मध्य में जो अंग्रेजी आ गयी थी, वह अब हट रही है। हिंदी अब सीधे संस्कृत की परंपरा में आकर अखिल भारत के दार्शनिक विचार-विनिमय की भाषा बन रही है। किंतु इस ओर दो मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं– एक तो वही अनुवाद और भाष्य की प्रवृत्ति जो हिंदी को अंग्रेजी से विरासत में मिली है, और दूसरी वह प्रवृत्ति जो हिंदी की अपनी है, और जो राजा राममोहन राय युग के पहले से ही चली आ रही है। हिन्दी-दर्शन की यह प्रवृत्ति स्वातंत्र्योत्तर दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है। यह मौलिक चिंतन और लेखन की प्रवृत्ति है।

इस प्रवृत्ति का इतिहास बहुत लंबा है। कदाचित् इसका आरंभ हिंदी भाषा के आरंभ से ही होता है, किंतु आधुनिक युग में साधु निश्चलदास (लगभग 1850 ई.) से इस प्रवृत्ति का आरंभ माना जा सकता है। साधु निश्चलदास ने विचारसागर और वृत्तिप्रभाकर नामक दो मौलिक वेदांत ग्रंथ हिंदी में रचे हैं। नवन्याय और अद्वैत वेदांत के विद्वान साधु मोहनलाल (लगभग 1900 ई.) ने वृत्तिप्रभाकर का संस्कृत में अनुवाद किया है। वासुदेव ब्रह्मेंद्र सरस्वती ने विचार-सागर का अनुवाद संस्कृत में विचार-सागर नाम से 1964 में किया है। निश्चलदास की परंपरा में दादू पंथ, कबीर पंथ, और उदासीन संप्रदाय में अनेक साधुओं ने संस्कृत के वेदांत-ग्रंथों का अनुवाद हिंदी में किया है, और हिंदी में मौलिक ग्रंथ भी लिखे हैं। स्वामी दयानंद सरस्वती ने अपना मौलिक चिंतन हिंदी में ही किया है। उनके अनुयायियों ने भी हिंदी को ही अपने मौलिक चिंतन और लेखन का माध्यम बनाया है। डॉ. भगवानदास, आ. नरेंद्रदेव, डॉ. संपूर्णानंद, राहुल सांकृत्यायन, भीषणलाल आत्रेय, गंगाप्रसाद उपाध्याय, दीवानंद आदि ने दर्शन के मौलिक ग्रंथ हिंदी में लिखे हैं। गोपीनाथ कविराज के अनेक मौलिक निबंधों का संग्रह 'भारतीय संस्कृति और साधना' नामक ग्रंथ में प्रकाशित है। 'भारतीय वाङ्मय में शाक्त दृष्टि' हिन्दी में शाक्तमत पर उनकी एक प्रौढ़ रचना है। डॉ. संपूर्णानन्द ने 'चिद्विलास' और 'योगदर्शन' नामक दो श्रेष्ठ ग्रंथ लिखे हैं। भरतसिंह उपाध्याय ने 'बौद्धदर्शन और अद्वैत वेदांत' नामक एक शोधपूर्ण ग्रंथ लिखा है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने भारतीय

दर्शन, बौद्धदर्शन आदि ग्रंथ लिखकर दर्शन के इतिहास का पांडित्यपूर्ण वर्णन किया है। डॉ. भीषणलाल आत्रेय ने योगवशिष्ठ सार, भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास आदि पांडित्यपूर्ण ग्रंथ लिखे हैं।

हिंदी में दर्शन के मौलिक ग्रंथों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। प्रस्तुत लेखक ने गांधी का दर्शन, स्पिनोजा का दर्शन, कांट का दर्शन, नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, भारतीय दर्शन की कहानी, भारतीय दर्शन शास्त्र, आधुनिक दर्शन की भूमिका आदि मौलिक ग्रंथ लिखे हैं। यशदेवशल्य ने दार्शनिक विश्लेषण तथा ज्ञान और सत् नामक ग्रंथ समकालीन पाश्चात्य दर्शन पर विवेचनात्मक प्रणाली में लिखे हैं। डॉ. देवराज ने संस्कृति का विवेचन नामक एक मौलिक ग्रंथ लिखा है। बंगला भाषी होते हुए भी साधु शांतिनाथ ने मायावाद, अद्वैत सिद्धांत और प्राच्य दर्शन समीक्षा नामक व्याख्यानात्मक और आलोचनात्मक ग्रंथ हिन्दी में लिखे हैं। आचार्य सुखलाल ने गुजराती तथा हिंदी में जैनमत पर अनेक प्रौढ़ ग्रंथ लिखे हैं। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, महात्मा गांधी तथा आचार्य विनोबा भावे ने गीता के भाष्य लिखे हैं। तिलक ने मूलतः मराठी में लिखा था। किंतु महात्मा गांधी और विनोबा ने हिंदी में ही लिखा है। बंगला भाषी स्वामी भागवतानंद सरस्वती ने गीता पर एक विशाल भाष्य गीतामृतमंजूषा 19 खंडों में हिंदी में लिखा है, जिनमें से अभी तक 16 खंड गीता मंडली, इलाहाबाद से प्रकाशित हैं।

हिंदी में पाश्चात्य तथा भारतीय दर्शन ग्रंथों के अनुवाद भी अधिक संख्या में उपलब्ध हैं। अनेक अनुवाद ग्रंथ प्रतिवर्ष प्रकाशित भी हो रहे हैं। स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गांधी और श्री अरविंद के सभी ग्रंथ हिंदी में प्रकाशित हो गये हैं। प्लेटो, अरिस्टाटिल, स्पिनोजा, बर्कले, ह्यूम, कांट, टी.एच. ग्रीन, ब्रैडले, विट्गेन्स्टाइन आदि के मौलिक ग्रंथों के अनुवाद हिंदी में हो गये हैं। भाषा परिच्छेद, शारीरिक भाष्य, पंचदशी, वेदांतसार, चित्सुखी, खंडन खाद्य, प्रशस्त पाद भाष्य, न्यायकंदली, वात्स्यायन भाष्य, व्यास भाष्य, तत्त्वकौमुदी, शबर-भाष्य[1], न्यायविंदु, विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि आदि मौलिक ग्रंथों के हिंदी अनुवाद भी हो गये हैं। इस प्रकार हिंदी माध्यम से दर्शन का अनुशीलन और चिंतन करने वालों को पर्याप्त सामग्री है। इस दिशा में यह भी उल्लेखनीय है कि अब दर्शन के शोधग्रंथ भी हिन्दी में निकलने लगे हैं।

---

1. इसका अनुवाद गंगाप्रसाद उपाध्याय ने किया है जो अभी तक अप्रकाशित है।

आधुनिक भारतीय भाषा के माध्यम से सर्वथा नव चिंतन करना राजा राममोहन राय युग की मुख्य समस्या थी जो उस समय टाल दी गयी थी। आज इस समस्या को टाला नहीं जा सकता है। आज प्राचीन पाश्चात्य दर्शन, अमेरिका इंग्लैंड का प्रभाव, रूसी साम्यवाद का प्रभाव आदि भारतीय चिंतन पर प्रभावकारी हैं, किंतु इन प्रभावों से स्वतंत्र एक दार्शनिक मत का निर्माण करना ही असली समस्या है। स्वातंत्र्योत्तर युग का दार्शनिक इसके प्रति जागरूक है, यही बहुत बड़ी उपलब्धि है। इस जागृति का प्रतिफल अवश्य ही यथाकाल होगा।

●●●

अध्याय 2

श्री रामकृष्ण देव

जीवन-वृत्त

जिस प्रकार प्लेटो के कारण सुकरात प्रसिद्ध हुए, ठीक उसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द के कारण श्री रामकृष्ण प्रसिद्ध हुए। इस प्रकार के कथन का यह अर्थ कदापि नहीं है कि सुकरात और श्री रामकृष्ण का स्वयं में कोई महत्त्व नहीं था। यहाँ इस कथन का केवल यही भाव है कि प्लेटो और स्वामी विवेकानन्द की रचनाओं के कारण ही संसार इन महापुरुषों के वास्तविक महत्त्व को समझ सका।

ऐसा कहा जाता है कि समाज की तरह संसार भी श्रम-विभाजन पर आधारित है। जगत् एक चेतन सृष्टि है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के स्वाभाविक धर्म ईश्वर द्वारा पहले से ही निर्धारित किये जा चुके हैं। इसी श्रमविभाजन के आधार पर पाश्चात्य देशों को भौतिक शक्तियों के ऊपर विजय प्राप्त करने का कार्य दिया गया है तो पौरस्त्य देशों को प्रकृति ने आध्यात्मिक शक्तियों के विकास का कार्य सौंप दिया है। यदि पश्चिम ने बड़े-बड़े वैज्ञानिकों को उत्पन्न किया तो भारत में बड़े-बड़े संन्यासी व भगवान उत्पन्न हुए। भारत की दृष्टि सदा आध्यात्मिक रही है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि भारत ने अपने जीवन में भौतिकता की उपेक्षा की। भारत की दृष्टि सदा समन्वयात्मक रही है। उसने भौतिकता का कभी अनादर नहीं किया पर उसे साध्य या लक्ष्य रूप में कभी भी स्वीकार नहीं किया। भौतिकता जीवन का एक साधन भले ही हो, व साध्य कभी नहीं हो सकता। भारत ने मनुष्य-जीवन के चार पुरुषार्थों की गणना की है : अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष। अर्थ हमारे जीवन का आसन्न लक्ष्य भले ही हो वह जीवन का अंतिम लक्ष्य कदापि नहीं हो सकता।

मनुष्य का जन्म प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए हुआ है। प्रकृति दो प्रकार की है : वाह्य प्रकृति और अंतः प्रकृति। पाश्चात्य जाति केवल वाह्य प्रकृति को ही सब कुछ समझती है और उसी को नियंत्रित करने में अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझती है। पर आज पश्चिम के वैज्ञानिक भी इस तथ्य को

स्वीकार करने लगे हैं कि केवल वाह्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करने से ही उन्हें सुख-संतोष की उपलब्धि नहीं हो सकती। हमारी अंतःप्रकृति वाह्य प्रकृति से भी कहीं महत्तर है जिस पर विजय प्राप्त किये बिना हमें स्थायी शांति कदापि नहीं प्राप्त हो सकती। भारत ने दोनों प्रकृतियों को जीतने की चेष्टा की। बिना मन पर विजय प्राप्त किये न तो हम वाह्य प्रकृति पर ही अधिकार कर सकते हैं और न मोक्ष का ही अनुशीलन कर सकते हैं। भारत ने भौतिकता और आध्यात्मिकता के संतुलन को सदा बनाये रखा। इसीलिए जब कभी भारत में भौतिकता का अतिरेक हुआ और अन्याय-अत्याचार की वृद्धि हुई, इस पवित्र भूमि में पुनः सामंजस्य की स्थापना करने के लिए किसी न किसी युग-पुरुष का अवश्य ही जन्म हुआ। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है :

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानां सृजाम्यहम्।।" 4।7

भगवान श्रीरामकृष्ण परमहंस का जन्म भी इसी विकट परिस्थित में हुआ था। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में अंग्रेज जाति ने भारत की धार्मिक परंपरा एवं संस्कृति को नष्ट करने का बीड़ा उठा लिया था। वे हमें ईश्वर, परमार्थ व आत्मा से विमुख करना चाहते थे। हमारी धर्म के प्रति आस्था को नष्ट करने के लिए उन्होंने शक्ति का भी प्रयोग किया। पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली ने प्राचीन धर्मग्रंथों के प्रति अनास्था उत्पन्न की, धर्म-गुरुओं के प्रति उपेक्षा का भाव भरा तथा धर्म-मंदिरों को निर्जीव प्रस्तर-प्रतिमा के रूप में ही ग्रहण करने को विवश किया। अतः इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि प्राचीन पद्धति के संबंध में भारत के नवयुवकों में नाना प्रकार के तर्क-वितर्क उत्पन्न होने लगे। पाश्चात्य शिक्षा ने भारतीयों के मन में भारतीय सभ्यता व संस्कृति के स्थान पर पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति को एक आकर्षक विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया। हम भारत में ही अभारतीयों-सा व्यवहार करने लगे। ऐसी विकट व नाजुक परिस्थिति में भक्तप्रवर श्रीरामकृष्ण परमहंस का जन्म हुआ जिन्होंने भौतिक चेतना को हटाकर उसके स्थान पर धार्मिक चेतना को भारतीयों के भीतर भरने का प्रयत्न किया।

धर्मनिष्ठा

भारत का स्वभाव धर्मनिष्ठता है और इसी क्षेत्र में ही हम संसार को

परास्त कर सकते हैं। अतः आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करना ही हमारा ध्येय होना चाहिए। श्रीरामकृष्ण परमहंस एवं विवेकानन्दजी का विचार था कि भारतीय राष्ट्र कभी भी नष्ट नहीं हो सकता। वह अमर है और वह उस समय तक टिका रहेगा जब तक कि उसका धर्मभाव अक्षुण्ण बना रहेगा। ईश्वर का हमें कभी भी परित्याग नहीं करना चाहिए और न तो यही भूलना चाहिए कि हम ऋषियों की संतान हैं। जिस प्रकार पश्चिम का कोई भी साधारण मनुष्य अपना वंश किसी मध्यकालीन डाकुओं के सरदार 'बैरन' से ढूँढने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार भारतवर्ष में एक सिंहासनस्थ सम्राट भी अपने को किसी वल्कलधारी, जंगल के फल-फूल खाने वाले तथा ईश्वर-स्वरूप में लीन ऋषि का वंशधर प्रमाणित करने की चेष्टा करता है।

श्री रामकृष्णजी को अपने पूर्वजन्म का भलीभाँति संस्मरण था। वे इस बात को जानते थे कि इस संसार में उनका जन्म धर्म-स्थापना के लिए ही हुआ है। इस कार्य को पूरा करने में उन्होंने अपना संपूर्ण जीवन समर्पित कर दिया।

गरीबी अभिशाप नहीं

18 फरवरी सन् 1836 ई. में एक निर्धन ब्राह्मण-परिवार में श्रीरामकृष्ण परमहंस देव का जन्म हुआ था। बाल्यावस्था में ही इनके पिता का देहावसान हो गया। उन्हें विद्याध्ययन के लिए पाठशाला भेजा गया। पर लौकिक शिक्षा जो अर्थोपार्जन का एक माध्यम है, उन्हें बहुत आकर्षित नही कर सकी। वे तो आध्यात्मिक शिक्षा के पुजारी थे। थोड़े ही दिनों में उन्होंने पाठशाला का परित्याग कर दिया। निर्धनता तो थी ही। उन्हें अपनी जीविका का स्वयं प्रबन्ध करना पड़ता था। वे कलकत्ते के समीप एक काली-मंदिर में पुजारी हो गये। यद्यपि पुजारी का कार्य निंद्य माना जाता था क्योंकि ज्ञान और भक्ति क्रय-विक्रय की वस्तु नहीं है, पर परिस्थितिवश उन्हें यह कार्य स्वीकार करना पड़ा। इससे हम उनके मानसिक क्लेश का भलीभाँति अनुमान कर सकते हैं।

दार्शनिक प्रणाली

किसी दार्शनिक की दार्शनिक प्रणाली इस बात पर आधारित होती है कि यह जीवन का ध्येय, लक्ष्य या श्रेयस् से क्या समझता है। श्रेयस् ही दार्शनिक प्रणाली का निर्धारक तत्त्व होता है। श्री रामकृष्ण परमहंस देव के

अनुसार 'धर्म' ही हमारे जीवन का परम श्रेय है। इस धर्म की व्याख्या करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, 'मनुष्य को ईश्वर प्राप्त करना चाहिए, ईश्वर का अनुभव करना चाहिए, ईश्वर का प्रत्यक्ष-दर्शन करना चाहिए तथा उससे बातचीत करनी चाहिए,यही धर्म है।"[1] भारत में ऐसे साधु-संतों की कमी नहीं है जिन्होंनें ईश्वर का साक्षात्कार किया है। ईश्वर का साक्षात्कार अनुभव की वस्तु है, वहाँ कोरे ज्ञान और तर्क की पहुँच नहीं है। श्रीरामकृष्ण का विचार था कि प्रत्येक मनुष्य में ईश्वर साक्षात्कार की शक्ति विद्यमान है, जिसका विकास करने से धर्म का प्रादुर्भाव होता है। सभी धर्मों का यही केन्द्रीय भाव है।

अब यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि जगत के वैज्ञानिक ज्ञान और तर्क-वितर्क को छोड़कर हम धर्म का अनुशीलन क्यों करें? बात यह है कि प्रत्येक विज्ञान इंद्रिय प्रत्यक्ष पर आधारित है और इंद्रिय प्रत्यक्ष अविश्वसनीय है। इंद्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान ऐसा ज्ञान है जिसका बाध या निषेध किया जा सकता है। अतः प्रत्यक्ष ज्ञान कभी भी यथार्थ नहीं कहा जा सकता। प्रत्यक्ष ज्ञान और स्वप्न ज्ञान में कोई विशेष गुणात्मक भेद नहीं है। दोनों निवारण योग्य हैं। ऋषियों ने जिन्होंने परमतत्त्व का साक्षात्कार किया है, कहा है कि इस प्रत्यक्ष जगत् से अतीत एक ऐसा परमार्थ जगत है जिसका अनुशीलन करने से हमारी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती है।

विज्ञान का ज्ञान केवल संभाव्य ही होता है, ऐसा सभी वैज्ञानिक मानते हैं। विज्ञान कितनी ही प्रगति क्यों न कर ले, उसे सत्य की उपलब्धि नहीं हो सकती। इसी बात को समझकर ही हिंदुओं ने विश्वास कर लिया कि जीवन समस्या की एक ही मीमांसा है और वह है ईश्वर तथा धर्म-लाभ। यदि ईश्वर और धर्म को सत्य मान लिया जाय तो जीवन का ध्येय स्पष्ट हो जाता है और हमारा संपूर्ण जीवन मंगलमय हो जाता है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि हम परम तत्त्व या ईश्वर का किस प्रकार साक्षात्कार कर सकते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में भारतीय जीवन-प्रणाली में तीन प्रकार की निष्ठाओं का वर्णन किया गया है : (1) श्रुति-निष्ठा, (2) तर्क-निष्ठा और (3) अनुभव-निष्ठा। भारतीय जीवन प्रणाली ने इन तीनों निष्ठाओं में अपूर्व समन्वय स्थापित कर लिया है। पर पाश्चात्य एवं मध्यपूर्व जीवन-प्रणाली में इन तीनों निष्ठाओं में विरोध पाया जाता है। ईसाई धर्म एवं इस्लाम धर्म विशुद्ध श्रुति-निष्ठा पर आधारित धर्म हैं। इसके विपरीत हिंदू धर्म

1. विवेकानन्द, मेरे गुरुदेव, षष्ठ संस्करण, पृ. 19

श्रुतिनिष्ठ होते हुए भी तर्कनिष्ठा व अनुभवनिष्ठा की अवज्ञा नहीं करता। श्री शंकराचार्य ने लिखा है कि 'यदि सैकड़ों श्रुतियाँ भी एक साथ घोषित करें अग्नि शीतल और प्रकाश हीन है, तो हम उन्हें स्वीकार नहीं सकते।'[1] हम उन्हीं श्रुतियों को स्वीकार करने को बाध्य होंगे जो तर्कसंगत और अनुभवसाध्य होंगी। 'भूतवस्तु ब्रह्मज्ञान का विषय होने के कारण ब्रह्मज्ञान अनुभव द्वारा ही जाना जा सकता है।'[2] तर्क के अप्रतिष्ठित होने के कारण उसमें हम बहुत विश्वास नहीं कर सकते।[3] श्री रामकृष्ण श्रुतिनिष्ठा या तर्कनिष्ठा की अपेक्षा साक्षात् अनुभव में विशेष विश्वास रखते थे। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि तर्क-वितर्क द्वारा तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती।

शास्त्रों के विषय में श्रीरामकृष्ण देव का कथन है 'ग्रंथ तो ग्रंथ का काम न करके ग्रंथि (गांठ) का ही काम करते हैं। विवेक-वैराग्ययुक्त अंतःकरण के साथ यदि ग्रंथों का पाठ न किया जाय तो हृदय में दाम्भिकता, अंहकार आदि की गाँठ ही पक्की होती जाती है।'[4] शास्त्रों के विषय में दूसरी बात जो उन्होंने कही थी वह यह है कि शास्त्र-विचार तभी आवश्यक होता है जब तक कि सच्चिदानंद भगवान का साक्षात् अनुभव न हो जाय। जैसे 'भौंरा जब तक फूल पर नहीं बैठता तभी तक गुंजार किया करता है, और जब फूल पर बैठकर मधुपान करने लगता है तब तो वह एकदम चुप हो जाता है, फिर वह किसी प्रकार का शब्द नहीं करता।'[5] एक अन्य प्रसंग में श्रीरामकृष्ण देव ने इसी बात को निम्न दृष्टांत द्वारा समझाने की चेष्टा की थी। 'जैसे खाली गड्डुए में पानी भरते समय 'भक्'-'भक्' शब्द होता है, पर भर जाने पर किसी प्रकार का शब्द नहीं होता, उसी प्रकार जिन्हें भगवान प्राप्त नहीं हुए हैं, वे ही भगवान के संबंध में नाना प्रकार के तर्क-वितर्क किया करते हैं, और जो भगवान का दर्शन-लाभ कर लेते हैं वे शांत और स्थित होकर परमानंद का भोग करते हैं।'[6]

---

1. नहि श्रुतिशतमपि शीतोग्निप्रकाशो वेति ब्रुवत्प्रामाण्यमुपैति ।।,
   – गीता, भाष्य : XVIII, 66.
2. अनुभवावसानत्वाद् भूतवस्तु विषयत्वाच्च ब्रह्म ज्ञानस्य।
   शारीरक भाष्य I, 1, 1
3. न प्रतिष्ठितत्वं तर्काणां शक्यमाश्रयितुं पुरुषमतिवस्यात! वही, II, 1, 11,
4. ब्रह्मानंद, श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृ. 39.
5. ब्रह्मानंद, श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृ. 30.
6. ब्रह्मानंद, श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृ. 31.

श्री परमहंस देव का दृढ़ विश्वास था कि किसी बात की सत्यता उसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि पर ही प्रतिष्ठित है। धर्म और ईश्वर को सत्य मानने के लिए हमें उनका प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहिए। इसी बात में विश्वास करके वे दिन प्रतिदिन रोते रहते और कहते : 'हे जन्मदाता! क्या यह सत्य है कि तुम्हारा अस्तित्व है अथवा यह सब काल्पनिक है?' देवी का दर्शन करने की उनके भीतर ऐसी व्याकुलता थी कि वे पागल हो गये। इसके लिए वे इतने तन्मय और आत्मविभोर हो गये थे कि वे एक असाधारण व्यक्ति लगते थे। अंत में मंदिर छोड़कर वे एक निकटवर्ती जंगल में चले गये और वहाँ देवी के दर्शन की प्रतीक्षा करने लगे। संध्या समय मंदिरों से घंटियों की झंकार तथा भजनों की गूँज जब इन्हें वन में सुनाई देती थी तो वे बड़े दुःखी हो कलपते हुए इस प्रकार चिल्लाने लगते थे– 'हे माता! आज का भी एक दिन व्यर्थ चला गया और तूने दर्शन नहीं दिया– इस छोटे से जीवन का एक दिन और व्यतीत हो गया परंतु फिर भी मुझे ईश्वरज्ञान नहीं हुआ।' उसी समय एक अद्वितीय विदुषी सुंदर स्त्री प्रकट हुई। प्रत्यक्ष जगन्माता ने ही गुरु-स्थान ग्रहण किया और उन्होंने उस बालक को उसके अन्वेषित सत्य प्राप्ति के साधन में दीक्षित किया। वह जंगल में जाकर परमहंसजी को उपदेश देने लगी। वह स्त्री उस बालक के साथ कई वर्षों तक रही और उसने भारत की विभिन्न धर्म प्रणालियों में उन्हें दीक्षित किया तथा उनके भीतर प्रचंड धर्म-ज्योति को जागरित किया। इस प्रकार श्रीरामकृष्ण देव ने यह सिद्ध कर दिया कि यदि ईश्वर के प्रति गहरी जिज्ञासा व व्याकुलता हो तो उसका साक्षात्कार किया जा सकता है।

साक्षात् अनुभव द्वारा ही तत्त्व-साक्षात्कार किया जा सकता है। इस संबंध में श्री परमहंस देव द्वारा दिये गये निम्न तीन उपाख्यानों पर ध्यान देना आवश्यक है :

(1) एक पंडितजी नौका पर सवार होकर नदी पार कर रहे थे। इसी बीच पंडित जी ने नाविक से पूछा कि क्यों भाई! तुम सांख्य, योग, मीमांसा, वेदांत का ज्ञान रखते हो? नाविक ने कहा– बाबा! मुझे इन शास्त्रों का कोई ज्ञान नहीं है। जब नौका बीच नदी में पहुँची एक जबरदस्त तूफान आया। पंडितजी घबराये, क्योंकि उन्हें नदी तैरना नहीं आता था। नाविक ने स्वस्थ चित्त से कहा, मैं मीमांसा वेदान्त तो नहीं जानता, पर नदी पार करना अवश्य जानता हूँ। इस उपाख्यान से स्पष्ट है कि केवल पुस्तकीय ज्ञान द्वारा हम संसार सागर को पार नहीं कर सकते। इसके लिए व्यावहारिक अनुभव की आवश्यकता होती है।[1]

---

1. ब्रह्मानंद, श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृष्ठ 31

(2) श्री परमहंस ने तार्किकों एवं सिद्धांतकारों की तुलना उस व्यक्ति से की है जो फल का रसास्वादन करने की अपेक्षा वृक्षों और टहनियों को गिनने में ही अपना समय बरबाद करता है।[1]

(3) इसी प्रकार तर्क का खंडन एवं अनुभव का मंडन करने के लिए उन्होंने बुद्धिवादियों की तुलना एक ऐसे गिद्ध से की है जो आकाश में चाहे कितना ही उड़ जाय किंतु उसका ध्यान सदा पृथ्वी की वस्तुओं पर ही गड़ा होता है।[2]

उपर्युक्त सभी दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि श्रीरामकृष्णदेव शास्त्रों एवं तर्क-वितर्कों की अपेक्षा साक्षात् अनुभव को ही सत्य का मानदंड समझते थे।

तत्त्व मीमांसा

श्री रामकृष्ण परमहंस देव तत्त्व के विषय में किसी वाद या सिद्धांत का सदा विरोध करते थे। वे इस विषय में सदा व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाते थे। उनका कहना था कि यदि घड़े का पानी मेरी प्यास बुझा देता है तो नदी या झील के पानी की थाह लेने का क्या अर्थ है?[1] पुनः वे कहते थे कि तत्त्व तो एक ही है, पर लोग उसे भिन्न-भिन्न रूपों में देखते हैं।[2] उनके अनुसार तत्त्व एक गिरगिट की तरह है जो भिन्न-भिन्न मनुष्यों को भिन्न-भिन्न प्रकार से दिखाई देता है। जिस व्यक्ति को गिरगिट का सम्यक् ज्ञान नहीं है वह उनके भिन्न-भिन्न रूपों को भिन्न-भिन्न वस्तुओं के रूप में ग्रहण करेगा। पर जिन्हें गिरगिट के लाल, हरे, पीले इत्यादि सभी रूपों का ज्ञान है, वह इन रूपों के विरोध की अपेक्षा सामंजस्य को विशेष महत्त्व देगा।

1. अपौरुषेय निरपेक्ष तत्त्व

श्रीरामकृष्ण देव के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है। वह अपौरुषेय निरपेक्ष तत्त्व है। वह उसी प्रकार अनिवर्चनीय और अवर्णनीय है जिस प्रकार कि उस व्यक्ति के लिए समुद्र अवर्णनीय है जिसने समुद्र को कभी नहीं देखा है।[3]

---

1. ब्रह्मानंद, श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृष्ठ 32
2. ब्रह्मानंद, श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृष्ठ 32
3. ब्रह्मानंद, श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृष्ठ 39

वेद, तंत्र, पुराण एवं अन्य स्मृतियाँ और श्रुतियाँ मनुष्यों द्वारा बार-बार उच्चारित होने के कारण उच्छिष्ट हो चुकी हैं। ब्रह्म ही एकमात्र ऐसा तत्त्व बचा है जिसे कोई भी वाणी अब तक दूषित नहीं कर पायी है क्योंकि ब्रह्म वाणी की पहुँच के बाहर है।[1] ब्रह्म निर्गुण, अगतिशील, अचल एवं मेरु पर्वत की तरह दृढ़ है। वह शुभ और अशुभ दोनों से उसी प्रकार अतीत है जिस प्रकार कि दीपक का प्रकाश भगवतगीता पढ़ने के लिए और जालसाजी करने के लिए भी प्रयोग किया जा सकता है।[2] पुनः ब्रह्म एक सर्प के समान है जिसके भीतर विष है पर स्वयं सर्प उससे तनिक भी प्रभावित नहीं होता। ठीक उसी प्रकार संसार में जो दुःख, क्लेश, पाप व अन्य प्रकार के अशुभ पाये जाते हैं, वे ब्रह्मेतर अज्ञानी मनुष्यों के लिए हैं, स्वयं ब्रह्म इनसे तनिक भी प्रभावित नहीं होता। ब्रह्म शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, दुःख-सुख इत्यादि द्वन्द्वों से सदा अतीत है।[3] वह ज्ञान-अज्ञान, धर्म-अधर्म, मन-वाणी, धारणा-ध्यान, ज्ञाता ज्ञेय ज्ञान, सत्-असत् इत्यादि धारणाओं से भी अतीत है। वह सभी प्रकार की सापेक्षिकता से परे है। ब्रह्म उस वायुमंडल के समान है जिसमें यद्यपि सभी प्रकार की गंध पायी जाती है पर वह वायुमंडल स्वयं इससे दूषित नहीं होता है।[4]

2. माया

श्रीरामकृष्ण देव के अनुसार ब्रह्म और माया के बीच वही सम्बन्ध है जो स्थिर सर्प और गतिशील सर्प के बीच संबंध होता है। गतिज शक्ति माया है और स्थितिज शक्ति ब्रह्म है।[5] उन्होंने माया की तीन शक्तियों का वर्णन किया है : (अ) ईश्वर की ब्रह्माण्डीय शक्ति के रूप में, (ब) अविद्या रूप में और (स) विद्या के रूप में। इन तीनों का हम प्रथक्-प्रथक् वर्णन करेंगे।

(अ) ईश्वर की ब्रह्मांडीय शक्ति रूप : माया ईश्वर की एक ब्रह्मांडीय शक्ति है जिसके द्वारा वह सृष्टि का कार्य करता है। जिस प्रकार अग्नि और

---

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, मलापुर मठ, मद्रास, 1960, पृ. 261.
2. श्रीरामकृष्ण उपदेश, मलापुर मठ, मद्रास, 1960, पृ. 261.
3. श्रीरामकृष्ण उपदेश, मलापुर मठ, मद्रास, 1960, पृ. 261.
4. श्रीरामकृष्ण उपदेश, मलापुर मठ, मद्रास, 1969, पृ. 261.
5. श्रीरामकृष्ण उपदेश, अध्याय 2, पृ. 39.

उसकी ज्वलनशक्ति में तादात्म्य संबंध है, उसी प्रकार ब्रह्म और उसकी शक्ति माया में तादात्म्य संबंध है। ब्रह्म और माया में वही संबंध है जो शांत समुद्र और क्षुब्ध समुद्र के बीच संबंध होता है। जिस प्रकार कोई कुम्हार सूखी मिट्टी द्वारा किसी घड़े का निर्माण नहीं कर सकता, उसके लिए जल की आवश्यकता होती है, ठीक उसी प्रकार शिव (बुद्धि या ब्रह्म), शक्ति (माया) के बिना सृष्टि का कार्य नहीं कर सकते।[1] माया के वास्तविक स्वरूप का वर्णन करते हुए श्रीपरमहंस देव कहते हैं : 'माया को जानने की इच्छा के फलस्वरूप मुझे एक दिन दिव्य दृष्टि हुई। मैंने देखा कि पानी की एक छोटी बूँद फैलकर एक बालिका का रूप धारण कर रही है। वह बालिका एक स्त्री का रूप ले लेती है और पुनः एक बच्चे को जन्म देती है; और ज्यों ही बच्चे ने जन्म लिया, उसे उठाकर वह स्त्री उसे एकदम निगल जाती है। इसी प्रकार उस स्त्री के गर्भ से कई बच्चे उत्पन्न हुए पर उत्पन्न होने के बाद ही उसने उन सभी बच्चों को चट कर लिया। इसके बाद मुझे ज्ञात हुआ कि वह स्त्री और कोई नहीं स्वयं माया ही थी।'[2]

(ब) अविद्या रूप : माया का दूसरा रूप अविद्या का है, जिसके द्वारा वह जीवों में भ्रान्ति उत्पन्न करती है। माया का स्वभाव कैसा है? जैसे पानी के ऊपर काई। हटाने पर सभी काई हट जाती है, पर थोड़ी देर के बाद ही वह अपने आप फैल जाती है। उसी प्रकार जब तक विचार कीजिए अथवा जब तक साधु-सत्संग कीजिए, कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। पर साधु-सत्संग से थोड़ी देर वंचित रहने के बाद ही विषय-वासना चित्त को ढक लेती है।[3] इसी प्रकार श्रीरामकृष्ण देव ने माया की उपमा बादलों से और ब्रह्म की उपमा स्वच्छ आकाश से दी है। कभी-कभी ब्रह्म की उपमा सूर्य से भी दी गयी है। जिस प्रकार इतना बड़ा सूर्य पृथ्वी को प्रकाशित किये रहता है, किंतु साधारण बादल के छोटे-छोटे टुकड़ों के आते ही दिखलाई नहीं पड़ता, उसी प्रकार सर्वव्यांपी और प्रकाशस्वरूप सच्चिदानंद को माया के परदे के कारण देख नहीं पाते।'[4] ब्रह्म, माया और जीव के पारस्परिक संबंध को व्यक्त करने के लिए उन्होंने श्रीराम, जानकी और लक्ष्मण का उदाहरण दिया है। जीवात्मा और

---

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, अध्याय 2, पृ. 39.
2. स्वामी ब्रह्मानन्द, श्रीरामकृष्ण अध्याय 2 पृ. 39.
3. स्वामी ब्रह्मानन्द, श्रीरामकृष्ण अध्याय 2 पृ. 39.
4. स्वामी ब्रह्मानन्द, श्रीरामकृष्ण पृ. 12.

परमात्मा के बीच माया का परदा है। इस परदे के कारण दोनों में परस्पर भेंट नहीं हो सकती। जैसे आगे-आगे राम बीच में जानकी और पीछे-पीछे लक्ष्मण जा रहे हैं। यहाँ राम परमात्मा हैं और लक्ष्मण जीवात्मा। बीच में जानकी मायारूपी परदा हैं। जब तक जानकी बीच में हैं, तब तक लक्ष्मण रामचंद्र को देख नहीं सकते। यदि जानकी थोड़ा हट जायँ तो लक्ष्मण को राम के दर्शन हो जायँ। ठीक इसी प्रकार यदि जीवात्मा परमात्मा का साक्षात्कार करना चाहता है तो उसे माया से निवृत्त होना पड़ेगा।[1]

माया की अवास्तविकता को दर्शाने के लिए श्रीरामकृष्ण देव ने एक दीपाधार त्रिपार्श्व (Chandelier Prism) का उदाहरण दिया जिससे लाल, पीले, और नीले रंग की किरणें विकीर्ण होती हैं। जिस प्रकार प्रिज्म या त्रिपार्श्व से निकलने वाले सभी रंग असद् हैं, ठीक इसी प्रकार संपूर्ण जगत भी असद् ही है। केवल ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है।[2] माया की आगे व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि माँ, बाप, भाई, स्त्री पुत्र, भांजा, भतीजा इन सबका जो मोह है, वही माया है। अविद्या रूपी माया छः प्रकार की होती है– काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर। अविद्यारूपी माया 'मैं' और 'मेरा' के बोध द्वारा मनुष्यों को बाँध रखती है। जिस प्रकार जब तक पानी गंदा रहता है, तब तक चंद्र या सूर्य की परछाईं उसमें ठीक प्रकार दिखायी नहीं पड़ती, उसी प्रकार माया अर्थात् 'मैं' और 'मेरा' यह भाव जब तक दूर न हो जाय, तब तक आत्मा का ठीक-ठीक साक्षात्कार नहीं हो सकता।[3]

(स) विद्या रूप : ईश्वर के अन्दर विद्या माया और अविद्या माया दोनों निवास करती हैं। विद्या माया मनुष्य को ईश्वर के पास ले जाती है, पर अविद्या माया उसे ईश्वर से बहुत दूर फेंक देती है। ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, अनुकम्पा-ये सभी विद्या माया के विभिन्न रूप हैं, जिनकी सहायता से मनुष्य ईश्वर के समीप पहुँच सकता है।[4] माया ही ब्रह्म को प्रकाशित करती है। जिस

---

1. स्वामी ब्रह्मानन्द, श्रीरामकृष्ण पृ. 11.
2. स्वामी ब्रह्मानन्द, श्रीरामकृष्ण अं. अनुवाद पृ. 41.
3. स्वामी ब्रह्मानन्द, श्रीरामकृष्ण हि. अनुवाद पृ. 12.
   गोस्वामी तुलसीदास ने भी माया का इसी प्रकार वर्णन किया है :
   मैं अरु मोर तोर तैं माया।
   जेहिं बस कीन्हें जीव निकाया।।– अरण्यकाण्ड
4. स्वामी ब्रह्मानन्द, श्रीरामकृष्ण अं. अनुवाद पृ. 42.

प्रकार शक्ति के द्वारा ही शक्तिमान को जाना जा सकता है, उसी प्रकार माया के द्वारा ही ब्रह्म को जाना जा सकता है। माया के माध्यम से ही हम परम ज्ञान, परम सौंदर्य और परम सुख प्राप्त कर सकते हैं। माया ही जगत के द्वैत और सापेक्षिक भाव को उत्पन्न करती है। माया के बिना भोक्ता, भोग्य और भोग की कल्पना नहीं की जा सकती।[1]

बिल्ली अपने दाँतो के बीच अपने बच्चे को पकड़ती है पर बच्चे को कोई चोट नहीं पहुँचती, किंतु वही बिल्ली जब चूहे को पकड़ती है, वह मर जाता है। ठीक उसी प्रकार माया अपने भक्तों को कभी नहीं मारती, किंतु जो भक्त नहीं हैं, उन्हें व मार डालती है। इसी विद्या-माया और अविद्या-माया के विषय में गोस्वामी तुलसीदांस जी ने बहुत कुछ इसी प्रकार व्यक्त किया है।[2]

3. ब्रह्म, जीव और जगत

श्रीरामकृष्ण के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है। जब ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है, तो इससे यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि उससे अतिरिक्त जो वस्तुएँ होंगी वे निश्चित रूप में असत् होंगी। इसी तर्क के अनुसार श्रीपरमहंस देव ने जीव और जगत को जो ब्रह्म की दो अभिव्यक्तियाँ हैं, असद् कहा। जीव और जगत् आकाश-कुसुम या वंध्या-पुत्र की तरह असत् नहीं हैं। वरन् भ्रम की भाँति असत् हैं। जीव और जगत् के भ्रम कहने का वास्तविक तात्पर्य क्या है? इसके उत्तर में श्रीरामकृष्ण देव ने कहा कि जगत् कपूर के समान है। जिस प्रकार कपूर के जलने पर कुछ भी अवशेष नहीं रहता, ठीक इसी प्रकार ब्रह्म-साक्षात्कार होने पर जीव और जगत् का भी अवशेष विद्यमान नहीं रहता। जगत् भ्रम की भाँति अदृश्य हो जाता है। इसी तथ्य को दूसरे शब्दों में श्रीपरमहंस ने इस प्रकार समझाने की चेष्टा की है। जब तक नमक जल से

---

1. स्वामी ब्रह्मानन्द, श्रीरामकृष्ण उपदेश, अं. अनुवाद, पृ. 42.
2. स्वामी ब्रह्मानन्द, श्रीरामकृष्ण उपदेश, अं. अनुवाद, पृ. 42.
3. तेहिकर भेद सुनहु तुम सोऊ।
   विद्या अपर अविद्या दोऊ।।
   एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा।
   जा बस जीव परा भव कूपा।।
   एक रचइ जग गुन बस जाके।
   प्रभु प्रेरित नहि निज बल ताके।।–अरण्यकांड

प्रथक् होता है, उसका प्रथक् अस्तित्व समाप्त हो जाता है। उसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान प्राप्त होने पर जीव और जगत् का पृथक् अस्तित्व समाप्त हो जाता है।[1]

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न जो हमारे समक्ष उपस्थित होता है, वह यह है कि यदि ब्रह्म और आत्मा ज्ञान-स्वरूप हैं और एक मात्र तत्त्व है तो आत्मा में भ्रम की उत्पत्ति क्यों और कैसे हुई? इस भ्रम का अधिष्ठान क्या है? इसके उत्तर में तार्किक अद्वैतवादी यही कहेगा कि 'मुझे कुछ भी इसका ज्ञान नहीं है' वास्तव में यह प्रश्न ही अमान्य है। जब तक हम अविद्या और भ्रम से ग्रसित रहेंगे, हमारा पृथक् अस्तित्व बना रहेगा और वाह्य जगत् हमारे लिये एक वास्तविक तथ्य के रूप में ही सामने आएगा। भ्रम में रहते हुए भ्रम के मूल कारण को नहीं जान सकते। पर ब्रह्म साक्षात्कार के कारण भ्रम का निवारण होते ही जीव-जगत् का अस्तित्व समाप्त हो जायगा। ऐसी स्थिति में भ्रम और अभ्रम, तथ्य और कल्पना संबंधित सभी प्रश्न अमान्य हो जाते हैं। इस प्रकार भ्रम के मूल संबंधी सभी प्रश्न अमान्य हैं।[2]

जब तक हमारा पृथक् व्यक्तित्व बना रहेगा, हम निरपेक्ष-सापेक्ष, नित्य लीला, द्रव्य गुण, अपौरुषेय-पौरुषेय तथा एक-अनेक के द्वैत से कभी भी मुक्त नहीं हो सकते। बद्ध अवस्था में निरपेक्ष तत्त्व के विषय में हमारी सारी कल्पनाएँ सापेक्ष तत्त्व के विषय में ही होंगी। इसी तथ्य को स्वामी रामकृष्ण ने अपने ढंग से इस प्रकार व्यक्त किया है, 'जब तक हम सापेक्षिकता के धरातल पर खड़े हैं, हमें मक्खन और छाछ दोनों को स्वीकार करना होगा– पौरुषेय ईश्वर और जगत् दोनों को मान्य करना होगा। इस उपमान को अधिक स्पष्ट करते हुए हम कह सकते हैं कि मूल दुग्ध ब्रह्म है जिसका समाधि द्वारा साक्षात्कार होता है।'[2] जब तक हम बद्ध अवस्था में हैं; पौरुषेय ईश्वर असत् नहीं हो सकता। वह शरीर, मन और वाह्य जगत् से कहीं अधिक सत् है। हाँ, ब्रह्म-साक्षात्कार के बाद वह अवश्य असत् हो जायगा। वास्तव में जीवात्मा और परमात्मा (ईश्वर) की उत्पत्ति और विनाश युगपद होता है ब्रह्म ही एकमात्र सत् है।

---

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, अं. अनुवाद, पृ. 263.
2. Whitehead, A.N. 'Philosophy is concerned not with the causes but with the coherence of our knowlegde.'

4. ईश्वर, माया या शक्ति

जब परम सत् सर्वकर्मरहित अवस्था में होता है तो उसे ब्रह्म या विशुद्ध ब्रह्म कहा जाता है। पर वही परम सत् जब सृष्टि, स्थिति और प्रलय करते देखे जाते हैं, तो उसे ईश्वर, माया, शक्ति या प्रकृति कहा जाता है। ब्रह्म और शक्ति में अभेद संबंध है। निष्क्रिय ब्रह्म और सक्रिय शक्ति वास्तव में एक ही हैं। जो सत्चित्-आनन्द रूप ब्रह्म है वही सत्तावान, ज्ञाता, आनन्दमयी जगत्जननी शक्ति है। ब्रह्म और शक्ति में अभेदात्मक भेद है। जिस प्रकार अग्नि और उसकी दाहक शक्ति, दूध और उसकी सफेदी, मणि और उसकी दीप्ति एक है, उसी प्रकार ब्रह्म और शक्ति में अभेद संबंध है।[1]

जहाँ कहीं प्रक्रिया– सृष्टि, स्थिति और प्रलय– होती है, वहाँ माया या शक्ति का बास होता है। जल जल ही रहेगा चाहे वह शांत हो या क्षुब्ध। सत् चित् आनन्द निरपेक्ष ब्रह्म ही शाश्वत चित् शक्ति का रूप धारण कर जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय करता है। जिस प्रकार 'कैप्टेन्'[2] वही रहेंगे चाहे वे निष्क्रिय होकर अपने निवास में बैठे रहें या मंदिर में जाकर आराधना करें अथवा किसी कार्य से वे गवर्नर जनरल से मिलें, ठीक उसी प्रकार ब्रह्म ब्रह्म ही रहेगा चाहे वह सच्चिदानंद रूप में निष्क्रिय रहे अथवा चित् शक्ति रूप में वह सृष्टि स्थिति और प्रलय का कार्य करे।

इस प्रश्न के उत्तर में कि ब्रह्म सगुण है या निर्गुण, श्री परमहंस देव का कथन है कि वह सगुण-निर्गुण दोनों है। जिस प्रकार एक व्यक्ति एक समय वस्त्रधारी रूप में और दूसरे समय में निर्वस्त्र रूप में दिखाई देता है, उसी प्रकार एक ही ब्रह्म सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में दिखाई देता है।[3] शक्ति सहित ब्रह्म को सगुण ब्रह्म कहा जाता है, शक्तिरहित ब्रह्म (निष्क्रिय ब्रह्म) को निर्गुण ब्रह्म कहा जाता है।[4] जो साकार है, वही निराकार भी है। निराकार और साकार में वही संबंध है जो जल और बर्फ में संबंध होता है। जैसे महासमुद्र में केवल अनंत जलराशि होती है, उसका कूल-किनारा कहीं

---

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, अं. अनुवाद, पृ. 264.
2. कलकत्ता स्थित नेपाल सरकार के प्रतिनिधि श्री विश्वनाथ उपाध्याय को श्रीरामकृष्ण देव 'कैप्टेन' कहकर पुकारते थे।
3. श्रीरामकृष्ण उपदेश, अं. अनुवाद, पृ. 267.
4. श्रीरामकृष्ण उपदेश, अं. अनुवाद, पृ. 26.

दिखाई नहीं देता, परंतु कहीं-कहीं अत्यंत ठंढक पड़ने के कारण पानी जमकर बर्फ के रूप में दिखाई देता है, उसी प्रकार भक्तों के भक्तिरूपी हिम से निराकार परमात्मा का भी साकार रूप में दर्शन होता है। पुनः जैसे सूर्यनारायण के उदय होते ही बर्फ गल जाती है और पहले की भांति जलमात्र ही रह जाता है, उसी प्रकार ज्ञानरूपी सूर्य भगवान के प्रकाशित होने पर साकार रूप बर्फ पिघलकर केवल जलरूप निराकार ही विद्यमान रहता है।[1]

भक्त को उसकी आस्था के अनुरूप ईश्वर कई रूपों में दिखाई पड़ते हैं। पर उस व्यक्ति के लिए जिसने समाधि में ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लिया है, वही ईश्वर निर्गुण व निराकार रूप में दिखाई पड़ते हैं। एक रंगरेज अपने ढंग से कपड़ों को रँगता है। ग्राहक जिस रंग में अपने कपड़े को रँगवाना चाहता है, वह उसी रंग में कपड़े को रंग देता है। एक अन्य ग्राहक ने रंगरेज के इस व्यवहार को देखकर उससे कहा, मित्र! मैं इनमें से किसी भी रंग में अपने कपड़ों को रंगवाना नहीं चाहता। मैं तो अपने कपड़ों को उसी रंग में रंगवाऊँगा जिसमें तुमने अपने को रंग रखा है।[2] रंगरेज ने उत्तर दिया कि भाई, 'मेरा कोई अपना रंग नहीं है। तुम जिस रंग में अपने कपड़ों को रंगवाना चाहो, मैं उसी रंग में उन्हे रंग दूँगा।' इसी प्रकार ईश्वर या ब्रह्म का भी कोई रूप या आकार नहीं है। भक्त उसे जिस रूप में देखना चाहते हैं, भगवान उसी रूप में उसके समक्ष प्रकट होते हैं।

ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है। जिस प्रकार विकास (Evolution) की अवस्था में समाधि तक पहुँचने पर एक निर्गुण निराकार ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, उसी प्रकार प्रतिविकास (Involution) की अवस्था में हम पुनः अपने प्रस्थान बिंदु पर आकर देखते हैं कि वास्तव में मनुष्य, प्रकृति और ईश्वर एक ही परमसत् की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। समाधि से इंद्रिय-चैतन्य पर पहुँचने पर जीवात्मा रेखाकार रूप में अवशेष रह जाती है और उसे दिव्य चक्षु प्राप्त होता है। इस दिव्य चक्षु के आधार पर वह जीव, जगत् और ईश्वर के तादात्म्य का भलीभाँति साक्षात्कार कर लेती है। जीव और जगत् का ब्रह्म तक विकास इसी कारण संभव है, क्योंकि ब्रह्म का प्रतिविकास जीव और जगत तक हुआ है।[3] श्रीरामकृष्ण देव का विकास और प्रतिविकास संबंधी विचार श्री अरविंद के

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, हिंदी अनुवाद, पृ. 7-8.
2. श्रीरामकृष्ण उपदेश, हिंदी अनुवाद, पृ. 270-71.
3. श्रीरामकृष्ण उपदेश, हिंदी अनुवाद, पृ. 268.

तत्संबंधी विचार से पर्याप्त मिलता-जुलता है। संपूर्ण सृष्टि एक नित्य तत्त्व की लीला मात्र है।

परमतत्त्व की सर्वत्र उपस्थिति का आगे वर्णन करते हुए परमहंस देव कहते हैं कि जिस प्रकार फल के एक बीज से फल की खोपड़ी, गूदा और बीज तीनों की उत्पत्ति होती है, ठीक उसी प्रकार एक ही नित्य ब्रह्म जीव, जगत और ईश्वर तीनों की उत्पत्ति करता है।[1] श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि मैं संसार की किसी वस्तु को अस्वीकार नहीं करता। मैं समाधि जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, ब्रह्म, जीव, सृष्टि सभी कुछ स्वीकार करता हूँ। अन्यथा तत्त्व के सम्पूर्ण भार में कमी आ जायगी।[2]

5. ईश्वरीय अवतार

जीवात्माओं को ब्रह्म के निकट पहुँचाने के लिए कभी-कभी ईश्वर अपने विभिन्न रूपों में प्रकट होते हैं। जिस प्रकार रेल का इंजन स्वयं भी आगे बढ़ता है और कितने ही मालडिब्बों को भी अपने साथ खींच ले जाता है, इसी प्रकार अवतार भी हजारों-लाखों मनुष्यों को ईश्वर के निकट पहुँचा देता है।[3]

श्रीरामकृष्ण देव के अनुसार ईश्वर के चार रूप सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं :

(1) अर्द्धनारीश्वर : यह कोई नहीं बता सकता कि सच्चिदानंद क्या हैं। यही कारण है कि उन्होंने सर्वप्रथम अर्द्धनारीश्वर का रूप धारण किया। अर्द्धनारीश्वर अर्थ यह है कि ईश्वर के भीतर प्रकृति और पुरुष दोनों समाहित हैं। कालान्तर में सच्चिदानन्द ने अनेक पुरुष और प्रकृति का रूप धारण कर लिया जिससे की जगत् की उत्पत्ति हुई।

(2) श्रीकृष्ण या त्रिभंग : कोई कोमल वस्तु ही कई दिशाओं में झुकाई जा सकती है। भगवान श्रीकृष्ण को त्रिभंग कहा जाता है क्योंकि भक्तों के प्रेम ने उन्हें तीन तरफ से झुका कर त्रिभंगी रूप प्रदान कर दिया। ईश्वर का यह दूसरा दिव्य रूप है।

(3) योगमाया : पुरुष और प्रकृति के संयोग को योगमाया कहते हैं। जो कुछ भी हम देखते हैं वह दोनों के संयोग का ही परिणाम है। शिव और

---

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, हिंदी अनुवाद, पृ. 269.
2. श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृ. 269.
3. श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृ. 16.

काली या राधा और कृष्ण प्रकृति-पुरुष के संयोग का ही परिणाम हैं। शिव निष्क्रिय हैं पर काली उनके संयोग के कारण सृष्टि, स्थिति और प्रलय का काम करती हैं।

(4) दुर्गा : ज्यों-ज्यों हम ईश्वर की ओर अग्रसर होते हैं, उनका सगुण और साकार रूप विगलित होकर निर्गुण और निराकार रूप ग्रहण करता जाता है। सर्वप्रथम भक्त शक्ति को दस भुजाओं वाली दुर्गा के रूप में देखता है। दुर्गा का यह रूप शक्ति और ऐश्वर्य का प्रतीक है। और आगे बढ़ने पर केवल दो भुजाओं वाली दुर्गा का दर्शन होता है। अन्त में दो भुजाओं वाली मूर्ति सिमट कर सरल गोपाल का रूप धारण कर लेती है। इससे भी आगे बढ़ने पर गोपाल की प्रतिमा एक देदीप्यमान प्रकाश के रूप में परिवर्तित हो जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ईश्वर का प्रथम व अंतिम रूप निर्गुण और निराकार का ही है। केवल मध्य में वे विभिन्न साकार रूप ग्रहण करते हैं।

6. जीव के अवस्थाभेद

यद्यपि सभी जीव वास्तव में परमात्म रूप हैं पर फिर भी उनकी विभिन्न अवस्थाएँ होती हैं। श्रीरामकृष्ण के अनुसार मनुष्य मानों तकिए के गिलाफ हैं, ऊपर से देखने पर कोई गिलाफ लाल है तो कोई काला, परन्तु सबके भीतर रुई ही विद्यमान है। उसी प्रकार देखने में कोई मनुष्य सुन्दर है तो कोई काला, कोई महात्मा है तो कोई दुराचारी, पर सबके भीतर वही परमात्मा विराजमान है।[1]

संसार में मुख्य रूप से दो प्रकार के स्वभाववाले मनुष्य पाये जाते हैं। कुछ तो सूप की तरह स्वभाव वाले होते हैं और कुछ चलनी की तरह। जिस प्रकार सूप भूसी इत्यादि असार वस्तुओं का त्याग करके अनाज आदि सारयुक्त वस्तुओं को ग्रहण करता है, उसी प्रकार संसार में कुछ ऐसे भले मनुष्य हैं जो संसार की असार वस्तुओं (कंचन, कामिनी इत्यादि) को छोड़कर सारयुक्त वस्तु अर्थात् भगवान को ग्रहण करते हैं। इसके विपरीत जिस प्रकार चलनी सारयुक्त वस्तुओं का परित्याग कर असारयुक्त वस्तुओं को अपने मे रख लेती है, इसी प्रकार संसार में कुछ ऐसे बुरे व्यक्ति हैं जो सारयुक्त वस्तु ईश्वर का परित्याग

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृ. 16.

कर असारयुक्त वस्तुओं, जैसे– कंचन, कामिनी इत्यादि को ग्रहण करते हैं।[1]

पापी मनुष्यों का हृदय घुँघराले बाल की तरह होता है। जिस प्रकार घुँघराले बालों को सीधा नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार दुष्ट व्यक्तियों के हृदय को भी पवित्र नहीं किया जा सकता। पुनः विषयी मनुष्यों का मन गोबर के कीड़े की भाँति होता है। यह कीड़ा गोबर में ही अधिक रहना पसंद करता है। यदि उसे गोबर से हटाकर पद्म में रख दिया जाय तो वह छटपटाया करता है। विषयी मनुष्यों का मन भी इसी प्रकार विषय-वासना में लगा रहता है। यदि उन्हें ईश्वर की कथा सुनायी जाय तो वे उस स्थान को त्यागकर जहाँ विषय-वासना की बातें होती हैं, वहाँ चले जाते हैं।[2]

सांसारिक मनुष्य यदि कभी भक्ति की बातें भी करते हैं तो वह क्षणिक ही होता है। उनका धार्मिक अनुष्ठान भी किसी भौतिक लाभ के लिए ही होता है। पर ज्यों ही उनके ऊपर कोई आपत्ति-विपत्ति आती है, वे अपनी धार्मिकता का परित्याग कर अपने वास्तविक रूप में आ जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों की उपमा उस तोते से दी गई है जो दिन-रात 'राधा-कृष्ण,' 'राधा-कृष्ण' चिल्लाता रहता है, पर ज्योंही कोई बिल्ली उसे पकड़ लेती है, वह 'राधा-कृष्ण' को भूलकर 'टें-टें' करने लगता है।[3] पुनः, जो सांसारिक लाभ के लिए ईश्वर की आराधना करते हैं, उनकी हालत उस किसान की तरह होती है जो दिनभर गन्ने की खेत में सिंचाई करता है पर सारा पानी खेत में न जाकर चूहे के बिलों में चला जाता है।[4]

श्रीरामकृष्ण के अनुसार जीव तीन प्रकार के होते हैं : बद्ध जीव, मुमुक्ष जीव और मुक्त जीव। कुछ मछलियाँ ऐसी होती हैं जो जाल में पड़ने पर भी भागने की बिल्कुल चेष्टा ही नहीं करतीं और चुपचाप पड़ी रहती हैं; कुछ दूसरी होती हैं जो इधर-उधर छटपटाती हैं पर भाग नहीं पातीं। पुनः एक तीसरे प्रकार की भी मछलियाँ होती हैं जो जाल को काट कर भाग जाती हैं। प्रथम प्रकार के जीव बद्ध जीव, दूसरे प्रकार के जीव मुमुक्षु जीव और तीसरे प्रकार के जीव मुक्त जीव कहलाएँगे।[5] साधारण तौर पर दो प्रकार के मनुष्य

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृ. 17.
2. श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृ. 17.
3. श्रीरामकृष्ण उपदेश, अं अनु. पृ. 83.
4. श्रीरामकृष्ण उपदेश, हि. अनु. पृ .7-18.
5. श्रीरामकृष्ण उपदेश, हि. अनु. पृ. 19-20.

पाये जाते हैं : ईश्वरानुरागी और सांसारिक। मक्खियाँ दो प्रकार की होती हैं : एक तो शहद की मक्खियाँ जो शहद के अतिरिक्त कुछ भी नहीं खातीं और दूसरी साधारण मक्खियाँ जो शहद पर भी बैठतीं हैं और यदि सड़ा हुआ घाव दिखाई दे तो तुरंत शहद को छोड़कर उस पर भी जा बैठती हैं। इसी प्रकार संसार में दो प्रकार के स्वभाव वाले व्यक्ति होते हैं : एक जो ईश्वर में अनुराग रखते हैं और दूसरे जो संसार में आसक्त जीव हैं। विषय-वासना आने पर वे भगवान को छोड़कर उसी में आसक्त हो जाते हैं।[1]

साधना प्रणाली

श्रीरामकृष्ण ने ईश्वर की प्राप्ति के कई उपाय बताये हैं। उनकी साधना प्रणाली के विभिन्न पहलुओं पर हम विचार करेंगे।

(1) साधना का अधिकारी : सभी लोग साधना के अधिकारी नहीं हो सकते। जिन लोगों का हृदय सांसारिक विषय-वासनाओं में रमा हुआ है, उन्हें ईश्वर व धर्म की भावनाएँ ग्राह नहीं हो सकतीं। आम, अमरूद इत्यादि केवल साबूत फल ही ठाकुरजी के भोग में लग सकते हैं, कौवे आदि के द्वारा काटा हुआ दागी फल न तो देव-पूजा के काम आ सकता है और न ब्राह्मण ही अपने काम ला सकता है। इसी प्रकार पवित्र हृदय वाले बालकों या युवा-पुरुषों, जिनका हृदय सांसारिकता से दूषित नहीं हुआ है, को ही साधना-पथ का अधिकारी माना जा सकता है।[2]

तोते के गले में कंठी निकल जाने पर उसे फिर और नहीं पढ़ाया जा सकता, केवल बच्चा रहने तक ही उसे सिखाया-पढ़ाया जा सकता है। इसी प्रकार बूढ़े का मन सहज ही ईश्वर की ओर नहीं जाता, पर बाल्यावस्था में थोड़ी-सी चेष्टा से ही मन ईश्वर में स्थिर किया जा सकता है।[3] श्रीरामकृष्ण ने मन व हृदय की पवित्रता पर विशेष बल दिया है। इस प्रश्न के उत्तर में कि पवित्र या वासनाशून्य हृदय कैसा होता है, उन्होंने कहा कि वासना-शून्य हृदय सूखी दियासलाई के समान होता है। सूखी दियासलाई एक बार घिसने से ही तुरंत जल जाती है, पर यदि वह गीली हो तो वह घिसते-घिसते टूट जाती

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृ. 19-20.
2. श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृ. 44.
3. श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृ. 45.

पाये जाते हैं : ईश्वरानुरागी और सांसारिक। मक्खियाँ दो प्रकार की होती हैं : एक तो शहद की मक्खियाँ जो शहद के अतिरिक्त कुछ भी नहीं खातीं और दूसरी साधारण मक्खियाँ जो शहद पर भी बैठतीं हैं और यदि सड़ा हुआ घाव दिखाई दे तो तुरंत शहद को छोड़कर उस पर भी जा बैठती हैं। इसी प्रकार संसार में दो प्रकार के स्वभाव वाले व्यक्ति होते हैं : एक जो ईश्वर में अनुराग रखते हैं और दूसरे जो संसार में आसक्त जीव हैं। विषय-वासना आने पर वे भगवान को छोड़कर उसी में आसक्त हो जाते हैं।[1]

साधना प्रणाली

श्रीरामकृष्ण ने ईश्वर की प्राप्ति के कई उपाय बताये हैं। उनकी साधना प्रणाली के विभिन्न पहलुओं पर हम विचार करेंगे।

(1) साधना का अधिकारी : सभी लोग साधना के अधिकारी नहीं हो सकते। जिन लोगों का हृदय सांसारिक विषय-वासनाओं में रमा हुआ है, उन्हें ईश्वर व धर्म की भावनाएँ ग्राह्य नहीं हो सकतीं। आम, अमरूद इत्यादि केवल साबूत फल ही ठाकुरजी के भोग में लग सकते हैं, कौवे आदि के द्वारा काटा हुआ दागी फल न तो देव-पूजा के काम आ सकता है और न ब्राह्मण ही अपने काम ला सकता है। इसी प्रकार पवित्र हृदय वाले बालकों या युवा-पुरुषों, जिनका हृदय सांसारिकता से दूषित नहीं हुआ है, को ही साधना-पथ का अधिकारी माना जा सकता है।[2]

तोते के गले में कंठी निकल जाने पर उसे फिर और नहीं पढ़ाया जा सकता, केवल बच्चा रहने तक ही उसे सिखाया-पढ़ाया जा सकता है। इसी प्रकार बूढ़े का मन सहज ही ईश्वर की ओर नहीं जाता, पर बाल्यावस्था में थोड़ी-सी चेष्टा से ही मन ईश्वर में स्थिर किया जा सकता है।[3] श्रीरामकृष्ण ने मन व हृदय की पवित्रता पर विशेष बल दिया है। इस प्रश्न के उत्तर में कि पवित्र या वासनाशून्य हृदय कैसा होता है, उन्होंने कहा कि वासना-शून्य हृदय सूखी दियासलाई के समान होता है। सूखी दियासलाई एक बार घिसने से ही तुरंत जल जाती है, पर यदि वह गीली हो तो वह घिसते-घिसते टूट जाती

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृ. 19-20.
2. श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृ. 44.
3. श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृ. 45.

है, किंतु जलती नहीं। इसी प्रकार सरल, सत्यनिष्ठ और निर्मल स्वभाव वालों को एक बार उपदेश देने से ही उनका मन ईश्वर के पादपद्मों में लीन हो जाता है। विषयासक्त लोगों पर इसका प्रभाव नहीं पड़ता।[1]

(2) साधक के प्रकार : संसार में दो प्रकार के साधक दिखलाई देते हैं– एक बन्दर के बच्चे के समान (मर्कट न्याय) और दूसरे बिल्ली के बच्चे के सामान (मार्जार-न्याय)। बन्दर का बच्चा पहले अपनी माँ को पकड़ता है फिर माँ उसको अपने साथ लेकर यत्र-तत्र घूमती है। बिल्ली का बच्चा केवल एक स्थान पर रह कर म्याऊँ-म्याऊँ करता रहता है। उसकी माँ उसकी गर्दन पकड़ कर इधर-उधर जहाँ चाहती है, उसे ले जाती है। इसी प्रकार ज्ञानमार्गी और कर्ममार्गी साधक अपनी चेष्टा द्वारा ईश्वर-प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं। पर भक्तिमार्गी ईश्वर को ही अपना कर्त्ता-धर्त्ता समझकर, उन्हीं के चरणों में भरोसा किये हुए बिल्ली के बच्चे की भाँति निश्चिंत होकर उनका नाम जपा करते हैं।[2]

जिस प्रकार एक ही व्यक्ति का बाप, किसी का ताऊ, किसी का चाचा, किसी का मौसा, किसी का लड़का, किसी का दामाद और किसी का श्वसुर होता है; उसी प्रकार भिन्न-भिन्न साधक एक ही सच्चिदानंद की शांत, दास्य, वात्सल्य, मधुर इत्यादि नाना भावों द्वारा उपासना करते रहते हैं।[3]

योगी के दो प्रकार होते हैं : गुप्त योगी और व्यक्त योगी। जो गुप्त योगी हैं, वे गुप्त रूप से ईश्वर-भजन में संलग्न रहते हैं। बाहरी लोगों को तनिक भी पता नहीं लगने पाता। पर जो व्यक्त योगी हैं, वे योग, दण्डादि बाह्य चिन्ह धारण करके लोगों के साथ योग की ही बातचीत किया करते हैं।

पुनः सात्विक, राजसिक एवं तामसिक तीन प्रकार के आराधक होते हैं : सात्विक आराधक वे हैं, जो विशुद्ध हृदय से निरहंकार होकर ईश्वर की आराधना करते हैं। राजसिक आराधक वे हैं जो नृत्य, गान एवं वाह्याडंबर द्वारा ईश्वर की आराधना करने में विश्वास करते हैं। इसके विपरीत तामसिक आराधक वे हैं जो सैकड़ों निरपराध बकरे-बकरियों की बलि देकर देवी को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं। सात्विक साधक सर्वोत्तम प्रकार के साधक हैं।[4]

---

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृ. 47.
2. श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृ. 50.
3. श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृ. 51.
4. श्रीरामकृष्ण उपदेश, अं. अनु. पृ. 92.

(3) संसार और साधना : श्रीरामकृष्ण देव के अनुसार संसार में रहकर भी ईश्वर साधना की जा सकती है। मनुष्य संसार में रह सकता है, पर संसार को मनुष्य के भीतर नहीं रहना चाहिए। पानी में नाव रही तो कोई हानि नहीं है, पर यदि पानी नाव के भीतर पहुँचा तो नाव डूब जाती है। इसी प्रकार साधक को संसार में रहने से कोई हानि नहीं पर साधक के मन में संसार-भाव घुसने का फल बुरा होता है।[1] संसार में रहकर जो साधना कर सकते हैं वे वास्तव में वीर साधक हैं, कुलटा स्त्री अपने कुटुम्ब में रहते हुए गृहस्थी के सभी काम करती रहती है पर उसका मन सदा उपपति की ओर ही लगा रहता है। इसी प्रकार साधक भी संसार के सभी काम-काजों को करते हुए भी मन को प्रतिक्षण भगवान की ओर ध्यान लगाये रह सकता है।

ज्ञान-लाभ होने पर मनुष्य संसार में किस प्रकार रहता है? जिस प्रकार शीशे के घर में बैठने से मनुष्य को भीतर और बाहर दोनों ओर दिखाई देता है, उसी प्रकार ज्ञानी मनुष्य को अन्दर और बाहर सर्वत्र सर्वव्यापी चैतन्य का ही बोध होता है, संसार का नहीं। ज्ञानी संसार में रहते हुए भी सर्वत्र भगवान के ही दर्शन करता है।[2]

(4) साधना के अवरोधक : जिस प्रकार घड़े में एक भी छेद रहने से सारा पानी धीरे-धीरे बह जाता है, उसी प्रकार साधक के अंदर यदि थोड़ी भी कमजोरी रह जाय तो सब साधना व्यर्थ हो जाती है। साधना के निम्न अवरोधक हैं :

(अ) विषय-बुद्धि : वासना साधना की सबसे बड़ी अवरोधक वस्तु है। गीली मिट्टी से कोई भी वस्तु बनायी जा सकती है, परंतु पकी हुई मिट्टी किसी भी वस्तु के निर्माण में काम नहीं आ सकती। इसी प्रकार जिस व्यक्ति का हृदय विषय की ज्वाला में पक गया है, उसमें पारमार्थिक भाव नहीं आ सकता।[3] कागज में यदि तेल लगा हो तो उस पर लिखा नहीं जा सकता, उसी प्रकार जीव में जब कामिनी-कांचन रूपी तेल लग जाता है तो उसके द्वारा साधना नहीं हो सकती उसी कागज को जब त्याग रूपी खड़िये से घिसकर

---

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, हि. अनु. पृ. 41.
2. श्रीरामकृष्ण उपदेश, हि. अनु. पृ. 43.
3. श्रीरामकृष्ण उपदेश, हि. अनु. पृ. 53.

शुद्ध कर दिया जाय तो साधना आसानी से की जा सकती है।[1] वासना का चिह्न मात्र भी रह जाने पर भगवान प्राप्त नहीं हो सकते। धागे में यदि जरा भी गाँठ पड़ी हो तो सूई के छेद में नहीं डाला जा सकता। मन जब वासनारहित होकर शुद्ध हो जाता है, तभी सच्चिदानंद का लाभ होता है।[2] कामिनी के त्याग में विपरीत भावना का विशेष महत्त्व होता है। जैसे नितान्त एकान्त स्थान में युवती को देखकर जो पुरुष माता कहकर पुकारता है, उसी को ठीक त्यागी कहना चाहिए।

ग्रंथ : ग्रंथ, शास्त्र-विचार या व्यर्थ का तर्क-वितर्क ईश्वर साधना में बाधक होता है। ग्रन्थ तो ग्रन्थ का काम न करके ग्रन्थि का ही काम करते हैं। विवेक-वैराग्य युक्त अंतः करण से यदि ग्रन्थों का पाठ न किया जाय तो हृदय में अहंकार आदि की गाँठ ही पक्की होती है।[3] व्यर्थ में केवल शास्त्र विचार अथवा तर्क वितर्क करने से यह छिछला मन मैला हो जाता है।[4]

(स) अभिमान : अभिमान ईश्वर तक पहुँचने में बाधा उत्पन्न करता है। जिस प्रकार दिन के घने बादल सूर्य की किरणों को पृथ्वी तक नहीं पहुँचने देते उसी प्रकार अहंकार और अभिमान मनुष्य के हृदय को ईश्वरीय कृपा और ऐश्वर्य से वंचित रखते हैं।[5] वर्षा का जल ऊँचाई पर कभी भी नहीं टिकता, पर सदा किसी नीचे स्थान को ही ढूँढता है, इसी प्रकार ईश्वरीय अनुकम्पा अंहकार-शून्य व्यक्ति के पास ही स्थित रहती है। जो दंभी और अभिमानी हैं उनके यहाँ से ईश्वरीय अनुकंपा खिसक जाती है।[6]

यहाँ श्री रामकृष्ण देव की एक बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि अभिमानशून्य होना कोई सरल कार्य नहीं है। अभिमान की जड़ कटकर भी नहीं मरती। जैसे बकरा काटे जाने पर, मुंड धड़ से अलग हो जाने पर भी वह कुछ देर तड़पता रहता है, उसी प्रकार अभिमान समाप्त होने पर भी

---

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृ. 54.
2. श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृ. 56.
3. श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृ. 31.
4. श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृ. 55.
5. श्रीरामकृष्ण उपदेश, अं. अनु. पृ. 52.
6. श्रीरामकृष्ण उपदेश, अं. अनु. पृ. 53.

उसका प्रभाव थोड़े दिनों तक बना रहता है।[1]

(द) कंचन : धन का अभिमान भी मनुष्य को ईश्वर से दूर फेंक देता है। ईश्वर प्राप्ति के लिए अपरिग्रह भावना नितांत आवश्यक है। कहा भी है : 'मातृवत् परदारेषु, पर द्रव्येषु लोष्ठवत्'। आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पंडितः।' धन आत्मा की एक उपाधि है। उसे सदा दूर रखना चाहिए। धन तो केवल एक साधन है, उसे साध्य के रूप कभी भी नहीं मानना चाहिये। परमहंस देव धन का कभी भी संस्पर्श नहीं करते थे। श्री विवेकानंद ने लिखा है कि उनकी निद्रावस्था में यदि कोई सिक्के द्वारा उनका स्पर्श करता था तो उनका शरीर धनुष की तरह टेढ़ा हो जाता था। वे यह भी कहते थे कि जिस व्यक्ति की दृष्टि लक्ष्मी पर लगी होती है वह विष्णु (भगवान) का साक्षात्कार नहीं कर सकता।

5. साधना के सहायक : निम्न अवस्थायें ईश्वर प्राप्ति में सहायक होती हैं :

(अ) सहनशीलता : जो सहन करता है, वही जीवित रहता है, जो सहन नहीं करता उसका विनाश हो जाता है। सहनशीलता का पाठ पढ़ने के लिये ही संपूर्ण वर्णमाला में 'स' कार तीन होते हैं- श, ष, स। लोहार के घर में निहाई के ऊपर कितने जोर से बड़े-बड़े हथौड़ों द्वारा पीटते हैं, तो भी निहाई का कुछ नहीं होता। इसी प्रकार मानव की बुद्धि स्थिर और कूटस्थ होनी चाहिये।

(ब) निष्कपटता (सरलता) : जो संसार में अपने को चतुर और चालाक समझते हैं उन्हें ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। कौआ बहुत चतुर होता है पर विष्टा खाता है। यही हालत सभी चतुर लोगों की होती है। चित्त की सरलता द्वारा ईश्वर प्राप्ति का कार्य सरल हो जाता है। इसके लिये हठयोग की भी आवश्यकता नहीं होती। श्री रामकृष्ण देव कहा करते थे कि यही सोचो कि तुम्हारा मन भगवान के चरण कमल से एक रेशम के धागों द्वारा बँधा है। रेशम का धागा इसलिये बँधा है जिससे कि भगवान के चरण को कष्ट न हो।

(स) सत्संग : जैसे वकील को देखने से मुकदमें, और कचहरी की बातें मन में उठती हैं, तथा डॉक्टर या वैद्य को देखने से बीमारी या दवा की याद आती है। इसी प्रकार साधु या भक्त को देखने से भगवान का भाव उमड़ने

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, हि. अनु. पृ. 58.

लगता है। श्री रामकृष्ण देव के अनुसार साधु संग वैसा ही है जैसे चावल का धोया हुआ जल। जिसको अत्यन्त नशा चढ़ा हो, उसे यदि चावल का धोया हुआ पानी पिला दिया जाए तो नशा उतर जाता है। इसी प्रकार इस संसार रूपी मद में जो मत्त हो रहे हैं, उनका नशा दूर करने के लिए एकमात्र उपाय साधु संग ही है।[1]

(द) विनय : जो ईश्वर प्राप्ति का विचार रखता है, उसे विनयशील या नम्र होना चाहिये। साक्रेटीज भी बौद्धिक विनय पर विशेष बल देते थे। श्री रामकृष्ण देव कहते थे कि तराजू का जो पलड़ा जितना ही भारी होता है, उतना ही वह नीचे की ओर झुक जाता है।

(य) त्याग : आध्यात्मिकता की प्राप्ति के लिये सांसारिकता का त्याग परमावश्यक है। श्री परमहंसदेव ने त्यागी की उपमा एक मधुमक्खी और चातक से दी है। मधुमक्खी केवल फूलों का रस ही ग्रहण करती है, मक्खी की तरह सभी स्थानों पर नहीं बैठती। इसी प्रकार चातक केवल स्वाती नक्षत्र का ही पानी पीता है पर कौआ सब जगह का पानी पीता है। मनुष्य को भी इनसे त्याग का पाठ पढ़ना चाहिये।

(फ) अध्यवसाय : रत्नाकर में अनेक रत्न हैं, पर यदि हमें एक ही डुबकी में रत्न न मिलें तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि रत्नाकर रत्नहीन है। इसी प्रकार यदि थोड़ी साधना करने से ईश्वर के दर्शन न हों तो निराश न होकर धैर्य धारण करना चाहिए। कभी-न-कभी ईश्वर की कृपा अवश्य होगी।[2]

(ज़) व्याकुलता : जिस प्रकार सती का मन पति की ओर, कृपण का धन की ओर और विषयी का विषय की ओर होता है, उसी प्रकार भक्त का मन भगवान की ओर लगा होना चाहिए। व्याकुलता भक्त और भगवान के बीच को समाप्त कर देती है। श्रीरामकृष्ण देव ने व्याकुलता-अकेले में ईश्वर के लिए रोना-पर बहुत बल दिया है।

(झ) विवेक : जब तक हम सत् और असत् के अंतर को नहीं समझ लेते तब तक सत् के प्रति स्वाभाविक अनुराग हमारे अंदर उत्पन्न नहीं हो

---

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृ. 78.
1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, हि. पृ. 82.

सकता। इस विवेक या निर्णय शक्ति को समझाने के लिए श्रीरामकृष्ण ने चार उदाहरण दिये हैं। प्रथम उदाहरण हंस का है। हंस के भीतर इतना विवेक होता है कि वह जलमिश्रित दूध में दूध तो ग्रहण कर लेता है और जल को त्याग देता है। इसी प्रकार चींटी बालू मिश्रित चीनी में चीनी तो ग्रहण कर लेती है पर बालू का परित्याग कर देती है। बत्तख दिन-रात जल में रह कर भी उससे अलिप्त रहता है। इसी प्रकार मछली कीचड़ में रहते हुए भी चाँदी की तरह चमकती है। मनुष्य को वैसा ही निर्लिप्त और विवेकशील होना चाहिए।

(ट) ज्ञान : ज्ञान के द्वारा जीव का ब्रह्म के साथ तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है। ज्ञान तीन प्रकार का होता है। प्रथम सांसारिक व्यक्तियों का ज्ञान है, जिसकी तुलना कमरे के लालटेन की रोशनी से की जा सकती है जो केवल कमरे को ही प्रकाशित कर सकती है, बाहर की वस्तुओं को नहीं। द्वितीय श्रेणी के भीतर भक्तों का ज्ञान आता है, जिसकी तुलना चन्द्रमा की रोशनी से की जा सकती है जो कमरे के भीतर और बाहर दोनों ओर वस्तुओं को प्रकाशित करता है। तीसरा ज्ञान अवतारी पुरुषों का ज्ञान है जिसकी तुलना सूर्य की रोशनी से की जा सकती है जो गहनतम अंधकार को एक साथ दूर कर सकती है।

वह उच्चतर ज्ञान क्या है? आत्म-ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। श्रीरामकृष्ण देव कहा करते थे कि जिस व्यक्ति को अपनी आत्मा का ज्ञान हो गया हो उसे जगत् और ईश्वर का भी ज्ञान हो गया। जिस प्रकार प्याज के भीतर सब छिलका ही छिलका होता है, उसके भीतर कोई सारतत्त्व नहीं होता, उसी प्रकार अहं (म्हव) में भी कोई वास्तविकता नहीं होती, सब छिलका ही छिलका होता है। अहं के दूर हो जाने पर भीतर और बाहर का भेद मिट जाता है और सर्वत्र ईश्वर ही दिखाई पड़ने लगते हैं।[1]

इस संबंध में एक लघुकथा है। एक व्यक्ति को हुक्का पीने की आदत थी। वह आदमी हुक्का जलाने के लिए आधी रात को लालटेन लेकर सबके दरवाजे खटखटाता रहा। दरवाजा खोलने पर एक व्यक्ति ने कहा, 'भाई! तुम व्यर्थ सबका दरवाजा खटखटा रहे हो। तुम्हारे पास जो लालटेन है उसी से अग्नि पैदा कर अपने हुक्के को जगा सकते हो। इसी प्रकार भगवान स्वयं

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, अं. अनु. पृ. 225.

हमारे पास विद्यमान है। इस बात को न जानकर हम उन्हें दर-दर ढूँढते हैं। ज्यों ही हमें इस बात की जानकारी हो जाती है कि भगवान हृदयस्थ हैं हमें ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, जो मोक्ष का कारण है।[1]

विचार दो प्रकार का होता है– अनुलोम और विलोम। अनुलोम विचार एक विश्लेषणात्मक विचार है जिसमें हम कार्य से कारण की ओर जाते हैं। इसके विपरीत विलोम विचार वह है जिसमें हम कारण (ब्रह्म) से कार्य (जगत्) की ओर अग्रसर होते हैं। यह संश्लेषणात्मक विचार है। व्यवहार में दोनों की उपयोगिता है।[2]

पर इस कलियुग में ज्ञान योग का अनुष्ठान बहुत ही कठिन कार्य है। ज्ञान-योगी वही हो सकता है जिसकी देहात्म बुद्धि समाप्त हो गई हो। जिसने आत्मा और परमात्मा के तादात्म्य को समझ लिया है और शरीर से आत्मा की पृथकता का अंकन कर लिया है वही-ज्ञान योगी हो सकता है। जिस व्यक्ति की बुद्धि विषयों, इन्द्रियों, मन, बुद्धि में रमं रही हो, वह ज्ञान योगी कभी नहीं हो सकता।

(ठ) भक्ति : भक्तियोग और ज्ञानयोग में अंतर यह है कि ईश्वर में प्रेम होने पर आत्म नियंत्रण स्वतः उत्पन्न हो जाता है पर ज्ञान योग तब तक संभव नहीं हो सकता जब तक कि किसी व्यक्ति ने प्रथम आत्म नियंत्रण न स्थापित कर लिया हो। आत्म नियंत्रण ज्ञान योग की प्रागपेक्षा है।

सांसारिकता और कर्मफल से बचने के लिए भक्ति अत्यंत आवश्यक है। जिस प्रकार कटहल छीलने के पहले हाथ में तेल लगा लेना आवश्यक होता है नहीं तो उसका दूध पूरे हाथ में चिपक जाता है, ठीक उसी प्रकार कर्म फल से बचने के लिए मनुष्य को भक्तियुक्त होना अनिवार्य है। ज्ञान भी शक्ति का ही एक रूप है। भक्ति चंद्रमा की तरह शीतल है और ज्ञान सूर्य के समान प्रखर है। पर जिस प्रकार कभी-कभी चंद्रमा के डूबने के पहले ही सूर्य उदय हो जाता है, उसी प्रकार भक्ति और ज्ञान भी साथ-साथ रह सकते हैं।

भगवान के साक्षात्कार के लिए भक्ति आवश्यक है। श्रीरामकृष्णदेव कहते हैं कि सादे काँच में किसी वस्तु का चित्र नहीं उतरता परंतु यदि उसमें

---

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, अं. अनु. पृ. 225-26.
2. श्रीरामकृष्ण उपदेश, अं. अनु. पृ. 226.

रासायनिक द्रव्य लगा हो तो फोटो स्पष्ट रूप में उतर जाता है। इसी प्रकार यदि शुद्ध मन में भक्ति रूपी रसायन लगा हो तो भगवान का रूप स्पष्ट रूप में दिखायी पड़ता है। भक्ति के बिना शुद्ध मन में भी भगवान का रूप नहीं दिखायी दे सकता।[1] भक्ति के पूर्व आत्म-नियंत्रण की कोई आवश्यकता नहीं है। श्री भगवान के चरणकमलों में भक्ति होने से विषयकर्म अपने आप ही नष्ट हो जाते हैं। फिर उस पुरुष को विषय कर्म अच्छे नहीं लगते। मिश्री का शर्बत पीने के बाद फिर गुण का शर्बत कोई नहीं पीना चाहता।[2] एक कवि ने भक्ति की उपमा एक शेर से दी है। जिस प्रकार शेर जानवरों को अनायास उदरस्थ कर जाता है, इसी प्रकार भक्ति मनुष्य के विरोधियों वासना, काम, क्रोध, लोभ इत्यादि विकारों को नष्ट कर देती है।[3]

भगवान एक है, पर साधक और भक्त गण भिन्न-भिन्न भाव व रुचि के अनुसार उनकी उपासना किया करते हैं। एक ही दूध से कोई रबड़ी तो कोई पेड़ा बनाकर खाते हैं, इसी प्रकार जिनकी जैसी रुचि होती है, वे उसी भाव से भगवान का साधन भजन तथा उनकी उपासना करते हैं।

प्रेम तीन प्रकार का होता है : समर्थ, सामंजस और साधारण। समर्थ प्रेम निःस्वार्थ प्रेम होता है जिसमें प्रेमी अपने विषय में कुछ न सोचकर केवल प्रेमास्पद के कल्याण के विषय में ही सोचता है। सामंजस प्रेम पारस्परिक होता है जिसमें प्रेमी अपना और प्रेमास्पद दोनों का कल्याण देखता है। साधारण प्रेम निकृष्टतम प्रेम है जिसमें प्रेम प्रेमास्पद का विचार न करके अपना ही स्वार्थ साधन करना चाहता है। समर्थ प्रेम उच्चतम कोटि का प्रेम है जो भगवान के प्रति होना चाहिए।[4]

जिस प्रकार सांसारिकता के तीन पक्ष होते हैं– सत्व, रजस और तमस, उसी प्रकार भक्ति भी तीन प्रकार की होती है– सात्विक, राजसिक एवं तामसिक। सात्विक भक्ति में सरलता होती है। सात्विक भक्त एकांत में भगवान् की भक्ति करता है। राजसिक भक्ति में वाह्याडंबर का विशेष स्थान होता है, जिसमें भक्त त्रिपुंड, रुद्राक्ष व एक विशेष उत्तरीय का प्रयोग करता है। तामसिक भक्ति में शक्ति का प्रयोग किया जाता है। जिस प्रकार कोई डाकू बलपूर्वक दूसरों की वस्तुओं का अपहरण कर लेता है, उसी प्रकार तामसिक भक्त

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, हि. अनु. पृ. 88.
2. श्रीरामकृष्ण उपदेश, हि. अनु. पृ. 90.
3. श्रीरामकृष्ण उपदेश, अं. अनु. पृ. 234.
4. श्रीरामकृष्ण उपदेश, हि. अनु. पृ. 236.

अपने को ईश्वर का पुत्र घोषित कर ईश्वर द्वारा उत्पन्न किसी वस्तु का अपहरण कर लेता है।[1]

श्रीरामकृष्ण देव ने साधना के छः सोपानों का वर्णन किया है : (1) साधु, संग, (2) श्रद्धा, (3) निष्ठा (4) भक्ति, (5) भाव और (6) महाभाव। महाभाव की अवस्था में प्रेमी पागलों की तरह उन्मुक्त होकर हँसने, रोने और गाने लगता है। इसके बाद साधना की सातवीं अवस्था आती है, जिसे प्रेम कहते हैं। प्रेमावस्था में आत्मा, शरीर और जगत् तीनों का लोप हो जाता है, और मनुष्य का ईश्वर के साथ पूर्ण तदाकार स्थापित हो जाता है। इन सातों भक्तियों का समाहार करते हुए परमहंस जी ने उनको दो भागों में विभाजित किया : विधि-भक्ति और राग-भक्ति। विधिभक्ति नियम पूर्वक की जाती है तथा राग-भक्ति प्रखर प्रेम द्वारा उत्पन्न होती है। इसे पराभक्ति भी कहते हैं।

ज्ञानी और भक्त में अंतर यह है कि ज्ञानी ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर ब्रह्म में लीन हो जाना चाहता है पर भक्त अपने समक्ष भगवान् के अस्तित्व को बनाये रखना चाहता है। वह स्वयं चीनी बनाने की अपेक्षा केवल चीनी का स्वाद ही लेना पसंद करता है।[2] ज्ञानी की उपमा बंदर के बच्चे (मर्कट शिशु न्याय) से दी गई है जो स्वयं अपने मोक्ष की व्यवस्था करता है। इसके विपरीत भक्त की उपमा बिल्ली के बच्चे (मार्जार शिशु न्याय) से दी गई है जो अपने को पूर्णरूप में अपनी माँ को समर्पित कर देता है। ज्ञान का पतन तो संभव है पर भक्त का पतन नहीं होता। ज्ञान पुरुष है और भक्ति नारी है! ज्ञान रूपी पुरुष की पहुँच ईश्वर के बैठक तक ही हो सकती है पर भक्तिरूपी नारी ईश्वर के घर के भीतर भी प्रवेश कर सकती है।[3]

(ड) कर्म : कर्मयोग के द्वारा भी ईश्वर-लाभ प्राप्त किया जा सकता है। निष्कामभाव से गृहस्थ द्वारा किया गया कर्म कर्मयोग है। ईश्वर को समर्पित कस्के किये गये कर्म भी कर्मयोग के भीतर आते हैं। अष्टांग योग कर्म योग है। पर निष्काम कर्म इतना सरल नहीं है जितना लोग समझते हैं। यदि कर्म के साथ भक्ति हो तो कर्मयोग पर्याप्त सरल हो जाता है। हरि-कीर्तन, सभी जीवों के प्रति प्रेमभाव तथा भक्तों की सेवा ये सभी कर्मयोग के भीतर आ जाते हैं। हम कर्म किये बिना नहीं रह सकते। कर्म करना तो हमारा स्वभाव

---

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, हि. अनु. पृ. 237.
2. श्रीरामकृष्ण उपदेश, हि. अनु. पृ. 248-49.
3. श्रीरामकृष्ण उपदेश, हि. अनु. पृ. 252.

ही है। पर निष्काम कर्म करना चाहिए। तभी ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है। कर्म साधन है, ईश्वर साध्य है।

ब्रह्मज्ञानी और ईश्वर-भक्त के लिए कर्म की आवश्यकता नहीं होती। संख्या के बाद गायत्री, गायत्री के बाद प्रणव व प्रणव के बाद समाधि होनी चाहिए। समाधि में सारे कर्म समाप्त हो जाते हैं।

सिद्ध अवस्था

श्री रामकृष्णदेव जीवन-मुक्ति में विश्वास करते थे। संसार में रहते हुए भी यदि कोई मनुष्य चाहे तो मोक्ष प्राप्त कर सकता है। लोहे की तलवार को पारस से स्पर्श कराने से वह सोने की हो जाती है। उसकी आकृति तो वैसी ही रहती है, किंतु उससे हिंसा का कार्य नहीं लिया जा सकता। इसी प्रकार भगवान के पादपद्म स्पर्श करने पर मनुष्य से फिर कोई अन्याय नहीं हो सकता।[1] पुनः लोहा यदि एक बार पारस को छूकर सोना हो जाय तो उसे चाहे मिट्टी के भीतर दबाए रखिए, चाहे कूड़े में फेंक दीजिए, रहेगा वह सोना ही। जिन्होंने सच्चिदानंद प्राप्त कर लिया है, उनकी भी ऐसी ही अवस्था है। वे संसार में रहें या बन में रहें, उन्हें दोष स्पर्श नहीं कर सकता।[2]

संसार में पाँच प्रकार के सिद्ध पुरुष पाये जाते हैं : स्वप्न-सिद्ध, मंत्र-सिद्ध, हठात्-सिद्ध, कृपा-सिद्ध और नित्य-सिद्ध।

1. स्वप्न-सिद्ध : स्वप्न में कोई व्यक्ति इष्ट मंत्र पाकर उसी को जपकर सिद्ध हो जाते हैं।

2. मंत्र-सिद्ध : कुछ व्यक्ति किसी सद्गुरु से मंत्र, ग्रहण कर अपनी साधना द्वारा सिद्ध हो जाते हैं।

3. हठात्-सिद्ध : दैवयोग से किसी महापुरुष की कृपा लाभ कर जो सिद्ध होता है, उसे हठात् सिद्ध या दैव सिद्ध कहते हैं।

4. कृपा-सिद्ध : कृपा सिद्ध पुरुष वे हैं जो ईश्वरीय कृपा द्वारा सिद्धि प्राप्त करते हैं।

---

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, हि. अनु. पृ. 97.
2. श्रीरामकृष्ण उपदेश, हि. अनु. पृ. 97.

5. **नित्य-सिद्ध** : वे पुरुष हैं जिनकी बचपन से ही धर्म में गति होती है।[1]

जिसकी जैसी भावना होती है, उसे सिद्धि भी वैसी मिलती है। ऐसा कहा जाता है कि चपड़ा नील भ्रमर का चिंतन करते करते स्वयं भी नील भ्रमर बन जाता है। इसी प्रकार जो सच्चिदानंद का चिंतन करता है, वह स्वयं आनन्दमय हो जाता है।

मुक्त पुरुष संसार में कैसे रहते हैं? पनडुब्बी चिड़िया के समान जो पानी में रहती तो है परंतु उसके बदन पर पानी नहीं लगता। यदि कभी थोड़ा लगता भी है तो एकबार बदन झाड़ देने से तत्काल सारा पानी गिर पड़ता है।[2] इसी प्रकार मुक्त पुरुष की उपमा आँधी से उड़ी पत्तल से दी गई है। उसकी अपनी कोई इच्छा या अभिमान नहीं होता। हवा उसको उड़ाकर जिस ओर ले जाती है, वह उसी ओर चली जाती है।[3] सिद्ध पुरुष संसार के आवागमन से मुक्त हो जाते हैं। धान बोने से अंकुर पैदा होता है, परन्तु उसी धान को सिद्ध करके (उबालकर) बोने से उससे अंकुर नहीं उगता। इसी प्रकार जो लोग सिद्ध हो गये हैं, उन्हें इस संसार में जन्म नहीं लेना पड़ता।[4] मुक्त अवस्था को परमहंस अवस्था भी कहते हैं। हंस को दूध और पानी मिलाकर देने से जिस प्रकार वह दूध पीकर जल छोड़ देता है, उसी प्रकार परमहंस लोग संसार में सार-वस्तु सच्चिदानंद को ग्रहण कर असार वस्तु संसार को त्याग देते हैं।[5]

पहले अज्ञान रहता है, उसके बाद ज्ञान होता है। अंत में जब सच्चिदानंद का लाभ होता है, तब साधक ज्ञान और अज्ञान दोनों के पार चला जाता है। कैसे? जैसे शरीर में काँटा चुभने पर कहीं से यत्नपूर्वक काँटा लाकर उस काँटे को निकालते हैं फिर दोनों काँटों को फेंक देते हैं। सिद्ध अवस्था द्वन्द्वातीत अवस्था है।[6] वह अद्वैत अवस्था है जो परमानंद की अवस्था है।

●●●

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, हि. अनु. पृ. 98.
2. श्रीरामकृष्ण उपदेश, हि. अनु. पृ. 99.
3. श्रीरामकृष्ण उपदेश, हि. अनु. पृ. 103.
4. श्रीरामकृष्ण उपदेश, हि. अनु. पृ. 103.
5. श्रीरामकृष्ण उपदेश, हि. अनु. पृ. 104.
6. श्रीरामकृष्ण उपदेश, हि. अनु. पृ. 104.

अध्याय 3

स्वामी विवेकानन्द

जीवन वृत्त :

स्वामी विवेकानन्द जिनका बचपन का नाम नरेन्द्रनाथ था, 12 जनवरी सन् 1863 को कलकत्ता के सुप्रसिद्ध दत्त परिवार में पैदा हुए थे। उनके पिता विश्वनाथ दत्त बड़े दयालु और संवेदनशील व्यक्ति थे और उनकी माता श्रीमती भुवनेश्वरी देवी बड़ी बुद्धिमान और ईश्वर भक्त महिला थीं। उनकी माँ ने रामायण और महाभारत को पूर्ण रूप से कंठस्थ कर लिया था। नरेन्द्रनाथ के चरित्र और मस्तिष्क के विकास पर उनकी माँ का अटूट प्रभाव पड़ा था।

छः वर्ष की अवस्था में नरेन्द्र को पाठशाला भेजा गया जहाँ एक वर्ष के भीतर ही उन्होंने संस्कृत व्याकरण 'मुग्धबोध' तथा रामायण और महाभारत के बहुत से श्लोकों को कंठस्थ कर लिया। सात वर्ष की अवस्था में उन्हें ईश्वरचन्द्र विद्यासागर महानगर संस्था में प्रवेश दिलाया गया जहाँ नरेन्द्र ने अंग्रेजी, बंगला साहित्य और भारतीय इतिहास का ज्ञान प्राप्त किया। प्रथम श्रेणी में हाई स्कूल परीक्षा पास करने के बाद वे कलकत्ता के प्रेसीडेन्सी कालेज में भरती हुए जहाँ अपनी असाधारण बुद्धि और प्रतिभा से उन्होंने भारतीय और अंग्रेज प्राध्यापकों को प्रभावित किया। उस कालेज में नरेन्द्र ने अंग्रेजी साहित्य, योरोपीय इतिहास, पाश्चात्य दर्शन, विज्ञान, कला, संगीत और चिकित्सा विज्ञान का अध्ययन किया। पाश्चात्य दार्शनिकों में उनकी स्पेंसर, मिल, कांट, शोपेनहावर और कांट में विशेष रुचि थी। इन दार्शनिकों के गंभीर अध्ययन ने उन्हें सर्वतोमुखी प्रतिभा का व्यक्ति बना दिया।

इन्हीं दिनों बंगाल के बुद्धिजीवियों पर सुप्रसिद्ध ब्रह्मसमाज नेता केशवचंद्र सेन का बड़ा प्रभाव था। युवक नरेन्द्र भी ब्रह्मसमाज नेता की रचनाओं और भाषणों से अप्रभावित नहीं रह सके। वे ब्रह्मसमाज के क्रिया-कलापों में सक्रिय भाग लेने लगे। उसके बुद्धिवाद, सार्वभौमवाद, समन्वयवाद, मानवतावाद तथा धर्मवाद ने नरेन्द्र के विशाल हृदय को विशेष रूप में प्रभावित किया। ब्रह्मसमाज

ने जो बहुदेवतावाद और मूर्तिपूजा के विरोध में जो आंदोलन चलाया था, उसका उनके हृदय पर अमिट प्रभाव पड़ा। इसी प्रभाव के कारण वे जातिवाद और अवतारवाद के विरोधी हो गये। कुछ समय तक ब्रह्मसमाज के बौद्धिक वातावरण ने युवक नरेन्द्र को संतुष्ट किया पर अंत में उन्होंने देखा कि वह उन्हे उनके अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचाने में समर्थ नहीं है। मनुष्य का चरम लक्ष्य ईश्वर का साक्षात्कार है, जिसे ब्रह्मसमाज पूरा नहीं कर सकता।

युवक नरेन्द्र जिज्ञासु था। ब्रह्म-साक्षात्कार के बिना उसकी जिज्ञासा तृप्त नहीं हो सकती थी। इसी जिज्ञासा की पूर्ति के लिए वह महर्षि देवेंद्रनाथ टैगोर से मिला। मिलते ही उसने उनसे पूछा– 'श्रीमान! क्या आपने ईश्वर का दर्शन किया है?' महर्षि इस प्रश्न को सुनकर पर्याप्त आश्चर्यचकित हो गये। इस आध्यात्मिक जिज्ञासा की पूर्ति के लिए वह एक धार्मिक नेता के बाद दूसरे धार्मिक नेता से मिलता रहा पर किसी ने उसकी जिज्ञासा की पूर्ति नहीं की।

श्री रामकृष्ण के साथ परिचय :

जिन दिनों युवक नरेन्द्रनाथ के मन में विचारों का इस प्रकार द्वन्द्व या ऊहापोह चल रहा था, उन दिनों बंगाल में एक ऐसे महात्मा का उदय हो रहा था, जिसे श्रीरामकृष्ण कहते थे। श्री रामकृष्ण को पाठशाला में कोई शिक्षा नहीं मिली थी। वे दक्षिणेश्वर के काली मंदिर में पुजारी थे। उनके लिए माँ काली की मूर्ति एक प्रस्तर-मूर्ति ही नहीं थी वरन् अपनी सच्चाई, सरलता और अगाध भक्ति के द्वारा उन्होंने उस प्रस्तर मूर्ति को साक्षात काली के रूप में परिणत कर लिया था। हिंदू धर्म के सभी संप्रदायों में जिन-विधियों और उपासना के अनुष्ठानों का वर्णन मिलता है, रामकृष्ण ने उन सभी का अनुसरण किया अन्त में देखा कि सभी मार्गों और पथों का गंतव्य एक ही है। हिंदू धर्म के संप्रदायों के साथ-साथ अन्य धर्मों द्वारा वर्णित अनुष्ठानों का भी उन्होंने उपयोग किया। उनका निष्कर्ष एक ही था कि सभी धर्मों का लक्ष्य एक ही है।

प्रिंसिपल हेस्टी ने एक बार नरेन्द्र को श्रीरामकृष्ण के विषय में बताया था। इस बात का पता लगाने के लिए कि क्या सचमुच श्रीरामकृष्ण ने ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया है, युवक नरेन्द्र दक्षिणेश्वर गया। नरेन्द्र-श्रीरामकृष्ण मिलन नरेन्द्र के जीवन का संक्रांतिकाल था। जब वह श्रीरामकृष्ण से मिला, श्रीरामकृष्ण देव ने उसकी आध्यात्मिक साध्यता को तुरन्त पहचान लिया और कहा. 'भगवान! मैं जानता हूँ, आप स्वयं नारायण के अवतार प्राचीन ऋषि हैं,

जिन्होंने मानवता का उद्धार करने के लिए पृथ्वी पर जन्म लिया है।[1] नरेन्द्र ने आगे लिखा 'मैं उनके व्यवहार को देख कर आश्चर्यचकित रह गया। मैंने समझ लिया कि वे बिलकुल विक्षिप्त हैं।[2] नास्तिक नरेन्द्र ने उनसे प्रश्न किया, 'श्रीमान! क्या आपने ईश्वर साक्षात्कार कर लिया है?' श्रीरामकृष्ण ने उतनी ही सरलता से उत्तर दिया 'हाँ! ईश्वर को मैं उसी प्रकार देखता हूँ जिस प्रकार कि तुम्हें देख रहा हूँ।' इस उत्तर से नरेन्द्र प्रभावित तो हुआ पर उनके उन्माद को देखकर उसे सहसा उनकी बातों पर विश्वास न हुआ। पर एक-दो बार मिलने के बाद नरेन्द्र की आँखें खुलीं और उसने श्रीरामकृष्ण की गुरुता को पहचाना। उनकी बातों पर सहसा उसे विश्वास होने लगा। पर ब्रह्मसमाज के प्रभाव के कारण व उन्हें अपने गुरु के रूप में स्वीकार न कर सका।

नरेन्द्रनाथ के मन में ये सारे अंतर्द्वन्द्व चल ही रहे थे कि एक दिन उसके पिता श्री विश्वनाथ दत्त जो परिवार के एकमात्र अभिभावक थे, इस संसार से चल बसे। पिता की मृत्यु ने परिवार को अभूतपूर्व आर्थिक कठिनाई में डाल दिया। उन दिनों नरेन्द्र बी.ए. पास कर कानून की शिक्षा प्राप्त कर रहा था। पारिवारिक कठिनाइयों के होते हुए भी उसने साहस नहीं छोड़ा। जैसे-जैसे कठिनाइयाँ बढ़ती गईं, उसका ईश्वर में विश्वास भी बढ़ता गया। उसने सोचना प्रारंभ किया कि यदि ईश्वर का अस्तित्व न होता तो मनुष्य के अस्तित्व का कोई मूल्य ही न होता।'

आध्यात्मिक रूपान्तरण

अब नरेन्द्र की आध्यात्मिक साधना का स्वर्णिम अवसर आया। वे जिज्ञासु थे ही। वे परमतत्त्व (ईश्वर) का साक्षात्कार करना चाहते थे। रोमा रौला ने नरेन्द्र के विषय मे लिखा है–"यह योद्धा और विजेता ईश्वर और जगत् सब कुछ प्राप्त करना चाहता था, सब पर अधिकार और सबका परित्याग करना चाहता था।"[3] एक दिन श्री रामकृष्ण ने घोषित किया, 'जिस दिन नरेन्द्र का जीवन के दुःखों, कष्टों और विपत्तियों से संनिकर्ष होगा, उसके चरित्र का

1. विवेकानन्द का जीवन : प्राच्य एवं पाश्चात्य शिष्य, अद्वैत, अलमोड़ा, 1960, पृ. 46.
2. विवेकानन्द का जीवन : प्राच्य एवं पाश्चात्य शिष्य, अद्वैत, अलमोड़ा, 1960, पृ. 46.
3. रोमा रोला : विवेकानन्द का जीवन और सार्वभौम सिद्धांत, अद्वैत आश्रम, 1960 पृ. 9

अभिमान विगलित होकर अनंत करुणा में परिवर्तित हो जायगा। उसका 'अहम्' में जो दृढ़ विश्वास है वह तमाम निराश, आत्माओं में उस विश्वास और आस्था को उत्पन्न करने का साधन बनेगा जिसे उन्होंने थोड़े समय के लिए खो दिया है। शक्तिशाली आत्मनियंत्रण के ऊपर आधारित उसके व्यवहार की जो स्वच्छंदता है, वह दूसरों की आँखों में आत्मा की सच्ची स्वतंत्रता के रूप में द्युतिमान रहेगा।"[1] उन्होंने यह भी घोषित किया कि 'हमें ऐसे धर्म की आवश्यकता है जो हमे आत्मविश्वास, राष्ट्रीय आत्म-सम्मान, गरीबों को खिलाने और शिक्षित करने की योग्यता तथा अपने चारों ओर फैले दुःख-दर्द को दूर करने की क्षमता प्रदान करे।..... यदि तुम ईश्वर-साक्षात्कार करना चाहते हो तो मनुष्य की सेवा करो।'[2]

उपर्युक्त शिक्षा को प्राप्त करने के बाद नरेन्द्रनाथ ने श्री रामकृष्ण को अपना गुरु मान लिया। अपने गुरु के चरणों में आसीन हो उन्होंने उनसे वेदांत और उसे प्राप्त करने की विधि "निर्विकल्प समाधि" की शिक्षा ग्रहण की। संपूर्ण प्राचीन ज्ञान का रहस्य उन्हें श्री रामकृष्ण से प्राप्त हुआ। इसके बाद मानवता की सेवा तथा शिष्यों के आध्यात्मिक उत्कर्ष का सारा भार उसके ऊपर आ पड़ा जिसे उन्होंने बड़ी लगन व निष्ठा के साथ पूरा किया।

सन् 1885 के मध्य में श्री रामकृष्ण को गले के कैंसर की बीमारी हुई जिससे उनका बचना कठिन हो गया। इस असार संसार से विदा होने के पूर्व उन्होंने नरेन्द्र का स्पर्श किया। स्पर्श के साथ ही नरेन्द्र को निर्विकल्प समाधि के आनंद की अनुभूति हुई। यह वह लोकोत्तर अनुभूति थी जिसे नरेन्द्र इस जीवन में प्राप्त करना चाहते थे। इस अनुभूति को प्रदान करने के साथ ही गुरु ने उन्हें चेतावनी दी कि जब तक जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति न हो जाय, उन्हें समाधि नहीं लेनी चाहिए। अब नरेन्द्र, नरेन्द्र न होकर स्वामी विवेकानन्द हो गये। उनके जीवन में हमें ज्ञान, भक्ति, कर्म और वैराग्य का अपूर्व समन्वय मिलता है।

परिव्रजक संन्यासी

मृत्यु के पहले श्री रामकृष्ण देव ने एक धर्मसंघ की स्थापना की थी, जिसके स्वामी विवेकानन्द प्रमुख थे। आध्यात्मिकता की वृद्धि और मानवता की

1. शारदानन्द की रचना 'दिव्यभाव' से उद्धृत.
2. रोमा रोला : वही पृ. 10

सेवा करना ही इस संघ का उद्देश्य था। 'आत्मनो मोक्षार्थम् जगद्धीताय च।' आत्मा का मोक्ष-साधन और जगत का कल्याण यही इसके दो प्रमुख उद्देश्य थे।

इन दोनों उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए 1888 में वे भारत भ्रमण के लिए निकले। देश के विभिन्न नगरों की यात्रा करते हुए वे हिमालय पहुँचे। भारत-भ्रमण के बीच उन्हें भारत की आध्यात्मिक व सांस्कृतिक एकता का ज्ञान हुआ। फरवरी, 1981 को एकबार पुनः इस सांस्कृतिक एकता का दर्शन करने के लिए वे भारत-दर्शन पर निकल पड़े। इस यात्रा में उन्हें भारत की महानता व महिमा का बोध हुआ। उन्होंने अपनी आँखों से देखा कि वह भारत जो प्राचीन काल में सुख, समृद्धि व सभ्यता के उच्च शिखर पर था, आज अज्ञानता, दरिद्रता, व बीमारी में कितना आकंठ डूबा हुआ है। उसी समय भारत की इन बुराइयों को दूर करने का उन्होंने व्रत लिया। राजपूताना, बम्बई, रामेश्वरम् होते हुए वे कन्याकुमारी पहुँचे जहाँ उनकी यात्रा समाप्त हुई। अपनी यात्रा के बीच जब वे खंडवा थे, उन्हें पता चला कि 1893 में अमेरिका के शिकागो नगर में धर्म संसद (Parliament fo Religion) की बैठक हो रही है। उन्होंने उसमें भाग लेने की इच्छा व्यक्त की। धर्म-संसद में भाग लेने के उनके दो उद्देश्य थेः प्रथम तो यह कि वे अन्य धर्मों के ऊपर हिंदू धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करना चाहते थे और द्वितीय यह कि वे भारत की गरीबी के निवारण के लिए अमेरिका की समृद्धि का सहयोग प्राप्त करना चाहते थे। स्वामी विवेकानन्द का दृढ़ विश्वास था कि बुभुक्षितों को धर्म की शिक्षा नहीं दी जा सकती और धर्म के बिना मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः उन्होंने भारत की गरीबी का भीष्म व्रत लिया।

पश्चिम की यात्रा :

स्वामी विवेकानन्द ने 31 मई, 1893 को बम्बई से अपनी अमेरिका की यात्रा प्रारंभ की। लंका, सिंगापुर, हांगकांग, कैण्टन और नागासाकी होते हुए जुलाई के मध्य तक वे शिकागो पहुँचे। इस यात्रा से उन्हें एशिया की सांस्कृतिक एकता का दर्शन हुआ और इसमें भारतीय योगदान की भी उन्हें झाँकी मिली। चीन में उन्हें संस्कृत-ग्रन्थों की कुछ अमूल्य पांडुलिपियाँ मिलीं। जापान के मंदिरों में संस्कृत के पवित्र सूत्रों के अभिलेख पाये गये। इन वस्तुओं को देखकर उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया कि एशिया की आध्यात्मिक एकता की स्थापना में भारत का कितना महान योगदान है।

शिकागो पहुँचने पर जब उन्होंने अमेरिका की शक्ति, धन, सृजनात्मक प्रतिभा और समृद्धि को देखा तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। 12 दिन बाद वे शिकागो के सूचना केन्द्र पहुँचे। वहाँ पता चला कि अब धर्म-संसद में भाग लेने के लिए पंजीकरण असंभव है, और यदि पंजीकरण संभव भी है तो वह आधिकारिक परिचय-पत्र के बिना नहीं हो सकता। विवेकानन्द के पास इस प्रकार का कोई परिचय-पत्र नहीं था। उन्हें परिचय-पत्र की आवश्यकता भी न थी। वे जहाँ कहीं जाते, लोगों के ध्यान के आकर्षण-केन्द्र बन जाते थे। जब वे एक दिन बोस्टन ट्रेन से यात्रा कर रहे थे, उसमें मैसेचुसेट्स की एक धनी महिला से उनकी भेंट हो गई। उस महिला ने स्वामीजी को हार्वर्ड विश्वविद्यालय के यूनानी विभाग के प्राध्यापक जे.एच. राइट से परिचय कराया। प्रो. राइट स्वामी विवेकानन्द की विद्वंता और ज्ञान से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने अपने मित्र और प्रतिनिधियों की चयन समिति के अध्यक्ष डा. बैरी को पत्र लिखा, 'यहाँ एक ऐसा व्यक्ति है, जो हमारे सभी प्राध्यापकों के संयुक्त ज्ञान से भी अधिक ज्ञान रखता है।'[1] उन्होंने स्वामी जी को शिकागो के लिए एक रेलवे टिकट और चयन-समिति के लिए एक संस्तुति-पत्र दिया और कहा कि स्वामीजी धर्म-संसद में हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व करेंगे।

धर्म संसद में :

सोमवार 22 सितम्बर, 1893 को धर्म-संसद का प्रथम अधिवेशन कोलम्बस हाल में प्रारंभ हुआ। मध्य में रोमन केथालिक चर्च के उच्चतम धर्माधिकारी कार्डिनल गिबन्स बैठे थे। उनके चारों ओर प्राच्य धर्मों के विभिन्न प्रतिनिधि आसीन थे– पी.सी. मजूमदार और नागरकर ब्रह्म समाज का, लंका के धर्मपाल बौद्धधर्म का, गांधी जैन धर्म का तथा चक्रवर्ती और एनी बेसेण्ट थियोसॉफिकल सोसाइटी का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। इन्हीं लोगों के साथ स्वामी विवेकानन्द शिरोमणि हिन्दू-धर्म का प्रतिनिधित्व कर रहे थे।

शाम के अधिवेशन में अध्यक्ष ने स्वामीजी से अपना भाषण देने का अनुरोध किया। अमेरिकावासियों को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा–'बहनों और भाइयों! हिन्दू धर्म सभी धर्मों का जनक है। यह वह धर्म है जिसने संसार को सहिष्णुता और सार्वभौमिकता का पाठ पढ़ाया। अपनी बात को पुष्ट करने

1. Here is a man who is more learned than all our learned professors put together.

के लिए स्वामी जी ने शिवमहिम्न स्तोत्र और गीता से निम्न दो पद सुनाये :

रूचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानांपथजुषाम्।

नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामवर्णवइव।।

(जैसे विभिन्न नदियाँ भिन्न-भिन्न स्रोतों से निकलकर समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार हे प्रभो! भिन्न-भिन्न रुचि के अनुसार विभिन्न टेढ़े मेढ़े अथवा सीधे रास्ते से जानेवाले लोग अन्त में तुझ में ही आकर मिल जाते हैं।) तथा -

ये यथा माँ प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम्।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।

(जो कोई मेरी ओर आता है–चाहे किसी प्रकार से हो– मैं उसको प्राप्त होता हूँ। लोग भिन्न-भिन्न मार्ग द्वारा प्रयत्न करते हुए अंत में मेरी ही ओर आते हैं।)

इस प्रकार स्वामी जी ने सिद्ध किया कि धर्म में सांप्रदायिकता, संकीर्णता, धर्मान्धता इत्यादि के लिए कोई स्थान नहीं है। अमेरिका वाले उनके विचारों से इतने प्रभावित हुए कि उन्हें हार्वर्ड विश्वविद्यालय में प्राच्य दर्शन के आचार्य पद का कार्यभार तथा कोलम्बिया विश्वविद्यालय में संस्कृत के आचार्य पद का कार्यभार देने का प्रस्ताव किया गया। स्वामीजी ने बड़े विनम्र भाव से इन पदों को यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि वे संन्यासी हैं।

धर्मपरिषद के कार्य समाप्त कर स्वामीजी 7 अगस्त, 1895 को इंग्लैण्ड आए। लंदन में नियमित रूप से उनकी वेदांत पर कक्षाएँ चलती थीं। ज्ञान-योग पर जो उन्होंने वहाँ भाषण दिए उनका लंदन की जनता पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इंगलैण्ड की एक धर्म सभा में उनकी भेंट मिस मारगरेट नोबेल से हुई जो आगे चलकर भारत में भगिनी निवेदिता के नाम से प्रसिद्ध हुई। इंगलैण्ड में कार्य समाप्त कर स्वामीजी 6 दिसम्बर, 1895 को पुनः न्यूयार्क लौट आये। वहाँ अध्यात्म पर उन्होंने कई भाषण दिये जो बाद में 'कर्म-योग' और 'भक्ति-योग' के नाम से प्रकाशित किये गये। अन्त में हिन्दू धर्म के सिद्धांतों के सतत प्रचार के लिए उन्होंने एक संस्था स्थापित की जिसे वेदांत संघ की संस्था (Foundation of the Vedanta Society) कहते हैं। उनका दृढ़ विश्वास था कि जब तक पाश्चात्य प्रविधि और प्राच्य अध्यात्म का संगम नहीं होगा तब तक मानवता

का कल्याण असम्भव है। वे वेदांत व विज्ञान के बीच समन्वय चाहते थे। वे जानते थे कि जब तक हिन्दू धर्म की बौद्धिक और वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत नहीं की जायगी तब तक वह पाश्चात्य जगत को स्वीकार्य नहीं हो सकती। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए स्वामी जी ने हिन्दू धर्म और दर्शन के पुनर्गठन पर विशेष बल दिया और अंत तक इसी कार्य में रत रहे। उन्होंने अपने भारतीय शिष्यों को धार्मिक शिक्षा लेने के लिए पश्चिम में भेजा और पश्चिम के शिष्यों को विज्ञान और प्रविधि की शिक्षा देने के लिए भारत भेजा।

फरवरी 1896 में स्वामी विवेकानंद ने न्यूयार्क नगर में अपनी सुप्रसिद्ध वेदांत सभा की स्थापना की। इस सभा ने विदेशों में हिंदू धर्म और दर्शन के मूल विचारों के प्रचार व प्रसार का कार्यभार अपने ऊपर लिया और अब तक वह यह कार्य करती जा रही है।

इंगलैण्ड की दूसरी यात्रा

जब स्वामी जी अमेरिका में हिंदू धर्म और दर्शन के प्रचार में लगे थे, इंगलैण्ड के मित्रों ने उन्हें एक बार पुनः अपने यहाँ आमंत्रित किया। वे अप्रैल 1896 में इंगलैण्ड वापस आ गये। वहाँ वे नियमित रूप से वेदांत पर कक्षाएँ लेते थे। सुप्रसिद्ध दार्शनिक मैक्समूलर ने भी उन्हें आक्सफोर्ड में अपने घर आमंत्रित किया था। मैक्समूलर श्री रामकृष्ण देव के जीवन और उनकी शिक्षाओं से विशेष प्रभावित थे। इस विषय पर विवेकानंद से वार्तालाप कर वे अत्यंत प्रसन्न हुए, इस वार्तालाप के परिणामस्वरूप ही उन्होंने अपनी रचना 'रामकृष्ण, उनका जीवन और उनकी शिक्षाएँ'[1] प्रकाशित की।

इंगलैण्ड में विवेकानंद का कार्यक्रम इतना व्यस्त रहा कि वे क्लांति का अनुभव करने लगे। इस क्लांति और थकान को मिटाने के लिए उन्होंने स्विटजरलैंड की यात्रा का निमंत्रण स्वीकार कर लिया। वहाँ की शांति और ताजगी ने उनकी संपूर्ण मानसिक थकान को समाप्त कर दिया। अगस्त, सन् 1891 में जर्मनी के सुप्रसिद्ध दार्शनिक पाल ड्यूसन ने उन्हें अपने यहाँ आमंत्रित किया। स्वामीजी से मिलकर जर्मन दार्शनिक ने भारत और भारतीय दर्शन की भूरि-भूरि प्रशंसा की। वे स्वामीजी के विचारों से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उनके साथ विवेचन के लिए वे लंदन पहुँचे। लंदन में पाल ड्यूसन ने स्वामी जी के साथ वेदांत

1. Max Muller, Ramakrishna, His Life and Sayings.

दर्शन पर विचारों का आदान-प्रदान किया। वहाँ दो माह तक निवास के बाद स्वामीजी अपने दो पाश्चात्य शिष्यों एवं श्रीमती सेवियर (Mr. & Mrs. Sevier) के साथ भारत लौट आये।

स्वदेश प्रयाण

पश्चिमी देशों पर अपनी और भारत की आध्यात्मिक विजय के बाद स्वामी विवेकानन्द भारत लौट आये। लौटने पर भारत में उनका अभूतपूर्व स्वागत किया गया। हिंदू धर्म और भारतीय संस्कृति के पुनर्जागरण और उन्नयन में उनके विशेष योगदान की सर्वत्र चर्चा होने लगी। हिंदू धर्म के महान् आचार्य और प्रस्तोता के रूप में उनका स्वागत किया गया। स्वदेश लौटने पर उन्होंने अपना सारा काम अद्वैत संघ जिसको उन्होंने श्रीरामकृष्ण की मृत्यु के बाद स्थापित किया था, के कार्य-कलापों में लगा दिया। वेदांत की शिक्षाओं को व्यावहारिक रूप देना ही इस संघ का प्रमुख उद्देश्य था। आज भी देश के विभिन्न भागों में अद्वैत संघ की शाखाएँ सांस्कृतिक उन्नयन और राष्ट्रीय पुनर्जागरण के कार्य में लगी हैं। स्वामी विवेकानन्द की देश को यह सबसे बड़ी देन है।

रामकृष्ण मिशन के कार्यों की व्यस्तता के कारण स्वामीजी को दमा और मधुमेह की बीमारी हो गई थी। अंत में 4 जुलाई, 1902 ई. को केवल 39 वर्ष और कुछ महीनों की अवस्था में उनका देहावसान हो गया। उनकी मृत्यु से भारत को कितनी अपूरणीय छति हुई, इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

तत्त्व मीमांसा

(1) पृष्ठभूमि :

स्वामी विवेकानंद अद्वैतवेदांती थे। पर उनके अद्वैतवाद का एकाएक विकास नहीं हुआ। सर्वप्रथम वे जान स्टुअर्ट मिल की पुस्तक यस्सेज़ ऑन रेलीज़न द्वारा प्रभावित हुए। उसके बाद स्पेंसर के सिद्धांतों की ओर आकर्षित हुए। स्पेंसर के साथ पत्र-व्यवहार का भी उन्होंने असफल प्रयास किया। प्रथम जीव, जगत व ईश्वर के प्रति उनकी संशयवादी विचारधारा थी जिसका उल्लेख उन्होंने तत्कालीन विद्वान दार्शनिक ब्रजेन्द्रनाथ सील से भी किया था। सील ने

उन्हें शेली की रचनाओं को पढ़ने के लिए प्रेरित किया। विवेकानन्द की आत्मा शेली के सर्वेश्वरवाद से विशेष प्रभावित हुई।

ब्रजेन्द्रनाथ सील एक बुद्धिवादी व्यक्ति थे। उनका बुद्धिवाद वेदांत के एकतत्त्ववाद, हेगल के द्वन्द्ववाद और फ्रांस की राज्य क्रान्ति के तीन सिद्धांत स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व का अपूर्व मिश्रण था। उनका कथन था कि 'व्यक्तिवाद अशुभ है और सार्वभौमवाद ही एकमात्र शुभ है।' स्वामी विवेकानन्द के ऊपर सील के. इस बुद्धिवाद का प्रबल प्रभाव पड़ा। पर यह उनके जीवन का केवल एक पक्ष था। स्वामी जी के व्यक्तित्व के इतने अधिक पहलू थे कि उन्हें किसी एकदेशीय सिद्धान्त की परिधि में आबद्ध करना कठिन कार्य था। बुद्धिवादी होने के साथ-साथ वे जगत् के सौंदर्य व उसमें निहित भावनाओं से भी अभिभूत थे। बुद्धिवाद के निर्गुण ईश्वर के साथ वे भक्तिवाद के सगुण ईश्वर का भी साक्षात्कार करना चाहते थे। इसी कारण ब्रह्म-समाज को छोड़कर वे श्रीरामकृष्णदेव के अद्वैतवाद की ओर आकर्षित हुए।

स्वामी विवेकानन्द के जीवन-दर्शन पर जो दूसरा सबसे बड़ा प्रभाव पड़ा वह शंकराचार्य के अद्वैत वेदांत का था। हम सभी जानते हैं कि अद्वैत वेदांत ब्रह्मसूत्र, गीता व उपनिषदों पर आधारित दर्शन हैं। शंकराचार्य ने इन सभी ग्रंथों पर भाष्य लिखे हैं जो अद्वैत वेदांत के प्रामाणिक ग्रंथ माने जाते हैं। अद्वैत वेदांत की प्रमुख बात यह है कि ब्रह्म या आत्मा ही एक मात्र तत्त्व है। जगत् मिथ्या है। जीव और ब्रह्म में कोई अंतर नहीं है।[1] जगत एक माया या स्वप्न के समान है। ब्रह्मज्ञान के साथ जगत् और जीव का उसी प्रकार निराकरण हो जाता है जिस प्रकार रस्सी का ज्ञान होने पर सर्प का निराकरण हो जाता है। ज्ञान ही मोक्ष प्राप्त करने का एकमात्र साधन है। कर्म हमें संसार की ओर ले जाता है, ज्ञान हमें ब्रह्म-साक्षात्कार में सहायक होता है। स्वामी विवेकानन्द की वेदांत की इन शिक्षाओं में अटूट आस्था थी। उनकी व्याख्या में भले ही कहीं अंतर प्रकट होता हो, पर वे सच्चे अर्थों में एक विशुद्ध अद्वैतवादी थे।

विवेकानन्द के दर्शन पर तीसरा सबसे बड़ा प्रभाव उनके गुरु श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव जी का था। सच पूछिए तो उनका जीवन ही श्रीरामकृष्ण देव की शिक्षाओं को व्यवहार में चरितार्थ करने के लिए समर्पित था। श्री रामकृष्ण के अनुसार ईश्वर-साक्षात्कार ही मनुष्य का अंतिम लक्ष्य है जिसे आध्यात्मिक जीवन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। विषय-वासना तथा कंचन कामिनी का

1. ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या, जीवोब्रह्मैवनापरः।

परित्याग आध्यात्मिक जीवन की प्रागपेक्षाएँ हैं। आध्यात्मिक जीवन के ये निषेधात्मक पहलू हैं। इसका भावात्मक पहलू ईश्वर-प्रेम है। ईश्वर-साक्षात्कार के लिए सांसारिक जीवन को त्यागने की कोई आवश्यकता नहीं है।

श्रीरामकृष्णदेव का मत था कि संसार के सभी धर्म अपने-अपने दृष्टिकोण से सत्य हैं। किसी भी धर्म की शिक्षाओं का यदि हम यथार्थ रूप में पालन करें तो हमें मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। उन्होंने स्वयं एक के बाद एक सभी धर्मों की दीक्षा ग्रहण की थी और देखा कि सबका परिणाम ईश्वर प्राप्ति में होता है। उसकी शिक्षाओं में हमें सभी धर्मों का अपूर्व समन्वय मिलता है। श्रीरामकृष्ण देव कहा करते थे : 'यत् मत तत् पथ' अर्थात् संसार में जितने मत हैं उतने ही उन्हें चरितार्थ करने के उपाय भी हैं। यदि कोई कहे कि हमारा धर्म ही सर्वोत्तम धर्म है और अन्य धर्म धर्म नहीं है तो यह धर्म सिद्धांत के विपरीत बात होगी। विवेकानन्द जी अपने गुरु के पक्के अनुयायी थे। 29 जनवरी 1900 ई. को केलिफोर्निया में भाषण करते हुए उन्होंने कहा था, 'जो भी विचार मैं आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ वे मेरे गुरु के विचार हैं। उन विचारों को छोड़कर मेरे पास अन्य कोई मौलिक विचार नहीं हैं।' इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीरामकृष्ण देव के जीवन और उनकी शिक्षाओं का स्वामी विवेकानन्द के जीवन और दर्शन पर विशेष प्रभाव पड़ा है।

(2) ब्रह्म :

विवेकानन्द के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। संपूर्ण जगत ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। विवेकानन्द के अनुसार वेदांत का मूलमंत्र 'विशुद्ध एकत्व' न होकर 'बहुत्व में एकत्व' है। जिस प्रकार आज कोई नहीं कहता है कि बर्कले का दर्शन दृष्टिसृष्टिवाद है या नागार्जुन का शून्यवाद अवच्छेदवाद है, उसी प्रकार आज कोई नहीं कहेगा कि वेदांत जगत् की सत्ता का निषेध करता है। बहुत्व में एकत्व के दर्शन ही वेदांत का मूल है।

विवेकानन्द 'सत्ता के सातत्य' में विश्वास करते हैं। तत्त्व एक ही है पर वह कई रूपों में अभिव्यक्त होता है। तत्त्व बिल्कुल एक है। उसमें असातत्य या विच्छेद नहीं है, सातत्य ही उनका विधान है। भौतिक, चित्तीय, मानसिक, नैतिक एवं तात्विक सभी दृष्टियों से वह एक है। जीवन एक स्पंदन मात्र है। वह जो आकाश को स्पंदित करता है, तुम्हें भी स्पंदित करता है।[1] उन्होंने तत्त्व

1. व्यावहारिक अध्यात्म पर निर्देश।

की विभिन्न श्रेणियों को बर्फ के विभिन्न स्तरों से तुलना की है। सूर्य, चाँद, सितारे और मनुष्य सभी वास्तविक हैं पर उनके घनत्व के अनुसार उनकी भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ पाई जाती हैं। वस्तुओं में भिन्नता रहते हुए भी उनकी एकता अक्षुण्ण रहती है। विवेकानन्द के शब्दों में 'अणु विश्व और विराट् विश्व दोनों की रचना एक ही योजना के अनुसार हुई है। जिस प्रकार जीवात्मा इस जीवित शरीर में आबद्ध है उसी प्रकार विश्वात्मा जीवित प्रकृति में आबद्ध हैं। काली शिव का आलिंगन करती हैं। आत्मा की प्रकृति के द्वारा आवरण, विज्ञान और उसके व्यक्त करनेवाले शब्द के संबंध के समान हैं। वे वास्तव में एक ही हैं। शब्दों के बिना विचार असंभव है। विश्वात्मा के ये दो पहलू सनातन हैं। जो कुछ हम प्रत्यक्ष सा अनुभव करते हैं, वह नित्यनिर्गुण और नित्य सगुण के संयोग से ही निर्मित हुआ है।''[1]

ब्रह्म नित्य, असीम व अनंत सत्ता है, अतः उसे वाह्य सीमित जगत में नहीं खोजा जा सकता। अनंत की खोज अनंत में ही करनी चाहिए। हमारी अंतर्वर्ती आत्मा ही एकमात्र अनंत वस्तु है, अतः उसी में ब्रह्म की खोज की जा सकती है। कठोपनिषद् का उद्धरण देते हुए स्वामी जी ने लिखा है, ''बालबुद्धि मनुष्य बाहरी काम्य वस्तुओं के पीछे दौड़ते हैं। इसीलिए सब ओर व्याप्त मृत्यु के पाश में बंध जाते हैं किंतु ज्ञानी मनुष्य अमृत्व को जानकर अनित्य वस्तुओं में नित्य वस्तु की खोज नहीं करते।''[2] ''जिस प्रकार एक ही अग्नि जगत् में प्रविष्ट सब भूतों की वह एक अंतरात्मा नाना वस्तुओं के भेद से उस रूप की हो गई है और उनके बाहर भी है।''[3] ब्रह्म आत्मरूप है। ''उसका रूप देखने की वस्तु नहीं है। कोई उसे आँख से नहीं देख सकता। हृदय, संशयरहित बुद्धि एवं मनन के द्वारा वह प्रकाशित होता है। जो इस आत्मा को जानते हैं वे अमर हो जाते हैं।''[4] कहा भी है : ''आत्मा के संबंध

---

1. विवेकानन्द दैनन्दिनी।

2. पराचः कामानुनयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
   अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवोष्विह न प्रार्थयन्ते।।

3. अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
   एकस्तथा सर्वभूतांतरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।।

4. वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
   एकस्तथा सर्वभूतांतरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।।

   – कथ. अ. 2, वल्ली 2, श्लोक 9-10

में पहले सुनना होगा, उसके बाद मनन अर्थात् चिंतन करना होगा और पुनः लगातार ध्यान करना होगा।[1]"

ब्रह्म अनंत सत्ता, अनंत ज्ञान व अनंत आनंद है। ब्रह्म चंचल है, स्थिर है, दूर है, निकट है, वह सबके भीतर है, फिर सबके बाहर भी है। जो आत्मा के भीतर सब भूतों का दर्शन करते हैं, और सब भूतों में आत्मा का दर्शन करते हैं, वे कुछ भी छिपाने की आशा नहीं करते। जिस अवस्था में ज्ञानी व्यक्ति के लिए समस्त भूत आत्म स्वरूप हो जाते हैं, उस अवस्था में उस एकत्वदर्शी पुरुष को शोक अथवा मोह कहाँ रह सकता है।[2]

उपयुर्क्त उद्धरण से स्पष्ट है कि वेदांत बहुत्व में एकत्व का प्रतिपादन करता है। अपने ज्ञान के कारण हम 'बहुत्व' का प्रत्यक्ष करते हैं। वास्तव में 'एकत्व' या अद्वैत ही एकमात्र सत्य है। द्वैत, भेद, नानात्व, प्रपंच इत्यादि 'आभास' (Appearanc) हैं, सत्य नहीं। वस्तुओं के अंतस्तल में वही 'एकत्व' विद्यमान है। ब्रह्म और जगत् में तादात्म्य है। विश्व की जो आत्मा है, उसे 'ईश्वर' कहते हैं। शरीरात्मा को 'जीवात्मा' कहा जाता है। विश्वात्मा जो प्रकृति के परिवर्तनों से अतीत है, ईश्वर है। ईश्वर जगन्नियंता है– वही सृष्टि की उत्पत्ति, धारणा व विनाश करता है।

(3) माया :

'माया' शब्द का प्रयोग साधारणतः कल्पना, भ्रम या इन्द्रजाल के रूप में किया जाता है। 'माया' वेदांत या स्वामी विवेकानन्द के दर्शन का एक प्रमुख संप्रत्यय है। इसके वास्तविक अर्थ को समझना हमारे लिए आवश्यक है।

(अ) वैदिक साहित्य में 'माया' शब्द का प्रयोग भ्रम या इन्द्रजाल के लिए हुआ है। वेद में इस प्रकार का वाक्य मिलता है कि 'इन्द्र ने माया द्वारा

---

1. 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः'।।

2. तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वंतिके।
तदंतरस्य सर्वस्य तदुसर्वस्यास्य बाह्यतः।।
यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।। – ईशोपनिषद-4-7-1

नाना रूप धारण किया।'[1] यहाँ निश्चित रूप में माया शब्द का प्रयोग चमत्कार या इन्द्रजाल के रूप में हुआ है।

(ब) उत्तर वैदिक काल में 'माया' शब्द का व्यवहार लुप्त हो गया पर उसका आन्तरिक भाव किसी न किसी रूप में विद्यमान रहा। इस प्रश्न के उत्तर में कि हम जगत के रहस्यों को क्यों नहीं जान पाते, कहा गया कि 'हम केवल थोथी बकवास करते हैं, इन्द्रियसुख से ही संतुष्ट हैं, और वासनाओं के पीछे दौड़ते रहते हैं, इसलिए इस सत्य को हमने मानों कुहरे से ढक रखा है।'[2]

(स) उपनिषदों में 'मांया' शब्द का प्रयोग पुनः पाया जाता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है "माया को प्रकृति समझो और माया को महेश्वर जानो।"

(द) बौद्धों ने भी अपने साहित्य में 'माया' शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ एक प्रकार का 'ज्ञानमीमांसीय विज्ञानवाद' (Epistemological idealism) है। इस अर्थ के अनुसार जगत एक कल्पना मात्र है।

(य) पर स्वामी विवेकानन्द के अनुसार वेदांत में जो 'माया' शब्द का प्रयोग किया गया है वह न तो विशुद्ध विज्ञानवाद है और न विशुद्ध वस्तुवाद और न वह किसी प्रकार का मतवाद ही है।[3] माया बस घटनाओं का सहज वर्णनमात्र है। माया न सत् है और न असत् है। इसके क्या अर्थ हैं? 'जगत मिथ्या है' इसका क्या अर्थ है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए विवेकानंद कहते हैं 'इसका सही अर्थ है कि उसका निरपेक्ष अस्तित्व नहीं है। मेरे, तुम्हारे और अन्य सबके मन के संबंध में इसका केवल सापेक्ष अस्तित्व है। हम पाँच इन्द्रियों द्वारा जगत को जिस रूप में प्रत्यक्ष करते हैं यदि हमारे एक इन्द्रिय और होती, तो हम इसमें और भी कुछ नवीन प्रत्यक्ष करते तथा अधिक इन्द्रिय संपन्न होने पर हम इसे और भी विभिन्न रूपों में देख पाते। अतएव इसकी सत्ता नहीं है–इसकी अपरिवर्तनीय, अचल, अनंत, सत्ता नहीं है। पर इसको

---

1. इन्द्रो मायाभिः पुरुरुपईयते।
2. नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति–ऋग्वेद, दशम मंडल 82 सूक्त, सप्तम ऋक्।
3. ज्ञानयोग, पृ. 13,

अस्तित्वहीन भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह तो वर्तमान है और इसके साथ मिलकर ही हमें कार्य करना होगा। यह सत् और असत् का मिश्रण है।'[1]

केवल ब्रह्म का ही स्वतंत्र अस्तित्व है। माया ब्रह्म के ऊपर आश्रित है। पर ब्रह्ममाया के ऊपर आश्रित नहीं है वेदांत की भाषा में इसे तादात्म्य कहते हैं।2 माया की आगे व्याख्या करते हुए विवेकानन्द कहते हैं कि आत्मा-व्याघात (Self-Contradiction) ही इसका स्वभाव है। संसार की प्रत्येक वस्तु विरुद्ध स्वभाव से युक्त है। 'जहाँ मंगल है, वहीं अमंगल भी है और जहाँ अमंगल है, वहीं मंगल भी है। जहाँ जीवन है, वहीं मृत्यु छाया की भाँति उसका अनुसरण कर रही है। जो हँस रहा है, उसी को रोना भी पड़ेगा। जो रो रहा है, वह भी हँसेगा यह क्रम बदला नहीं जा सकता।"3 यही माया है। विवेकानंद के अनुसार 'मंगल और अमंगल' ये दो एकदम भिन्न सत्ताएँ नहीं हैं। इस संसार की ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे एकदम शुभ या एकदम अशुभ कहा जा सके। संपूर्ण जगत् ही शुभ और अशुभ का यौगिक है। इसीलिए स्वामी जी कहते हैं, "यदि अमंगल को दूर करना चाहो तो साथ ही तुम्हें मंगल को भी दूर करना होगा। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। मृत्यु को दूर करने के लिए जीवन को भी दूर करना पड़ेगा। मृत्युहीन जीवन और दुःखहीन सुख परस्पर विरोधी बातें हैं। इनमें कोई सत्य नहीं है क्योंकि दोनों एक ही वस्तु के विकास हैं।"4

माया सत् का आन्तरिक विरोध (Contradiction) न होकर केवल उसका साधारण विरोध (Contrariety) ही है। यह नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्म पूर्ण सत् है और माया पूर्ण असत् है। वास्तव में माया सत् और असत् दोनों का मिश्रण है। भगिनी निवेदिता से वार्तालाप करते हुए एक दिन स्वामीजी ने उससे कहा "बौद्ध दर्शन मनुष्यों को शिक्षा देता है कि संसार में सब कुछ भ्रम है। इससे विपरीत अद्वैत वेदांत यह शिक्षा देता है कि भ्रम में भी सत् शामिल है।"5 माया मनुष्य, जीवन और जगत के सापेक्षिक अस्तित्व का प्रतिपादन करता है। "जगत सत् और आभास तथा निश्चय और भ्रम का एक अपरिभाष्य

---

1. ज्ञानयोग, पृ. 16.
2. 'अनन्यत्वम् व्यक्तिरेकेण अभावः' ब्रह्मसूत्र भाष्य II, 1, 14.
3. 'अनन्यत्वम् व्यक्तिरेकेण अभावः' ब्रह्मसूत्र भाष्य II, पृ. 26-27.
4. 'अनन्यत्वम् व्यक्तिरेकेण अभावः' ब्रह्मसूत्र भाष्य II, पृ. 28.
5. भगिनी निवेदिता से वार्तालाप।

मिश्रण है।"[1] माया शब्द का यह तात्पर्य नहीं है कि जगत् 'विशुद्ध भ्रम' या 'विभ्रम' है। 'माया' शब्द का केवल यही अर्थ है कि यह असंगतियों और व्याघातों से परिपूर्ण है। अतः, यह सत् नहीं हो सकता। विवेकानंद के शब्दों में– 'जगत् न सत् है और न असत् ही। तुम इसे सत् नहीं कह सकते क्योंकि वास्तविक रूप में सत् वही हो सकता है जो देश और काल से अतीत हो तथा स्वयंभू हो। इतना होते हुए भी जगत के भीतर कुछ न कुछ सत् अवश्य पाया जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि इसके भीतर आभासी सत् है।'[2] इसके विपरीत ब्रह्म पूर्ण सत् है क्योंकि वहाँ विरोध, व्याघात या असंगति नाममात्र के लिए भी नहीं है। वहाँ सभी असंगतियों का शमन हो जाता है।

उपर्युक्त बातों से यह अर्थ कदापि न निकाल लेना चाहिए कि वह वस्तु जिसमें असंगतियाँ या विरोधाभास पाये जाते हैं, वह बिल्कुल निरर्थक है। संसार की कोई वस्तु सार्थक या निरर्थक है, इस बात पर निर्भर करती है कि उसके प्रति हमारा क्या दृष्टिकोण है, अथवा व्यवहार में हम उस वस्तु का किस प्रकार प्रयोग करते हैं। विज्ञान का एक उदाहरण देते हुए स्वामी जी कहते हैं कि आक्सीजन और हाइड्रोजन मिलकर शुद्ध ठंढे जल का निर्माण करते हैं जिसे पीकर लोग अपनी प्यास बुझाते हैं, पर वही आक्सीजन और हाइड्रोजन एक ऐसे गैस का भी निर्माण कर सकते हैं जो विनाशकारी अग्नि को उत्पन्न करती है।[3] 'माया' शब्द का प्रयोग बहुधा अज्ञान, असत्य मोह, लोभ, आसक्ति, बंधन, वासना, काम इत्यादि भावनाओं के लिए किया जाता है। यही कारण है कि साधु, संत और दार्शनिक लोग माया के त्याग का पाठ पढ़ाते हैं। लोग कहते हैं कि संसार-त्याग से ही हमें मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार यह निराशावादी दृष्टिकोण है। जगत में सब बुराइयाँ ही नहीं पाई जाती–यह सत्-असत्, पुरुष-प्रकृति, स्वतंत्रता-परतंत्रता और बुद्धि-वासना दोनों का सामुच्चय है। "हमें माया के साथ संघर्ष करते हुए उस वस्तु तक पहुँचना है जो माया से अतीत है।" यह सोचकर कि जगत् में अशुभ पाया जाता है, जगत का परित्याग नहीं करना चाहिए। जो मनुष्य यह कहता है कि 'संसार को पूर्ण मंगलमय हो जाने दो, तब मैं कार्य करूँगा और आनंद भोगूंगा' उसकी बात उसी व्यक्ति की तरह है जो गंगातट पर बैठकर कहता है कि जब इसका

1. 25 मार्च, 1896 को हार्वर्ड के दर्शन परिषद् के अभिभाषण से उद्धृत।
2. सेलेक्टेड वर्क्स, पृ. 105.
3. श्रीरामकृष्ण के सिद्धांत (गास्पेल) से उद्धृत, पृ. 94.

सारा पानी समुद्र में पहुँच जायेगा तब मैं इसके पार जाऊँगा। दोनों बातें असंभव हैं।[1] मोक्ष का मार्ग माया के साथ नहीं है, वह माया के विरुद्ध है। हम प्रकृति के सहायक रूप में जन्म नहीं लिए हैं, वरन् प्रकृति के विरोधी होकर जन्म लिए हैं। "मानव-जाति का इतिहास प्राकृतिक नियमों के साथ उसके युद्ध का इतिहास है और अंत में मनुष्य ही प्रकृति पर विजय प्राप्त करता है।"[2] अतः विवेकानंद निराशावादी न होकर पूर्ण आशावादी विचारक हैं।

(3) आत्मा :

आत्मा शुद्ध स्वभाव एवं पूर्ण है। पूर्णानंद और ऐश्वर्य ही उसका स्वभाव है, दुख या अनैश्वर्य नहीं। सत्, चित् एवं आनंद आत्मा का स्वरूप है, उसका जन्मसिद्ध अधिकार है। हम जो संसार में तमाम अभिव्यक्तियों को देखते हैं, वे आत्मा के ही विभिन्न रूप मात्र हैं। जन्म-मृत्यु, क्षय-वृद्धि, उन्नति-अवनति सब कुछ उस एक अखंड सत्ता की ही विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। इसी प्रकार हमारा साधारण ज्ञान भी चाहे विद्या अथवा अविद्या किसी भी रूप से प्रकाशित क्यों न हो, उसी चित्त का, उसी ज्ञान-स्वरूप का प्रकाश है। विभिन्नता प्रकारगत न होकर केवल परिणामगत ही है।

अब यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि आत्मा के मुक्त स्वभाव होने का क्या अर्थ है? मुक्त स्वभाव का वास्तविक अर्थ हैः उस वस्तु की स्वतंत्रता। अर्थात् किसी वाह्य वस्तु का उस वस्तु पर तनिक भी प्रभाव न होना। आत्मा कार्य-कारण-संबंध से बिल्कुल अतीत है। इसीलिए वह स्वतंत्र या मुक्त स्वभाव है। आत्मा का अमरत्व व उसका आनंद रूप होना उसके मुक्त स्वभाव का ही साक्षात् परिणाम है। यदि आत्मा स्वयं मुक्त स्वभाव या स्वतंत्र न हो तो उसे कोई मुक्त या स्वतंत्र नहीं कर सकता। इस संबंध में दर्शन-जगत् में दो प्रकार की विचारधाराएँ विद्यमान हैं : प्रथम विचारधारा के अनुसार आत्मा का बद्ध स्वभाव वास्तविकता है और उसका मुक्त स्वभाव भ्रांति; दूसरी विचारधारा के अनुसार आत्मा का मुक्त स्वभाव वास्तविकता है और उसका बद्धस्वभाव भ्रांति है। प्रथम विचारधारा निराशावादी है, क्योंकि यह अनुभव के प्रतिकूल तथा आत्मा की सतत परतंत्रता का प्रतिपादन करती है। इसके विपरीत, द्वितीय विचारधारा की जीवन के अनुभवों से सुसंगति है तथा यह आत्मा की सतत स्वतंत्रता का प्रतिपादन करती है। यह आशावादी विचारधारा है।

1. ज्ञानयोग, पृ. 37-38.
2. ज्ञानयोग, पृ. 38.

स्वामी विवेकानन्द का यह निश्चित मत है कि आत्मा बद्ध नहीं वरन् नित्यमुक्त है। यही नहीं वरन् अपने को बद्ध सोचना भी अनिष्टकर है। ज्यों है किसी ने सोचा कि मैं बद्ध हूँ, दुर्बल हूँ, असहाय हूँ, उसका दुर्भाग्य प्रारंभ हो गया। उसने अपने पैर में बेड़ियाँ डाल लीं। मेरा स्वरूप शुद्ध और आनंदमात्र है। 'न मेरी मृत्यु होती है, न मेरा अस्तित्व संदेहास्पद है और न तो मेरा कभी जन्म ही होता है। न मेरा कोई बंधु है, न मित्र है, न गुरु है और न कोई शिष्य ही है। मैं केवल सच्चिदानंद रूप शिव ही हूँ। मैं पाप-पुण्य, दुःख-सुख, मंत्र-तीर्थ, वेद और यज्ञ सबसे अतीत हूँ। मैं भोजन, भोज्य और भोक्ता तीनों से परे हूँ। मैं केवल सच्चिदानन्द रूप शिव ही हूँ।'[1]

(4) आत्मा और जीव :

विवेकानन्द आत्मा और परमात्मा में अभेद संबंध मानते थे। इसे उन्होंने एक सुन्दर रूपक द्वारा समझाने की चेष्टा की है। उन्होंने दो पक्षियों के उदाहरण द्वारा जीवात्मा और परमात्मा के भेद को समझाया है। किसी वृक्ष की उच्चतम डाली पर एक सुनहरा पक्षी बैठा है जो बिलकुल शांत, सुस्थिर तेजस्वी और यशस्वी है। उसके नीचे एक अन्य पक्षी बैठा है जो एक डाली से दूसरी डाली तक फुदकता रहता है। वृक्ष के कुछ फल मधुर हैं पर अन्य तिक्त हैं। नीचे वाला पक्षी कभी मधुर फल का आस्वाद लेता है और सुखी हो जाता है तथा कभी तिक्त फल खाता है और दुखी हो जाता है। कभी किसी तिक्त फल को खाकर वह इतना दुखी हो जाता है कि फल खाना ही छोड़ देता है और अपने से ऊपर वाले पक्षी की ओर ध्यान से देखने लगता है जो न मधुर फल खाता है और न तिक्त फल ही इसी कारण वह न सुखी होता है और न दुखी ही। ऊपर वाले पक्षी की शांत व सुस्थिर अवस्था को देखकर वह उसी को अपना आदर्श मान लेता है, पर थोड़े समय के बाद उसे पुनः खाने की इच्छा सताने

---

1. न मृत्युर्न शंका न में जातिभेदः,
पिता नैव में नैव माता न जन्म।
न बंधुर्न मित्रं गुरुनेव शिष्य,
श्चिदानंदरूपः शिवोऽहं, शिवोऽहम्।
न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखम्।
न मंत्रं न तीर्थ न वेदार्न यज्ञाः।
अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता,
चिदानंदरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्।।

लगती है। फिर ज्यों ही वह किसी तिक्त फल को खाता है। उसे एक झटका लगता है और वह पुनः वह ऊपर वाले पक्षी की ओर आकर्षित होता है। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक कि उस पक्षी का भ्रम पूरी तरह से दूर नहीं हो जाता। भ्रम दूर होने पर नीचेवाला पक्षी ऊपर वाले पक्षी के समीप पहुँचता है। उसके सान्निध्य और प्रकाश से वह इस प्रकार प्रभावित हो जाता है कि उसके शरीर में पूर्ण परिवर्तन आ जाता है। अब उसे पूर्ण ज्ञान होता है कि वह वास्तव में स्वयं सुनहरा पक्षी था तथा उसके द्वारा मधुर व तिक्त फलों का खाया जाना और उसके परिणामस्वरूप सुख और दुःख का अनुभव होना एक प्रकार का स्वप्न ही था।[1]

उपयुर्क्त उदाहरण से स्पष्ट है कि स्वामी विवेकानन्द जीव को ब्रह्म का आभास (Reflection) मानते हैं। पर पहले हम देख चुके हैं कि उनके अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु ब्रह्म की एक वास्तविक अभिव्यक्ति (manifestation) है। जीव विज्ञान के विकासवाद के संदर्भ में इसकी व्याख्या करते हुए स्वामीजी कहते हैं कि यह ठीक है कि अमीबा से गौतमबुद्ध की उत्पत्ति हुई पर चूँकि जगत में ऊर्जा की संपूर्ण मात्रा स्थिर है, अतः अमीबा भी एक प्रकार का गौतम बुद्ध ही रहा होगा। स्वामीजी के शब्दों में – "यदि परिवर्तन-प्रक्रिया के एक सिरे पर बुद्ध हैं तो दूसरे सिरे पर अमीबा भी बुद्ध का ही एक रूप होगा। प्रलय के समय विश्व में ऊर्जा की वही मात्रा रही होगी, जो पहले थी। साध्य रूप में, निम्नतम् कीटाणु से जो हमारे पैरों तले रेंगता है, उच्चतम साधु तक सबमें अनंत शक्ति, अनंत शुचिता और अन्य प्रकार की अनंद्रता पाई जाती है।.....उनके बीच अंतर केवल अभिव्यक्ति की मात्रा में ही है। कीटाणु उस ऊर्जा को निम्नतम् मात्रा में अभिव्यक्ति करता है, मनुष्य उसी ऊर्जा को कुछ अधिक मात्रा में अभिव्यक्त करता है तथा कोई ईश्वरीय व्यक्ति उस ऊर्जा को अधिकतम मात्रा में अभिव्यक्त करता है।"[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि आभासवाद की अपेक्षा अभिव्यक्तिवाद ही विवेकानंद को अधिक मान्य था। संसार की सभी सीमाएँ उस एक ही ब्रह्म की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं।

(5) जीव, ईश्वर और ब्रह्म :

ईश्वर व्यष्टियों की समष्टि हैं और साथ ही वे एक विशिष्ट व्यष्टि भी

1. सेलेक्टेड वर्क्स, पृ. 19.
2. सेलेक्टेड वर्क्स, पृ. 249.

हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि मानव-शरीर एक इकाई होते हुए भी जीवाणु रूपी अनेक व्यष्टियों की समष्टि है। समष्टि ही ईश्वर है और व्यष्टि ही जीव है। अतः जिस प्रकार शरीर का अस्तित्व जीवाणुओं पर आश्रित है, उसी प्रकार ईश्वर का अस्तित्व जीवों के अस्तित्व पर आश्रित है। इसका विलोम भी सत्य है। इस प्रकार जीव और ईश्वर सहवर्ती सत्ताएँ हैं; यदि एक का अस्तित्व है तो दूसरे का अस्तित्व अवश्य होगा। जीव को जितनी अधिक उन्नत अवस्था होगी, उसके ईश्वर की भी उतनी ही उन्नत अवस्था होगी। अतः जीव और ईश्वर दोनों सापेक्षिक सत्ताएँ हैं।

ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वशुभ, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ है। जब हम निम्नतर जीव से उच्चतर जीव की ओर अग्रसर होते हैं, अशुभ की मात्रा में क्रमिक ह्रास होने लगता है तथा शुभ की मात्रा में क्रमिक वृद्धि होने लगती है। इस युक्ति के अनुसार सब का समष्टि रूप ईश्वर सर्वशुभ अवश्य होगा। समष्टि रूप होने के कारण ईश्वर में सर्वविभुता, सर्वशक्तिमत्ता तथा सर्वज्ञता अवश्य पायी जायगी।

ब्रह्म, जीव और ईश्वर दोनों से अतीत निर्विकार तत्त्व है। ब्रह्म ही एक ऐसी इकाई है जो अन्य इकाइयों की समष्टि नहीं है; वह अखण्ड है, वह क्षुद्र जीवाणु से लेकर ईश्वर तक समस्त भूतों में व्याप्त है; उसके बिना किसी का अस्तित्व संभव नहीं और जो कुछ भी सत्य है; वह ब्रह्म ही है।

(6) ईश्वर और जगत्

स्वामी विवेकानंद के अनुसार जिस प्रकार जीव और ईश्वर सापेक्षिक सत्ताएँ हैं, उसी प्रकार जगत् और ईश्वर भी सापेक्षिक सत्ताएँ हैं। ईश्वर और जगत में वही संबंध है जो हमारी आत्मा और शरीर में संबंध है। ईश्वर जगत् का सूक्ष्म व विभु रूप है तथा जगत् ईश्वर का स्थूल रूप है। विकासवादियों के मतानुसार सृष्टिक्रम में चैतन्य ही होना चाहिए। प्रारंभ में यह चैतन्य अव्यक्त अवस्था में रहता है और क्रमशः वही व्यक्त रूप में प्रकट होता है। अतः विश्व में पाये जाने वाले समस्त चैतन्यों की समष्टि की वह अव्यक्त विश्वचैतन्य है, जो उन विभिन्न रूपों में प्रकाशित हो रहा है जिसे शास्त्रों में 'ईश्वर' की संज्ञा दी गयी है।

अब यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ईश्वर जो असीम व अनंत है, वह शांत या सीमित क्यों और कैसे हुआ? कहा जाता है कि विश्व ईश्वर

का प्रतिविकास है तथा ईश्वर या ब्रह्म से जगत् किस प्रकार उत्पन्न हुआ आत्म-व्याघातक प्रश्न है। यह सोचना मात्र ही कि जगत् ईश्वर से उत्पन्न होता है, ईश्वर को विषयीकृत करना है। ईश्वर आत्मा या विषयी ही नहीं है, वरन् आत्माओं की आत्मा है। जो विषयी है, वह ज्ञान का विषय कैसे हो सकता है? अतः हम यह नहीं जान सकते कि ईश्वर से जगत् की किस प्रकार उत्पत्ति हुई।

तत्त्व एक ही है और वह ब्रह्म है। वही ब्रह्म जब देश काल-निमित्त (कारण) के आवरण में दिखाई पड़ता है, तब उसे जगत् कहते हैं। देश-काल और निमित्त कोई स्वतंत्र सत्ताएँ नहीं हैं, वे मन के परिवर्तन मात्र हैं। देश बाहर की दो वस्तुओं पर निर्भर रहता है तथा काल बाहर की दो घटनाओं पर निर्भर रहता है और निमित्त या कार्य-कारण-भाव की धारणा इन्हीं देश और काल पर रहती है। अतः हम देखते हैं कि देश-काल-निमित्त कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। हम यह भी नहीं कह सकते कि उनका कोई अस्तित्व है ही नहीं क्योंकि उन्हीं के माध्यम से ब्रह्म नाना रूपात्मक जगत् में प्रकाशित हो रहा है। जिस प्रकार समुद्र और उसकी तरंगों में अभिन्न संबंध है, उसी प्रकार ब्रह्म और जगत् में भी अभिन्न संबंध है। जिस प्रकार तरंगों को हम उनके नाम-रूप भेद के कारण ही समुद्र से पृथक् जानते हैं, उसी प्रकार नाम-रूप भेद के कारण ही ब्रह्म जगत् रूप में भासित होता है। तरंगों का समुद्र के साथ भेद और अभेद दोनों संबंध है। ये देश-काल-निमित्त भी संपूर्ण रूप से इन तरंगों पर निर्भर रहते हैं। ज्यों ही तरंगे चली जाती हैं, ये भी अन्तर्निहित हो जाते हैं। काण्ट के अनुसार देश-काल-निमित्त आत्मसापेक्ष हैं पर विवेकानंद के अनुसार वास्तु-सापेक्ष हैं। यही दोनों में अंतर है। जीव जिस दिन माया के पार चला जाता है, ये देश-काल निमित्त स्वयं अदृश्य हो जायेंगे और जीव मुक्ति-लाभ कर लेगा।

प्रकृति ससीम है और आत्मा असीम है। अतः प्रकृति के ऊपर आत्मा की विजय सुनिश्चित है। आत्मा में निहित अजेय शक्ति को विकसित कर हम प्रकृति पर आसानी से विजय-लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

(7) आत्मानुभूति और उसके साधन :

समस्त मानवजाति का, समस्त धर्मों का चरम लक्ष्य एक ही है और वह है भगवान से पुनर्मिलन अथवा उस ईश्वरीय स्वरूप की प्राप्ति जो प्रत्येक मनुष्य

का प्राकृत स्वभाव है। परंतु यद्यपि लक्ष्य एक ही है तो भी लोगों के विभिन्न स्वभावों के अनुसार उसकी प्राप्ति के साधन भिन्न-भिन्न हो सकते हैं।

लक्ष्य और उसकी प्राप्ति के साधनों– इन दोनों को मिलाकर 'योग' कहा जाता है। प्रत्येक मनुष्य का विकास उसके अपने स्वभावानुसार ही होना चाहिए। जिस प्रकार प्रत्येक विज्ञान की पृथक्-पृथक् पद्धति होती है, उसी प्रकार प्रत्येक धर्म की अपनी प्रथक-प्रथक पद्धति होती है। धर्म के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के साधनों को हम योग कहते हैं। 'कर्मी के लिए इस योग का अर्थ है व्यष्टि और समष्टि मानवता की एकता या अभेद। राजयोगी के लिए 'योग' का अर्थ है यावत् अस्तित्व का ऐक्य।'[1] 'योग' संस्कृत शब्द है और इसके इन चार विभागों के संस्कृत में भिन्न-भिन्न नाम हैं–

(1) **कर्मयोग** : इसके अनुसार मनुष्य कर्म और कर्तव्य के द्वारा अपने ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति करता है।

(2) **भक्तियोग** : इसके अनुसार अपने ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति सगुण ईश्वर के प्रति भक्ति या प्रेम के द्वारा होती है।

(3) **राजयोग** : इसके अनुसार मनुष्य अपने ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति मनःसंयम के द्वारा करता है।

(4) **ज्ञानयोग** : इसके अनुसार अपने ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति ज्ञान के द्वारा होती है।

ये सभी योग अपने-अपने दृष्टिकोण से अच्छे हैं क्योंकि सभी एक ही केन्द्र भगवान की ओर ले जाते हैं। अद्वैतवाद की प्रारंभ से ही यह विशेषता रही है कि यह अन्य मतों को तोड़-फोड़कर फेंक देने की चेष्टा नहीं करता। वह यह प्रचार करने का साहस रखता है– "ज्ञानियों को चाहिए कि वे अज्ञानी, कर्म में आसक्त व्यक्तियों में बुद्धिभेद उत्पन्न न करें, विद्वान् व्यक्ति को स्वयं युक्त रहकर उन लोगों को सब प्रकार के कर्मों में नियुक्त करना चाहिए।"[2] इन सभी चार प्रकार के योगों का हम यहाँ पृथक-पृथक वर्णन करेंगे।

(5) **कर्मयोग** : यह संसार से उन मनुष्यों के लिए है जो केवल कर्म

---

1. विवेकानन्द : हिन्दू धर्म : पृ. 101.

2. न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्।। गीता–3/26.

करना जानते हैं, और ज्ञान और भक्ति के लिए उनमें कोई निष्ठा नहीं है। कर्मयोगी वही हो सकता है; जो आसक्तिरहित और निस्वार्थ भाव वाला हो। कर्मयोगी के लिए स्वार्थ-त्याग और लोककल्याणकारी वृत्ति अपनाना आवश्यक है। कर्मयोगी इसीलिए कर्म करता है कि कर्म करना उसका स्वभाव है, वह अनुभव करता है कि कर्म करना उसके लिए अच्छा है और इसके परे उसका कोई हेतु नहीं है। उसकी स्थिति इस संसार में एक दाता के समान है और वह अपने कर्म के बदले कुछ पाने की कभी चिंता नहीं करता। चूँकि कर्म करने में उसकी कोई आसक्ति नहीं है, अतः वह कर्म-फल में भी नहीं बंधता। विवेकानन्द का कर्मयोग गीता के कर्मयोग के ही समान है। प्रकृति का न्याय समान रूप से निर्मम और कठोर होता है। केवल वही कर्म जो निष्काम लोक कल्याण की भावना से किया जाता है, बंधन का कारण नहीं होता।

(2) भक्तियोग :

यह भावनाप्रधान और प्रेमीप्रकृति वाले व्यक्ति के लिए उपयोगी है। ईश्वर से प्रेम, स्वर्ग पाने के लिए अथवा संतति, संपत्ति या अन्य किसी कामना की पूर्ति के लिए नहीं करना चाहिए। प्रेम का सबसे बड़ा पुरस्कार प्रेम ही है। स्वयं ईश्वर प्रेमस्वरूप है।

संसार में हमें भक्ति के तीन स्वरूप दिखाई पड़ते हैं : प्रथम 'वाह्य उपचार' या कर्मकाण्ड। यह भक्ति की निम्नतम अवस्था है। इसके तीन अंग हैं : प्रतिमाएँ या प्रतीक, नाम और देव-मानव। ये सभी चीजें सभी धर्मों में समान रूप से पायी जाती हैं। पर यह भक्ति की स्थूल या निम्नतम अवस्था है। द्वितीय रूप वह है जहाँ प्रतीकों की अपेक्षा भावना का विशेष महत्त्व होता है। मंदिर और गिरजा, पोथी और पूजा, ये धर्म की शिशुशाला मात्र हैं, जिनके द्वारा आध्यात्मिक शिशु पर्याप्त बलवान होता है। धर्म न तो मतों में है, न पंथों में और न तार्किक विवाद में ही। धर्म या भक्ति का अर्थ है आत्मा की ब्रह्मस्वरूपता को जान लेना, उसका प्रत्यक्ष अनुभव करना और तद्रूप हो जाना। भक्ति का तृतीय रूप वह है जिसे पराभक्ति कहते हैं जहाँ प्रतीक तथा रूपाकार विलीन हो जाते हैं। जो इस परा-भक्ति को पहुँच जाता है, वह किसी सम्प्रदाय-विशेष का होकर नहीं रह सकता क्योंकि सब सम्प्रदाय उसी में विद्यमान हैं। ऐसा मनुष्य स्वयं को किन्हीं मर्यादित कल्पनाओं द्वारा बांध नहीं सकता।

अद्वैत वेदांत के अनुसार, जीवात्मा अपने को अभिव्यक्त करने का

प्रयास कर रही है। पर समस्या यह है कि ज्ञाता को ज्ञेय के रूप में कभी भी प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। बहुत दिनों के द्वन्द्व के बाद जीवात्मा जान लेती है कि ज्ञाता तो ज्ञाता ही रहेगा, वह कभी ज्ञेय नहीं हो सकता। ज्ञाता को ज्ञेय रूप में प्रस्तुत करने के प्रयत्न की असफलता के परिणामस्वरूप जीवात्मा को वैराग्य हो जाता है और अंत में उसे मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

जो बात जीवात्मा पर लागू होती है वही बात ईश्वर के लिए भी सही है। वास्तव में ईश्वर है क्या? विवेकानन्द के अनुसार "जब निर्गुण ब्रह्म को हम माया के कुहरे में से देखते हैं तो वही सगुण ब्रह्म या ईश्वर कहलाता है।[1]" जब हम ब्रह्म को अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जानने की चेष्टा करते हैं तो उसे हम सगुण ब्रह्म के रूप में ही देख सकते हैं। ब्रह्म जो ज्ञाता रूप में है, उसे विषयीकरण करने के प्रयास के फलस्वरूप ही सगुण ब्रह्म या ईश्वर की उत्पत्ति होती है। विवेकानन्द के शब्दों में : "ज्ञाता को ज्ञेय में लाने का महत्तम प्रयास यही सगुण ब्रह्म या ईश्वर है।"[2] आत्मा सनातन ज्ञात है और हम उसे ज्ञेय के रूप में ढाकने का निरंतर प्रयत्न कर रहे हैं। इसी संघर्ष के कारण ही इस प्रपंच जगत् की सृष्टि हुई है। इस प्रकार प्रपंच, जगत कोई वास्तविकता न होकर ब्रह्म का केवल प्रतिबिम्ब हो सकता है। जगत् ब्रह्म का निम्नतम रूप है। आत्मा का हमारे लिए संभव सर्वोच्च ज्ञेय रूप तो वह है जिसे हम ईश्वर कहते हैं। यदि भक्ति का यह अर्थ लिया जाय कि इससे हम ईश्वर को सर्वोच्च ज्ञेय के रूप में जानने का प्रयत्न करते हैं तो इस भक्ति में मिथ्यात्व अवश्य शामिल होगा। भक्ति का वास्तविक स्वरूप है : आत्म-साक्षात्कार या आत्मानुभूति। भक्ति का यही मर्म है।

भक्तियोग ब्रह्म से एकत्व प्राप्त करने के लिए व्यवस्थित भक्ति का मार्ग है। यह धर्म अथवा अनुभूति प्राप्ति करने का सरलतम और निश्चिततम मार्ग है। इस मार्ग में पूर्णता प्राप्त करने के लिए ईश्वर के प्रति प्रेम ही एक सारभूत वस्तु है। विवेकानन्द के अनुसार प्रेम की पाँच अवस्थाएँ होती हैं।

प्रथम : प्रेम की वह अवस्था है जिसमें मनुष्य सहायता चाहता है और इस कारण उसमें भय का अंश भी विद्यमान रहता है।

द्वितीय : प्रेम की द्वितीय अवस्था वह है जिसमें मनुष्य ईश्वर को पिता के रूप में देखता है।

---

1. विवेकानन्द, विविध प्रसंग : पृ. 46.
2. विवेकानन्द, विविध प्रसंग : पृ. 46.

तृतीय : जब ईश्वर माता के रूप में देखा जाता है प्रेम की तृतीय अवस्था होती है। इसमें संसार की सभी स्त्रियाँ माया के रूप में दिखाई पड़ती हैं। मातृदेवी की भावना से वास्तविक प्रेम आरंभ होता है।

चतुर्थ : प्रेम वह है जिसमें प्रेम प्रेम के लिए किया जाता है। प्रेम सर्वगुणातीत है।

पंचम : प्रेम की अंतिम अवस्था वह है जिसमें एकत्व अथवा परा चेतना प्राप्त होती है। यह दिव्यमिलन का प्रेम है।

भक्तियोग ईश्वर साक्षात्कार का सर्वाधिक सरल उपाय है।

(3) राजयोग :

सहस्रों वर्षों से लोगों ने अपने जीवन में अलौकिक घटनाओं का अवलोकन किया है और उनके ऊपर चिंतन कर कुछ साधारण तत्त्व निकाले हैं। इन समस्त चिंतन और विचारों का फल राजयोग विद्या है। राजयोग शिक्षा देता है कि जिस प्रकार मनुष्य के मन में नाना प्रकार की वासनाएँ और अभाव विद्यमान हैं, उसी प्रकार उसके भीतर ही उन अभावों के मोचन की शक्ति भी वर्तमान है। इस निहित शक्ति का उद्‌बोधन कर मानव को उसका साक्षात्कार कराना राजयोग का लक्ष्य है। राजयोग के अभ्यास से मनुष्य को सूक्ष्मतर अनुभूति अर्जित होती है।

वह राजयोग क्या है? पातंजलि-सूत्र राजयोग का शास्त्र है और उस पर सर्वोच्च प्रामाणिक ग्रन्थ है। पातंजलि योग सूत्र में राजयोग के आठ अंगों का सविस्तार वर्णन प्राप्त है। राजयोग के निम्न आठ अंग हैं :

1. यम : 'अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' – अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम कहलाते हैं।

2. नियम : 'शौचसंतोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्राणिधानानि नियमाः'– शौच, संतोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वरोपासना–ये पाँच नियम हैं।

3. आसन : 'स्थिरसुखमासनम्'– स्थिर भाव से सुखपूर्वक बैठने का नाम आसन है।

4. प्राणायाम : 'श्वासप्रश्वासयोगतिविच्छेदः प्राणायाम'– श्वास और प्रश्वास दोनों की गति को संयत करना प्राणायाम कहलाता है।

5. प्रत्याहार : 'स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः'– जब इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को त्याग कर मानों चित्त का स्वरूप ग्रहण करती हैं, तब उसे प्रत्याहार कहते हैं।

6. धारणा : 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा'– चित्त को किसी विशेष वस्तु में धारणा करके रखने का नाम धारणा है।

7. ध्यान : 'तत्र प्रत्ययैक्यतानता ध्यानम्'– वह वस्तुविषयक ज्ञान निरंतर एक रूप से प्रवाहित होते रहने पर उसे ध्यान कहते हैं।

8. समाधि : 'तदेवार्थमात्र निर्भास स्वरूप शून्यमिव समाधिः'– वही ध्यान जब समस्त बाहरी उपाधियों को छोड़कर अर्थ मात्र को ही प्रकाशित करता है तब उसे समाधि कहते हैं।

समाधि दो प्रकार की होती है : संप्रज्ञात समाधि जिसमें हम स्थूल एवं सूक्ष्म वस्तुओं पर मन केन्द्रित कर उनका ज्ञान प्राप्त करते हैं। दूसरी असंप्रज्ञात समाधि है। जिसमें हम सम्पूर्ण चित्तवृत्तियों का क्षय करके आत्मसाक्षात्कार प्राप्त करते हैं। यही राजयोग की चरम परिणति है। इसी को 'कैवल्य' (मोक्ष) कहते हैं।

(4) ज्ञानयोग :

विवेकानंद आधुनिक भारत में बुद्धिवादी आंदोलन के अग्रदूत थे। यदि राजा राममोहन राय सामाजिक विचारों के क्षेत्र में बुद्धिवाद को स्थापित करना चाहते थे तो विवेकानंद दर्शन और धर्म के क्षेत्र में बुद्धिवाद को प्रतिष्ठित करना चाहते थे। भरतीय दर्शन के विरुद्ध जो यह आरोप लगाया जाता है कि यह बुद्धि की अपेक्षा प्राधिकार; आप्त वचनों और श्रुतियों में विशेष विश्वास करता है, विवेकानंद स्वीकार करते थे। यही कारण है कि वे बुद्धि या तर्क को अधिक महत्व देते थे। "प्राधिकार की बुराइयों को मैंने देखा है, इसीलिए मैं बुद्धि मे विश्वास करता हूँ। मैं एक ऐसे देश में पैदा हुआ हूँ, जहाँ प्राधिकार में विश्वास करने वाले चरम सीमा तक पहुँच गये हैं।"[1]

यद्यपि स्वामी विवेकानंद ने सभी प्रकार के योगों का अनुष्ठान किया था पर उनकी ज्ञानयोग में विशेष निष्ठा थी। वे योग को एक विज्ञान मानते थे

1. व्यवहारिक वेदान्त।

जिसके लिए विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। योग के विषय में जो इतनी गुह्यता प्रदर्शित की जाती है, वे इसे बिल्कुल पसंद नहीं करते थे। वे कहते थे–"योग के विषय में यदि कोई गुप्त या रहस्यमय बात हो तो उसे छोड़ देना चाहिए। रहस्य, व्यापार मानवीय मस्तिष्क को दुर्बल बना देता है। इसने योग को जो कभी एक उच्चतम विज्ञान था, बिल्कुल नष्ट कर दिया।"[1]

धर्म के विषय में विवेकानंद के विचार बड़े स्पष्ट थे। धर्म और बुद्धि के निष्कर्षों में कोई विरोध नहीं होना चाहिए। "बुद्धि का अनुसरण करते हुए मानवमात्र को नास्तिक होना अच्छा है, पर किसी व्यक्ति के प्राधिकार के आधार पर अंधविश्वास के रूप में करोड़ों देवताओं में विश्वास करना अच्छा नहीं है। मनुष्य का महत्त्व इसी बात में है कि वह एक चिंतनशील प्राणी है।"[2] विवेकानन्द के अनुसार प्रत्येक धर्म, बुद्धि या तर्क से परिपुष्ट होना चाहिए तभी वह स्थायी हो सकता है। वे कहते थे "यदि बौद्धिक अन्वेषण के परिणामस्वरूप कोई धर्म नष्ट हो जाता है तो वह धर्म नहीं वरन् अंध विश्वास है। इस अन्वेषण के परिणामस्वरूप जो मैल है वह तो निकल जाता है, पर जो अनिवार्य तत्त्व है, वे विजयी होकर शेष रह जाते हैं।"[3]

स्वामी विवेकानन्द बुद्धियोग या ज्ञानयोग में विश्वास करते थे। पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वे बुद्धि या तर्क की सीमाओं से सर्वथा अपरिचित थे। बुद्धि के तर्कों में चक्रक दोष पाया जाता है। "बल क्या है? बल वह है जो जड़ पदार्थ को गति प्रदान करता है। जड़ पदार्थ क्या है? वह तो बल द्वारा गतिशील होता है। यह एक प्रकार का झुमाझुमी है। ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों के बावजूद हमारा तर्क विचित्र होता है। यह सिर के बिना सिर-दर्द है।"[4]

विवेकानंद यह भी स्वीकार करते हैं कि बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान सदा सैद्धांतिक ही होता है जो हमें पूर्ण संतोष प्रदान नहीं कर सकता। एक मानचित्र हमें किसी स्थान के विषय में भले ही विशद और सही सूचना दे दे पर वह उस ज्ञान की अपेक्षा सर्वथा अपूर्ण व अवास्तविक होगा जो उस स्थान के निरीक्षण से प्राप्त होता है। इस प्रकार सैद्धांतिक ज्ञान की अपेक्षा व्यक्तिगत

---

1. सेलेक्टेड वर्क्स, पृ. 92.
2. ज्ञानयोग पर निबंध।
3. ज्ञानयोग पर निबंध।
4. व्यावहारिक आध्यात्मिकता पर संकेत।

साक्षात्कार का विशेष महत्त्व होता है।

बुद्धि द्वारा हमें क्रमशः ज्ञान प्राप्त होता है। पर हमारे जीवन में एक ऐसी शक्ति भी है, जो अखण्ड रूप में हमें किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त कराती है और वह है प्रतिमान या प्रेरणा। इससे हमें तत्त्व का साक्षात् ज्ञान प्राप्त होता है। प्रेरणा निदर्शन का एक उच्चतर रूप है जो तर्क नहीं करती वरन् वस्तुओं को एक दिव्य दृष्टि रूप में जान लेती है। किन्तु केवल मूल प्रवृत्ति द्वारा ही हम इसे किस प्रकार जान सकते हैं। प्रेरणा और प्रतारणा में हम किस प्रकार भेद कर सकते हैं? प्रथम तो यह कि प्रेरणा को तर्क-विरोधी नहीं होना चाहिए। वृद्ध मनुष्य बच्चे का विरोधी नहीं होता– वह बच्चे का ही विकसित रूप होता है। कोई भी वास्तविक प्रेरणा तर्क का विरोधी नहीं होती। जहाँ उसका तर्क से विरोध होता है, वहाँ प्रेरणा होती ही नहीं।"[1]

स्वामी विवेकानन्द धर्म को भी एक विज्ञान समझते थे। जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञान भौतिक जगत् के नियमों का अनुसंधान करता है, उसी प्रकार धर्म, नैतिक एवं तात्विक जगत के आंतरिक नियमों का अन्वेषण करता है। दोनों ही अपने अपने ढंग से मनुष्य जगत के मोक्ष का द्वार प्रशस्त करते हैं। एक दृष्टिकोण से सभी ज्ञान धर्म हैं और दूसरी दृष्टि से सभी ज्ञान विज्ञान हैं।[2]

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार ये सभी मार्ग हमें लक्ष्य तक पहुँचाने में समर्थ हैं। वास्तव में धर्ममतों की विभिन्नता लाभदायक है, क्योंकि मनुष्य को धार्मिक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा वे सभी देते हैं और इस कारण सभी अच्छे हैं। जितने ही अधिक सम्प्रदाय होते हैं मनुष्य की भगवद् भावना को सफलतापूर्वक जागृत करने के उतने ही अधिक सुयोग मिलते हैं।

●●●

1. भक्तिधर्म से उद्धृत।
2. विवेकानन्द के अनुसार विज्ञान और धर्म में केवल पद्धति का भेद है।

अध्याय 4

महात्मा गांधी

व्यक्तित्व एवं जीवन-वृत्त :

गांधीजी की हत्या के तुरंत बाद स्व. नेहरू ने राष्ट्र को अपने शोक प्रसारण में इस प्रकार संबोधित किया : "विभूति जा चुकी है, सूर्य जो हमारे जीवन को आलोकित एवं अनुप्राणित किये था, अस्त हो चुका है। हम ठंढ एवं अंधकार में काँप रहे हैं.....प्रकाश बुझ चुका है किंतु यह अधिकाधिक वर्षों तक-हजारों वर्षों तक चमकता रहेगा।"[1] लगभग 10 वर्ष बाद 27 दिसम्बर, 1957 ई. को प्रातःकाल दार्जिलिंग में 'कलेक्टेड वर्क्स आफ गांधी' का प्राक्कथन लिखते समय एवरेस्ट एवं कंचनजंगा की नित्यता की झांकी ने नेहरू को गांधी की याद दिला दी। एक प्रबुद्ध विचारक के अनुसार गांधी गत 1900 वर्षों की सर्वाधिक महान् विभूति हैं।[2] गौतम बुद्ध के बाद मानव इतिहास में करुणा का गांधी सा दूसरा प्रतीक देखने को नहीं मिलता। अपनी आत्मकथा में क्राइस्ट एवं बुद्ध की तुलना करते समय गांधी ने स्पष्ट लिखा है कि गौतम में समस्त प्राणिमात्र के प्रति जो करुणा है, वह क्राइस्ट के जीवन में देखने को नहीं मिलती।[3] कृष्ण सा लोकोत्तर नायक मात्र हिन्दू वाङ्मय में ही है। उनसे कुछ मिलता जुलता विश्व इतिहास में यदि कोई दूसरा महापुरुष है तो वह मोहनदास कर्मचन्द गांधी है। यदि कृष्ण महाभारत के सूत्रधार हैं तो गांधी भारतीय स्वातंत्र्य के। यदि कृष्ण गीता के उपदेष्टा हैं तो गांधी उसके साधक। यदि कृष्ण भगवान हैं तो गांधी भक्त। गांधी की हत्या के बाद लंदन टाइम्स ने अपने संपादकीय में सचमुच ठीक ही कहा : 'भारत को छोड़कर न कोई अन्य देश और हिन्दू धर्म को छोड़कर न कोई अन्य धर्म गांधी पैदा कर सकता था।' इसी प्रकार राधाकृष्णन् गांधी में उत्कृष्ट भारतीयता की झांकी पाते हैं।[4] आज गांधी की सार्थकता पर विवाद चल रहा है। 1959 में डा. मार्टिन लूथर किंग

1. नेहरू : ऑन गांधी : सिगनेट प्रेस : पृ. 154.
2. लूइस फिशर : दि एसेन्सियल गांधी : प्राक्कथन : जार्ज एलेन एण्ड अर्नावन : लंदन : 1966.
3. गांधी : ऐन आटोबायोग्राफी, सेकेण्ड एडीशन 1940, पृ. 119.
4. राधाकृष्णन् : महात्मा गांधी, एसेज एण्ड रेफ्लेक्शन : प्राक्कथन : जैरो पब्लिशिंग हाऊस : बम्बई।

जूनियर भारत भ्रमण हेतु आया था। उसके एक मास भ्रमण के बाद दिल्ली के प्रेस सम्मेलन में एक प्रश्न किया गया–अब गांधी कहाँ हैं? डा. किंग ने उत्तर दिया– गांधी अनिवार्य हैं, यदि मानवता को विकसित होना है तो गांधी आवश्यक हैं। यदि मानव का एवं उसके उत्कृष्ट मूल्यों की सार्थकता है तो गांधी की सार्थकता है। यदि राम, कृष्ण, बुद्ध, सुकरात एवं क्राइस्ट की सार्थकता है तो गांधी की भी सार्थकता है।

पारिभाषिक अर्थ में गांधी को दार्शनिक नहीं कहा जा सकता। वे जीवन जगत् आत्मा परमात्मा की सी मौलिक समस्याओं की तार्किक गवेषणा एवं विश्लेषण में नहीं पड़ना चाहते थें। उन्होंने अपनी आत्मकथा के प्रारंभ में ही इस बात पर स्पष्ट शब्दों में प्रकाश डाला है। यदि शास्त्रीय विवेचन ही मेरा उद्देश्य होता तो मुझे अपनी आत्मकथा कहीं लिखनी चाहिए किंतु मेरा उद्देश्य जीवन के आन्तरिक मूल्यों के दैनंदिन जीवन के व्यावहारिक प्रयोग के विवेचन से है। इसीलिए मैंने अपनी आत्मकथा का शीर्षक 'दि स्टोरी आफ माई एक्सपेरीमेन्ट्स विथ ट्रुथ'– सत्य पर मेरे प्रयोगों की कथा– रखा है।[1]

गांधी एक साधक, योगी एवं भक्त हैं। उनके समक्ष एक से एक उत्कृष्ट आदर्श हैं। उनके समक्ष मर्यादा पुरुषोत्तम राम का आदर्श है जो निरीह, अबला किंतु मूर्तिमयी मानवता सीता को दुष्ट रावण के संत्रास से मुक्त कराने के लिए कटिबद्ध हैं। उनके सामने महायोगेश्वर कृष्ण का आदर्श है जो धर्म की संस्थापना एवं लोक-कल्याण हेतु कृतसंकल्प हैं। उनके समक्ष बोधितस्व की महाकरुणा–'कालि कलुष कृतानि यानि लोके तानि माय पतन्तु विमुच्यतां हि लोकः' की है। उनके समक्ष भारतीय वाङ्मय का चिरंतन सर्वोदय–सर्वे सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्–का है।

परमशुभ सत्य के अन्वेषण में अहिंसा, ब्रह्मचर्यादि उदात्त मूल्यों का प्रयोग गांधी ने किया। यही उनकी आध्यात्मिक साधना थी। उन्होंने आध्यात्मिक साधना की शक्ति से विश्व को चमत्कृत किया। गांधी में इस शक्ति का आभास गो.कृ. गोखले को शुरू ही में हो गया था। उन्होंने बहुत पहले कभी कहा था : 'गांधी में मिट्टी से नायक गढ़ देने की क्षमता है। गांधी की इस आध्यात्मिक शक्ति का आभास स्व. पं. नेहरू को भी था। उन्होंने गांधी के विषय मे लिखा है : वे किसी बड़ी शक्ति के मान अथवा प्रतिमूर्ति हैं जिसका संभवतः उन्हें धुंधला सा ज्ञान है। क्या वह भारत की आत्मा हैं? जिसे अगणित वर्षों की सामूहिक आत्मा कहा जाय और जो हमारी जाति का आधार है? क्या वह हजारों व्यथित जीवों की स्मृति हैं।'[2] पुनः वे कहते हैं : 'क्या उन्होंने कहीं

1. गांधी : ऐन आटोबायोग्रैफी : पृ. 6.

2. नेहरू : आन गांधी : पृ. 7.

जीवन के पवित्र स्रोत का पान किया है जो भारत को अतीत से शक्ति देता है।'[1] गांधी को अपनी इस शक्ति का पूर्ण आभास था। उन्होंने राजनीतिक क्षेत्र में अपने कार्य को करने की अदम्य शक्ति का स्रोत आध्यात्मिक शक्ति बताया है।[2] इसी अर्थ में गांधी साधक हैं।

गांधी ने आत्मशुद्धि पर अत्यधिक बल दिया है। उन्होंने अपनी आत्मकथा के अन्त में इस पर अच्छा प्रकाश डाला है, वे लिखते हैं : 'अद्वैती स्थिति की प्राप्ति आत्मशुद्धि के बिना संभव नहीं है। बिना आत्मशुद्धि के अहिंसा का अभ्यास एक स्वप्न है। जो हृदय से शुद्ध नहीं होता उसे ईश्वर का साक्षात्कार नहीं हो सकता। आत्मशुद्धि अत्यंत कठिन है। पूर्णशुद्धता के लिए मनसा, वचसा एवं कर्मणा रागरहित होना पड़ता है, सांसारिक द्वंद्वों–प्रेम-घृणा, लगाव-विलगाव, से ऊपर उठना पड़ता है। पूर्ण शुद्धता का आदर्श वस्तुतः गीता की स्थितिप्रज्ञता है। गांधी ने अत्यंत विनयपूर्ण शब्दों में स्वीकार किया है कि ब्राह्मी स्थिति का, स्थितिप्रज्ञता का पूर्ण साक्षात्कार मैं नहीं कर सका हूँ। मुझे अपना संकोचन शून्य तक करना है। जब व्यक्ति अपनी स्वतंत्रेच्छा से अपने को अपने सहप्राणियों में अंत में नहीं रखता उसे निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती। अहिंसा विनय की अंतिम सीमा है, इस स्थान पर गांधी ने गीता की ब्राह्मी स्थिति से बोधिसत्व के महत्तम आदर्श निर्वाण से लगता है एकमेक कर दिया है। इस परिप्रेक्ष्य में गांधी योगी कहे जा सकते हैं।

गांधी की ईश्वर में अटूट आस्था है। निर्बल के बल राम[3] में उनका दृढ़ विश्वास है। उन्होंने अपनी आत्मकथा के प्रारंभिक अध्याय का अन्त सूर के भजन :

'मोसम कौन कुटिल खल कामी,
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो
ऐसो नमक हरामी.....'

से किया है। इसी दृष्टि से वे भक्त हैं। उनके इस पक्ष पर आगे विशेष प्रकाश डाला जायगा।

इस प्रकार गांधी में एक साधक की क्लिष्ट साधना का, एक योगी के तपोबल का तथा एक भक्त की भगवान में अटूट आस्था का अद्भुत संगम है।

---

1. नेहरू : आन गांधी : पृ. 8
2. गांधी : ऐन आटोबायोग्रैफी : पृ. 4.
3. गांधी : ऐन आटोबायोग्रैफी : शीर्षक-21 अध्याय, भाग 1.

इस प्रकार के पवित्र संगम में आप्लावित होकर गांधी ने सर्वोदय का स्वप्न देखा। राजनीति जिसका अब तक के मानव इतिहास में कूटनीति से तादात्म्य था, उसे धर्मनीति का एक नया आयाम गांधी ने दिया। ये अपनी आत्मकथा के अंत में लिखते हैं कि सत्य की विभु एंव सर्वव्यापी शक्ति का आत्म-साक्षात्कार करने के लिए सृष्टि की सर्वाधिक तुच्छ वस्तु से तादात्म्य स्थापित करने की योग्यता आवश्यक है। वह व्यक्ति जिसे इस प्रकार की अभिलाषा है, वह जीवन के किसी भी क्षेत्र से अपने को अलग नहीं कर सकता। इसलिए सत्य के प्रति मेरी भक्ति ने मुझे राजनीति के क्षेत्र में खींचा एवं मैं विनयपूर्ण किंतु बिना अणुमात्र संदेह के कह सकता हूँ कि वे जो यह कहते हैं कि धर्म का राजनीति से कोई संबंध नहीं है, वस्तुतः धर्म के वास्तविक अर्थ को नहीं जानते।[1] इस प्रकार गांधी तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा के शास्त्रीय विवेचन में न पड़कर बिना किसी दार्शनिक अनुशासन विशेष से सम्बद्ध हुए[2] एक साधक एवं भक्त के रूप में तत्व एवं ज्ञान का विवेचन करते हैं। सर्वोदय के परिप्रेक्ष्य में गांधी की अपनी एक दृष्टि है। अतः इस दृष्टि से उन्हें एक समाजद्रष्टा कहा जा सकता है।

गांधी विचारक के रूप में यदि एक दृष्टि से अति सरल हैं तो दूसरी दृष्टि से उतने ही क्लिष्ट।[3] गांधी सरलता एवं सादगी की प्रतिमूर्ति हैं। उनके विचार भी उतने ही सरल हैं। सैद्धांतिक दृष्टि से उनके विचारों में कहीं भी दुरूहता नहीं दिखती किंतु ज्योंही पाठक उन विचारों को गंभीरता से लेता है एवं उनके व्यावहारिक पक्ष पर सोचता है, वह सिहर उठता है। अतः गांधी को सम्यक् रूपेण समझने के लिए गांधी के व्यक्तित्व के निर्माण के मुख्य तत्त्वों को जानना है।

गांधी 2 अक्टूबर, 1869 को काठियवाड़ के पोरबंदर अथवा सुदामापुरी में एक सभ्रांत वैश्य परिवार में पैदा हुए थे। इनका परिवार वैष्णव था। इनकी माँ अत्यन्त साध्वी एवं धर्मपरायणा थीं। गांधी के अनुसार उनकी माँ ने शायद ही कभी चातुर्मास्य व्रत छोड़ा हो। चान्द्रायण ऐसे क्लिष्ट व्रतों का अनुष्ठान उनके लिए साधारण सी बात थी। गांधी को अपने पिता से अधिक अपनी माँ

1. गांधी : ऐन आटोबायोग्रैफी : पृ. 615.
2. राजेन्द्र प्रसाद : श्रद्धांजलि, दि कलेक्टेड वर्क्स ऑफ गांधी : भाग-1 तथा जेने शार्प : गांधी हिज रेलेवेंस फार आवर टाइम्स सं. जी. रामचंद्रन् एवं टी.के. महादेवन्, द्वि. सं., 1967, पृ. 47.
3. नरवणे : माडर्न इंडियन थॉट, एशिया पब्लिशिंग हाउस, पृ. 170.

से लगाव था। 'वैष्णव जन तो तेने कहिए जो पीड़ पराई जाणे रे'– नरसीदास के इस महाकारुणिक रसपूर्ण परिवेश में धर्मप्राण माता-पिता की स्नेहासिक्त छाया में गांधी जी का शैशव बीता। हिन्दूधर्म की विशुद्ध नैतिकता वैष्णव संप्रदाय में प्रस्फुटित हुई है। गांधी के पूरे व्यक्तित्व पर रामायण एवं भागवत, जो वैष्णव संप्रदाय के लगभग उपजीव्य हैं, की आचार संहिता की अमिट छाप है। इस प्रकार ईश्वर में असीम आस्था उन्हें विरासत में मिली थी। शिशु गांधी को श्रवण एवं हरिश्चन्द्र के व्यक्तित्व ने सर्वाधिक प्रभावित किया। इनका प्रभाव इतना गंभीर था कि गांधी उत्कृष्ट पितृभक्त एवं सत्यनिष्ठ हुए। बालक गांधी को रामरक्षा स्तोत्र शुद्ध उच्चारण सहित कंठ था। गांधी के घर पर तुलसीकृत रामायण का पाठ नियमित रूप से प्रति शाम को होता था। गांधी के अनुसार रामायण भक्तिपरक साहित्य का सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ है।[1] उनके घर पर भागवत का पाठ प्रत्येक एकादशी को होता था। भागवत् गांधी के अनुसार, धार्मिक चेतना जगाने वाला अनुपम ग्रंथ है।[2] शैशव में ही उन्होंने मनुस्मृति का भी अध्ययन किया, किंतु इस ग्रंथ ने उन्हें विशेष प्रभावित नहीं किया। बालकपन में ही गांधी इस बात से विश्वस्त हो गये थे कि नैतिकता सबका आधार है–धर्मो रक्षति रक्षतः एवं नैतिकता का अधिष्ठान सत्य है।[3] इसी बीच एक गुजराती सुभाषित गीतांश जिसका आशय 'जो तुझे काँटा बुवै ताहि बोय तू फूल' है गांधी के दिल एवं दिमाग पर छा गया।[4]

गांधी 1888 में कानून अध्ययन हेतु इंग्लैंड गये। इंग्लैंड का इनका प्रवास उज्ज्वल रहा। यहीं पर इन्होंने साल्ट की शाकाहार पर पुस्तक 'ए प्ली फार वेजीटेरियनिज्म' पढ़ी! इस पुस्तक के अध्ययन ने इनको शुद्ध शाकाहारी बना दिया। अपने इसी प्रवास के दूसरे वर्ष इन्होंने सर्वप्रथम गीता का अंग्रेजी अनुवाद 'दि सांग सलेशियल' सर एडविन अरनाल्ड द्वारा पढ़ा। गांधी के अनुसार गीता सत्य के ज्ञान की सर्वोत्कृष्ट पुस्तक है।[5] यही कारण है कि गीता ने उन्हें सर्वाधिक प्रभावित किया।[6] गीता गांधी की निर्देशिका थी : 'जब मुझे

1. गांधी : ऐन आटोबायोग्रैफी : पृ. 48.
2. गांधी : ऐन आटोबायोग्रैफी : पृ. 49.
3. गांधी : ऐन आटोबायोग्रैफी : पृ. 51.
4. गांधी : ऐन आटोबायोग्रैफी : पृ. 51.
5. गांधी : ऐन आटोबायोग्रैफी : पृ. 90.
6. महादेव देसाई : गीता टु गांधी।

संशय परेशान करता है, एवं मुझे क्षितिज पर प्रकाश की एक भी किरण नहीं दिखाई देती, मै भगवद्गीता की ओर उन्मुख होता हूँ, मुझे कोई न कोई श्लोक संतोष के लिए मिल ही जाता है।[1] पुनः वे लिखते हैं : जिस प्रकार अंग्रेजी शब्दों का अर्थ न समझने पर अंग्रेजी शब्दकोश की ओर मुड़ा करता था, उसी प्रकार आधार साहित्य के इस शब्दकोश की ओर एक प्रस्तुत समाधान हेतु अपनी सभी उलझनों एवं परीक्षाओं में उन्मुख होता रहा।[2] गांधी की आत्मकथा का अंत गीता की ब्राह्मी स्थिति की शिक्षा से हुआ है।[3] इसी समय गांधी ने मैडम ब्लावस्की की 'की टु थियोसफी' पढ़ी। इसने गांधी को हिंदू धर्म के साहित्य को पढ़ने के लिए प्रेरित किया। शीघ्र ही इन्होंने मैडम ब्लावस्की एवं श्रीमती बेसेंट से साक्षात्कार किया। शैशव में गांधी को ईसाई धर्म से घृणा हो गई थी। कारण यह था कि राजकोट के हाई स्कूल के कोने में ईसाई पादरी हिंदुओं एवं उनके देवताओं को गाली देते थे किंतु इसी बीच गांधी की मैनचेस्टर के एक अच्छे ईसाई से मुलाकात हुई। उसने इन्हें बाइबिल पढ़ने के लिए प्रेरित किया। इन्हें न्यू टेस्टामेंट ने विशेष कर 'दि सरमन आफ दि माउन्ट' ने बहुत प्रभावित किया। गांधी के किशोर मस्तिष्क ने 'गीता' 'लाइट आफ एशिया' एवं 'दि सरमन आफ दि माउन्ट' को एक में बाँधने की कोशिश की।[4] कारलाइल की 'हीरोज एण्ड हीरो वरशिप, श्रीमती बेसेंट की 'हाऊ आई बिकेम ए थियोसोफिस्ट', टालस्टाय की 'दि किंगडम आफ गाड इज विदिन यू' एवं रस्किन की 'अंटू दि लास्ट'[5] पंजीकरण 'मणिरत्नमाला', 'योगवशिष्ठ' का मुमुष प्रकरण, हरिभद्र सूरी का 'षट्दर्शन समुच्चय'[6], नर्मदाशंकर का 'धर्मविचार', मैक्समूलर की 'इंडिया व्हाट कैन टीच अस'? उपनिषद् के अंग्रेजी अनुवाद, वाशिंगटन इरविंग का 'लाइक आफ मोहम्मद', 'दि सेइंग्स आफ जराथुस्ट्रा'[7] आदि पुस्तकों ने विशेष रूप से गांधी के व्यक्तित्व को प्रभावित किया।

तीन वर्ष बाद गांधी इंग्लैंड से 1891 में भारत लौटे किंतु लभगग दो ही

1. उद्धृत : सी.एस. शुक्ल : गाँधीज़ व्यू ऑफ लाइफ : पृ. 189.
2. गांधी : ऐन आटोबायोग्रैफी : पृ. 323.
3. गांधी : ऐन आटोबायोग्रैफी : पृ. 616.
4. गांधी : ऐन आटोबायोग्रैफी : पृ. 92.
5. गांधी : ऐन आटोबायोग्रैफी : पृ. 92.
6. गांधी : ऐन आटोबायोग्रैफी : पृ. 172.
7. गांधी : ऐन आटोबायोग्रैफी : पृ. 198.

वर्ष बाद अप्रैल 1893 में वे अपनी भाग्य की परीक्षा लेने दक्षिण अफ्रीका चल दिये। दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों का तादात्म्य कुली-समी शब्दों से था जिनका भावार्थ अत्यन्त घृणापूर्ण एवं बर्बरतापूर्ण था।[1] गांधी वहाँ कुली-बैरिस्टर कहे जाते थे।[2] यहीं पहली बार उन्हें प्रथम श्रेणी के डब्बे से अमानुषिक ढंग से बाहर ढकेला गया। रंगभेद अपनी पराकाष्ठा पर था, जिसका अति कटु अनुभव गांधी ने किया। इन अपमानपूर्ण अनुभवों ने गांधी के नैतिक व्यक्तित्व को उभारने में अच्छी भूमिका निभायी। इसी समय गांधी का संपर्क अनेक ईसाइयों एवं मुसलमानों से हुआ। फलस्वरूप इन्होंने ईसाई, इस्लाम एवं हिंदू धर्म का गंभीर एवं तुलनात्मक अध्ययन किया। 1896 में गांधी भारत लौट आये किंतु शीघ्र ही पुनः इन्हें दक्षिण अफ्रीका लौट जाना पड़ा। इस बार इनके साथ और भी बर्बरतापूर्ण व्यवहार किया गया। नीचता एवं पशुता जिस बिंदु पर काँप उठती है, उससे भी वीभत्स अनुभव गांधी ने किया। गांधी को जीना था, सत्य अहिंसा के माध्यम से सर्वोदय का विचार विश्व के समक्ष प्रस्तुत करना था अन्यथा दरवान में इनके ऊपर मात्र अंडे एवं पत्थर ही नहीं पड़े बल्कि बेहोशी की अवस्था में भी इनकी बूटों से इतनी अधिक पिटाई हुई कि इस बीच वहाँ के पुलिस की पत्नी क्रुद्ध भीड़ एवं गांधी के बीच में न आयी होतीं तो गांधी मर चुके होते। भीड़ क्रोध की उन्मत्तता में चिल्ला रही थी : 'गांधी को खट्टे सेव के पेड़ पर लटका दो।'[3] गांधी ने वस्तुतः सत्य की गुत्थियों का साक्षात्कार करना दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों की सेवा के माध्यम से करना शुरू किया।[4] तीन वर्ष बाद गांधी पुनः भारत लौटे। इस बार भारत में गांधी ने कांग्रेस में पहली बार प्रवेश किया।[5] क्लर्क एवं बेयरर के रूप में कार्य किया। इसी अवसर पर इन्होंने गोखले के साथ एक मास बिताया। गांधी की गोखले के प्रति असीम श्रद्धा थी। गोखले गांधी को पवित्र गंगा के समान आकर्षक लगे। राजनीति में यही गांधी के आदर्श अर्थात् गुरु थे। गोखले की ही प्रेरणा से गांधी ने बंबई हाईकोर्ट में वकालत करने का निश्चय किया। अभी वे मुश्किल से बंबई में व्यवस्थित हो सके थे कि दक्षिण अफ्रीका से इनका पुनः आह्वान

---

1. गांधी : ऐन आटोबायोग्रैफी : पृ. 136.
2. गांधी : ऐन आटोबायोग्रैफी : पृ. 239.
3. गांधी : ऐन आटोबायोग्रैफी : पृ. 239.
4. गांधी : ऐन आटोबायोग्रैफी : पृ. 268.
5. गांधी : ऐन आटोबायोग्रैफी : पृ. 373.

हुआ। इस बार गांधी लगभग 10 वर्ष दक्षिण अफ्रीका में रहे। गांधी के नैतिक व्यक्तित्व का निर्माण दक्षिण अफ्रीका ने किया। संभवतः आत्म विश्लेषण, प्राकृतिक चिकित्सा, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि की साधना एवं परीक्षण गांधी ने यहीं किया। सत्याग्रह का जन्म यहीं हुआ। उनके अश्रम जीवन की रूपरेखा एवं सामाजिक दर्शन का निर्माण यहीं हुआ।[1]

धर्म एवं नैतिकता की ओर सर्वाधिक यदि किसी अकेले व्यक्ति ने गांधी को प्रभावित किया तो वह रामचन्द्र भाई ने। गांधी उनके बारे में लिखते हैं : मेरे आध्यात्मिक तनाव के क्षणों में वही मेरे शरण[2] थे। गांधी ने एक सनातनी हिंदू एवं वैष्णव के रूप में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से ओतप्रोत हो सभी धर्मों का सार ग्रहण किया किंतु हिन्दू धर्म ने उन्हें सर्वाधिक प्रभावित किया। हिन्दू धर्म के बारे में रामचन्द्र भाई से सहमत होते हुए उनके विचार वे लिखते हैं : निरपेक्ष दृष्टि में मैं इस बात में आश्वस्त हूँ कि हिंदू धर्म का एक सूक्ष्म एवं गम्भीर विचार, इसकी आत्मा की दृष्टि एवं दया अन्य किसी धर्म में नहीं है।[3] स्वयं गांधी हिंदू धर्म के बारे में अपना विचार लिखते हैं : 'मेरा धर्म हिन्दू धर्म है, जो मेरे लिए, मानवता का धर्म है, एवं सभी धर्मों से, जिनको मैं जानता हूँ, उत्कृष्ट बातें इसमें अंतर्निहित हैं।'[4] रामचंद्र भाई के अतिरिक्त तीन अन्य आधुनिक विचारों ने गांधी को काफी प्रभावित किया। थोरो की पुस्तक 'सिविल डिस्ओवीडियन्स' से गांधी को राजनीति में अहिंसा के प्रयोग का आभास मिला। गांधी पर टालस्टाय का प्रभाव बहुत गंभीर रहा, विशेष कर टालस्टाय की 'दि किंगडम आफ गाड इज विदिन यू' का। रस्किन की 'अन टु दि लास्ट' ने गांधी पर जादू-सा असर किया एवं सद्यः उनके जीवन को ही बदल दिया। गांधी ने 'सर्वोदय' नाम से बाद में इसी पुस्तक का गुजराती में अनुवाद किया। गांधी के अत्यन्त गम्भीर हिन्दू विश्वासों–'वसुधैव कुटुम्बकम्' एवं 'सर्वे सुखिनः सन्तु'... की भावना को प्रश्रय इस पुस्तक से मिला। यही कारण था कि गांधी को इस पुस्तक ने आमूलतः बदल दिया। गांधी के अनुसार 'अन टू दि लास्ट'–'सर्वोदय' की शिक्षा संक्षेप में निम्न है :

---

1. गांधी : ऐन आटोबायोग्रैफी : पृ. 323.
2. गांधी : ऐन आटोबायोग्रैफी : पृ. 113.
3. गांधी : ऐन आटोबायोग्रैफी : पृ. 171.
4. संपादक राधाकृष्णन् एवं म्यूर हेड : कन्टेम्पोरेरी इंडियन फिलासफी, जार्ज एलेन एण्ड अनविन लिमि. लंदन, 1936 पृ. 2.

(1) व्यष्टि का शुभ समष्टि के शुभ में है।

(2) एक वकील के काम का वही मूल्य है जो किसी नापित के काम का मूल्य है क्योंकि सभी को अपने कर्म से जीविकोपार्जन अर्जित करने का बराबर अधिकार है।

(3) कृषक अथवा कर्मकार का जीवन सचमुच जीने के योग्य है।

गांधी लिखते हैं कि इनमें से प्रथम को मैं जानता था। द्वितीय का भी धूमिल सा ज्ञान था किन्तु तृतीय का कभी भी मुझे भान नहीं था। 'अन टू दि लास्ट' ने सूर्य के प्रकाश की भाँति इस बात को स्पष्ट कर दिया कि द्वितीय एवं तृतीय प्रथम में ही अन्तर्निहित है। इस नये प्रकाश से इन सिद्धांतों को व्यावहारिक रूप देने की तैयारी के लिए[1] मैं उठ पड़ा।

सर्वोदय के प्रत्येक पक्ष का 'टालस्टाय फार्म' पर गांधी ने परीक्षणकर इसकी साधना से तपःपूत हो 1914 के अंत तक भारत सर्वदा के लिए लौट आए एवं अविलंब भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का नेतृत्व अपने हाथ में ले लिया। साबरमती एवं सेवाश्रम में आश्रमों की स्थापना कर, ग्रामोद्धार, अछूतोद्धार, मुस्लिम हिंदू एकता हेतु कृतसंकल्प हो, सत्य अहिंसा की भावना से ओतप्रोत हो 1921, 1931, 1942 के असहयोग आंदोलनों एवं सत्याग्रह के बल पर बीच-बीच में संसार को चकित करते हुए 1947 में भारत के इस भाग्य विधाता–बापू ने भारत माँ की सदियों की दासता की लौहश्रंखलाओं को तोड़कर स्वतंत्रता के स्वर्णिम् विहान को प्राप्त कर ही दम लिया।

तपःपूत त्यागपूर्ण इस महात्मा ने राज्याधिकार एवं सुख से संन्यास लेकर समाज निर्माण एवं लोककल्याण में अपने को लगाकर 30 जनवरी, 1948 को प्रार्थना सभा में एक उन्मत्त व्यक्ति की गोलियों से आहत होकर 'रघुपति राघव राजाराम' महामंत्र का उच्चारण करते हुए इस संसार से सर्वदा के लिए विदा ले ली। इस महात्मा की हत्या पर सारी मानवता बिलख पड़ी। लूइस फिशर की टिप्पणी कितनी बढ़िया है : सुंदर भारत में लंगोटी लगाए इस वृद्ध की हत्या पर सारी मानवता रो पड़ी।[2]

गांधी के सर्वोदय का समाज दर्शन कुछ उनकी अपनी हिन्दू अवस्थाओं पर धार्मिक एवं नैतिक भावनाओं पर आधारित है। ये आस्थाएँ मूल रूप से दो

1. गांधी : ऐन आटोबायोग्रैफी : पृ. 365.

2. उद्धृत : होल्टास द्वारा 'माई गांधी', पृ. 126.

प्रकार की हैं। साध्य रूप से ईश्वर आस्था है। ईश्वर जगत का स्रष्टा, पालक एवं संहारक है। एक मात्र वही सत्य है। उसी का साक्षात्कार जीवन का परमशुभ है। गांधी बिना हिचक के, बल्कि यह कहना अधिक अच्छा होगा कि स्वाभिमानपूर्वक, अपने को सनातनी हिन्दू एवं वैष्णव बताते हैं। साधन रूप से एकादश आश्रम व्रत है। सर्वप्रथम हम गांधी का ईश्वर-विचार देखेंगे।

ईश्वर का स्वरूप :

गांधी अपनी आत्मकथा के प्रारंभ में ही अपने प्राप्तव्य के बारे में इस प्रकार लिखते हैं : 'मेरा प्राप्तव्य आत्म-साक्षात्कार है, ईश्वर का आमने-सामने से दर्शन–मोक्ष है।'[1] गांधी कें अनुसार ईश्वर के अनन्त लक्षण हैं क्योंकि उसके रूप अनन्त हैं। वे मुझे क्षण भर के लिए आश्चर्यचकित कर देते हैं किन्तु मैं ईश्वर की सत्य के रूप में उपासना करता हूँ। यद्यपि वह मुझे मिला नहीं है, मैं उसे खोज रहा हूँ। खोज के लिए मैं जीवन की सर्वाधिक प्रिय वस्तु की भी बलि देने के लिए तैयार हूँ, चाहे मुझे अपने जीवन की ही बलि क्यों न देनी पड़े। जब तक मुझे इस परम सत्य का साक्षात्कार नहीं हो जाता तब तक मुझे अपने सापेक्ष सत्य की धारणा पर आधारित रहना है। वह सापेक्ष सत्य ही मेरा प्रकाश है, वही कवच एवं ढाल है। यद्यपि यह मार्ग लंबा एवं संकीर्ण है, कटार की धार की भांति तेज है किंतु यह मेरे लिए सर्वाधिक सरल एवं शीघ्र प्राप्तव्य है। मेरी भयंकर भूलें भी मुझे तुच्छ लगी हैं क्योंकि मैंने नियमतः इसी मार्ग का अनुगमन किया। इस मार्ग ने मुझे अवसाद से बचाया है और मैं अपने मार्ग में प्रकाश की ओर आगे बढ़ता गया हूँ। अपने विकास में मुझे ईश्वर का–परम सत्य का धूमिल आभास भी हुआ है। एवं दिन प्रतिदिन यह मेरा विश्वास दृढ़ होता जा रहा है कि एक मात्र वही सत्य है, अन्य सभी असत्य।[2] पुनः वे लिखते हैं : 'मेरे विचार से इस संसार में सुनिश्चित खोजना भूल है क्योंकि यहाँ मात्र ईश्वर ही सत्य है अन्य सभी असत्य एवं अनिश्चित है, जो कुछ भी चारों ओर दिखाई पड़ रहा है, एवं हो रहा है, अनिश्चित एवं क्षणिक है किंतु इन सबमें परमसत् सत्य के रूप में छिपा है। वह भाग्यशाली है जिसे इस सत्य का आभास मिल पाता है। इसी सत्य का अन्वेषण ही परमशुभ है।[3] वे पुनः

1. गांधी : ऐन आटोबायोग्रैफी : पृ. 5.
2. गांधी : ऐन आटोबायोग्रैफी : पृ. 7.
3. गांधी : ऐन आटोबायोग्रैफी : पृ. 308.

लिखते हैं : 'मैनें ईश्वर को न तो देखा है और न जानता हूँ, मैंने संसार की आस्था अपने ढंग की बनायी है और क्योंकि यह मेरा अमिट विश्वास है अतः इसी विश्वास को मैं अनुभव की संज्ञा देता हूँ यद्यपि इस विश्वास को अनुभव कहना सत्य के साथ अन्याय होगा अतः यह कहना संभवतः अधिक यथार्थ होगा कि मेरे पास ईश्वर की इस प्रकार की आस्था का वर्णन करने के लिए शब्द नहीं हैं।[1] मानवीय भाषा ईश्वर को व्यक्त करने में असमर्थ है।[2] ईश्वरीय व्यापार समझने में मानवीय-ज्ञान-संस्थान नितांत असमर्थ हैं। ऐसे स्थलों पर गांधी पर उपनिषदिक 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्यमनसा सह' प्रभाव स्पष्ट है। ईश्वर अनिवर्चनीय है– विद्यात्मरम् अरे केन हि विजानीयात्? ईश्वर के अनंत रूप हैं : 'मेरे लिए ईश्वर सत्य एवं प्रेम है, ईश्वर नीतिशास्त्र एवं नैतिकता है। ईश्वर अभयत्व है, ईश्वर जीवन एवं प्रकाश का स्रोत है ..... ईश्वर 'अंतःकरण है तथापि इन सबसे परे है। वह उनके लिए सगुण है जो उनकी सगुणात्मक उपस्थिति चाहते हैं। वह शरीर है जो उसका स्पर्श चाहते हैं। वह पवित्रतम सत्ता है। वह मात्र सत्ता है। जिनका उसमें विश्वास है। वह सबमें है, हम सबके ऊपर है एवं हम सबसे परे हैं।'[3]

ईश्वर अभयत्व है, ईश्वर जीवन एवं प्रकाश का स्रोत है ..... ईश्वर 'अंतःकरण है तथापि इन सबसे परे है। वह उनके लिए सगुण है जो उनकी सगुणात्मक उपस्थिति चाहते हैं। वह शरीर है जो उसका स्पर्श चाहते हैं। वह पवित्रतम सत्ता है। वह मात्र सत्ता है। जिनका उसमें विश्वास है। वह सबमें है, हम सबके ऊपर है एवं हम सबसे परे हैं।'[3]

गांधी यद्यपि ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए पारंपरिक तर्कों में विश्वास नहीं करते थे। उन्होंने बार-बार इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि मानवीय ज्ञान ईश्वर को जानने में सर्वथा असमर्थ है किन्तु कभी कभार ईश्वर को उन्होंने तर्क द्वारा भी प्रतिष्ठित करने की कोशिश की है। उद्देश्यमूलक तर्क का कितना सुन्दर उदाहरण यह है। वे लिखते हैं कि कुछ सीमा तक ईश्वर की सत्ता तर्क में भी स्थापित की जा सकती है, संसार में एक व्यवस्था है, एक अपरिवर्तनीय नियम है जो सभी वस्तुओं को, सभी प्राणियों को, जो भी है, या अनुप्राणित है, नियमित करती है। यह अन्य नियम नहीं है क्योंकि कोई भी

1. वही, पृ. 34.
2. वही, पृ. 524.
3. यंग इंडिया : मार्च 3, 1925.

अन्य नियम मानव-व्यवहार को नियंत्रित नहीं कर सकता ..... तो यह नियम जो सभी प्राणियों का नियमन करता है, ईश्वर है।[1] सृष्टिमूलक तर्क का सुन्दर उदाहरण निम्न है : 'यदि हम हैं, यदि हमारे माता-पिता एवं उनके भी माता-पिता रहे हैं तो यह मानना उचित ही है कि इस सृष्टि का भी कोई पिता है।[2] नित्यता के आधार पर वे इस प्रकार तर्क देते हैं : 'मैं' धूमिल रूप से यह देखता हूँ कि हमारे चारों ओर की प्रत्येक वस्तु बदल रही है, नष्ट हो रही है किन्तु इन सभी परिवर्तन के पीछे एक जीवनी शक्ति है जो नित्य है, सबको एक में बाँधे हैं, वही इनका सर्जन, निसर्जन एवं पुनसर्जन करती है।[3] यहाँ पर औपनिषद् 'तज्जलान' का सिद्धान्त अत्यन्त स्पष्ट है। इस प्रकार ईश्वर ही जगत् का स्रष्टा, पालक एवं संहारक है, वह नित्य, सर्वव्याप्त, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान है। बिना उसकी इच्छा के संसार का एक पत्ता भी नहीं हिलता। औपनिषद् मृत्योंः माममृतंगमय, असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, के आधार पर इस प्रकार के तर्क देते हैं : मृत्यु के बीच जीवन रहता है असत् के मध्य सत् एवं अंधकार के मध्य प्रकाश। अतः ईश्वर, सत्य एवं प्रेम है। गाँधी आस्थाप्रधान व्यक्ति हैं। वे तर्क को गौण स्थान देते हैं।

यहाँ पर सामान्य मानवबुद्धि यह प्रश्न उठाए बिना नहीं रहती कि गांधी के ईश्वर का क्या स्वरूप है? गांधी का ईश्वर निर्गुण है या सगुण है? यदि पाठक ने स्वयं गांधी का अध्ययन नहीं किया है तो उसे यह निश्चित करना मुश्किल होगा कि गांधी में ज्ञानप्रधान अद्वैतवादी प्रवृत्ति की प्रधानता है अथवा भक्ति-प्रधान भेदवादी प्रवृत्ति की, क्योंकि दोनों प्रकार की व्याख्याएँ दी गयी हैं। उदाहरणार्थ एक समकालीन विचारक ने गांधी को अद्वैतवादी सिद्ध किया है। महात्मा गांधी के अद्वैतवादी होने में संदेह नहीं है? गांधी के लिए मात्र ईश्वर ही सत्य है, केवल उसकी सत्ता है, उससे अन्य सभी माया है। हम सभी उस सत्य के स्फुलिंग् हैं। स्फुलिगों का योग अनिर्वचनीय है, अब तक का अज्ञात सत्य जो कि ईश्वर है।[4] ऊपर का तर्क सशक्त लगता है। गांधी ने ईश्वर को 'सत्य-स्यसत्यम्' रूप में देखा है। वह धारणा नितान्त भ्रमपूर्ण है कि जो ईश्वर को निर्गुण और सगुण दो प्रकार का ईश्वर बताती है एवं उन दोनों प्रकारों में

---

1. वही, अक्टूबर, 14, 1928, पृ. 34.
2. वही।
3. फिशर, ऑन गाँधी, पृ. 108.
4. पी.टी. राजू : आइडीयलिस्टिक थाट आफ इंडिया : प्र.सं. 1925, पृ. 297.

भेद देखती है। इस प्रकार मिथ्यापूर्ण धारणा आचार्य शंकर के ऊपर प्रायः लादी जाती है। आचार्य शंकर के अनुसार निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म के दो प्रकार नहीं हैं, एक ही परमसत् के दो रूप हैं। अतः वस्तुतः यह प्रश्न उठाना अधिक सुसंगत होगा कि गांधी निर्गुण प्रधान हैं अथवा सगुण प्रधान? किन्तु इस समस्या पर विचार करने के पूर्व हम यह देखना चाहेंगे कि गांधी का ईश्वर को सत्य कहने का क्या आशय था? गांधी ने ईश्वर को सत्य की संज्ञा दी है। 'मैं ईश्वर की सत्य के रूप में उपासना करता हूँ। पुनः वे लिखते हैं : मैं अपने एक रूप अनुभव से विश्वस्त हो गया हूँ कि सत्य के अतिरिक्त कोई दूसरा ईश्वर नहीं है। इस प्रकार गांधी के अनुसार ईश्वर एवं सत्य पर्याय हैं किन्तु जहाँ पहले गांधी 'ईश्वर सत्य है कहा करते थे, इसे बदलकर 'सत्य ईश्वर है' यह रूप दे दिया। क्यों? 'ईश्वर सत्य है' इसकी व्याख्या इस प्रकार की है। 'ईश्वर सत्य है' में 'है' शब्द निःसंदेह न तो 'बराबर' का अर्थ देता है और न 'सत्यपूर्ण है' का। सत्य ईश्वर का मात्र विशेषण नहीं है, वह सत्य है। वह कुछ भी नहीं है यदि सत्य नहीं है। 'सत्य' संस्कृत में 'सत्' है जिसका अर्थ है - 'अस्ति'। अतः हम जितना अधिक सत्यपूर्ण होंगे, उतना ही अधिक ईश्वर के निकट होंगे। हम उसी सीमा तक 'है' जिस सीमा तक सत्यपूर्ण है।[3] इस प्रकार सत्य ईश्वर का मात्र विशेषण ही नहीं है बल्कि उसका स्वरूप है। इस बात पर बल देने के लिए ही गांधी ने सत्य को ईश्वर से पहले कर दिया - 'सत्य ईश्वर है' वे लिखते हैं : यदि ईश्वर का पूर्ण वर्णन करना मानव-वाणी के लिए संभव है तो हम ईश्वर को सत्य कह सकते हैं' ..... किन्तु मैंने एक कदम आगे जाकर कहा 'सत्य ईश्वर है' ..... सत्य को कभी भी मैंने उभयार्थक नहीं पाया एवं नास्तिकों ने भी सत्य की शक्ति को अथवा आवश्यकता को स्वीकार किया है। अतः 'सत्य ईश्वर है' मुझे सर्वाधिक संतोषपूर्ण लगी है।[4] यह टिप्पणी सुन्दर है। यदि 'सत्य ईश्वर है' तो सत्य-परायण नास्तिक की नास्तिकता में भी देवत्व है।[5] यहाँ गांधी का ईश्वर का विवेचन अत्यन्त अद्वैतवाद है किन्तु उनके अद्वैतवाद में सगुण पक्ष की प्रधानता है। यही नहीं, उन्होंने

---

1. गांधी : ऐन आटोबायोग्राफी : पृ. 7.
2. वही, पृ. 615.
3. उद्धृत नरवणे, माडर्न इंडियन थाट, पृ. 180.
4. उद्धृत नरवणे, माडर्न इंडियन थाट, पृ. 181.
5. वही।

स्पष्ट शब्दों में अपने को वैष्णव कहा है। वे ज्ञानी की अपेक्षा एक भक्त हैं। गांधी अपनी आत्मकथा में बार-बार यह लिखते हैं कि ईश्वर करुणानिधान है, भक्तवत्सल है, निर्बल का बल है, दीनबन्धु है। उसने मुझको हमेशा बचाया है, ईश्वर ने मुझे अपनी अनन्त कृपा से रक्षा की है।[1] कौन उसकी अहित करने की हिम्मत कर सकता है जिसकी रक्षा ईश्वर करता है?[2] परीक्षा की हर घड़ी में ईश्वर ने मुझे बचाया है। 'ईश्वर ने मुझे बचाया' वाक्य का आज मेरे लिए अधिक गंभीर अर्थ है तथापि मुझे लगता है कि अभी तक इसका पूरा अर्थ मैं समझ नहीं सका हूँ केवल विपुल अनुभव ही इसको सम्यक् रूप से समझाने में सहायक हो सकता है किन्तु मेरी सभी परीक्षाओं में चाहे वह आध्यात्मिक ढंग की रही हो या वकील के रूप में, संस्थाओं के संचालन में, राजनीति में - कह सकता हूँ कि उसने मुझे बचाया। जब सारी आशा समाप्त हो जाती है, जब सभी सहायक असफल हो जाते हैं, आशा भी साथ छोड़ देती है, मुझे किसी न किसी प्रकार सहायता मिल जाती है, कहाँ से - मैं नहीं जानता। उपासना, प्रार्थना अंधविश्वास नहीं है। ये व्यापार खाने-पीने, बैठने या टहलने से अधिक सत्य है। इसमें किसी भी प्रकार का अतिकथन नहीं है कि मात्र वे ही सत्य हैं अन्य व्यापार असत्य है।[3] ईश्वर साक्षात्कार सेवा से ही संभव है। सेवा मेरे लिए भारत की सेवा है।[4] वे पुनः लिखते हैं : यह प्रथम अवसर नहीं था जब मुझे इस प्रकार की परीक्षा का सामना करना पड़ा था। ऐसे हर घड़ी में ईश्वर ने अंतिम क्षण में सहायता भेजी है।[5] गांधी अपनी आत्मकथा के अंत में पाठक को विदा देते हुए उसे भी सत्य के ईश्वर को प्रार्थना में शामिल होने के लिए आमांत्रित करते हैं ताकि वह मुझे मनसा, वाचा एवं कर्मणा अहिंसा बर्तने का वरदान दे।[6] पाठक यह जानता है कि गांधी 'रघुपति राघव राजा राम' कहते हुए प्राण छोड़े थे। इस प्रकार गांधी एक आदर्श भक्त हैं। हम ऊपर देख चुके हैं कि गांधी एक वैष्णव परिवार में पैदा हुए थे। रामायण एवं भागवत की भगवद् भक्ति पूर्ण परिवेश में उनका शैशव बीता था। सत्य हरिश्चन्द्र

1. गांधी : ऐन आटोबायोग्राफी : पृ. 37.
2. वही, पृ. 79.
3. वही, पृ. 96.
4. वही, पृ. 197.
5. वही, पृ. 486.
6. वही, पृ. 616.

नाटक एवं श्रवण पितृ भक्ति नाटक की बालक गांधी पर अमिट छाप पड़ी थी। गीता ही उनके आचरण[1] की कसौटी थी। परीक्षा की हर घड़ी में गीता से उनको समाधान मिलता था। इस प्रकार गांधी का ईश्वर गीता का 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरण ब्रज' है। गांधी का ईश्वर मीरा का गिरिधर गोपाल है, अबला द्रौपदी के शील का रक्षक है, डूबते गजराज का उबारने वाला है, निर्बल का बल है। गांधी साहित्य में भक्ति की अजस्र मंदाकिनी वही है, शक्ति की तन्मयता में गांधी को भी भक्त प्रहलाद की भाँति 'सीयराममय सब जग जानी' एक ही सत्य का आभास होता है। मेघदूत का प्रेमोन्मत्त यक्ष 'प्रसादे सा पथि च सा .....' सर्वत्र अपनी प्रेयसी को ही देखता है। ठीक इसी प्रकार भगवन्मय भक्त को भी मात्र भगवान् का ही भास होता है। एक स्थल पर गांधी कहते हैं कि यदि आप सत्य को ईश्वर के रूप में प्राप्त करना चाहते हैं तो एकमात्र अपरिहार्य साधन प्रेम अर्थात् अहिंसा है और मैं इस बात में विश्वास करता हूँ कि अन्ततः साधन एवं साध्य पर्यायवाची शब्द हैं, मैं बिना हिचक के कह सकता हूँ कि ईश्वर प्रेम है।[2] अतः गांधी का ईश्वर तुलसी का राम है, सूर का कृष्ण है। गांधी एक दीन भक्त हैं एक समकालीन दार्शनिक की टिप्पणी सर्वथा अवधेय है : अतः पूर्ण सर्वेक्षण से यह सोचना अधिक युक्तिपूर्ण होगा कि गांधी अद्वैतवादी – शंकरानुयायी की अपेक्षा एक भक्त हैं, वैष्णव हैं,[3] गांधी ने स्वयं अपने को वैष्णव स्वीकार किया है, अतः उन्हें वैष्णव सिद्ध करने का प्रश्न ही नहीं उठता। यद्यपि एक स्थल पर भी उन्होंने अपने को अद्वैतवादी घोषित किया, पुनः अनेकान्तवादी, किन्तु इस स्थल पर ही उन्होंने सम्पूर्ण विश्व को अपने प्रेमालिंगन में समेटने की इच्छा व्यक्त की है। मैं अद्वैतवादी हूँ फिर भी मैं द्वैत का समर्थन करता हूँ। यह विश्व प्रतिक्षण परिवर्तित हो रहा है, अतः असत्य है और उसका कोई चिरंतन अस्तित्व नहीं है। परन्तु वह निरंतर परिवर्तनशील होने पर भी उसमें कुछ ऐसा स्थायी तत्त्व विद्यमान है जिसके कारण उसी मात्रा में वह सत्य भी है, अतः उसे सत्य और असत्य कहने में और इस प्रकार अनेकान्तवादी या स्याद्वादवादी कहलाने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है किन्तु मेरा स्याद्वार विद्वानों के स्याद्वाद जैसा न होकर नितांत मेरा अपना ही है। ..... मैं सम्पूर्ण विश्व को अपने प्रेमालिंगन में समेटना चाहता हूँ। मेरा अनेकान्तवाद सत्य और अहिंसा के द्विविध सिद्धान्त का परिणाम है।[4] गांधी सनातनी हिन्दू एवं वैष्णव भक्त हैं। कैसे? उन्होंने स्वयं

1. वही, पृ. 323.
2. तेंदुलकर : हि महात्मा भाग 2, पृ. 312.
3. डी.एम. दत्त : दि फिलासफी ऑफ महात्मा गांधी : प्रा.सं. : 1955, पृ. 27.
4. यंग इण्डिया, 22.2.1926.

सविस्तार इस पर प्रकाश डाला है।

गांधी अशुभ की स्वतंत्र सत्ता नहीं मानते। शुभ ही अनुचित स्थान पर अशुभ हो जाता है, अशुभ मात्र सत्य अथवा शुभ ही जो अनुचित स्थान पर है।[1] गांधी एक अत्यन्त आस्थावान् भक्त हैं। उनके लिए आशावादी होना बड़ा स्वाभाविक है।

सर्वधर्म समन्वय :

पश्चिम के अधिकांश विद्वानों की यह धारणा है कि भारत में हिन्दू धर्म के वैष्णव एवं शैव संप्रदायों में अत्यन्त गंभीर एवं तनावपूर्ण विरोध है। हाल ही में क्वीस्टर विश्वविद्यालय के भारती विभाग के निर्देशक डॉ. पाल हाकर, जो जर्मनी के एक प्रतिष्ठित भारतीयविद् हैं, जिन्होंने लगभग दो दशक से शांकरवेदांत का गंभीर अध्ययन किया है, से विचार-विमर्श के प्रसंग में उनके इस आग्रह पर आश्चर्य हुआ। लेखक डॉ. हाकर का आदर करता है। अतः उनसे विवाद नहीं करना चाहता किन्तु इस प्रकार की धारणा को भ्रमपूर्व मानता है। उत्तर भारत में हिन्दू मानस को तुलसीकृत रामचरित मानस ने सर्वाधिक प्रभावित किया है। तुलसी ने साक्षात् विष्णु राम से 'रामेश्वरम्' शिवलिंग की स्थापना कराकर इस प्रकार कहलवाया है : 'शिवद्रोही मम दास कहावा। सो नर सपनेहु मोंहि नहिं भावा'। स्वयं गांधी परिवार कट्टर वैष्णव था किन्तु परिवर के लोग शिवमन्दिर में उसी भक्ति से जाते थे जिस भक्ति से विष्णु मंदिर में। (गांधी : ऐन आटाबायोग्रैफी, पृ. 404) स्वयं लेखक स्मार्त है। घर पर वैदिक विधि से प्रतिदिन शालग्राम, शिवलिंग, दुर्गा एवं हनुमान आदि की एक ही तन्मयता से पूजा की जाती है। लेखक अपने अल्प अनुभव से साधिकार बता सकता है कि सामंजस्य की ही स्थिति अत्यधिक बदलती है। हिन्दू ईश्वर के इन विभिन्न रूपों में एक ही शक्ति का आभास करता है। यही वेदांत दर्शन का सार भी तो है। एकं सद् विप्रा : बहुतधा वदन्ति। रामलीला, जन्माष्टमी, दुर्गापूजा एवं श्रावण की त्रयोदशी एक ही धूमधाम से सर्वत्र मनायी जाती है।

गांधी जी एक सनातनी हिन्दू एवं वैष्णव हैं[2] क्योंकि वे एक हिन्दू-परिवार में पैदा हुए हैं। वेद, पुराण एवं अन्य हिन्दूशास्त्रों में उनकी आस्था है। वे

1. उद्धृत सी.एस. शुक्ल : गांधीज व्यू ऑफ लाइफ पृ. 37.
2. कलेक्टेड वर्क्स आफ गांधी भाग 19, पृ. 327 एवं भाग 21, पृ. 246.

पंचमहाव्रत को मानते हैं, उनका अभ्यास करते हैं। आत्मा एवं परमात्मा में भी उनका विश्वास है। गांधी के अनुसार आत्मा अजर एवं अमर है। वह कर्म एवं अज्ञानवश जीवन के रूप में संसार-चक्र में बार-बार जन्म लेता है। उसमें मोक्ष प्राप्त करने की क्षमता है। मोक्ष ही जीवन का परमसाध्य है। वे वर्णाश्रम एवं गोरक्षण में विश्वास करते हैं। इसी प्रकार अपने वैष्णव होने के बारे में भी उन्होंनें लिखा है कि वे वैष्णव परिवार में पैदा हुए हैं और उन्होंने वैष्णव सम्प्रदाय का त्याग नहीं किया है। उसमें नरसीदास के भजन 'वैष्णव जन' की विशेषताएँ कुछ सीमा तक तो हैं ही, साथ ही उन विशेषताओं एवं सद्गुणों की पूर्णता तक वे प्रयास करते हैं। अतः इन कारणों से उन्होंने अपने को वैष्णव भी सिद्ध किया है। गांधी गोरक्षण को हिन्दूधर्म का अत्यावश्यक अंग मानते हैं। उन्होंने तो यहाँ तक कहा है कि हिन्दू गाय के प्रति दयालु नहीं होंगे, जब तक वे पशुओं को पीड़ा देंगे, जब तक वे मुसलमानों की श्रद्धा गोरक्षण हेतु अर्जित नहीं करेंगे, जब तक वे अंग्रेजों द्वारा गो हत्या को सहते रहेंगे एवं जब तक ब्रिटिश ध्वज का वे अभिवादन करते रहेंगे, गांधी का विश्वास है कि वे तब तक हिन्दू धर्म से ब्राह्मणत्व एवं क्षत्रियत्व को समाप्त हुआ समझेंगे। इस प्रकार गोरक्षण हिन्दू हृदय की सर्वाधिक प्रिय वस्तु है। यह हिन्दूजाति का एक पूर्ण विश्वास है। गांधी ने तो यहाँ तक कहा है कि जिसका गोरक्षण में विश्वास नहीं है, वह हिन्दू ही नहीं है। गोसेवा निरीह की सेवा है। गाय निरीहता की प्रतिरूप है। काश, हिन्दू समाज गांधी को समझ सकता! काश, गांधी के अनुयायी देश के कर्णधार गाँधी की सही आत्मा को परख पाते! खेद की बात है कि हम अपने को हिन्दू कहने में शर्म का अनुभव करते हैं, यदि हम हिन्दू होना स्वीकारते भी हैं तो हमें यह भी पता नहीं कि हिन्दुत्व क्या है? मेरा आशय उस उदार हिन्दुत्व से है जो मानवता का पर्याय है।

गांधी वर्णाश्रम धर्म के हिमायती हैं। गाँधी चार वर्णों के सिद्धांत को मानते हैं। गांधी के अनुसार जाति का निर्धारण जन्मना होता है : एक ब्राह्मण अपने आचरण से क्यों न अब्राह्मण हो किन्तु वह ब्राह्मण ही कहा जाता है एवं ब्राह्मण के रूप में ही वह मरता है। वह ब्राह्मण, जो दुर्भाग्य से ब्राह्मण धर्म का आचरण नहीं करता, दूसरे जन्म में शूद्र अथवा पशु हो सकता है। गांधी अपने को जन्मना वैश्य मानते हैं यद्यपि कर्मणा वे ब्राह्मण एवं क्षत्रिय हैं। उनका विश्वास रहा कि वे अगले जन्म में ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय होंगे किन्तु इस जन्म में अपने को वैश्य ही मानते रहे। उनके अनुसार हिन्दू धर्म समुद्र की भाँति गंभीर एवं विशाल है। वह सबको आत्मसात् करता है। लोग इटली, यूनान एवं अन्यान्य देश से आये हिन्दू धर्म ने सभी को स्वीकारा जो लोग बाहर से आये उनका हिन्दूधर्म में परिवर्तन नहीं किया गया। हिन्दू धर्म औपचारिक धर्मपरिवर्तन

में विश्वास ही नहीं करता। गांधी लिखते हैं कि बहन निवेदिता हिन्दू बन गयी हैं किन्तु मैं उन्हें हिन्दू नहीं मानता। हिन्दू बनने के लिए धर्म परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है बल्कि हिन्दू आचरण की आवश्यकता है। गांधी अनेक जातियों को कम करने में विश्वास करते हैं। अन्न, जल एवं शादी आदि के नियमों को एक सभ्य समाज का लक्षण वे मानते हैं किन्तु यदि इन नियमों के पीछे दूसरों को घृणित एवं हेय समझने की भावना हो तो गांधी को स्वीकार नहीं है। वे मुसलमानों एंव भंगियों के साथ आनंदपूर्वक अन्न-जल ग्रहण करते थे। किन्तु तभी यदि स्वच्छता विधिपूर्वक पालन होता था। इन नियमों के पीछे सचमुच स्वच्छता की भावना ही प्रधान है। वे अस्पृश्यता को हिन्दू धर्म का आवश्यक अंग नहीं मानते।

वे सत्य, अहिंसा एवं मोक्ष को हिन्दू धर्म का आधार स्तम्भ मानते हैं। उनका कहना है कि मेरा संस्कृत का ज्ञान लगभग न के बराबर है, मैंने वेद नहीं पढ़ा है किन्तु मैं वेद का अर्थ समझता हूँ। बिना वेद पढ़े भी मोक्ष मिल सकता है। शास्त्र की कोई भी विधि जो सत्य, अहिंसा एवं ब्रह्मचर्य के विरुद्ध है, वह अयथार्थ है। शंकराचार्य जैसे दार्शनिक की भी शिक्षा, ईश्वरभक्ति, ज्ञानप्राप्ति एवं मोक्षप्राप्ति है। धर्म की बहुत सारी बातें जो आज स्मृति के नाम पर चल रही हैं, जैसे बाल-विवाह, कुमारी वैधव्य आदि, वे धर्म नहीं हैं। इसीलिए हमारा जीवन नारकीय बन गया है। गांधी लिखते हैं कि यदि ब्राह्मणत्व न समाप्त हो गया होता तो हम किसी ऐसे ब्राह्मण का जो यम, नियम से अपने को शुद्ध किये होता है, निर्देशन लेते किन्तु इस प्रकार के ब्राह्मणों के अभाव में इस समय भक्तिमार्ग ही सर्वोत्कृष्ट है। बिना गुरु के ज्ञान नहीं होता किन्तु गुरु का पाना भी तो कठिन है।

गांधी की मूर्तिपूजा में अनास्था नहीं है।[1] एक सनातनी हिन्दू वैष्णव की शालग्राम एवं विष्णु प्रतिमा में अनास्था कैसे हो सकती है? गाँधी रामनाम जप की अनंत महिमा में हृदय से विश्वास करते हैं किन्तु इसका महत्त्व तभी होता है जब यह अत्यन्त शुद्ध हृदय एवं अति हृदय से किया जाता है, रामनाम हृदय की वस्तु है। रामनाम के महत्त्व ने ही गांधी को पापों से बचाया है।[2] तुलसी के 'कबहुँक अम्ब अवसर पाइ' की भाँति गांधी भक्त को धूल से भी अधिक दीन बनने की सलाह देते हैं तभी उसे सत्य का आभास हो सकता है। उनके अनुसार व्रत, उपवास, मौन आदि शुद्धीकरण के साधन हैं। शुद्ध हृदय भक्त को ही सत्य का आभास हो सकता है। कभी-कभी गांधी में रहस्यवादी

1. कलेक्टेड वर्क्स ऑफ गाँधी, भाग 19, पृ. 327 से 332 एवं भाग 21.
2. वही, पृ. 111–12 : भाग-27.

प्रवृत्ति की झलक मिलती है। उन्हें जब जटिल समस्याओं का समाधान नहीं मिलता था, ऐसे क्षणों में उन्हें अचानक वास्तविक निर्णय की सूझ हो जाती थी। "एक सुबह मिल के कर्मचारियों की बैठक थी – मैं अब भी उलझन में था एवं मुझे अपना मार्ग साफ नहीं दिखाई पड़ता था, मुझे प्रकाश हुआ।[1] इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण है। मैं अभी नींद एवं जागृति के बीच की अर्द्ध निद्रावस्था में ही था कि अचानक एक विचार मेरे मस्तिष्क पर स्पष्ट हुआ।[2] निःसंदेह गांधी का रहस्यवाद कबीर की उलटी बानी सा नहीं है। उनकी धारणा थी कि व्रत एवं मौन के माध्यम से यदि भक्ति शुद्ध हृदय से किसी जटिल समस्या का समाधान चाहता है तो अंतरात्मा की आवाज के रूप में उसे सत्य का आभास हो जाता है। इसीलिए हफ्ते में वे एक दिन मौन रहा करते थे। अन्य रहस्यवादियों की भाँति उनमें एक पराशक्ति थी, वह अपने जीवन की शक्ति ईश्वर से लेते थे किन्तु दिव्यशक्ति से उनका विनिमय इतना सादा एवं सरल था कि मुश्किल से ऐसा लगता था – यह कभी भी ईश्वर के साक्षात्कार से उत्पन्न अलौकिक आनंदानुभूति अथवा तन्मयता-सा लगता था।[3] नेहरू ने स्वयं अपनी आत्मकथा में लिखा है : प्रायः अज्ञात शक्ति उनकी आँखों के माध्यम से हम लोगों पर घूरती थी।[4] इस प्रकार गांधी के अनुसार सत्य का आभास बुद्धि से न होकर आस्था से हो सकता है, अंतःकरण अथवा अंतरात्मा के द्वारा हो सकता है। इसीलिए कभी-कभी गांधी ने अंतरात्मा को सत्य का, ईश्वर का पर्याय तक कहा है।"[5]

एकादश व्रत – सत्य-प्राप्ति का साधन :

गांधी को 'महात्मा' बनाने का श्रेय हिन्दू धर्म की आचार-संहित को है। हिन्दू धर्म की आचारसंहिता को गांधी ने जीवन में उतारा। गांधी एक साधक थे। उन्होंने हिन्दू धर्म की आधारभूत नैतिकता के रहस्य को समझा। मानवता वैशिष्ट्य नैतिकता से है – 'धर्मो हि तेषामधिको विशेषो'। हिन्दू नैतिकता का स्रोत पंच महाव्रत है। भारतीय दर्शन का अधिकारी है। शांकर वेदांत का अधिकार उसी को जो साधन चतुष्टय युक्त हो। अन्य दार्शनिक विधाओं में भी इसी प्रकार नैतिक आचार पर भरपूर बल दिया गया है। बिना पंच महाव्रतों के

1. गांधी : ऐन आटोबायोग्राफी, पृ. 526.
2. वही, पृ. 563.
3. होल्ट्स : माई गांधी : पृ. 159.
4. नेहरू : आटोबायोग्राफी : पृ. 253.
5. यंग इण्डिया : मार्च 31, 1925.

अभ्यास के उज्ज्वल चरित्र नहीं बन सकता। उज्ज्वलचरित्र व्यक्ति ही सही अर्थ में धार्मिक एवं नैतिक होता है। गांधी ने अपने आश्रम व्रतों में पंच महाव्रत के साथ अन्य व्रतों का भी विधान किया है, सब आश्रमव्रत एकादश हैं। अब हम इन्हें एक-एक करके देखेंगे।

1. सत्य :

गांधी ने सत्य को मूल अर्थ में लिया है। सत्य का आदर्श प्रह्लाद का आदर्श है। सत्य आत्मा है, ईश्वर है। अतः अंतरात्मा के अनुसार जो सही हो उसका मनसा, वाचा एवं कर्मणा आचरण ही सत्य आचरण है। यही सत्याग्रह है। सत्याग्रह निष्क्रिय विरोध नहीं है। उन्होंने इसका प्रारंभ 1908 में दक्षिण अफ्रीका में किया था। सत्याग्रह शारीरिक बल नहीं है अपितु आत्मबल है। आत्मा में प्रेम की लौ जलती है। सत्याग्रही कभी भी जिसका विरोध करता है, उसका अहित नहीं चाहता। राम सत्याग्रह-आत्मबल के प्रतीक हैं। रावण की अनंत भौतिक शक्ति आत्मबली राम के सामने कुछ भी नहीं है। सत्याग्रह कामधेनु है। सत्याग्रह से सत्याग्रही एवं विरोधी दोनों का लाभ होता है। हरिश्चन्द्र, मीराबाई डेनियल एवं सुकरात सत्याग्रही थे। सत्याग्रही अपने सत्य पर अड़ जाता है, 'हार' शब्द उसके शब्दकोश में नहीं है। वह किसी अन्य की प्रतीक्षा नहीं करता, वह निर्भय होता है।[1] सत्याग्रही की सी स्वतंत्रता अन्य किसी में नहीं होती क्योंकि वह निर्भय होता है। सत्याग्रह मात्र सरकार के विरुद्ध ही नहीं होता, वह किसी भी अत्याचार या अन्याय के विरोध में हो सकता है चाहे वह व्यक्ति द्वारा हो, समाज द्वारा हो या सरकार द्वारा। गांधी लिखते हैं कि थोरो ने अपने ही समाज का जो दास व्यापार में संलग्न था, विरोध किया। इसी प्रकार महान् लूथर ने ही अपने ही लोगों के विरुद्ध सत्याग्रह के बल पर जर्मनी को स्वतंत्र किया। गैलीलियो सत्याग्रही था। उसने समाज का विरोध कर, मृत्यु को स्वीकारना अच्छा समझा, किन्तु सत्य से प्रतिमुख नहीं हुआ और इस प्रकार खगोल विज्ञान को उसकी अक्षुण्ण देन-पृथ्वी गोल है जो सूर्य के चारों ओर चक्कर लगती है – सत्याग्रह का प्रतीक है। कोलम्बस के साथी की हत्या करने तक की धमकी दी किन्तु सत्याग्रही आगे बढ़ने से नहीं रुका एवं अमेरिका नयी दुनिया को खोजकर यश का वरण किया। सत्याग्रह का आदर्श 'सत्यमेव जयते' है। ईश्वर की उपस्थिति एवं पथप्रदर्शन सत्याग्रह की प्राक्कल्पना है। सत्याग्रही को शक्ति अपनी आत्मा से ईश्वर से, मिलती है। वह अंतरात्मा की आवाज के अनुसार आचरण करता है।[1] यही सत्याग्रह सर्वदा समष्टि के लाभ के लिये होना

1. कलेक्टेड वर्क्स ऑफ गांधी भाग 13, पृ. 520.–527.

चाहिए।[2] सत्याग्रही विजयी होता है किन्तु उसकी विजय उसके विरोधी की पराजय नहीं होती अपितु उसकी वह अधिक महत्त्वपूर्ण विजय होती है। क्योंकि सत्याग्रह के द्वारा असत्, अमंगल एवं अन्याय दूर होता है। इस प्रकार विरोधी पथभ्रष्ट होने से बचता है। यह टिप्पणी ठीक ही है : सत्याग्रह की विजयी विरोधी की हार नहीं है। यह विरोधी का परिवर्तन है।[3] यह प्रश्न उठ सकता है कि सत्य क्यों वरेण्य है? क्या सत्याग्रह दुराग्रह नहीं है? क्या आज आए दिन सत्याग्रह के नाम पर दुराग्रह का कारण बन जाता है। आदर्श का प्रयोग ज्यों ही अनुचित ढंग से होगा वह आदर्श नहीं रह सकेगा। गांधी के अनुसार सत्य ईश्वर है – परमतत्त्व है। साथ ही वह परममूल्य, निःश्रेयस् भी है अतः वही तथ्य को कहना चाहता है। सत्य का कोई शत्रु नहीं होता क्योंकि उसकी आत्मा प्रेम से आप्लावित रहती है। सत्याग्रह की योग्यता पर इस प्रकार सचमुच अत्यंत कठिन साधना से प्राप्त होती है।

2. अहिंसा

मात्र हिंसा न करना ही अहिंसा नहीं है। इसका गांधी ने अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है। मनसा वाचा एवं कर्मणा किसी का अमंगल न होने देना अहिंसा है। ईंट का जवाब पत्थर के स्थान पर 'जो तूको कांटा बुवैं ताहि बोई तू फूल' में विश्वास करना अहिंसा है। अहिंसक का कोई शत्रु नहीं होता। गांधी के अनुसार अहिंसा की साधना के द्वारा संसार अहिंसा के व्रती के पैरों में नतमस्तक हो जाता है। सचमुच गांधी अहिंसा को सत्य का पर्याय मानते हैं। उन्होंने सत्य एवं अहिंसा की अभिन्नता पर बार-बार बल दिया : वे दोनों इस प्रकार गुथे हैं कि व्यवहारतः दोनों को पृथक कर पाना असंभव है। वे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, बल्कि एक चिकने बिना मुहर के गोले[4] धातु के दो पहलू हैं, कौन कह सकता है कि कौन सीधा है और कौन उल्टा? कभी-कभी गांधी के सत्य एवं साध्य अन्त में एक ही हो जाते है किन्तु स्वयं ईश्वर अत्यन्त प्रेम है। गांधी ने अहिंसा को प्रेम माना है : अहिंसा मात्र निषेधात्मक अमंगलहीनता ही नहीं है बल्कि यह प्रेम की विधायक स्थिति है,

---

1. कलेक्टेड वर्क्स ऑफ, गांधी 37, पृ. 113.
2. वही, भाग 31, पृ. 398.
3. जी. ऐशो : गांधी, स्टाइन के पब्लिशर्स न्यूयार्क 1968, पृ. 101.
4. एन.के. बोस : सेलेक्शन्स फ्राम गांधी : पृ. 14.

अमंगलकारी का भी मंगल करता है।[1] अहिंसा 'मनुष्य की सबसे बड़ी शक्ति है। अहिंसा ही मनुष्य को जानवरों से पृथक् करती है। यह मनुष्य का व्यवच्छेद गुण है – इसी से वह सत्य का ईश्वर का साक्षात्कार करता है।[2] गांधी कहते हैं : अहिंसा का व्रती चोट पहुँचाने वाले से क्रोध नहीं करता। उसका भी वह शुभ चाहता है। अहिंसा निरीहता है। पूर्ण अहिंसा सभी प्राणियों के प्रति अशुभ विचार का पूर्ण अभाव है। यह सभी प्राणियों के प्रति अशुभ विचार का पूर्ण अभाव है। यह सभी प्राणियों के प्रति शुभ कामना है। यह प्रेम है, मैंने इसे हिन्दुशास्त्रों, बाइबिल एवं कुरान में पढ़ा है।[3] गांधी इसलिए पाप से घृणा करने में विश्वास करते थे न कि पापी से।[4] एक समकालीन विचार के अनुसार गांधी की सत्याग्रह की धारणा बिल्कुल अपनी थी। यह सोचना कि उन्होंने मात्र हिन्दू अहिंसा को राजनीति में प्रयोग किया – चाहे टालस्टाय के संकेत से अथवा बिना इसके – यह समझना मुश्किल है। इनके अनुसार हिन्दू अहिंसा अपने पारस्परिक अर्थ में शायद ही कुछ स्पष्ट शालीनता से अधिक रही हो – जो आसानी से निष्क्रियता एवं कायरता में परिवर्तित हो सकती थी।[5] निःसंदेह गांधी का सत्याग्रह का राजनीति में प्रयोग अपना है किन्तु हिन्दू अहिंसा निष्क्रियता एवं कायरता नहीं है। लगता है इस विचारक ने गांधी को भी पूरा नहीं पढ़ा, अहिंसापरक हिन्दू वाङ्मय तो दूर रहा। गांधी ने सत्याग्रह का आदर्श प्रह्लाद को बताया है। इस संदर्भ में उन्होंने हरिश्चन्द्र, मीराबाई, सुकरात, गैलीलियो आदि को भी उद्घृत किया है विचारक के अनुसार जैनधर्म में अहिंसा पर गंभीरता पूर्व विचार किया गया है किन्तु वह निषेधात्मक है। यह ठीक है, किन्तु विचार का ध्यान विचार गौतम बुद्ध की अहिंसा के विधायक पक्ष महाकरुणा पर क्यों नहीं गया? अशोक का स्वर्णकालीन भारत अहिंसा पर – महाकरुणा पर आधारित था। विचारक शायद पातंजल योगसूत्र के 'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्र सन्निधौ बैर त्यागः' के भाव को नहीं समझ सका। हिन्दू ऋषियों में गाय, हिरण एवं मयूर के साथ-साथ सिंह व्याघ्र एवं सांप भी विचरण करते हैं। हिन्दू ऋषिकुलों में पले सिंह शावकों के साथ खेलने वाले, उनके दाँत गिनने वाले भरत का यह भारत है।

---

1. यंग इण्डिया : 1921.
2. कलेक्टेड वर्क्स आफ गांधी : भाग 31 : पृ. 141.43.
3. वही, भाग-21, पृ. 25-28.
4. गांधी : ऐन आटोबायोग्रैफी : पृ. 117.
5. जी. ऐशे : गांधी, पृ. 100.

विचारक हिन्दू अहिंसा की परंपरा को कादम्बरी के जाबालि आश्रम के वर्णन में देख सकता है जब यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या अहिंसा सही अर्थ में व्यवहार्य है। क्या हम खाते, पीते चलते श्वसन करते जाने या अनजाने हिंसा नहीं करते? गांधी ने इसे सविनय स्वीकारा है। हम आत्यन्तिक अर्थ में अहिंसक नहीं हो सकते। वह हमारी असमर्थता है। इस स्थिति में अहिंसा के व्रतों के कार्यों का एकमात्र स्रोत करुणा है। यदि वह भरसक अणुतम जीवों को भी नष्ट होने से बचा सके और इस प्रकार सतत् हिंसा से मुक्त होने का प्रयत्न करता रहे तो वह अहिंसा व्रती होगा।[1] गांधी ने अपनी आत्मकथा में इस प्रकार लिखा है : सत्य का पूर्ण आभास अहिंसा के पूर्ण साक्षात्कार से ही संभव है।[2] गांधी ने अपनी आत्मकथा का अन्त मनसा वचसा एवं कर्मणा अहिंसा के वरदान हेतु ईश्वर से प्रार्थना किया है। इस प्रकार सत्य अहिंसा का व्रती ही सत्याग्रह का अधिकारी है।

3. ब्रह्मचर्य

सचमुच कामेच्छा पर अधिकार है। राष्ट्र सेवी अथवा धर्मव्रती के लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य है, चाहे वह विवाहित हो अथवा अविवाहित। गांधी के अनुसार विवाह से एक पुरुष एवं एक स्त्रीमात्र जीवनसाथी बनते हैं – इस जीवन में एवं आने वाले जीवनों में भी। विवाह का आदर्श मांसल प्रेम एवं विषयवासना की तृप्ति नहीं है। अपितु धर्म साधन हेतु सन्तानोत्पत्ति। कामेच्छा मात्र पुत्रैषणा का साधन है गांधी हिन्दूशास्त्र की इस उक्तियों में अक्षरशः विश्वास करते हैं : 'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युपाघ्नत'। गांधी ने तो यहाँ तक लिखा है कि सत्य एवं अहिंसा का व्रत बिना ब्रह्मचर्य के संभव नहीं है।

4. इन्द्रियनिग्रह :

इन्द्रिय संयम है। ऊपर के सभी व्रत विशेष कर ब्रह्मचर्य बिना इन्द्रियनिग्रह के संभव ही नहीं है। राष्ट्रसेवी भोजन मात्र जीने के लिए करता है। गांधी के अनुसार राष्ट्रसेवी उन्हीं खाद्य वस्तुओं का सेवन करें जो पाशविक प्रवृत्तियों को जागृत न करें। इसीलिए उन्होंने अत्यन्त सात्विक आहार की व्यवस्था की है। जैविक आवश्यकताएँ मनुष्य एवं पशुओं में लगभग एक सी है। प्रायः मनुष्य तृप्ति में पशुओं से अधिक असंयमित होता है। हिन्दूशास्त्र के अनुसार मनुष्य

1. गांधी : ऐन आटोबायोग्रैफी : पृ. 427-28.
2. वही : पृ. 615.

को पशुओं से अलग करने वाला गुण धर्म है, हम ऊपर ही स्पष्ट कर चुके हैं – 'आहार निद्रा ..... समाना।

5. अस्तेय :

गांधी के अनुसार हम सभी एक अर्थ में चोर हैं। प्रकृति नियमतः सारे मानव समाज की आवश्यकता हेतु पर्याप्त वस्तु उत्पन्न करती है। जब इन प्राकृतिक वस्तुओं का न्यायपूर्ण विभाजन नहीं होता तभी अकाल एवं गरीबी के लोग शिकार होते हैं। अपनी आवश्यकता से अधिक रखना अस्तेय-चोरी है।

6. अपरिग्रह :

अस्तेय ही पर्याप्त नहीं है बल्कि उतना ही लिया जाय जो शरीर पोषण के लिए अत्यावश्यक है। गांधी के अनुसार यदि हम बिना कुर्सी के काम चला सकते है तो कुर्सी अनावश्यक है। इस व्रत का आदर्श सचमुच सादगी है।

7. स्वदेशी :

स्वदेशी का व्रती ऐसी किसी वस्तु का प्रयोग न करे जिसके निर्माण में ऊपर के व्रतों का उल्लंघन होता हो। इस प्रकार स्वदेशी भावना का व्यक्ति मैनचेस्टर, जर्मनी अथवा भारत में भी मिल की बनी वस्तुओं का प्रयोग नहीं कर सकता क्योंकि वह निश्चित रूप से नहीं जान सकता कि मिलों में अस्तेय व्रत का उल्लंघन नहीं हुआ है। इसके अतिरिक्त मिलों में मजदूरों का शोषण तो होता ही है, मिल की मशीनों के निर्माण में उनके जीवन के साथ खेल खेला जाता है। यही नहीं, अत्यधिक गर्मी से अन्य जीवों की भी हत्या होती है। गंभीर चिंतन से मिलों में ऊपर के कई व्रतों का उल्लंघन होता है। अप्राकृतिक ढंग से शरीर को सुन्दर बनाने से ब्रह्मचर्य में भी बाधा होती है। स्वदेशी भावना का विकास कई स्तर पर हुआ है। आगे चलकर स्वदेशी खादी – हाथ का कता-बुना कपड़ा हो गया। खादी चर्खा है क्योंकि बिना चर्खे के खादी का निर्माण हो नही सकता।[1] और भी आगे चलकर स्वदेशी स्वराज्य का पर्याय हो गया। स्वदेशी भावना के पीछे 'स्वयमदासाः तपस्विन' का मूल विचार है।

---

1. कलेक्टेड वर्क्स आफ गांधी : भाग 23 : पृ. 10-12.

8. अभयव्रत :

गांधी एक स्थल पर लिखते हैं कि मुझे भारत के भ्रमण से लगा कि पूरा देश भय से आक्रान्त है। हम अपने विचारों को अपने ही लोगों में व्यक्त करने से डरते हैं। उनका कहना है कि हमें मात्र ईश्वर से डरना चाहिए। जब हम मात्र ईश्वर से डरते हैं तब किसी भी अन्य मनुष्य से नहीं डर सकते चाहे वह कितना भी बड़ा क्यों न हो। सत्यव्रती निर्भय होता है। ब्राह्मण का अनिवार्य लक्षण गीता के अनुसार निर्भयता है। गांधी पुनः लिखते हैं कि ध र्मव्रती एवं स्पष्टव्रती दोनों के लिए अभयव्रत प्राक्कल्पना है।

9. अस्पृश्यता :

यह जिस रूप में विद्यमान है, वह हिन्दूधर्म का वास्तविक अंग नहीं है। अस्पृश्यता हिन्दूधर्म का कलंक है। निःसंदेह अन्न-जल शादी आदि का आचार-विचार किसी भी सुसंस्कृत समाज का लक्षण है किन्तु अन्न-जल शादी आदि के ये नियम यदि उसी धर्म के कुछ मनुष्यों को अस्पृश्य, अछूत, भंगी, अन्त्यज आदि की घृणापूर्ण भावना पर आधारित हैं तो सर्वथा त्याज्य है। संसार का कोई भी व्यक्ति अस्पृश्य नहीं है।

10. देशी भाषाओं के माध्यम से शिक्षा :

गांधी लिखते हैं कि यूरोप का प्रत्येक सुसंस्कृत व्यक्ति मात्र अपनी ही भाषा नहीं पढ़ता बल्कि कम से कम तीन-चार अन्य भाषाओं को भी पढ़ता है। उनका विचार है कि प्रत्येक भारतीय को अधिक देशी भाषाओं को पढ़ना चाहिए। इन भाषाओं के पढ़ने में उतनी कठिनाई नहीं होती जितनी अंग्रेजी के पढ़ने में। कोई भी देश बिना अपनी मातृभाषा के विकास नहीं कर सकता और क्योंकि प्रायः सभी देशी भाषाओं की उत्पत्ति संस्कृत से हुई है अतः संस्कृत का पढ़ना अनिवार्य है। देश का दुर्भाग्य है कि हम अभी भी अंग्रेजी के दास बने हैं। क्या यह पूरे देश के स्वाभिमान पर एक प्रश्नवाचक चिन्ह नहीं है कि राष्ट्रभाषा अभी भी देश की द्वितीय भाषा है जबकि प्रथम एवं व्यवहार की भाषा अंग्रेजी ही है? यदि उत्तर भारत का प्रत्येक विद्यार्थी दक्षिण की कम से कम एक भाषा को अनिवार्यतः सीखे तो कोई कारण नहीं कि हिन्दी सर्वसम्मति से पूरे देश की व्यवहार की भाषा न बन जाय।

11. शरीर-श्रम :

शरीर-श्रम उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना मानसिक श्रम। देश के शिक्षित व्यक्तियों को शरीर-श्रम देश के निरक्षरों के लिए नहीं छोड़ देना चाहिए। क्योंकि नापित का काम उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना एक डाक्टर का।

आचार्य शंकर ने साधनचतुष्टय से सम्पन्न जिज्ञासु को ही ब्रह्म जिज्ञासा का अधिकारी माना है। ठीक उसी प्रकार गांधी ने भी ऊपर के एकादश आश्रम व्रतों में अभ्यस्त व्यक्ति को ही राजनीति में प्रवेश का अधिकार दिया है।[1] गांधी के अनुसार राष्ट्र के विकास में राजनीति में विद्यार्थियों की भीड़ शुभ लक्षण नहीं है। निःसंदेह विद्यार्थी राजनीति को शास्त्र के रूप में अवश्य पढ़े। आज गांधी के भारत में सत्याग्रह (?) की धूम मची है। इस प्रकार के सत्याग्रहों के मुख्य स्थल प्रथमतः देश के विश्वविद्यालय हैं। द्वितीयतः देश के बड़े-बड़े उद्योग। क्या यह सत्याग्रह का मजाक नहीं है? सरस्वती के पुनीत मन्दिर घटिया राजनीति के अखाड़े बन गये हैं। विद्यार्थी दिग्भ्रम है। वह पिस रहा है। राजनीति के ठेकेदार यदि सत्याग्रह के एक भी व्रत को सही परिप्रेक्ष्य में हृदयंगम कर पाते तो हमारा निरीह विद्यार्थी शायद इतना दिशाहीन न होता।

इसी संदर्भ में नीतिशास्त्र की एक मौलिक समस्या साध्य एवं साधन भी जुड़ी हुई है। सत्य-साक्षात्कार-ईश्वर साक्षात्कार-मोक्ष ही गांधी के लिए परमशुभ है।[2] इस सत्य का एक मात्र साधन अहिंसा प्रेम है।[3] सत्य साक्षात्कार हेतु गांधी ने साधन रूप से एकादश व्रतों का विधान किया है। अहिंसा स्वतः शेष 9 व्रतों का साध्य है। गांधी मार्क्स से साध्य की शुद्धता तक तो सहमत हैं किन्तु मार्क्सवादी नीतिशास्त्र साध्य को ही सब कुछ मानता है जबकि गांधी साध्य से भी अधिक महत्त्व साधन को देते हैं। गांधी लिखते हैं कि सामान्य अनुभव बताता है कि जो चीज जिस प्रकार से प्राप्त होती है, उसकी रक्षा उसी प्रकार से करनी पड़ती है। शेर ताकत से शिकार करता है एवं ताकत से ही उसे अपने अधिकार में भी रखता है। एक सम्राट जब किसी भूभाग को बल से जीतता है तो बल से ही उसको अपने अधीन भी रख पाता है जो चीज जितने प्यार से प्राप्त होती है, उसकी रक्षा भी उतने ही प्यार से करनी पड़ती है। माँ अपने गर्भ में शिशु से प्यार करती है, उसके पैदा होने पर उतने ही प्यार से उसका पालन भी करती है। इसी प्रकार जिसकी प्राप्ति सत्याग्रह से

1. कलेक्टेड वर्क्स आफ गांधी : भाग 13 : पृ. 225-232 एवं भाग पृ. 91-98 भी।
2. गांधी : ऐन आटोबायोग्रैफी : पृ. 4-5.
3. वही, पृ. 615.

होती है, उसकी रक्षा भी सत्याग्रह से ही हो पाती है।[1] गांधी ने साधन पर इतना अधिक बल दिया है कि अन्ततः साधन और साध्य को पृथक् करना उनके लिए संभव नहीं है। हम लिख चुके हैं कि गांधी के अनुसार अहिंसा एवं सत्य एक ही बिना मुहर लगे सिक्के के दो पहलू हैं किसे सीधा कहा जाय और किसे उल्टा?[2] वे पुनः लिखते हैं : मुझे तब पता चला कि प्रेम का माध्यम सत्य का सर्वाधिक समीप का मार्ग है ..... और यदि आप सत्य को ईश्वर रूप में प्राप्त करना चाहते हैं तो एकमात्र अनिवार्य साधन हैं – प्रेम अर्थात् अहिंसा और क्योंकि मैं अन्ततः साधन एवं साध्य को पर्याय शब्द के रूप में लेता हूँ, मुझे बिना हिचक कहना चाहिए कि ईश्वर प्रेम है।[3] साध्य की शुद्धता का समानुपात साधन की शुद्धता के समानुपात का अनुगामी है। पुनः गांधी झल्लाहटपूर्वक शब्दों में लिखते हैं : कुछ लोग कहते हैं कि साधन तो मात्र साधन है मैं कहूँगा कि साधन ही सब कुछ है। जैसा साधन वैसा ही साध्य। साधन एवं साध्य में पृथकता की कोई दिवाल नहीं है। साध्य की प्राप्ति ठीक उसी मात्रा में होती है, जिस मात्रा में साधना, यह एक ऐसा प्रमेय है जिसका कोई अपवाद नहीं है।[4]

गांधी के एकादश आश्रमव्रत के परिप्रेक्ष्य में भी उनकी शिक्षा व्यवस्था एवं अर्थ व्यवस्था भी लेनी चाहिये। गांधी अधिक से अधिक देशी भाषाओं के अध्ययन के हिमायती रहे। क्योंकि प्रायः इन सभी भाषाओं का उद्गम संस्कृत है अतः संस्कृत का अध्ययन वे अनिवार्य मानते हैं। गांधी शिक्षा व्यवस्था में शरीर श्रम को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। यही कारण है कि वे प्राथमिक शिक्षा में बुनियादी तालीम पर जोर देते हैं। बुनियादी तालीम में शारीरिक श्रम के महत्त्व के साथ-साथ विद्यार्थियों का स्वावलम्बन भी अभिप्रेत है। यदि गांधी के सही परिप्रेक्ष्य में देश की शिक्षा व्यवस्था हुई होती तो राष्ट्र के समक्ष आज बेकारी एवं भाषा की समस्या शायद इतनी गंभीर न होती। सचमुच यदि देश की शिक्षा नीति का विश्लेषण किया जाय तो पता चलेगा कि अभी हमारी शिक्षा नीति अधकचरी है। उसका सुनियोजित रूप नहीं बन सका है।

---

1. कलेक्टेड वर्क्स आफ गांधी : भाग 8 : पृ. 61-62.
2. एन.रे. बोस : सेलेक्सन्स फ्राम गांधी : पृ. 14.
3. यंग इंडिया भाग 2 : पृ. 1286.
4. एन.के. बोस : सेलेक्शन्स फ्राम गांधी : पृ. 17.

ठीक उसी प्रकार आर्थिक व्यवस्था के पहलू पर भी राष्ट्र की आर्थिक नीति उपादेय नहीं हो सकी है। गांधी छोटे कुटीर उद्योग धंधों को अधिक प्रश्रय देना चाहते थे। आज देश में समाजवाद लाने के विचार से प्रायः बड़े उद्योगों का राष्ट्रीयकरण होता जा रहा है। समाजवाद बहुत ही ऊँचा आदर्श है। सरकार की नीयत अच्छी होने पर भी अभी राष्ट्र का चरित्र इस दायित्व का निर्वाह करने के लिए तैयार नहीं है। फलस्वरूप बड़े उद्योगों में आय के स्थान पर घाटा हो रहा है। यदि कुटीर उद्योग धंधों को प्रश्रय मिला होता तो कुछ अंश तक बेकारी की समस्या दूर होती, अपने नष्टप्राय कुटीर उद्योगों को, जिनमें गजब की एक कलात्मकता है, प्रश्रय मिलता। छोटे उद्योगों का स्वामित्व कुछ व्यक्तियों के हाथ में होने के नाते आपस में होड़ होती, अच्छा उत्पादन होता जो एक रूप से देश की आय होती।

गांधी ने सत्याग्रह के माध्यम से मानवीय मुक्ति को जो मार्ग दर्शन किया वह विश्व इतिहास में बेजोड़ है। आध्यात्मिक स्तर पर इसे बड़ी देन नहीं कहा जा सकता तथापि अध्यात्म की साधना जो गिरि प्रकोष्ठों एवं कंदराओं में छिपी थी, उसका कम से कम गांधी ने नयी शब्दावली में समाजीकरण किया। आध्यात्मिक साधना महत् गोपनीय नहीं रह गयी। राजनीतिक चेतना की दृष्टि से गांधी का सत्याग्रह विश्व में एक क्रान्ति ले आयी। भारत के स्वतंत्र होते ही इग्लैण्ड का महासाम्राज्य जिसमें एक समय सूर्यास्त ही नहीं होता था धीरे-धीरे एक टापू बन गया। एशिया एवं अफ्रीका के देश एक-एक कर स्वतंत्र होते गये। अमेरिकी नीग्रो राजनीतिक अधिकार की जिसने 1964 में विधिवत् कानून का रूप धारण किया, गांधी ने दो दशक पूर्व ही भविष्यवाणी कर दी थी। अमेरिकी नीग्रो राजनीतिक अधिकार का महासेनानी, गांधीवादी स्व. डॉ. लूथर किंग ने सत्याग्रह के महत्त्व को स्वीकारते हुए यह कहा कि विश्व की शोषित मानवता के मुक्ति संघर्ष में सबसे शक्तिशाली अस्त्र अहिंसा है।[1] महावैज्ञानिक आइन्सटाइन ने कितना ठीक कहा कि आने वाली पीढ़ियाँ मुश्किल से विश्वास कर सकेंगी कि इस प्रकार का व्यक्ति कभी मांस एवं रक्त में पृथ्वी पर अवतरित भी हुआ था।

●●●

1. वानइ बेर्ग (सम्पा.) इन्सटेड आफ वायलेन्स, पृ. 72.

अध्याय 5

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

रवीन्द्र कवि दार्शनिक हैं। उनका दर्शन क्लिष्ट तार्किक पद्धति पर आधारित न होकर एक मनीषी द्रष्टा की अनुभूति पर आधारित है। वे अपने को दार्शनिक कहने में संकोच का अनुभव करते हैं।[1] किन्तु यह उनकी उदात्तता है। यदि दर्शन जीवन, जगत् के प्रति एक दृष्टि है तो निःसंदेह रवीन्द्र एक द्रष्टा हैं, दार्शनिक हैं।

बौद्धिक जगत् में उनकी लोकप्रियता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि समकालीन चिंतकों में शायद ही किसी अन्य चिंतक ने साहित्य की विभिन्न विधाओं को उतना प्रभावित किया हो, जितना रवीन्द्र ने। 'वास्तव में रवीन्द्र समस्त भारत के भारतेंदु कहे जा सकते हैं, जिन्होंने भारतीय साहित्य में अनेक नवीन दिशाओं का उद्घाटन कर तथा सृजन कर्म को उच्चकोटि की कलारुचि, भाव-संस्कार तथा नव-नवोन्मेषिणी कल्पना के ऐश्वर्य से संवार कर भारतीय चेतना में महान् जागरण का एक अकल्पनीय तथा नवीन अरुणोदय उपस्थित कर दिया।'[2] साहित्य की कोई भी विद्या उनसे अछूती नहीं रही।[3] इसीलिए वे समस्त आधुनिक भारतीय साहित्य-बोध के जनक अथवा नवीन युग के आदिकवि कहे गये।[4] अतः भारतीय साहित्य में कालिदास के उपरान्त 'कवीनां कविः' विशेषण के अधिकारी केवल रवीन्द्रनाथ ही हैं इसमें कोई अतिरंजना नहीं है।[5] उनके इस उत्कृष्ट कवित्व में सर्वाधिक भूमिका उनके अपने पारिवारिक बौद्धिक परिवेश की थी। यह बौद्धिक क्रान्ति का युग था। प्राच्य-पाश्चात्य का अनूठा मिलन हो रहा था। तत्कालीन अनेक सामाजिक मूल्य अवमूलित होकर अभिनवरूप ले रहे थे। इस बौद्धिक क्रांति का नायकत्व टैगोर परिवार ने किया। टैगोर भवन से वैदिक ऋचाएँ एवं शेक्सपीयर तथा मारलोव के उद्धरण साथ-साथ अनुगुंजित होते हैं। भारतीय

---

1. दि रेलीजन आफ मैन : पृ. 56, 81.
2. पंत : टैगोर सेंटेनरी सूविनार, यूनिवर्सिटी आफ इलाहाबाद : पृ. 6.
3. वी.एस. नरवणे : माडर्न इंडियन थाट : पृ. 115.
4. पंत : टैगोर सेंटेनरी सूविनार : यूनिवर्सिटी आफ इलाहाबाद, पृ. 7.
5. डॉ. नागेंद्र : टैगोर सेंटेनरी सूविनार : सूनिवर्सिटी आफ इलाहाबाद, पृ. 9.

शास्त्रीय संगीत के ही साथ यूरोपीय संगीत का भी आलाप सुनाई पड़ता था। वहाँ संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी एवं बंगाली का अध्ययन भी साथ-साथ होता था। उपनिषद् के महावाक्यों के साथ विज्ञान का भी पाठ वहाँ हुआ करता था।[1] इस प्रकार भारतीय नव-जागरण की समस्त तरंगों ने रवीन्द्र के दैनंदिन जीवन को भरपूर आप्लावित किया। यही कारण है कि रवीन्द्र का व्यक्तित्व काउंट केसलिंग को अत्यन्त विशाल एवं परिव्यापक लगा तो ब्रजेंद्रनाथ सील को उसमें अनूठी व्याख्यात्मक प्रतिभा की झाँकी मिली एवं श्री अरविंद ने उसकी साहित्यिक इन्द्रधनुषी में शाश्वत् संगीत का रसास्वादन किया।[2]

ऐसी विशिष्ट प्रतिभा को प्रभावित करने वाली शक्तियों एवं स्रोतों को निश्चित वर्गणाओं में रखना मुश्किल होता है, तथापि स्थूल रूप में उन्हें समझने में कोई विशेष कठिनाई भी नहीं होती। इस प्रकार रवींद्र के जीवन दर्शन पर मुख्य प्रभाव निम्न है –[3]

सर्वप्रथम उन पर उपनिषदों का अमिट प्रभाव है। उनकी दार्शनिक कृतियों 'साधना', 'परसनैलिटी', 'क्रिएटिव यूनिटी', 'दि रेलीजन आफ मैन' आदि में उपनिषद् के विशेषतः ईश, छांदोग्य एवं श्वेताश्वतर के उद्धरण मिलते हैं। औपनिषद् प्रभाव उन्हें पारिवारिक विरासत में मिला था। उन्होंने स्वीकार किया है।[4] वेद एवं उपनिषद् को उन्होंने अक्षय विवेक का अमरकोश कहा है।[5] उनकी जीवन, जगत् के प्रति आनन्दवादी दृष्टि उपनिषद् के 'आनन्दाध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' से गुंफित हुई। यही कारण है कि उनके दर्शन में सत्य के सुंदरम पक्ष की अद्भुत अभिव्यंजना हुई है।

दूसरा प्रभाव उन वेदोत्तर विशाल संस्कृत वाङ्मय का है। उनकी कृतियों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि रवीन्द्र ने संस्कृत साहित्य के विशाल सागर में आकंठ निमग्न होकर स्नान किया था। रामायण, महाभारत, रघुवंश, कुमार-संभव, शाकुन्तलम्, ऋतुसंहार, मेघदूत, उत्तररामचरित; गीतगोविन्द, भामिनी विलास आदि का स्थान-स्थान पर समीक्षात्मक आड़ोलन-विड़ोलन किया गया है। महाभारत को उन्होंने देश की आत्मा कहा है।[6]

---

1. वी.एस. नरवणे : माडर्न इंडियन थाट : पृ. 114.
2. वही (उद्धृत), पृ. 116.
3. द्रष्टव्य, विस्तृत अध्ययन के लिए वी.एस. नरवणे के 'रवीन्द्रनाथ टैगोर' का प्रथम अध्याय।
4. दि रेलीजन आफ मैन : पृ. 57.
5. परसलैलिटी : पृ. 161.
6. क्रिएटिव यूनिटी : पृ. 117.

तृतीयतः उन पर वैष्णव कवियों का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है। "हमारे प्राचीन वैष्णव कवियों ने शाश्वत देव-प्रेम को गाया है, यद्यपि उन्होंने सांसारिक प्रेम की भाषा का प्रयोग किया है। टैगोर की कविता में हमें प्रायः वैष्णव कवियों का ही आभास होता है एवं उनके दिव्य प्रेम गीतों में हमें जयदेव, विद्यापति एवं चंडीदास की अनुभूतियों की झाँकी मिलती है।"[1] यहीं पर एक बात स्पष्ट कर देनी है। कुछ विद्वान उन्हें अभेदवादी-अद्वैतवादी परम्परा में रखते हैं जैसे डॉ. दासगुप्त एवं डॉ. राधाकृष्णन् तो कुछ अन्य विद्वान उन्हें भेदवादी-भक्तिवादी परंपरा में – जैसे डॉ. डी.एम. दत्ता एवं डॉ. पी नागराज राव। डॉ. दत्ता ने तो बहुत ही संभल कर प्रतिबंधित अर्थ में ही उन्हें भक्तिवादी परम्परा में रखा है।[2] किन्तु डॉ. नागराज राव ने स्पष्ट शब्दों में उन्हें भेदवादी-भक्तिवादी बताया है।[3] तथ्य इससे भिन्न हैं। अभेदवाद एवं भेदवाद, अद्वैतवादी एवं भक्तिवाद की अनूठी गंगा यमुना रवीन्द्रदर्शन में देखने को मिलती है। डॉ. नरवणे का कथन अक्षरतः सत्य है "वस्तुतः दोनों परम्पराओं में जो सर्वोत्कृष्ट था, उसे टैगोर ने लिया।"[4] श्री पी.टी. राजू का भी लगभग ऐसा ही विचार है।[5] लेखक का अपना विचार लगभग इसी प्रकार का है "प्रकृति का यह सुकुमार कवि सर्वात्मवाद का संदेश देता हुआ अभेद एवं भेद के बीच समन्वय स्थापित करता है।" इस प्रकार रवीन्द्र का प्रकृतिदर्शन शंकर एवं रामानुज की अपेक्षा चैतन्य एवं श्रीजीव गोस्वामी के अचिंत्य भेदाभेद के निकट लगता है। उनमें हम एक ओर यदि भेदवाद का उभार पाते हैं, तो दूसरी ओर अभेदवाद का निखार। यह एक दार्शनिक पहेली है, जिसका कोई दार्शनिक समाधान नहीं है। ऐसा रवीन्द्र ने स्वीकार किया है एवं इसे ही उन्होंने सृष्टि का मूल रहस्य माना है। अचिन्त्यभेदाभेद का समूचा दर्शन यदि औपनिषद 'रसो वै सः' से आप्लावित है तो रवीन्द्र का दर्शन भी उसी शक्ति के सार्वभौम रस से संपृक्त है।[6]

चौथा प्रभाव उन पर हिन्दी के सूफी कवि कबीर एवं दादू के साथ-साथ बंगाल के कुछ लोकगीतों को गाने वालों – विशेषतः बाउलों का भी था।[7]

---

1. एम.एन. दासगुप्त : रविदीपिता : पृ. 18.
2. डी.एम. दत्त : चीफ करेन्ट्स आफ कन्टेम्पोररी फिलासफी, पृ. 527.
3. दि कन्टेम्पोररी इंडियन फिलासफी : पृ. 56.
4. माडर्न इंडियन थाट : पृ. 118.
5. दि आइडियलिस्टिक थाट आफ इंडिया : पृ. 324.
6. दार्शनिक : त्रैमासिक : अंक 3-4, 1969.
7. दि रेलीजन आफ मैन : पृ. 68-69.

बाउलों के विषय में वे कहते हैं ''जब मैं सियालदह में था तो मैंने बाउलों से निकट का संबंध रखा और उनसे बातचीत किया करता था तथा यह यथार्थ है कि मैंने बाउल गीतों की ध्वनियों को अपने अनेक गीतों में मिलाया है।''1 उनकी 'क्रिएटिव यूनिटी' में बाउलों का अत्यन्त सुमधुर काव्य बिम्ब मन को विभोर कर देता है।[2]

पाँचवाँ प्रभाव उन पर बौद्ध दर्शन का है। बौद्ध दर्शन के प्रति उनकी आस्था सुदूर पूर्वी देशों के पर्यटन के बाद हुई। उन्हें बौद्ध धर्म में एशिया की सांस्कृतिक एकता की झाँकी मिली। बौद्ध कथानकों पर उनके बहुत से निबंध एवं गीत आधारित हैं। बौद्ध धर्म ने, रवीन्द्र के अनुसार, जगत को एक नया आलोक दिया। ''उन लोगों ने इस बात की अनुभूति की कि प्रत्येक व्यक्ति में बुद्ध होने की क्षमता है – अर्थात् अनंत मूर्तिमान हो सकता है।''[3] पुनः वे कहते हैं ''बौद्धकाल के आते ही हमारे देश की मानवता अपनी अत्यधिक गहराई तक स्पंदित हुई। पूरे एशिया महाद्वीप में मस्तिष्क की जो स्वतंत्रता इसने पैदा की यह सृजनात्मक वैभव के रूप में भरपूर ढंग से छा गयी।''[4]

छठाँ प्रभाव उन पर पाश्चात्य चिंतन एवं संस्कृति का है। वे प्राच्य-पाश्चात्य के समन्वय के बहुत बड़े हिमायती रहे। उन्होंने विज्ञान को पश्चिम द्वारा मानवता के लिए प्रदत्त सर्वोत्कृष्ट उपहार बताया है। इस संदर्भ में वे कहते हैं ''मुझे निश्चय है कि यदि यूरोप में संस्कृति का महाप्रकाश बुझ जाय तो हमारे पूर्वी क्षितिज अंधकार में शोक मनायेंगे।''[5] एक फ्रेंच लेखक का कहना है : ''हमारी यूरोपीय संस्कृति में – हमारे काव्य दर्शन एवं कला में कोई भी ऐसी चीज नहीं है, जिससे टैगोर अनभिज्ञ हों।''[6] उन्हें मिल्टन, शेक्सपीयर, वड्र्सवर्थ, शैली आदि ने तो प्रभावित किया ही साथ ही टैगोर के समकालीन अनेक पश्चिमी बुद्धिजीवियों ने उन्हें इतना ही प्रभावित किया। ''अपने समय के अनेक प्रतिष्ठित चिंतकों से – क्रोचे, वर्गसाँ, आइन्टीन, रोमेन रोलैण्ड, रसेल, स्वेत्ज़र, डिवी, केसरलिंग आदि – दर्शन की गंभीर समस्याओं पर व्यक्तिगत

1. बुद्धदेव राय द्वारा 'रवीन्द्रनाथ एण्ड बंगाली फोक' शीर्षक में, पत्रिका संडे मैगजीन, इलाहाबाद, मई 9, 1971 में उद्धृत।
2. क्रिएटिव यूनिटी : पृ. 83.
3. वही, पृ. 73.
4. क्रिएटिव यूनिटी, पृ. 137.
5. वहाँ, पृ. 98.
6. माडर्न इंडियन थाट में उद्धृत : पृ. 120.

वार्तालाप के स्तर पर उन्होंने विचार विमर्श किया।"[1] रवीन्द्र की गीताजंलि पर अनेक पाश्चात्य विद्वानों को ईसाई धर्म की प्रतीति हुई। किसी समीक्षक ने 'टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट' में इस प्रकार लिखा : "इन गीतों को जब हम पढ़ते हैं, हमें लगता है कि हम अपने ही समय के डेविड के स्तोत्रों को पढ़ रहे हैं।"[2] एक दूसरे विद्वान के अनुसार "गीतांजलि का ईश्वर क्राइस्ट-सा है।"[3]

अंत में तत्कालीन देशीय एवं अंतर्देशीय बौद्धिक क्रांति ने उन्हें पूरे ढंग से प्रभावित किया। धर्म के क्षेत्र में राजा राममोहन राय ने, साहित्य के क्षेत्र में बंकिम चटर्जी ने, समाज एवं राजनीति के क्षेत्र में उस समय के बदलते हुए मूल्यों ने।[4] डॉ. नरवणे की उक्ति कितनी सुन्दर है : "गेटे के बाद किसी भी अन्य कवि ने इतनी गहराई से इतने अधिक स्रोतों का पालन नहीं किया अथवा इतने विभिन्न विचारों को क्लिष्ट दार्शनिक अनुशासन के अन्तर्गत ले आया हो।"[5]

(दो)

रवीन्द्र भारतीय आत्मा के सजग प्रहरी हैं। भारतीयता का उत्कृष्ट प्रतिनिधित्व उनके द्वारा किया गया है। भारतीयता समन्वयवादिता है। समन्वयवादिता भारतीयता का पर्याय है। समन्वयवादिता को ही रवीन्द्र ने कविधर्म का आदर्श बताया है। कविता एवं कलाएँ मनुष्य की अपनी सत्ता के साथ समस्त सत्ता के सामंजस्य में जो कि भावुकता का चरमसत्य हैं 'अटूट विश्वास बनाये रखने की पोषक हैं।[6] पुनः वे कहते हैं कि मताग्रही धर्म में सभी प्रश्न निश्चित रूप से उत्तरित होते हैं, सभी संशय अंततः समाप्त हो जाते हैं। किन्तु कवि धर्म पृथ्वी के ऊपरी परिवेश की भाँति तरल होता है, जहाँ धूप-छाँह आँख मिचौनी खेलती है, एवं जहाँ की वायु बादलों से वैसे ही खेलती है, जैसे गड़ेरिये का बच्चा भेड़ों के समूह में नरकुल बजाता है। इसका कोई ठोस निर्णय नहीं होता, किन्तु यह अनंत प्रकाश को व्यक्त करता है, क्योंकि इसकी कोई दीवाल नहीं होती।'[7]

---

1. माडर्न इंडियन थाट में उद्धृत : पृ. 120.
2. वही, (उद्धृत) पृ. 121.
3. वही, (उद्धृत) पृ. 121.
4. कन्टेम्पोरेरी इंडियन फिलासफी के 'रेलीजन आफ ऐन आरटिस्ट' से उद्धृत।
5. मार्डन इंडियन थाट : पृ. 121
6. क्रिएटिव यूनिटी : पृ. 14.
7. वही, पृ. 16.

उन्होंने अनंत का लक्षण इस प्रकार दिया है : ''अनंत का गुण परिमाण का विस्तार नहीं है, वह इसके अद्वैत में है, जो एकता का रहस्य है।''[1] इस प्रकार रवीन्द्र अरस्तू अथवा बुद्ध के मध्यम मार्ग के अनुयायी हैं। समन्वयवाद के संदर्भ में उन्होंने पुनः कहा है। ''भारतीय इतिहास में मुसलमान एवं हिन्दू के मेल ने अकबर को उत्पन्न किया, जिसके स्वप्न का लक्ष्य भावनाओं एवं आदर्शों का एकीकरण था। इसमें धर्म की सारी उद्दीप्त उत्सुकता थी एवं इसने अपने ही समय में अविलंब महान् फल उत्पन्न किया।''[2] यही कारण है कि हमारे उपनिषदों में मानवीय जीवन का परमलक्ष्य प्रशान्तत्व एवं आत्मैकत्व बताया गया है, जिसका अर्थ होता है कि ऐसे लोग मनुष्य एवं प्रकृति से पूर्ण सामंजस्य में रहते हैं। इसीलिए वे निर्विघ्न ईश्वर के संपर्क में रहते हैं।[3] रवीन्द्र की इस समन्वयवादी प्रवृत्ति के परिप्रेक्ष्य में दर्शन की विभिन्न समस्याओं का, चाहे वे सात्विक हों, नैतिक हों अथवा सौंदर्यशास्त्रीय हों, सही मूल्यांकन हो सकता है।

कवि अत्यन्त संवेदनशील होता है। अनुभूति की उसमें अद्भुत क्षमता होती है। रवीन्द्र ने औपनिषद 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' पर बल देते हुए कहा है कि मैं जो कुछ भी जानता हूँ, उसका आधार अनुभूति है। मैंने पहले ही स्वीकार किया है कि मेरा धर्म कविधर्म है। जो कुछ भी मैं अनुभूति करता हूँ वह दृष्टि से न कि तर्कज्ञान से।''4 रवीन्द्र पूर्ण विश्वास के साथ कहते हैं कि उनके जीवन में ऐसे क्षण आये हैं जब उनकी आत्मा ने परमात्मा का स्पर्श किया है एवं आनन्दातिरेक में उन्होंने उसकी अनुभूति की है।[5] स्पष्ट शब्दों में उन्होंने कहा है कि परमात्मा का दर्शन हमारी कल्पना के साक्षात्कार से संभव है, न कि बुद्धि से।[6] वे पुनः कहते हैं कि यह बात ध्यान देने योग्य है कि अनन्त भारत के लिए मात्र दार्शनिक परिकल्पना का विषय नहीं है यह उसके लिए उतना ही सत्य है, जितना सूर्य का प्रकाश। वह उसे अवश्य देखें, अनुभव करें, अपने जीवन में लाभ उठायें।[7] क्योंकि सीमित, अपूर्ण एक ऐसा दिया है, जिसमें प्रकाश नहीं, एक ऐसी वीणा है, जिसमें संगीत नहीं।[8]

1. क्रिएटिव यूनिटी : पृ. 4.
2. वही, पृ. 104.
3. साधना : पृ. 15.
4. दि रेलीजन आफ मैन : पृ. 67.
5. वही, पृ. 67.
6. वही, पृ. 90.
7. परसनैलिटी : पृ. 26-27.
8. वही, पृ. 56.

रवीन्द्र की गीतांजलि पर वैष्णव भक्तों का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है। भक्त अपने भगवान से अपनी दीनता निवेदन करता है, अपने प्रभु से अपना सर्वविध उद्धार चाहता है :

"हे जीवित विश्व के जीवन! मेरा अन्तर विकसित करो।
निर्मल करो! उज्ज्वल करो! सुन्दर करो, जाग्रत करो।
निर्भय और उद्यत करो! निरालस और शंकारहित करों"

– *गीतांजलि*[1]

निम्न गीतांश शरणागति-प्रपत्ति का उत्कृष्ट उदाहरण है :

"नाथ! जहाँ सबसे अधम दीनों के दीनजन रहते हैं, वहाँ
सबसे पिछड़े और सबसे तिरस्कृत लोगों के मध्य
तेरे चरण विराजमान हैं!
जब मैं तुझे प्रणाम करता हूँ तब मेरा बिनत
मस्तक नमन की सीमा तक पहुँचकर भी तेरी चरण पीठिका
तक नहीं पहुँच पाता।"

– *गीतांजलि*[2]

ऊपर के गीतांश रवींद्र की भक्तिवादी प्रवृत्ति पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं।

गीतांजलि में रवीन्द्र ने कबीर की भाँति परमात्मा को अनेकविध संबंधों से संबोधित किया है, जैसे - प्रभु, स्वामी, प्राणपति, प्रियतम, जननी, प्राणसखा आदि।

---

1. मैं यहाँ केवल तेरा गीत गाने के लिए आया हूँ।
अपने विश्वसभा में मुझे गाने भर की अनुमति दे दें!
प्रभु! तेरे संसार के अन्य किसी भी काम के मैं योग्य नहीं,
मेरे निरुपयोगी प्राण केवल तेरे गीत के स्वरों में ही व्यक्त होते हैं।

– *गीतांजलि*

2. हे मेरे जीवन की अन्तिम साध।
हे मेरे मरण! आ और मुझसे बात कर!
मैं जन्मभर तेरे लिए जागता रहा, जन्म भर तेरे लिए
ही सुख-दुख का भार अपने कंधों पर उठाकर घूमता रहा हूँ।"

– *गीतांजलि*

**"प्रभो ! 'विपत्तियों से रक्षा करो' – यह प्रार्थना लेकर
मैं तेरे द्वार पर नहीं आया, विपत्तियों से भयभीत न
होऊँ – यही वरदान दे।"**

– गीतांजलि[1]

इस प्रकार पूरी गीतांजलि में भक्तिरस के एक से एक अनूठे काव्य-बिम्ब भरे पड़े हैं। भक्तकवि अपने उपास्य आराध्य भगवान् की अनेकविध उपासना अराधना करना चाहता है जो सर्वगुणाधार है, करुणावरुणालय है, सच्चिदानन्द है, जगत् का स्रष्टा, पालनकर्ता एवं संहारक है। वह 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम' में सक्षम है। अपने ऐसे भगवान की उपासना रवीन्द्र विरागी न होकर अपितु रागी होकर करना चाहते हैं :

**"वैराग्य साधन में ही मेरी मुक्ति नहीं है
अनुराग के हजारों बंधनों में ही मुझे मुक्ति का
आनन्द अनुभव होता है।
मैं अपनी दुनिया के असंख्य दीपों को तेरी ज्वाला से
जला लूँगा, और तेरे मंदिर की यज्ञवेदी पर रख दूँगा।
नहीं, मैं अपनी इन्द्रियों को घोर संयम के
सीखचों में बंद नहीं करूँगा। मेरे दर्शन, श्रवण और
स्पर्श में तेरा आनन्द भरा होगा।
मेरे सब भ्रम आनन्दयज्ञ की समिधा बनकर प्रकाशित
होंगे और मेरी सब वासनाएँ प्रेमफल के रूप में परिपक्व होंगी।"**

– गीतांजलि

रवीन्द्र के औपनिषद उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने ईश्वर के लिए 'पुरुष' शब्द का कितना अधिक प्रयोग किया है, किन्तु यह 'पुरुष 'सामान्य पुरुष नहीं है, बल्कि 'वेदाहमेतम् पुरुषं महान्तम्'[2] 'सनातनम् एनम्

---

1. "प्रापणति ! क्या दिन-प्रतिदिन मुझे तुम्हारे सामने आना होगा।
दिन-प्रतिदिन हाथ बाँधकर तुम्हारे सामने खड़ा रहना होगा?
हे मेरे प्राणसखा !
आज बरसात की झड़ी में प्रिय मिलन के लिए
कहाँ बाहर चल दिया?

– गीतांजलि

2. इण्ट्रोडक्शन टु राधाकृष्णन्स फिलासफी आफ उषनिषद्स।

आहुः उताय स्यातु' पुनरनवः' है।[1]

उपनिषद् के 'रसो वै सः' से उद्भूत भक्तिरस की अजस्र धारा जयदेव, विद्यापति, पं. राज जगन्नाथ एवं श्री चैतन्य के रसस्रोतों को समेटती हुई रवीन्द्र द्वारा उद्धृत बाउलों के अल्हड़, ग्राम्य गीतों में उमड़ सी पड़ी है। भक्तिरस का कितना अनूठा काव्य बिम्ब है :

"मैं भाग्यशाली हूँ
जो खाली जल-पात्र हूँ
जब तू डुबकी लेगा,
मैं अगल-बगल तैरता रहूँगा
तुम्हारे भरे जल पात्र
खाली किनारे पर दुनिया के काम आयेंगे
किन्तु मैं नदी में तुम्हारी गोद में,
तुम्हारी हृदय की धड़कन एवं उठती तरंगों के
साथ नाचूँगा।"[2]

बंगाल में महिलाएँ प्रायः नदी में डुबकी लेते समय अपने जलपात्रों को तैरने के लिए उलट देती हैं ताकि स्नान के बाद उन्हें भरकर निकल सकें। कवि ने इस मनोहर काव्यबिम्ब को इस संदर्भ में परिकल्पित किया है।

बाउल भिखारी को ईश्वर की वंशी बनकर बजाए जाने का कितना अगाध सुख है:

"मेरा हृदय उस वंशी-सा है,
जिसको उसने बजाया है।
यदि कभी भी यह दूसरों के हाथ में पड़ जाय,
वह उसे फेंक दें।
मेरे प्रिय की बंशी उसे बहुत प्यारी है।
इसीलिए यदि आज उसमें अन्य सांसों ने जाकर
अपरिचित स्वर छेड़ा है,
उसे इसे टुकड़ों में तोड़कर
उन पर मिट्टी फैला देना है।"[3]

---

1. दि रेलीजन आफ मैन।
2. क्रिएटिव यूनिटी : पृ. 83.
3. क्रिएटिव यूनिटी : पृ. 87.

ज्ञानदान के निम्न उद्धरण में भक्तिरस की सरिता का कितना तीव्र आवेग है :

"ओ। यह कौन है, किसकी बाहें मुझे घेरे हैं?
जो कुछ हमें छोड़ना है, मैं छोड़ दूँ, और जो कुछ मुझे
धारण करना है, धारण कर लूँ,
ओ मेरे प्रेमी मेरे, प्रियतम, मेरे जगत् सुंदर।"[1]

रवीन्द्र का भगवान् संसार के कण-कण में व्याप्त है। उससे उनका हर प्रकार का मानवीय सम्बन्ध है। वह उनके घर का है, मंदिर का है। वही उनका मुख्य अतिथि है, जिसका वह सम्मान करते हैं। फूल-फलों की ऋतुओं में, वर्षा में वसंत के परमोत्कर्ष में उसी की पद-ध्वनि उन्हें सुनाई पड़ती है।[2]

रवीन्द्र के अनुसार भगवान एवं भक्त का संबंध ही जीवन है। जीवन की सार्थकता भक्त द्वारा भगवान का साक्षात्कार है।[3] यह भगवान् 'आनंदरूपं यद् विभाति' आनंदरूप से आभासित होता है।[4] वाह्य जगत् की रचना उसी के द्वारा की गई है।[5] रवीन्द्र ने भगवान् एवं भक्त में पिता-पुत्र का सम्बन्ध बताया है। भक्त कुछ जाने अथवा न जाने किन्तु वह अपने पिता को तो जानता ही है, क्योंकि वह शाश्वत संबंध है। रवीन्द्र ने भगवान् को पिता शब्द (पितरौ = माँ-बाप) से संबोधित कर माँ के अर्थ की भी अभिव्यंजना कर दी है। हम माँ-बाप की गोदी में उत्पन्न होते हैं, पलते हैं। हमारी उत्पत्ति प्रेम से हुई है, हमारा संबंध प्रेम का संबंध है। इस प्रकार माता-पिता हमारे ईश्वर के शाश्वत् सम्बन्ध के प्रतीक होते हैं।[6] इसलिए रवीन्द्र की उपासना-विधि में निम्न प्रार्थना है :

"ॐ पिता नो सि पिता नो बोधि, नमस्तेस्तु।
पिता नो सि।"[7]

रवीन्द्र के अनुसार प्रेम का चरमोत्कर्ष ही बुद्ध का 'ब्रह्म विहार' है – आनंदागार में निमग्न होना है।[8] इस प्रकार रवीन्द्र के भगवान् विश्वरूप हैं,

---

1. क्रिएटिव यूनिटी : पृ. 89.
2. पर्सनैलिटी : पृ. 27.
3. वही, पृ. 85.
4. वही, पृ. 99.
5. वही, पृ. 101.
6. परसनैलिटी : पृ. 157.
7. वही, पृ. 155.
8. साधना, पृ. 106.

विराट रूप हैं, भगवान के सगुण रूप की तार्किक परिणति अपूर्णता, सीमा है, किन्तु क्या संसार का कोई भी भक्त ऐसे भगवान की आराधना करना चाहेगा, जो अपूर्ण एवं ससीम है? रवीन्द्र कहते हैं कि यह संसार मुझे (आत्मा का) भगवान् (परमात्मा-पुरुष) द्वारा दिया गया है। यह परमात्मा का आत्मा के लिए उपहार है।[1] पूरी गीतांजलि उसके 'शिवम्' एवं 'सुन्दरतम' रूपों से पिरोई हुई है। उनकी अन्य कृतियों में भी 'शिवाय च शिवतरायच', 'आनन्दरूपं यद् विभाति आदि की अनुगूँज मिलती रहती है।'

गीताजंलि के भक्तिरस पगे इन गीतों में कहीं-कहीं कुछ ऐसे भी गीत झलक पड़ते हैं जिनमें स्पिनोजा का सर्वेश्वरवाद अथवा औपनिषदिक सर्वात्मवाद का सुन्दर निखार है :

"सीमार माझे असीम तुमि,
बजाओ आपन सुर
आमार मध्ये तोमार प्रकाश,
ताई एत मधुर।"

– गीतांजलि[2]

---

1. परसनैलिटी : पृ. 69.
2. "जो जीवन-धारा दिन-रात मेरी नसों में प्रवाहित हो रही है,
वही विश्व में उसी गीत व लय-तान के साथ चल रही है।
यही जीवन-धारा है जो सानन्द पृथ्वी की धूल से फूटकर
हरी घास के कोपलों के रूप में प्रकट होती है और यह
यही है, जो असंख्य नवपल्लवों और फूलों के रूप में
प्रस्फुटित होती है।
यही वह जीवन है जो समुद्र की तरंगों के पालने में जीवन
और मृत्यु आरोह और अवरोह बन कर स्थित है
इस जीव्रन के स्पर्श से ही में तन-मन में रोमांच होता है।
और युगों के नृत्य में जीवन का कंपन छिपा है उससे
मेरा रक्त कंपित हो रहा है – यही प्रतीति मेरे
अंतर में अभिमान भर देती है।
प्रकाश, मेरे प्रकाश, विश्वव्यापी प्रकाश, नयनाभिराम प्रकाश,
हृदय मधुर प्रकाश।
यह प्रकाश ही मेरे जीवन केन्द्र बिन्दु पर नृत्य करता है,
यह प्रकाश ही मेरे प्रेम के तारों को झनझनाता है,
तब आकाश के द्वार खुल जाते हैं, पवन वेग से
दौड़ने लगता है और पृथ्वी का हास्य विश्व के कण-कण में
व्याप्त होता है।

– गीतांजलि

पुनः

"तमेवैकम् जानथा आत्मानम् अमृतस्यैष सेतुः"[1]
तू उस एक आत्मा को जान जो अमृत का सेतु है।

"एकं रूपं बहुधा यः करोति तमात्मस्थं ये
अनुपश्यन्ति धीराः तेषां सुखं शाश्वतम् नेतरेषाम्।।"[2]

वे धीर लोग ही जो आत्मस्थ उस सत्ता का साक्षात्कार करते हैं, जो एक से अनेक रूपों में आभासित होती है, उन्हें ही शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है, अन्य किसी को नहीं।

आत्मा को अनन्त में विहार करना चाहिए। अनंत की अनंतता का हर क्षण बोध ही परमसुख है, परम मुक्ति है।[3] यह धारणा मिथ्या है कि रवीन्द्र दर्शन में जीवन ने अपूर्णता को सर्वदा के लिए वरण कर लिया है।[4] इन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि हम अनिवार्यतः ब्रह्म हो सकते हैं। हमारी सत्ता निरर्थक है यदि हम यह आशा भी छोड़ दें कि हम पूर्णता की प्राप्ति कर सकते हैं।[5] ज्यों ही हमारी आत्मा ब्रह्म साक्षात्कार कर लेती है, उसकी हर क्रिया को परमोद्देश्य की प्राप्ति हो जाती है।[6] 'यतो वाचो निर्वतन्ते अप्राप्य मनसा सह, आनन्दं ब्रह्मणों विद्वान न विभेति कुतश्चन'[7] – मनसहित वाणी ब्रह्म को नहीं जान पाती किन्तु जो विद्वान ब्रह्म के उस आनंद को जान पाता है, वह अभय हो जाता है। पूर्णता में कोई स्तर नहीं होता। ब्रह्म में अधिकाधिक होने का प्रश्न ही नहीं उठता। वह 'एकमेवा द्वितीयम्' है। वह हमारी उपासना एवं ध्यान के दैनिक पाठों में सत्तात्मक भेद की सारी बाधाओं को विजित कर अद्वैत – परमतत्त्व, जो कि अनंत है, उसको साक्षात्कार करने का लक्षण है।[8]

दार्शनिक जगत् में एक बड़ी भ्रांति यह है कि लोगसगुणवाद एवं निर्गुणवाद

1. साधना : पृ. 35.
2. साधना : पृ. 36.
3. वही, पृ. 102.
4. आर.एस. श्रीवास्तव, कन्टेम्पोररी इण्डियन फिलासफी : पृ. 102.
5. साधना : पृ. 155.
6. वही, पृ. 157.
7. वही, पृ. 159.
8. वही, पृ. 59.

में, भेदवाद एवं अभेदवाद में विरोध देखते हैं, जबकि दर्शन के उद्‌भट के आचार्यों ने बार-बार बलपूर्वक कहा है कि इन दोनों में विरोध नहीं है। परमतत्त्व के यह दो प्रकार नहीं है, अपितु दो रूप हैं। ये परमतत्त्व को देखने की दो दृष्टियाँ हैं। सगुणोपासक संतों को भी सगुण एवं निर्गुण में विरोध नहीं दिखता बस, सगुणोपासना निर्गुणोपासना से सरल है। 'अगुनहि सगुनहि कछु नहीं भेदा' तुलसी। 'अविगत गति कछु कहत न आवत . . . . ताते सूर सगुण लीलापद' गावे' – सूर। दार्शनिक दृष्टि से निर्गुण सगुण की पूर्णता है।[1] यदि सगुण रसमयता है तो निर्गुण रसस्वरूपता है – 'रसो वै सः'।

"यदि सगुण सन्मयता है तो निर्गुण तद्रूपता है।
यदि सगुण चिन्मयता है तो निर्गुण चिद्रूपता है।"

यदि सगुण आनन्दमयता है तो निर्गुण आनन्दरूपता है।

रवीन्द्र समन्वयवादी हैं अतः उनमें इन दो रूपों में विरोध देखने का प्रश्न ही नहीं उठता। उन्होंने अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी है 'तत्त्वमीमांसा' में ईश्वर सगुण है अथवा निर्गुण है अथवा निर्गुण साकार है अथवा निराकार-प्रश्न को लेकर गंभीर विवाद चलता रहता है, किन्तु प्रेम में हाँ और नहीं दोनों साथ होते हैं। प्रेम में यदि एक ओर निर्गुण है तो दूसरी ओर सगुण।[2] इसे उन्होंने ईशोपनिषद् के उद्धरण से भी सिद्ध किया है और कहा है कि असीम एवं ससीम दोनों वैसे ही एक हैं जैसे गीत एवं उसका गाया जाना।[3]

(ख)

रवीन्द्र में भेदवादी प्रवृत्ति की प्रधानता है, अतः आत्मा की अपनी स्वतंत्र वैयक्तिक सत्ता है। वह ब्रह्मस्वरूप न होकर ब्रह्म समान होकर हर क्षण ब्रह्मत्व के परमानंद को बोध करना चाहता है। वह अपने आराध्य से एकाकार हो जाने की अपेक्षा उसके आनंद में हर क्षण जीने को श्रेयस्कार समझता है :

'इसी में मुझे आनंद आता है –

1. भक्त के अनुसार निर्गुण की पूर्णता सगुण है। रवीन्द्र की भी यही धारणा है। मूर्तरूप अमूर्तरूप की अपेक्षा अधिक पूर्ण आभास है। मनुष्य के रूप में अपने मूल अव्यक्त रूप की अपेक्षा अधिक पूर्ण है – दि रेलीजन आफ मैन : 74.
2. माडर्न इंडियन थाट (उद्‌धृत) पृ. 29, साधना : पृ. 114.
3. परसनैलिटी : पृ. 57.

**'मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करता रहूँ, और अपलक देखता रहूँ,
उस मार्ग को जहाँ छाया प्रकाश की अनुगामिनी है और
वर्षा ग्रीष्म की अनुचर बनती है।'**

– *गीतांजलि*[1]

पूर्णता का जितना अच्छा आभास सगुण रूप में है, उतना निर्गुण रूप में नहीं है। इसीलिए ईशोपनिषद् में कहा गया है कि असीम एवं ससीम दोनों सत्य हैं। परमतत्व तत्वतः असीम है, किन्तु आभासतः समीप है – वैयक्तिक है।[2] रवीन्द्र में जीवन ब्रह्मलीन नहीं हो जाता। उसका भेद बना रहता है। ईश्वर पूर्णता का अनंत आदर्श है तो जीव उस आदर्श के साक्षात्कार करने की प्रक्रिया है।[3] रवीन्द्र को भेदवादी आस्था का उभार अधिक स्पष्ट हो गया है, जब उन्होंने असीम के साथ ससीम को, एक के साथ अनेक को, ब्रह्म के साथ आत्मा को उतना ही सत्य माना है। वे कहते हैं कि मात्र मृत्यु ही अद्वैत है, जीवन द्वैत है[4], एकम् बिना द्वितीयम् के शून्य है, क्योंकि द्वितीयम् ही इसे सत्यता प्रदान करता है।[5] अनंत के संगीत की संगीतात्मकता शांत द्वारा ही

---

1. 'जी चाहता है तेरे सामने चुपचाप बैठा रहूँ, और निर्वाद
अवकाश के साथ जीवन के पूर्ण समर्पण का गीत
गाता रहूँ।
वैराग्य साधन में ही मेरी मुक्ति नहीं है।
अनुराग के हजारों बंधनों में ही मुझे मुक्ति का आनंद
अनुभव होता है।
मैं अपनी दुनिया के असंख्य दीपों को तेरी ज्वाला से जला
लूँगा, और तेरे मंदिर की यज्ञ वेदी पर रख दूँगा।
नहीं मैं अपनी इन्द्रियों को घोर संयम के सीखचों में बंद
नहीं करूँगा। मेरे दर्शन, श्रवण और स्पर्श में तेरा
आनंद भरा रहेगा।
मुझ में बस इतना ही स्वतंत्र बना रहने दे कि मैं तुझे चारों
ओर अनुभव कर सकूँ, और रात दिन प्रत्येक क्षण
अपना प्रेम तेरे अर्पण कर सकूँ।

– *गीतांजलि*

2. दि रेलीजन आफ मैन : 74.
3. साधना : पृ. 155.
4. वही, पृ. 18.
5. माडर्न इंडियन थाट (उद्घृत), पृ. 130.

गुंजित है।

'सीमार माझे असीम तुमि
बाजाओ आपन सुर
आमार मध्ये तोमार प्रकाश
ताई एत मधुर।'

– गीतांजलि

इस प्रकार जीवन का सिद्धांत अनेकता में एकता है न कि अनेकताविहीन एकता। रवीन्द्र के अनुसार जब तक बीज धरती पर रहता है, वह एक रहता है, यह उसकी संघर्षविहीन शान्तावस्था है, किन्तु ज्यों ही अंकुरण होता है, अनेकता फूट पड़ती है, जीवन प्रारम्भ हो जाता है।1 यहाँ पर रवीन्द्र के दर्शन पर हेगेल एवं रामानुज का प्रभाव बड़ा ही स्पष्ट हो गया है। अद्वैत यदि मात्र अद्वैत है तो शून्य है। यह विशिष्टाद्वैत है। तार्किक दृष्टि से हेगेल एवं रामानुज के दर्शन में अन्तर्विरोध है क्योंकि ये एक एवं अनेक दोनों को सत्य मानते हैं, किन्तु रवीन्द्र का कहना है कि इस अन्तर्विरोध के बावजूद यथार्थ भी तो यही है। अनन्त-असीमित का प्रकाशन शान्त-ससीम में हुआ है – निःसंदेह यह रहस्य है किन्तु सृष्टि के मूल में भी तो यही रहस्य है।2 एकम् कैसे द्वितीयम् हो जाता है – कवि स्वीकार करता है कि वह इस रहस्य को न जान सका है और न जान पायेगा।3

"मुझे गर्व था कि मैं तुझे जानता हूँ
मेरी सभी रचनाओं में दुनियाँ वाले तेरी छवि देखते हैं
यहाँ आकर वे पूछते हैं 'यह कौन है?'
मैं अवाक् रह जाता हूँ। 'कौन जाने' यही कह देता हूँ।
वे मुझे भला-बुरा कहते हुए अवज्ञा से मुख फेर कर चले जाते हैं।"

– गीताजंलि

रवीन्द्र कभी-कभी कहते हैं कि इस रहस्य का समाधान तार्किकता से परे व्यक्तिगत आनन्दानुभूति द्वारा किया जा सकता है। ऐसे स्थलों पर उन अचिंत्य भेदभाव का प्रभाव बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। एकम् अपने को लीला-क्रीड़ा के लिए द्वितीयम् में उद्भाषित करता है। 'आनन्दाध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आन्देन जातानि जीवन्ति आनन्द प्रत्यात्यभिसविशन्ति' यह सृष्टि ईश्वर

---

1. वी.एस. नरवणे : रवीन्द्रनाथ टैगोर : पृ. 88.
2. परसनैलिटी : पृ. 55.
3. नैवेद्य गीत : सं. 88.

के आनन्दातिरेक के फलस्वरूप आभासित है।[1] आनन्दरूपममृतं यत् विभाति' :

"हे मेरे देवता,
मेरा जीवन-पात्र अमृत से लबालब भरा है,
तू कौन से दिव्य रस का पान करना चाहता है?
प्रेमवश तू अपना सर्वस्व मेरे हृदय को अर्पित कर देता है।
और तब अपने समस्त माधुर्य को मेरे अन्तर में देखना
चाहता है।
हे मेरे देवता
तू कौन से दिव्य रस का पान करना चाहता है?"

– *गीतांजलि*

कभी-कभी रवीन्द्र ने आनन्द के स्थान पर प्रेम की भावना द्वारा इस रहस्य की व्याख्या करने का प्रयास किया है। उन्होंने प्रेम के ही द्वारा ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण दोनों रूपों का समन्वय किया है।[2] उनकी मान्यता है कि प्रेम के सभी विरोध समन्वित हो जाते हैं। तात्विक चिंतन की दृष्टि से अद्वैतवाद में विरोध है, किन्तु प्रेम में अद्वैत एवं द्वैत का विरोध समाप्त हो जाता है।[3] प्रेम में एकत्व की अनुभूति के लिए द्वैत होना आवश्यक है।[4] कभी-कभी तो प्रेम को इतने अधिक व्यापक अर्थ में रवीन्द्र ने प्रयोग किया है, कि संसार के समस्त अन्तर्विरोधों का इसमें समाधान हुआ उन्हें दिखाई देता है। वे कहते हैं कि परमात्मा एवं आत्मा में प्रेम की सम्बन्धानुभूति ही वास्तविक धार्मिक चेतना है। प्रेम के एक सिरे पर संयोग है तो दूसरे पर वियोग। प्रेम असीमित एवं सीमित का, शक्ति एवं सौन्दर्य का, रूप एवं रस का समन्वय है।[5]

सृजन विरोधी शक्तियों के आकर्षण-विकर्षण का समन्वय है। जब दोनों में समन्वय होता है – उनकी सारी आग, सारी लड़ाई पक्षियों के गीतों में फूलों के मृदुहास में बदल जाती है। मानवता युगों से आध्यात्मिक जीवन के इसी महान् सृजन में व्यस्त है। इसका उत्कृष्ट बौद्धिक विलास, अनुशासन, साहित्य, कला, सारी शिक्षा और इसके शीर्षस्थ आचार्यों का आत्म-त्याग इसी के लिए है।[6]

---

1. साधना : पृ. 79.
2. वही, पृ. 114.
3. मार्डन इंडियन थाट (उद्धृत) : पृ. 35.
4. साधना : पृ. 114.
5. मार्डन इंडियन थाट (उद्धृत) : पृ. 133.
6. क्रिएटिव यूनिटी : पृ. 65.

सभी प्राणियों में मनुष्य ही ऐसा प्राणी है, जो भविष्य में जीता है, कल्पनालोक में विचरण करता है, संगीत एवं अन्य कलाओं का सृजन करता है, अनन्त से अपना तादात्म्य स्थापित करता है – यही उसकी मानवता है – यही उसका धर्म है। रवीन्द्र के अनुसार सारी सभ्यता कला का सृजन है। उसी में वह अपनी आध्यात्मिक पूर्णता का आभास पाता है।[1] मनुष्य का यथार्थ पशुत्व है, आदर्श देवत्व है। उसे अपने देवत्व का, अनन्तत्व का आभास संगीत में मिलता है न कि कोलाहल में।[2]

धर्म मनुष्य का वह स्वाभाविक गुण है जिसके बिना वह अपना तादात्म्य अनंत से नहीं कर सकता, किन्तु यह स्वाभाविक गुण मनौवैज्ञानिक गुण नहीं है। मनोवैज्ञानिक गुणों से उसके पशुत्व का निर्माण होता है, किन्तु इससे (धर्म से) वह पशुत्व को विजित कर अपने में संपूर्ण मानवता का, अनन्त का, साक्षात्कार करता है। अपने शास्त्रों में यही कहा गया है : 'यतोऽभ्युदयनिः श्रेयस् सिद्धिः सः धर्मः। मनुष्य के धर्म से प्रेय और श्रेय दोनों सिद्ध होते हैं। रवीन्द्र ने इसी संदर्भ में चीनी संत लाओ-जे को उद्धृत किया है कि 'वह मर सकता है किन्तु विनष्ट नहीं होगा, क्योंकि उसे नित्य जीवन की प्राप्ति हो जाती है।"[3] अर्थात् धर्म से उसका पशुत्व समाप्त होता है और वह देवत्व को प्राप्त करता है। सारे उत्कृष्ट मूल्य जो ज्ञान, क्रिया, चरित्र एवं सृजनात्मक कृतियों में व्यक्त होते हैं, वे धर्म के ही परिचायक हैं यही उपनिषद् का सिंहनाद है। 'तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा'[4] – उस पुरुष को जानों, जिससे तू मृत्यु को न प्राप्त होओ। इस प्रकार रवीन्द्र का कहना है कि सभ्यता से मनुष्य के धर्म का परिचय होता है, न कि उसकी चालाकी, शक्ति एवं धन का।[5] इस संदर्भ में रवीन्द्र ने अपना एक छोटा सा संस्मरण दिया है कि उन्हें एकबार 100 मील दूर से कलकत्ता, पहुँचना था। कार की यंत्र रचना की किसी गड़बड़ी के कारण प्रत्येक आधे घंटे में उन्हें पानी की आवश्यकता पड़ती थीं। प्रथम गाँव में जहाँ उन्हें रुकना पड़ा, किसी ग्रामीण ने पानी की व्यवस्था की, यद्यपि उसे कठिनाई उठानी पड़ी। किन्तु पुरस्कार दिये जाने पर उस गरीब ने मना कर दिया। यह कहानी लगभग अन्य 15 गाँवों में भी इसी

1. दि रेलीजन आफ मैन : पृ. 79.
2. वही, पृ. 88.
3. दि रेलीजन आफ मैन : पृ. 90.
4. वही, पृ. 90.
5. वही, पृ. 92.

प्रकार घटी। गर्म देश में जहाँ पानी की कमी होती है, यात्री को अधिक जल की आवश्यकता पड़ती है, ग्रामीण तृषित यात्रियों को पानी पिलाना, पौसाला देना, अपना कर्तव्य समझता है। 'अतिथि देवो भव' के आदर्श का पूर्ण पालन होता है। अभी भी काशी में क्षेत्र भोज की व्यवस्था है। पता नहीं देश के कितने उदीयमान विद्यार्थी यहाँ भोजन करके आगे बढ़ते हैं। आवश्यकता एवं माँग के नियम के आधार पर अच्छा व्यापार किया जा सकता है, किन्तु वह आदर्श, जिसे वे अपना धर्म समझते हैं, वह उनके जीवन में समाहित हो जाता है।[1] रवीन्द्र का कहना है कि सरलता-शील की प्राप्ति शताब्दियों की संस्कृति के फलस्वरूप संभव होती है। अनुकरण से कोई शीलवान नहीं बन जाता। किसी पहिये को घुमाकर एक साथ हजारों सुइयों में छेद करना कुछ वर्षों में सीखा जा सकता है, किन्तु शत्रु अथवा मित्र सबका सविनय आतिथ्य सत्कार करने में पीढ़ी-दर-पीढ़ी के प्रशिक्षण की आवश्यकता पड़ती है। शालीनता का कोई पुरस्कार नहीं, कोई मूल्य नहीं। अतः जो अधिकार-सुख में उत्पन्न होते हैं, वे यह नहीं समझ पाते कि सदाचार की सरलता ही सभ्यता का सर्वोत्कृष्ट फल है।[2] रवीन्द्र ने सारी मानवीय संस्कृति का, मनुष्य के सारे उत्कृष्ट मूल्यों की उदात्तता पर इस प्रकार वही लिख सकता है जो इसे व्यवहारतः जी चुका हो। इसीलिए उन्होंने पूर्व एवं पश्चिम के कलाकारों को सावधान करते हुए कहा है, कि हमारा विश्वास ऐसे जीवन में दृढ़ होना चाहिए, जो सृजन करता है, न कि उस यंत्र में जो बनाता है और न ही शक्ति में जो अपने बल को छिपाकर सौंदर्य में विहँसती है। विज्ञान महान् है तब जब कि वह अभिनव सृजन करता है, न कि तब जब वह दोनों में पापपूर्ण दुरभिसंधि करता है।[3]

रवीन्द्र ने सत्य को मानवता से परिभाषित किया है। अपनी अन्यान्य कृतियों में विशेष कर 'दि रेलीजन आफ मैन' में सर्वाधिक बल इसी बात पर है।[4] वे कहते हैं : 'तुम्हारी परिभाषा नर नारायण है, यही सत्य है, तुममें असीम ससीम को खोजता है, पूर्णज्ञान प्रेम को। जब आत्मा परमात्मा एक होते हैं भक्ति से प्रेम भर जाता है।[5] उसी प्रकार रविदास कहते हैं कि हे नरहरि, तू मुझे देखता है और मैं तुझे। इस प्रकार हमारा प्रेम पारस्परिक है।[6] उसी

1. दि रेलीजन आफ मैन : पृ. 93.
2. वही, पृ. 93.
3. वही, पृ. 10.
4. वही, पृ. 11.
5. वही, पृ. 70.
6. वही, पृ. 70.

प्रकार चंडीदास का उद्घोष है कि मनुष्य सबसे बड़ा सत्य है। उससे ऊपर कोई सत्य नहीं।[1] यहाँ रवीन्द्र ने 'स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्' – स्वर्ग के देवगण भूलोक के मनुष्यों से ईर्ष्या करते हैं, अर्थात् देवत्व की पूर्णता के लिए मनुष्यता आवश्यक है। अनन्त आत्मप्रकाश के लिए सान्त की अनेकता में प्रकट होता हैं एव सान्त अपने आत्म-साक्षात्मर के लिए अनन्त की एकता तक पहुँचता है। सत्य का चक्र तभी पूरा हो पाता है।[2] रवीन्द्र ने एक अल्हड़ ग्रामीण के गीत में किस मानवीय गौरव की अभिव्यक्ति करायी है :

"ओ प्रियतम, तुमसे मेरी
प्रणय-कलह में मिलने की चाह है,
किन्तु यह चाह केवल मेरी ही नहीं है,
किन्तु मेरी भी है
क्योंकि तेरे होठों पर मुस्कान तभी
आयेगी, तुम्हारी वंशी से स्वर तभी
फूटेगा जब तुम मेरे प्रणय के आनन्द में होओगे।"[3]

इसी प्रकार पुनः उन्होंने कहा है : 'मनुष्य की सभ्यता उसके अपने अनन्तत्व की देवत्व की अनुभूति में है, और यह देवत्व ही उसमें सृजनकर्ता है।[4] यही नहीं, रवीन्द्र के अनुसार वैष्णव भक्तों ने बार-बार कहा है कि परमात्मा को प्रेम की पूर्णता के लिए आत्मा पर आधारित होना होता है। प्रेम में स्वतंत्रता आवश्यक है, अतः परमात्मा को आत्मा से एकाकार होने के लिए जब तक वह नहीं चाहता प्रतीक्षा ही नहीं करनी पड़ती बल्कि बाधाओं के आ जाने पर कष्ट भी उठाना पड़ता है।[5] रवीन्द्र स्पष्ट शब्दों में कहते हैं : 'मेरा धर्म मानव है, जिसमें अनन्त मानवता से पारिभाषित होता है। वह मेरे प्रेम एवं साथ के लिए मेरे पास आता है।[6] पुनः वे कहते हैं : 'सत्य मानवीय सत्य है, सर्वयुगीन है और इसके विरुद्ध कोई भी व्यष्टिपरक उन्मत्तता अधिक समय तक नहीं चल सकती।[7] इस उदात्त मानवतावाद पर मानवीकरण के लाँछन की

1. दि रेलीजन आफ मैन : पृ. 71.
2. क्रिएटिव यूनिटी : पृ. 80.
3. वही, पृ. 81.
4. परसनैलिटी : पृ. 31.
5. वही, पृ. 102.
6. वही, पृ. 60.
7. रि रेलीजन आफ मैन : पृ. 84; माडर्न इंडियन थाट (उद्धृत), प1. 147.

चिंता रवीन्द्र को नहीं है।, क्योंकि सभी धर्मों में कुछ न कुछ अंश मानवीकरण का होता ही है।[1] 'मेरा ईश्वर भी तो मानव है। यदि यह मानवीकरण से दूषित है तो मनुष्य को भी मनुष्य होने में दोष होना चाहिए। प्रेमी को व्यक्तिरूप में अपना प्रेयसी से प्यार करने में दोष करना चाहिए।[2] इसीलिए भारतीय मनीषियों की यह उद्घोष है कि इस सत्य को न जानना सर्वनाश है :

'इह चेत् अवेदित् अथ सत्यमस्ति,
न चेत् इह अवेचित् महती विनष्टिः।।'

(ग)

ईश्वर एवं जीवन की स्वीकृति में ही जगत् की भी स्वीकृति निहित है। रवीन्द्र ने 'साधना' के आरम्भ में ही कहा है कि हमारी भारतीय सभ्यता की उत्पत्ति वनों में हुई, अतः इसके कारण ही इसका अपना विशिष्ट स्वरूप है। प्रकृति की स्वच्छंद गोदी में विकसित, पल्लवित एवं पुष्पित होने के कारण ही इसका उसके भिन्न-भिन्न रूपों में आंतरिक एवं शाश्वत संबंध रहा है। हमारे वेद की ऋचाओं के पाठ की प्रथम अनुगूँज प्रकृति की कंदराओं एवं वनों से निस्सृत हुई। औपनिषद् दार्शनिक सत्यों का साक्षात्कार प्रकृति की नीरव गुफाओं एवं वनदेवी के शांत कुंजों में हुआ। सारा रामायण एवं महाभारत वन्य जीवन के विभिन्न जीवन्त दृश्यों से परिपूर्ण है। कालिदास की वनलता शकुंतला के 'मधुरमासां दर्शनम्' पर दुष्यन्त विमुग्ध हैं। भवभूति की सीता की सारी करुणा वनदेवता की लताओं एवं पुष्पों में छायी हुई है। जयदेव के गीतगोविन्दम् के प्रथम श्लोक 'भीरु कृष्ण को काले बादलों के घिरने से एवं तमाल द्रुमों के कारण वन में हुए अंधेरे से राधा द्वारा घर पहुँचाये जाने की सलाह है। वनों में गुरुकुलों की उदात्त परंपरा से प्रभावित स्वयं रवीन्द्र ने नागरिक जीवन के कोलाहल से दूर प्रकृति की मनोहारी नीरवता में आमलक एवं साल के कुंजों में शान्तिनिकेतन आश्रम की संस्थापना की।[3] रवीन्द्र के अनुसार जगत् की वास्तविक सत्ता है। यह उतना ही सत्य है जितना जीव। उनका कहना है कि संसार केवल उसे असत् दिखाई पड़ता है, जो इसके प्रति बौद्धिक दृष्टिकोण अपनाता है। हमारे लिए तो इसकी वास्तविक सत्ता है क्योंकि इसमें हमें आनन्द मिलता है।[4] उन्होंने माया वाद पर व्यंग्य करते हुए कहा है कि संसार को

1. दि रेलीजन आफ मैन : पृ. 72.
2. साधना : पृ. 4.
3. परसनैलिटी : पृ. 131.
4. माडर्न इंडियन थाट (उद्धृत) पृ. 133.

माया कहना उस व्यक्ति का कार्य है जो कमरे के सभी दरवाजों एवं खिड़कियों को बंद कर, अन्धकार में बैठा हुआ कहता है कि जगत् मिथ्या है।[1] रवीन्द्र किसी भी शर्त पर जगत् को असत् मानने के लिए तैयार नहीं है। इन्होंने मायां शब्द के साथ वैष्णव दार्शनिकों की भाँति बौद्धिक खेल न खेलकर उसके आश्रय आदि का प्रश्न बिना उठाये उसे सत्यम् का विरोधी सिद्धान्त बताया है। इसके अनुसार ईश्वर एवं जगत् दोनों में अन्योन्याश्रय का सम्बन्ध होना चाहिए। यही सत्य है। स्पष्ट ईश्वर जगत् अव्यवस्थित रहेगा।[2] इस प्रकार माया वह मिथ्या धारणा है, जो जगत् को ईश्वर से सर्वदा निरपेक्ष स्वतंत्र सत्ता मानती है। माया को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं कि माया सत्य की साम्बधिकता का विरोधी सिद्धांत है।[3] यह माया की उनकी अपनी स्वतंत्र व्याख्या है।

इन्होंने माया का चित्रण काव्यात्मक एवं सौंदर्यशास्त्रीय तूलिका से किया है। प्रकृति में क्षण-क्षण में जो परिवर्तन एवं नवीनता से उत्पन्न रमणीयता है, वह माया के कारण है। यहाँ पर पाठक का ध्यान संस्कृत काव्य के उस सौंदर्यबोध की ओर अनायास ही आकृष्ट हो जाता है जहाँ पर रमणीयता का आदर्श क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति बताया गया है। उन्होंने संसार को माया की कृति माना है, ईश्वर को एक महान् कलाकार – मायावी।[4] उनकी शिकायत है कि मायावाद से लोगों को चिढ़ क्यों होती है? क्या सत्य सर्वदा निरभ्र ही उद्भासित होता है? जिस प्रकार आग ईंधन को सुलगाकर प्रज्ज्वलित होती है, उसी प्रकार माया के दूर होने पर सत्य की प्राप्ति संभव है। उनका कहना है कि माया की लौ माया के ईंधन से प्रज्ज्वलित होती है, किन्तु माया एवं सत्य दोनों ठीक उसी प्रकार एक नहीं, जिस प्रकार ईंधन एवं लौ।[5]

रवीन्द्र सत्ता के तारतम्य सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। ईश्वर एवं जीव इनके अनुसार उच्च एवं निम्नस्तरीय सत्ताएँ हैं। जगत् ईश्वर का आभास है, किन्तु आभास सर्वथा मिथ्या नहीं होता। इन्होंने इस बात से स्पष्ट कर दिया है कि शांकर वेदांत भी जगत् को उस अर्थ में मिथ्या नहीं मानता जिस अर्थ में बन्ध्यापुत्र मिथ्या है। अद्वैत वेदांत जगत की व्यावहारिक सत्ता मानता है।[6] रवीन्द्र

1. माडर्न इंडियन थाट, (उद्धृत) पृ. 135.
2. वही, (उद्धृत) पृ. 136.
3. साधना : पृ. 85.
4. कन्टेम्पोररी इंडियन फिलासफी : पृ. 38.
5. माडर्न इंडियन थाट, पृ. 137.
6. वी.एस. नरवणे (उद्धृत), रवीन्द्रनाथ टैगोर, पृ. 104.

ने उपनिषद् को उद्धृत करते हुए इस बात को सुस्पष्ट किया है कि उपनिषद्, जो अद्वैत वेदांत की आधार भूमि है, वह जगत् की सत्ता का निषेध नहीं करता। जो मात्र संसार में अविद्या में ग्रस्त हैं, वे तो अंधकार में रहते ही हैं, किन्तु वे जो अपने को विद्या का, ब्रह्म का अधिकारी माने बैठे हैं, वे अधिक अन्धकार में हैं।

"अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः।"[1]

इस प्रकार हमने देखा कि रवीन्द्र जीव एवं जगत् तीनों की सत्ता में विश्वास करते हैं। अब हम इन तीनों के पारस्परिक संबंध पर विचार करेंगे।

जहाँ तक जीव एवं जगत् का प्रश्न है, रवीन्द्र इन दोनों में एक ही सत्ता का आभास पाते हैं। इस प्रकार ईश्वर चिद्चित दोनों में व्याप्त है : ऐसे स्थलों पर रवीन्द्र का सर्वात्मवादी 'सर्वखलुमिदं ब्रह्म' दृष्टिकोण अधिक स्पष्ट हो गया है। उनके अनुसार जीव एवं जगत् में भेद है, किन्तु विरोध नहीं है। जीव एवं जगत् में विरोध पाना ठीक उसी प्रकार है, जिस प्रकार कली एवं सुविकसित पुष्प को दो श्रेणी में विभक्त कर, पुनः उनके सौंदर्य की व्याख्या दो विरोधी सिद्धांतों द्वारा करना।[2]

निःसंदेह जगत् तथा प्रकृति के प्रति पाश्चात्य धारणा विरोध की है। अतः पश्चिम ने प्रकृति पर विजय पाने में सर्वदा अहमियत की अनुभूति की है, मानो हम एक ऐसे संसार में रह रहे हैं, जिसकी सभी चीजें, सारी व्यवस्था, हमारे प्रतिकूल है। इस प्रकार की धारणा का कारण रवीन्द्र ने नगर की चहारदीवारी में रहने की प्रवृत्ति एवं मन के प्रशिक्षित होने को बताया है।[3] इसी संदर्भ में इन्होंने कालिदास एवं शेक्सपीयर की तुलना की है एवं उनकी प्रकृति संबंधी धारणा का बड़ा ही विशद चित्रण किया है। शेक्सपीयर के उत्कृष्ट नाटकों में प्रकृति की उपेक्षा तो नहीं की गयी है, किन्तु उसका चित्रण इस रूप में हुआ है जैसे वह एक प्रतिकूल शक्ति हो, जिस पर सर्वदा विजय पाना है। उसके मैकबेथ, किंगलीअर, हेमलेट एवं ओथेलो में प्रकृति का या तो वीभत्स रूप चित्रित है अथवा प्रकारान्तर से ही वह क्रूरकर्मा सिद्ध हुई है।[4] यहाँ तक कि मिल्टन के 'पैराडाइज लास्ट'. में निःसंदेह उद्यान का सुरम्य

1. माडर्न इंडियन थाट, पृ. 135.
2. साधना : पृ. 7.
3. वही, पृ. 94.
4. क्रिएटिव् यूनिट : पृ. 30.

चित्रण किया गया है, किन्तु उसमें भी प्रकृति एवं मनुष्य में आत्मीयता जैसी कोई चीज नहीं दिखती।[1] इधर कालिदास सर्वसम्मति से समस्त संस्कृत वाङ्मय में उपमा में बेजोड़ कहे गये हैं - 'उपमा कालिदासस्य'। पार्वती के सौंदर्य की समता पल्लवित लता से देते हैं, तो शकुन्तला के रक्ताभ अधर की समता कोमल किसलय से। 'मेघदूत' का यक्ष अपनी प्रेयसी के अंगों की समता प्रियंगुलता में पाता है तो कभी नदी की लोल लहरियों में उसकी भौंहों की छवि निहारता है। कालिदास की कृतियों में एक से एक उदात्त, सुमधुर एवं हृदयग्राही चित्र मिलते हैं। लगता है कि प्रकृति मूर्तिमती होकर बोल उठी है। वह मनुष्य के सारे हावभाव, सुख-दुख की बराबर साझीदार है। इस प्रकार मनुष्य को प्रकृति में अपनी आत्मा की झाँकी मिलती है।[2] रवीन्द्र के अनुसार परवर्ती अंग्रेजी के कवियों में – वर्ड्सवर्थ, शेली आदि में प्रकृति का जो सुमनोहर चित्र प्रस्तुत हुआ है, वह भारतीय प्रकृति-दर्शन से प्रभावित होने के कारण हुआ है, जो जर्मनी के माध्यम से समस्त पश्चिमी जगत् में छा गया।[3] पश्चिम के इस मूल का कारण रवीन्द्र के अनुसार मनुष्य एवं प्रकृति को स्वतः पूर्ण एवं निरपेक्ष सिद्धान्त मानने के कारण है।

यह सत्य है कि रवीन्द्र ने कभी भी जीव को जड़ के स्तर पर नहीं गिराया है, सृष्टि क्रम में जीव का स्तर जड़ के स्तर से ऊपर है, किन्तु दोनों एक ही शक्ति के आभास हैं, अतः दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। जीव एवं जगत् बिना एक-दूसरे के अधूरे हैं। जगत् की उपयोगिता जीव के लिए है। जीव के अभाव में जगत् के कोई माने नहीं है। ठीक उसी प्रकार जगत् के अभाव में जीव की अभिव्यक्ति ही असम्भव है। रवीन्द्र के अनुसार पृथ्वी और आकाश मनुष्य के मस्तिष्क के रेशे से बुने हुए हैं।[4] अर्थात् जगत् को जीव (मनुष्य) ही मूल्य प्रदान करता है। यहाँ पर पश्चिमी महान् विचारक कांट के इस कथन की याद आये बिना नहीं रहती जिसमें उन्होंने कहा कि सारी प्रकृति मानव मन द्वारा संरचित है। इस प्रकार जीव एवं जगत् एक दूसरे के पूरक ही नहीं है, बल्कि दोनों में एक ही शक्ति का संचार है। हम अपनी गायत्री की उपासना में इसी सत्य का साक्षात्कार करना चाहते हैं। वही आध्यात्मिक शक्ति 'भूः भुवः स्वः' आदि लोकों की रचना करती है, वही हममें चित्शक्ति को तेज देती है। इस प्रकार रवीन्द्र के लिए प्रकृति न तो मात्र मिट्टी का लोंदा है और

1. क्रिएटिव यूनिटी : पृ. 61.
2. वही, पृ. 62.
3. वही, पृ. 61
4. परसनैलिटी : पृ. 74.

न अणुओं एवं परमाणुओं का समूह।[1] यहाँ पर हेगेल का प्रभाव रवीन्द्र पर स्पष्ट है किन्तु जहाँ हेगेल का जीव-जगत का सामंजस्य बौद्धिक है, वहीं पर रवीन्द्र ने दोनों का सामंजस्य एक शक्ति को आधर मानकार किया है, जिसकी उन्होंने भिन्न-भिन्न संज्ञा दी है, कभी इसे जीवन-शक्ति कहते हैं, तो कभी जीवन-धारा, तो फिर कभी प्राणधारा कहते हैं, तो पुनः प्रकाशधारा :

"जो जीवनधारा दिन-रात मेरी नसों में प्रवाहित हो रही है,
वही विश्व में उसी गति व लय-तान के साथ,
चल रही है।

❑ ❑ ❑

प्रकाश, मेरे प्रकाश, विश्वव्यापी प्रकाश, नयनाभिराम प्रकाश,
हृदयमधुर प्रकाश।
यह प्रकाश ही मेरे जीवन के केन्द्र-बिन्दु पर नृत्य करता है,
यह प्रकाश ही मेरे प्रेम के तारों का झनझनाता है,
तब आकाश के द्वार खुल जाते हैं पवन वेग से दौड़ने
लगता है और पृथ्वी का हास्य विश्व के कण-कण में
व्याप्त हो जाती है।"

— *गीतांजलि*

रवीन्द्र की यह जीवन शक्ति वर्गसां की जीवन शक्ति से भी काफी मिलती जुलती है। इसकी अनुभूति उन्हें सर्वत्र मिलती है। उनका कहना है कि मुझमें एक धारा है, इसकी अनुभूति मैं तथा इसके द्वारा अपने चारों ओर के संसार से तादात्म्य की अनुभूति करता हूँ।[2] यह शक्ति घास की पत्ती-पत्ती में, वृक्षों की शाखा-शाखा में, प्रवाहित होती रहती है। मेरे चारों ओर शस्यश्यामला इसी से हरिताभ है। ताड़ के प्रत्येक सरस रेशे में इसी का प्रवाह उद्‌भासित होता है।[3] नटराज के एक पैर से बाह्य जगत् (प्रकृति) स्पन्दित है तो दूसरे से अभ्यन्तर जगत् (जीव)। इसी संदर्भ में रवीन्द्र के जीवन- देवता की सार्थकता है।

रवीन्द्र के जीवन-देवता को लेकर बहुत सी विप्रतिपत्तियाँ लोगों ने उठायी हैं। इसका तादात्म्य वे ईश्वर से कराना चाहते हैं। सचमुच इसका प्रयोग

---

1. परसनैलिटी : पृ. 31.
2. माडर्न इंडियन थाट, (उद्‌धृत) : पृ. 141.
3. वही, पृ. 141.

उन्होंने अपनी कविताओं में ही किया है। दार्शनिक ग्रन्थों में उन्होंने ब्रह्म, ईश्वर, परम-पुरुष आदि शब्दों को प्रयोग में लाया है, किन्तु यदि उनकी कविताओं एवं दार्शनिक निबंधों का विश्लेषण किया जाय तो निःसंदेह जीवन-देवता – ईश्वर का काव्यात्मक पर्याय है। यह बात साधना से प्रारंभ में ही रवीन्द्र के गायत्री-मंत्र के विश्लेषण से सिद्ध होती है। जीवों एवं समस्त प्रवृत्ति में एक ही शक्ति का प्रवाह देखकर, रवीन्द्र का कवि-मन झूम जाता है और जीवन शक्ति में देवता की कल्पना कर इसे जीवन-देवता शब्द से सम्बन्धित करते हैं। इस प्रकार रवीन्द्र के प्रकृति दर्शन में औपनिषद् सर्वात्मवाद की अनुगूँज पाठक को बिना आत्मविभोर किये नहीं रहती।[1]

(तीन)

रवीन्द्र का आचार-दर्शन उनके तत्त्व-दर्शन से प्रभावित है। सामंजस्य, समन्वय पर बार-बार बल दिया गया है। नैतिक उत्कर्ष व्यक्ति के पूर्ण सामंजस्य के फलस्वरूप पूर्णता के साक्षात्कार में है। रवीन्द्र के अनुसार प्रशान्तत्व एवं आत्मकैत्व ही जीवन के परममूल्य हैं। जिनकी प्राप्ति व्यक्तित्व के पूर्ण समन्वित होने पर ही संभव है। रवीन्द्र भी इस बात से सहमत हैं कि मात्र मनुष्य ही नैतिक प्राणी है, उसके ही कृत्यों को हम नैतिक-अनैतिक शुभ-अशुभ शब्दों से मूल्यांकित करते हैं न कि पशु के कृत्यों को।[2] उनके अनुसार यथार्थ एवं आदर्श के द्वंद्व की चेतना ही नैतिकता है। पशु में यथार्थ एवं आदर्श का द्वंद्व नहीं होता। उसमें यथार्थ एवं यथार्थ में ही – क्या है? क्या वह चाहता है? द्वंद्व होता है जबकि मनुष्य में यथार्थ एवं आदर्श में – उसकी इच्छा क्या है? उसे क्या इच्छा करनी चाहिए? द्वंद्व होता है।[3] यह संघर्ष प्राकृतिक संसार एवं आध्यात्मिक संसार का है। इसीलिए मनुष्य के शारीरिक कष्ट को 'पीड़ा' की संज्ञा दी गई है किन्तु जिससे उसकी आत्मा को कष्ट होता है, उसे 'पाप' कहा जाता है।[4] अन्य प्राणियों के लिए प्रकृति ही परम है। वे उत्पन्न होते हैं, वंश-वृद्धि करते हैं, अंत में मर जाते हैं। इतने ही में वे संतुष्ट रहते हैं। उन्हें अपनी वांसनाओं पर लज्जा नहीं आती, अपनी क्रूरता, लोभ आदि का ज्ञान नहीं होता, किन्तु मानवीय जीवन इससे परे है, वह उन वासनाओं को घृणित समझता है, जो उसकी अनन्तता को स्वीकार नहीं करती।[5]

1. दार्शनिक : त्रैमासिक : वर्ष 1969.
2. साधना, पृ. 56.
3. परसनैलिटी, पृ. 80.
4. वही, पृ. 86.
5. परसनैलिटी, पृ. 87-88.

धर्म तथा नैतिकता को, परिभाषित करते हुए रवीन्द्र कहते हैं कि शाश्वत् मानव के, स्वाभाविक गुणों का आचरण-प्रकाशन एवं उनमें आस्था रखना ही धर्म एवं नैतिकता है। इस प्रकार पशुत्व को विजितकर मनुष्यत्व का उभरना ही नैतिकता है।[1] नैतिकता प्रेय श्रेय दोनों की साधक है। अपने शास्त्र को उद्धृत करते हुए वह कहते हैं 'अधर्मणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति, तत, सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति' अधर्म से, अनैतिकता से मनुष्य सुखी होता है, फिर अभीष्ट की प्राप्ति करता है, और फिर शत्रुओं पर विजय पाता है, लेकिन अंत में समूल विनष्ट हो जाता है।[2] मानवता समस्त मानव-जाति का धर्म है। इसीलिए रवीन्द्र ने कहा है कि सभ्यता से मनुष्य के नैतिक मूल्यों का प्रकाशन होता है न कि उसकी चालाकी, शक्ति एवं धन की।

रवीन्द्र के अनुसार अशुभ का सम्बन्ध संसार की अपूर्णता से है। जहाँ भी अपूर्णता है, वहाँ अशुभ है। किन्तु क्या अपूर्णता अथवा अशुभ परम सत्य है? नदी की सीमाएँ – किनारे होते हैं, किन्तु क्या नदी मात्र किनारा है? क्या इसकी सीमाएँ ही नदी के जल को आगे बढ़ने की गति नहीं देती? संसार की धारा की सीमाएँ होती हैं अन्यथा इसकी सत्ता ही न हो, किन्तु इसका उद्देश्य इसकी सीमाओं में नहीं है, जो इसे बाँधती है, बल्कि इसकी गति में है, जो पूर्णता की ओर उन्मुख है। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि संसार में दुःख एवं कठिनाइयाँ हैं। बल्कि आश्चर्य यह है कि संसार में एक नियम एवं व्यवस्था है, सौंदर्य एवं आनंद है, शुभ एवं प्रेम है। सबसे बड़ा आश्चर्य यह है कि मनुष्य में देवत्व है। अपने जीवन की गहराई में उसने इस बात की अनुभूति की है कि जो अपूर्ण-सा आभासित होता है, वह पूर्णता का ही आभास है। ठीक वैसे ही जैसे एक संगीतज्ञ ध्वनि की मात्र तारतम्यता में संगीत की पूर्णता का रसास्वादन करता है। उनके अनुसार वस्तुतः अपूर्णता पूर्णता का निषेध नहीं है, सान्तता अनन्तता का आत्यन्तिक विरोधी नहीं है। अपूर्णता एवं सान्तता सचमुच पूर्णता है, जो अंशों में हुई है, अनंत जो कि सीमाओं में व्यक्त हुआ है।[3]

पुनः रवीन्द्र कहते हैं कि यदि हम मृत्यु की यथार्थता पर प्रकाश डालें तो सारा संसार एक शमशान घर-सा लगेगा। किन्तु इस जीवन के संसार में मृत्यु का कम से कम प्रभाव है, इसलिए नहीं कि यह व्यक्त नहीं है, बल्कि इसलिए कि यह जीवन का निषेधात्मक पहलू है, ठीक वैसे ही जैसे हम अपनी

1. दि रेलीजन आफ मैन।
2. वही, पृ. 10, साधना, पृ. 90-91.
3. साधना, पृ. 47-48.

पुतलियों को प्रत्येक क्षण बंद करते रहते हैं किन्तु महत्त्व इस बात का है कि हम आँखों को कितना खोले रहते हैं। जीवन की पूर्णता में मृत्यु कभी भी गंभीरतापूर्वक नहीं ली जाती। मृत्यु के मुँह में भी जीवन का ह्रास, नृत्य, क्रीड़ा एवं निर्माण आदि चलता रहता है। जब हम मृत्यु की एक घटना को पृथक कर लेते हैं तो इसकी शून्यता देखकर भयभीत हो जाते हैं। हमें उस समय जीवन की पूर्णता नहीं दिखाई पड़ती है मृत्यु जिसका एक पहलू है। जैसे कोई वस्त्र खंड अणुवीक्षण यंत्र से जाल-सा दिखाई पड़ने के कारण भयावह हो जाता है, वैसे मृत्यु भी डरावनी अवश्य लगती है, किन्तु सत्य यह है कि मृत्यु परम सत्य नहीं है। मृत्यु डारावनी लगती है जैसे आकाश नीला दिखाई पड़ता है, किन्तु यह सत्ता को डरावनी नहीं बनाती जैसे आकाश किसी पक्षी के पंख को नीला नहीं बना देता।[1] इस प्रकार पूर्णता की क्षमता यथार्थ आत्मविरोधों से भारी होती है। रवीन्द्र ने इस बात को स्वीकारा है कि निःसंदेह ऐसे भी लोग हुए हैं, जिन्होंने सत्ता को पूर्ण एवं अशुभ बताया है किन्तु मनुष्य इसे प्रायः गंभीरतापूर्वक नहीं लेता है। इनकी निराशावादिता मात्र एक मुद्रा है, चाहे वह बौद्धिक हो अथवा भावनात्मक। किन्तु जीवन अपने में आशापूर्ण है। यह हमेशा जीना चाहता है। हमारी बुद्धि का यह कार्य है कि वह सत् का साक्षात्कार असत् के माध्यम से करे, इस प्रकार हमारा ज्ञान अज्ञान के शाश्वत् विनाश के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। हमारे संकल्प अथवा चरित्र को अशुभ से विजित कर पूर्णता प्राप्त करना है। अंत में उन्होंने कहा है कि हमने शुभ को जाना है, हमारा इससे लगाव है, और जिन मनुष्यों ने अपने जीवन में शुभम् को दर्शाया है, उनके प्रति हमारी अप्रतिम श्रद्धा है।[2] इस प्रकार रवीन्द्र की जीवन के प्रति अत्यन्त स्वस्थ धारणा है। वह जबरदस्त आशावादी हैं।

'अशुभ' बता लेने के बाद अब रवीन्द्र शुभ अथवा नैतिकता पर प्रकाश डालते हैं। जब मनुष्य अपने सही व्यक्तित्व के प्रति विस्तृत दृष्टिकोण अपनाता है, जब उसे इस बात की अनुभूति होती है कि वह अपने वर्तमान से बहुत अधिक है तो उसे अपनी नैतिकता का बोध होता है। नैतिक बोध हो जाने पर जीवन का परिप्रेक्ष्य बदल जाता है, व्यक्ति का संकल्प उसकी इच्छाओं का स्थान ले लेता है, तब उसके संकुचित व्यक्तित्व एवं विस्तृत व्यक्तित्व में, उसकी इच्छाओं एवं संकल्प में संघर्ष शुरू हो जाता है। इस अवस्था में प्रेय एवं श्रेय का भेद स्पष्ट हो जाता है। शुभ विस्तृत व्यक्तित्व के लिए वांछनीय है। मनुष्य में जो देवत्व है, उसके कारण यह अपने वर्तमान की अपेक्षा अपने

1. साधना : पृ. 50.
2. वही, पृ. 53.

भावी जीवन का अधिक ध्यान रखता है। अतः वह अनुभूत भविष्य के लिए वर्तमान इच्छाओं की आहुति करने के लिए तैयार रहता है।[1] इसीलिए वह महान् है, क्योंकि वह सत्य का साक्षात्कार करता है। मनुष्य अपने सार्वभौम पक्ष से असंपृक्त नहीं रह सकता और ज्यों ही उसे इसका ज्ञान होता है, वह महान् हो जाता है। रवीन्द्र बड़े दावे के साथ कहते हैं कि अति अशुभवृत्ति पूर्ण स्वार्थपरता भी अशुभ के संपादनार्थ सत्य की उपेक्षा कर शक्तिशाली नहीं हो सकती। इस प्रकार सत्य से सहायता की आकांक्षा के लिए स्वार्थपरता को भी कुछ सीमा तक अस्वार्थपरक होना होता है। डाकुओं के समूह को भी समूह में रहने के लिए नैतिक होना पड़ता है, वे सारे संसार में डाका डाल सकते हैं किन्तु परस्पर नहीं।[2] इस प्रकार नैतिकता का सर्वथा त्याग संभव नहीं है। प्रकारांतर से यहाँ रवीन्द्र ने मनोवैज्ञानिक सुखवाद का भरपूर खंडन किया है।

शुभ का जीवन सारी मानवता का जीवन है। शुभ का संबंध मानवता के आनंद से होता है। पूर्ण शुभ का जीवन अनंत का साक्षात्कार है। यही जीवन का सर्वाधिक गंभीर दृष्टिकोण है, जिसकी प्राप्ति जीवन की संपूर्णता के प्रति नैतिक दृष्टिकोण अपनाने से संभव हो जाती है। इसी नैतिक बल को अपनी चरम सीमा तक पहुँचाने के लिए बुद्ध का उपदेश हुआ है। ईसा के स्वर्गीय साम्राज्य का भी यही रहस्य है। नैतिक जीवन सार्वभौम जीवन है, लोक-कल्याण का जीवन है – यही गीता का कर्मयोग है, जिसके अनुसार व्यक्ति अनासक्त भाव से लोक-कल्याण हेतु कार्य करता हुआ अपना तादात्म्य अनंत से स्थापित करता है।[3]

रवीन्द्र के अनुसार भारतीय चिंतन में कहीं भी अतिवैराग्यवाद पर बल नहीं दिया गया है। यहाँ तक कि बौद्धधर्म में भी वैराग्यवाद की शिक्षा नहीं है, बल्कि प्रेम के विस्तार की शिक्षा है।[4] जहाँ तक आत्मत्याग के आदर्श की शिक्षा का प्रश्न है, वह बौद्ध धर्म एवं अन्य भारतीय धर्मों में ही नहीं, वह ईसाई धर्म में भी तो है। भारतीय संदर्भ में मुक्ति का वास्तविक अर्थ-अविद्या से मुक्ति है, क्योंकि अविद्या के फलस्वरूप ही हम अपने अहं केन्द्रित व्यक्तित्व को ही वास्तविक व्यक्तित्व समझ लेते हैं।[5]

रवीन्द्र का कहना है कि हमारे व्यक्तित्व में दो प्रकार की इच्छाएँ होती हैं,

---

1. साधना : पृ. 54.
2. वही, पृ. 55-56.
3. साधना, पृ. 58.
4. वही, पृ. 77.
5. वही, पृ. 72.

जिनमें साम्य होता है। एक प्रकार की इच्छाओं से हमारे भौतिक स्वभाव का निर्माण होता है। इसका बोध हमेशा होता रहता है, हम अपने खाने-पीने की तृप्ति चाहते हैं, शारीरिक सुख एवं सुविधा चाहते हैं। ये इच्छाएँ स्वकेन्द्रित होती हैं। किन्तु इच्छाओं का जो दूसरा प्रकार है, वह सचमुच पूर्ण भौतिक व्यक्तित्व की इच्छा है। जिसका बोध प्रायः हमें नहीं रहता। इस प्रकार की इच्छा शारीरिक संतुलन को बनाए रखने के लिए हमेशा सक्रिय रहती है। इसका सम्बन्ध तत्कालीन इच्छाओं से न होकर उनसे परे होता है। सचमुच यह शारीरिक संपूर्णता का सिद्धांत है, जो हमारे जीवन के भूत, भविष्य को जोड़ता है एवं हमारे अंगों में एकता बनाये रहता है। बुद्धिमान व्यक्ति ही इसे जानता है और अपनी अन्य शारीरिक इच्छाओं का साम्य इससे बनाए रहता है।[1] यहाँ पर समाज अंगी है, हम उसके अंग हैं। हम अपना ही सुख चाहते हैं। हम देना कम चाहते हैं, किन्तु लेना अधिक चाहते हैं। इसी में संघर्ष होता है। किन्तु हममें जो दूसरे प्रकार की इच्छा है, जिसे सामाजिक कल्याण की इच्छा कहा जा सकता है, वह वर्तमान एवं व्यक्ति से परे कार्य करती है। वह अनंत की ओर उन्मुख होती है। यहाँ रवीन्द्र पर अलेक्जेंडर के 'सामाजिक संतुलन सिद्धांत' का प्रभाव स्पष्ट है। हम अंग हैं। समाज अंगी है। शुभ सामाजिक संतुलन को बनाए रखने में है। रवीन्द्र पूर्णतावादी हैं। उनका कहना है कि बुद्धिमान् व्यक्ति अपनी उन इच्छाओं, जिनसे उनका अहं केन्द्रित व्यक्तित्व संतुष्ट होता है, एवं सामाजिक कल्याण की इच्छाओं में सामंजस्य स्थापित कर अपने सही व्यक्तित्व का साक्षात्कार करता है।[2]

रवीन्द्र का कहना है कि हमारे भौतिक स्वभाव की मुक्ति उसकी स्वस्थता की प्राप्ति में, सामाजिक व्यक्तित्व की प्राप्ति शुभ की प्राप्ति में एवं आत्मा की मुक्ति प्रेम की प्राप्ति में है। इस अंतिम को ही बुद्ध ने निवृत्ति-स्वार्थ या निवृत्ति बताया है। यह प्रेम का कार्य है – इससे अंधकार की प्राप्ति न होकर प्रकाश की प्राप्ति होती है। यही बोध है, वास्तविक उद्‌बोधन है। यह हममें प्रेम के प्रकाश से अनंत आनंद का प्रकाशन है।[3]

रवीन्द्र के नीति-दर्शन में शुभ, श्रेय, अनंत तथा स्वतंत्र्य एकार्थक हैं। इस प्रकार हमारे संकल्प की स्वतंत्रता आत्मा के बंधन-माया के निषेध की दिशा में न होकर असीमित, सत्य एवं प्रेम की दिशा में होती है।[4] हमारा यह व्यक्तित्व जो वैयक्तिक है, ससीम है, जो पृथकता को ही पूर्ण समझता है –

1. साधना : पृ. 82-83.
2. वही, पृ. 83.
3. वही, पृ. 83-84.
4. वही, पृ. 85.

माया है, किन्तु वह व्यक्तित्व जो अपने को सार्वभौम, अनंत अथवा परमात्मा का सार समझता है, सत्य है।[1]

आशावादिता की अपूर्व संगीत लहरी उनके नीतिशास्त्र में अनुगूँजित है। पुनर्जन्म का कितना काव्यात्मक चित्र इन्होंने प्रस्तुत किया है, प्रत्येक प्रातःकाल दिन नवीन विकसित फूलों में उसी संदेश की पुनरावृत्ति करता हुआ, उसी आश्वासन को नया रूप देता हुआ, पुनः उत्पन्न होता है – मृत्यु शाश्वत रूपेण मृतप्राय है। झंझावात की लहरें सतही हैं, शांति का सागर अथाह है।[2] हमारा जीवन उस नदी के समान है जो अपनी सीमाओं को अपने को बंद होने के लिए नहीं बल्कि फिर से प्रतिक्षण यह बोध करने के लिए धक्का देती है कि उसका अनन्त द्वार समुद्र की ओर है। यह उस कविता के समान है, जो अपने क्लिष्ट नियमन से वृत्तों पर बंद होने के लिए नहीं बल्कि प्रतिक्षण अपनी आन्तरिक स्वतंत्रता एवं सामंजस्य को प्रकाशित करने के लिए रुकती है।[3]

वे वैराग्य को, मुक्ति को, पलायनवाद कहते हैं। वे कर्मक्षेत्र के प्रबल समर्थक हैं।

"वैराग्य-साधन में ही मेरी मुक्ति नहीं है
अनुराग के हजारों बंधन में ही मुझे मुक्ति का आनन्द
अनुभव होता है।
मैं अपनी दुनिया के असंख्य दीपों को तेरी ज्वाला से
जला लूँगा, और तेरे मंदिर की यज्ञवेदी पर रख दूँगा।
नहीं मैं अपनी इन्द्रियों को संयम के सीखचों में
बंद नहीं करूँगा मेरे दर्शन, श्रवण और स्पर्श,
में तेरा आनन्द भरा होगा।"

– *गीतांजलि*

संसार से पलायन करने से ईश्वर प्राप्ति संभव नहीं है –

"पुजारी, भजन, पूजन, साधन, आराधना इन सबको
किनारे रख दे।
द्वार बंद करके देवालय के कोने में क्यों बैठा है?
अपने मन के अंधकार में छिपा बैठा, तू कौन सी पूजा में
मग्न है?

---

1. साधना : पृ. 85.
2. वही, पृ. 89.
3. वही, पृ. 90.

आँखें खोलकर जरा देख तो सही, तेरा देवता देवालय में नहीं है।
जहाँ, कठोर जमीन को नम करके किसान खेती कर रहा है,
जहाँ मजदूर पत्थर तोड़कर रास्ता तैयार कर रहे हैं,
तेरा देवता वहीं चला गया है।
वे धूप-बरसात में सदा एक समान तपते झुलसते हैं।
उनके दोनों हाथ मिट्टी में सने हैं,
उनके पास जाना है तो सुन्दर परिधान त्याग कर
मिट्टी भरे रास्तों से जा!
तेरा देवता देवालय में नहीं है, भजन, पूजन, साधन
को किनारे रख दें।"

– *गीतांजलि*

जहाँ पर रवीन्द्र ने अतिवैराग्यवाद का खंडन किया है, वहीं पर अतिकर्मवाद का भी। उन्होंने अपने-अनेक निबन्धों में 'कर्म करते हुए मरने के सिद्धांत' का जिसका पश्चिम हिमायती है, परीक्षण किया है। यदि भारत ने युक्ति पर बल दिया है, तो पश्चिम ने अतिकर्म पर। ये दोनों अतियाँ हैं। यहाँ भी वे 'मध्यमा प्रतिपद् के अनुयायी' हैं। कर्म एवं चिंतन–कर्मोन्मत्तता एवं ईश्वरोन्मत्तता के बीच का मार्ग, मध्यममार्ग है, जो साधना अथवा आत्म साक्षात्कार का मार्ग है, जिससे पूर्णता की प्राप्ति होती है।

मनुष्य को सबसे बड़ी धरोहर उसकी स्वतंत्रता है। इसी से वह अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ है। अन्य प्राणियों के लिए प्रकृति ही परम है, वे कभी भी अपने जीवन की सीमा से मुक्ति पाने के लिए उत्सुकता नहीं दिखाते। किन्तु मनुष्य के मनुष्यत्व का निखार बिना स्वातंत्र्य के संभव ही नहीं। वह स्वतंत्रता के लिए आतुर हो तड़पता रहता है। कभी-कभी तो वह इसके लिए इतना अधरी हो जाता है कि वह बरसात की बाढ़-सी, झंझावात-सी, दावाग्नि-सी, तड़ित्-सी स्वतंत्रता की अभिलाषा व्यक्त करता है। रवीन्द्र के लिए स्वतंत्रता एवं बन्धन सापेक्ष शब्द है। यहाँ पर भी वे सामंजस्य में विश्वास करते हैं। वे दोनों एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं। अपितु नैतिक व्यवस्था के दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। रवीन्द्र का कहना है कि जीवन की नदी के एक कगार पर स्वतंत्रता है तो दूसरे पर बन्धन जिस प्रकार एक संगीतज्ञ अपनी वीणा के तारों को बिल्कुल ढीला–स्वतंत्र नहीं छोड़ देता बल्कि कलात्मक आवश्यकता के अनुसार नियंत्रित रखता है, उसी प्रकार नैतिक पूर्णता के लिए स्वतंत्रता एवं बंधन दोनों आवश्यक अंग हैं। इस प्रकार स्वतंत्रता न तो पूर्ण स्वतंत्रता –

उच्छृंखलता है और न तो पूर्णनियंत्रण – मृत्यु है। स्वतंत्रता सचमुच साधना है। आत्म साक्षात्कार है।[1]

(चार)

रवीन्द्र के सामंजस्यवाद का पूर्ण निखार उनके सौंदर्यशास्त्र में हुआ है। वे कहते हैं कि हमारा ध्यान प्रीतिभोज आकृष्ट करता है न कि पाकशाला, संसार का आकार आकृष्ट करता है न कि उसका ढाँचा। ऋतुओं के नर्तन की रुनझुन है। तो धूप-छाँह, जल-पवन की आंखमिचौनी है और हैं बहुविध रंगों से रंजित पंखों वाला चंचल जीवन जो जन्म एवं मृत्यु के बीच दोलायमान है। इनका महत्त्व इनकी सत्तात्मक यथार्थता में नहीं है, बल्कि इनके सामंजस्य की भाषा में है जो हमारी ही आत्मा की मातृभाषा है, जिसके माध्यम से हम इनका बोध करते हैं।[2] सृजन पूर्णता के अनन्त आदर्श और उसके साक्षात्कार के शाश्वत् सातत्य का सतत् सामंजस्य है।[3] कला के क्षेत्र में जितना वैचारिक भेद है, शायद ही कहीं अन्यत्र उतना हो। कला के क्षेत्र में जितना वैचारिक भेद है, शायद ही कहीं अन्यत्र उतना हो। कला आत्मगत है अथवा वस्तुगत, तथ्यात्मक है कि भावनात्मक? इस प्रकार के अन्य अनेक प्रश्न है।

रवीन्द्र के अनुसार केवल मताग्रही धर्म में ही सभी प्रश्नों का निश्चित उत्तर होता है, सारे संदेह पूर्णरूप से दूर हो जाते हैं। किन्तु कविधर्म तरल होता है – पृथ्वी के ऊपरी परिवेश की भाँति जहाँ धूप-छाँह आँख मिचौनी खेलती है, और जहाँ की वायु बादलों से वैसे ही खेलती है, जैसे गड़ेरिया का बच्चा अपकनी भेड़ों के समूह में नरकुल बजाता है। कोई ठोस निर्णय नहीं होता किन्तु यह अनन्त प्रकाश को व्यक्त करता है, क्योंकि इसकी कोई दीवाल नहीं होती।[4]

संस्कृत की एक प्राचीन पुस्तक में चित्र के आवश्यक तत्त्वों को इस प्रकार बताया गया है, सर्वप्रथम रूप भेद है। रूप अनेक एवं विभिन्न हैं तथा प्रत्येक की अपनी सीमाएँ भी हैं। यदि यही सब कुछ होता, यदि सभी रूप एक-दूसरे से नितान्त भिन्न होते तो मात्र अनेकता का भयानक अकेलापन भी होता। किन्तु ये विभिन्न रूप अपनी पृथक्ता में अवश्य ही आत्यन्तिक एकता के विरोध को भी व्यक्त करते हैं अन्यथा सृजन संभव ही न होता।[5] वायु जब

1. माडर्न इंडियन थाट, पृ. 155.
2. क्रिएटिव यूनिटी : पृ. 6-7.
3. वही, पृ. 15.
4. वही, पृ. 16.
5. वही, पृ. 31.

शांत होती है, तो एक होती है किन्तु ज्यों ही वीणा के तार खींचे जाते हैं, वायु अनेक हो जाती है। जब ये अनेक पास्परिक अधिकार को स्वीकार करते हैं, संगीत फूट पड़ता है। मात्र एकता में संगीत नहीं।[1] इस प्रकार सृजन में एक का ही प्रकाशन होता है, अनेक भी पारस्परिक विरोध को छोड़कर पूर्णता का – एक का ही प्रकाशन करता है।[2]

उसी पुस्तक में रूपभेद के बाद परिमाण-अनुपात भी बताया गया है। अनुपात संबंध का द्योतक है – पारस्परिक स्थिति का सिद्धांत है। जब रूप में अनुपात का अभाव पाया जाता है, तो संपूर्णता के प्रकाशन में बाधा होती है। इसी को 'असुन्दर' कहा जाता है। इसमें एक का अनेक के साथ उचित संबंध नहीं होता। इस प्रकार रवीन्द्र के अनुसार सत्य तथ्यों में न होकर तथ्यों के सामंजस्य में है। इसीलिये कवि का कथन है कि 'सौंदर्य सत्य है, सत्य सौंदर्य है।[3] किन्तु रूप एवं अनुपात चित्र के बाह्य तत्त्व हैं। हम मात्र अक्षपटल से ही नहीं देखते। भौतिक आँख के पीछे मस्तिष्क होता है, जो अपने प्रकाश को उसमें मिलाता है। चित्र की पूर्णता उसके बाह्य अंगों के साथ भावात्मक सामंजस्य की अभिव्यक्ति होती है, तभी उस कला की कलात्मकता है। रवीन्द्र के अनुसार कला का आदर्श है – 'तन्नष्टं यन्नदीयते' जिसका प्रकाशन नहीं होता उसका विनाश हो जाता है। एक कला की कृति उस बैंक के सदृश है, जिसमें भावात्मक अनुभूति सदैव बन्द करने के लिए नहीं, अपितु बार-बार उधार देने के लिए जमा की जाती है। रस भी धन की भाँति संक्रमण चाहता है।4

चित्रकला का अन्य आवश्यक अंग – रंग व्यवस्था है। प्रत्येक रूप के दो पक्ष होते हैं – रेखा एवं रंग। इनमें से रेखा सीमा का निर्धारण करती है, जबकि रंग स्वतंत्रता का प्रतिनिधित्व करता है। इनके अतिरिक्त भी प्रकाश एवं अप्रकाश का सतत् संघर्ष रहता है। रंग ही इन दोनों में संधि स्थापित करता है।

इसी प्रकार काव्य में भी एक-अनेक के सामंजस्य का सिद्धान्त लागू होता है। यदि चित्र का मुख्य तत्त्व रेखा है तो काव्य का शब्द। रेखाओं की भाँति शब्दों में भी संतुलन एवं अनुपात आवश्यक है। इस संतुलन को ही वृत्त कहा जाता है किन्तु वृत्त बाह्य पक्ष है। काव्य में भी आंतरिक सामंजस्य–भावात्मक सामंजस्य-आवश्यक है। चित्र में रंग का जो स्थान है, वही काव्य में व्यंजना

1. माडर्न इण्डियन थाट : पृ. 150.
2. क्रिएटिव यूनिटी : पृ. 8.
3. वही, पृ. 32.
4. माडर्न इण्डियन थाट : पृ. 156.

का है। रंग के माध्यम से जैसे रेखा अपनी सीमा का अतिक्रमण कर अरेखित क्षेत्र में पहुँच जाती है, उसी प्रकार व्यंजना के माध्यम से शब्द अपने अर्थ का अतिक्रमण करता है। अंतर के माध्यम से बाह्य का देखना एवं बाह्य के माध्यम से अंतर का प्रकाशन ही चित्रकला, कविता एवं सभी कलाओं का युग्म उद्देश्य है।[1]

प्राचीन सिद्धांत में रवीन्द्र के अनुसार सामंजस्य पर सबसे अधिक बल दिया गया है, तो आधुनिक सौंदर्य-चिंतन में भावतत्व पर। प्रायः यह धारणा है कि प्राचीन एवं आधुनिक सिद्धांत एक-दूसरे के विरोधी हैं किन्तु रवीन्द्र की अपनी धारणा है कि वे एक-दूसरे के पूरक हैं। सामंजस्य अथवा अनेकता में एकता अमूर्त प्रत्यय रहेगा यदि उसकी अनुभूति किसी व्यक्ति विशेष को नहीं होती। किसी व्यक्ति के लिए ही सामंजस्य का अर्थ है।[2]

रवीन्द्र का कहना है कि विज्ञान से कला का व्यतिरेक इस माने में है कि कला में भावनात्मक पक्ष होता है। कला का संसार भावना का संसार होता है। चित्र एवं गीत मात्र तथ्य ही नहीं होते, वे भावनात्मक तथ्य होते हैं। वे मात्र वे ही नहीं हैं, बल्कि उनमें हम भी हैं। उन्हें विश्लेषण से नहीं समझा जा सकता। वे तुरन्त हमारे हृदय को छूते हैं।[3] कोई वस्तु हमें आखिर क्यों पसंद होती है? उस वस्तु में हमें अपनी झाँकी मिलती है, 'आत्मनस्तु कामाय सर्व खलु प्रियं भवति' सारा संसार, ऐसा लगता है आत्माभिव्यक्ति के लिए रेखाओं एवं रंगों की संगीत एवं गति की, आशय एवं अर्थ के अनंत लय में ग्रथित है। इस प्रकार कला व्यक्त एवं अव्यक्त का सामंजस्य है।[4]

किन्तु कला का मुख्य उद्देश्य मात्र आत्माभिव्यक्ति ही नहीं है। हम अपने दैनिक जीवन की अभिव्यक्ति में मितव्ययी होते हैं किन्तु हम जब भावुकता की अवस्था में होते हैं उस समय आत्माभिव्यक्ति अपनी ज्वर की अवस्था में होती है। इस अवस्था में अभिव्यक्ति मात्र अभिव्यक्ति के लिए होती है। भावुकता के अतिरेक की कोई सीमा नहीं होती। तभी तो प्रेमी अपनी प्रेयसी के सौंदर्यपान के लिए युगों से तृषित है : 'मुझे लगता है कि मैंने अपनी सत्ता की शुरूआत से तुम्हारे सौंदर्य को एकटक से देखा है कि मैंने तुम्हें अगणित युगों से अपने अंकपाश में रखा है, किन्तु तब भी मुझे तृप्ति नहीं हुई।[5]

---

1. माडर्न इण्डियन थाट, पृ. 157.
2. वही, पृ. 157.
3. परसनैलिटी : पृ. 16.
4. माडर्न इण्डियन थाट पृ. 157-58.
5. परसनैलिटी : पृ. 34.

कलात्मक अभिव्यक्ति कभी भी उपयोगिता की आवश्यकताओं को महत्त्व नहीं देती। सौंदर्यानुभूति के क्षेत्र में ही शायद अति उपयोगितावाद का भद्दापन सबसे अधिक उजागर होता है। कारण यह है कि उपयोगितावादी कला को अपनी व्यावहारिक आवश्यकता की पूर्ति का मात्र साधन मानता है। रवीन्द्र का यह आशय नहीं है कि कला निरुद्देश्य होती है। ओस्कर वाइल्ड के इस सिद्धांत का 'सभी कला पूर्ण रूपेण अनुपयोगी है' खंडन करने में रवीन्द्र संभवतः सबसे आगे रहेंगे। नैतिक उत्कर्ष, शारीरिक संतुलन, सामाजिक कल्याण आदि कलात्मक अभिव्यक्ति के आनुषंगिक हो सकते हैं, किन्तु इनमें से कोई भी कला का निर्णायक तत्व नहीं है। इस प्रकार कला में हम आवश्यकता अथवा उपयोगिता की मितव्ययिता को भूल जाते हैं।[1]

पुनः, कला का मुख्य तत्त्व वस्तु है अथवा शैली? कला का वास्तविक सिद्धांत एकता का सिद्धांत है। भोजन का खाद्य तत्व उसके घटकों में होता है, किन्तु उसकी सरसता उन घटकों की एकत्र – संतुलन में – होती है, जिसका विश्लेषण नहीं किया जा सकता। वस्तु अपने में अमूर्त हैं, उसे विज्ञान बता सकता है। ठीक उसी प्रकार साहित्य शास्त्र मात्र शैली को बता सकता है किन्तु जब दोनों एकाकार होते हैं, तो अपना सामंजस्य हमारे भावुक व्यक्तित्व में पाते हैं, जो वस्तु एवं शैली का विचार एवं पदार्थ, का, उद्देश्य एवं क्रिया का आंगिक संघात है।[2]

कलाकार की कलात्मकता की कसौटी क्या है? कलाकार की कलात्मकता की कसौटी उसकी व्यष्टि की समष्टि में है। एक चित्रकार एक विशेष में सामान्य को – सार्वभौम को उकेर देता है। यह तभी संभव हो पाता है, जब वह अपने उस चित्र से अपना भावात्मक तादात्म्य स्थापित कर लेता है। कालिदास की एक शकुन्तला में अनंत शकुन्तला के अल्हड़पन की मादकता, एक कण्व (पिता) में अनंत कण्व की विह्वलता 'यास्यत्यद्य शकुन्तलेति' की मार्मिकता है। एक 'वनस्पतिशास्त्रज्ञ एक वृक्ष को देखकर उसका सामान्यीकरण एवं वर्गीकरण करता है, किन्तु जब उसी वृक्ष की एक कलाकार कलात्मक अभिव्यक्ति करता है तो उस 'एक' में 'सार्वभौम' की अभिव्यक्ति होती है।[3]

---

1. माडर्न इण्डियन थाट, पृ. 158.59.
2. परसनैलिटी : पृ. 20.
3. परसनैलिटी : पृ. 24.

रवीन्द्र में अनुभूतित्व की – भावात्मक तत्त्व की प्रधानता है। कलात्मक सत्य का मात्र एक प्रमाण है, वह यह कि यह हमें 'दृष्टम्' – देखा, आनंदित हुआ, 'वाह-वाह', 'क्या बात है' के लिए विवश करता है। सौंदर्य की अनुभूति की जाती है, न कि बुद्धि से वह समझी जाती है। यह कालिदास के 'मधुरमासां दर्शनम्' की अनुभूति है।[1]

रवीन्द्र कला के नाट्यगृह में बुद्धि को गौण स्थान देते हैं, किन्तु इसके यह माने नहीं है कि बौद्धिक तत्त्व कला में होता ही नहीं, जैसा कि प्रतिप्रज्ञावादियों का कहना है। रवीन्द्र कला के क्षेत्र में बुद्धि के क्लिष्ट नियमन के विरोधी हैं एवं रोमांटिक्स से सहमत हैं किन्तु जब रोमांटिक्स बुद्धि के अनुशासन एवं संतुलन की उपेक्षा करते हैं तो रवीन्द्र की उनसे असहमति हो जाती है। जिस प्रकार अतिरंजित अनुपयोगितावाद की परिणति 'सभी कला नितांत अनुपयोगी है' में होती है उसी प्रकार अतिरंजित प्रतिप्रज्ञावाद भी अनन्तः 'सारी कला 'अर्थहीन' तक पहुँचता है। इसके खंडन में वे परंपरावादियों से सहमत हैं।[2]

इस प्रकार रवीन्द्र के सौंदर्यशास्त्र में सृजनात्मक सामंजस्यवाद की विद्या, जो उनके चिंतन के विभिन्न पक्षों को समवेत करती है, पूर्णता को प्राप्त करती है। उनके लिए कला उपयोगिता से परे होते हुए भी उद्देश्यपूर्ण है, बुद्धि से परे होते हुए भी पूर्णरूपेण अर्थपूर्ण है। प्राचीनों में सामंजस्य के सिद्धांत को पहचानने की प्रतिभा थी, किन्तु उन्होंने वैयक्तिक अभिव्यक्ति को उचित स्थान नहीं दिया। आधुनिकों ने सामंजस्य एवं समन्वय के स्थान पर अद्वितीय विशिष्ट ही पर अधिक बल दिया। रवीन्द्र की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि वैयक्तिक अभिव्यक्ति को ही सामंजस्य का साधन बनाते हुए यह दिखाया है कि सामंजस्य का सिद्धांत किस प्रकार संतोषपूण पृष्ठभूमि पर विस्तृत एवं पुनः संस्थापित किया जा सकता है। रवीन्द्र के अनुसार सृजनात्मक अर्थ में भावनात्मक तत्त्व वह पूर्णता है जिसमें मानव स्वभाव की अनेकविध अभिव्यक्ति होती है एवं जिसमें बुद्धि एवं प्रतिभा, अनुभूति एवं संज्ञापन, स्वतंत्रता एवं बंधन अपनी सीमाएँ एवं संभावनाएँ खोज लेती हैं।[3]

रवीन्द्र के सौंदर्यशास्त्र की ही नहीं, अपितु उनके संपूर्ण दर्शन की उत्कृष्ट पूर्णता उनके 'दुइनारी' के गीत में ध्वनित हुई है। इसमें 'अनेकता में

1. दि रेलीजन आफ मैन : पृ. 85.
2. माडर्न इण्डियन थाट : पृ. 161.
3. माडर्न इण्डियन थाट : पृ. 161

एकता' के नियम का गंभीर एवं संक्षिप्तीकरण मिलता है, एवं चिंतन एवं कला के लिए जो भी जीवंत है, सबका एकीकरण हुआ है।

किसी अलिखित क्षण में प्रथम सागर का जल मथा जा रहा था, अनंत गहराई से दो दैवीरूप आविर्भूत हुए। एक वासनाओं की रानी, देवों की प्यारी उन्मदना उर्वशी थी। दूसरी ममतामयी एवं निर्मल जगद्धात्री लक्ष्मी थी।

उर्वशी अपने साथ वासंती मदिरा लेकर आती है, जिससे यौवनोन्माद के थिरकन का गीत फूट पड़ता है। उसका उद्दाम आनंदोन्मुख सारे मनुष्यों को उन्मत्त कर देता है। उनके हृदय की शांति चुरा लेता है। उसके बाद लक्ष्मी अपनी आँखों में स्नेहसिक्त आँसुओं को लेकर आती हैं। लोगों की वासनाओं को शांत कर, पुनः उनमें आनंद को प्रत्यर्पित करती हैं। उसका आशीर्वाद पूर्णता एवं बहुलता प्रदान करता है। उसका मृदु ह्रास करुणा के अमृत से उफनता रहता है।[1]

इसमें 'सुन्दरम्' एवं 'गौरवम्' का अद्भुत सामंजस्य है। इस प्रकार 'सुन्दरम्' सत्ता की वह गंभीर अभिव्यक्ति है, जो हमारे हृदय को बिना अन्य किसी प्रलोभन के आह्लादित करती है एवं जो स्वयंसाध्य है।[2] रवीन्द्र में दर्शन की तीनों विधाओं – तत्त्वमीमांसा एवं सौंदर्यमीमांसा में एक अनूठा साम्य है। इन तीनों में अनन्त के तीनों रूपों – सत्यम् शिवम् सुन्दरम् की विलक्षण अभिव्यंजना हुई हैं। मनुष्य का अनंत के साथ तात्त्विक तादात्म्य ही सत्यम् है, भावात्मक तादात्म्य ही सुन्दरम् है जो स्वरूपतः शिवम् है। निःसंदेह रवीन्द्रनाथ जैसे महान् कलाकारों तथा जीवन-द्रष्टाओं की आत्मा को गढ़ने के लिए इतिहास को सहस्रों वर्ष तक शुभ रस-पीठिका पर अजस्र साधना करनी पड़ती है, जिससे रवीन्द्रनाथ की कोटि के 'रसो वै सः' पुरुष का अवतार अथवा आविर्भाव होता है।[3]

●●●

1. माडर्न इण्डियन थाट : पृ. 161–162.
2. क्रिएटिव यूनिटी : पृ. 36.
3. पंत : टैगोर सेंटेनरी सूविनार, यूनीवर्सिटी आफ इलाहाबाद, पृ. 6 (1961–62)।

अध्याय 6

मुहम्मद इक़बाल

जीवन और कृतित्व

अधिकतर समकालीन भारतीय दार्शनिकों के विषय में निम्न बातें समान रूप से कही जा सकती हैं : वे अपने चिन्तन का आधार अपने धर्म को बनाते हैं, अपने पारम्परिक दर्शन की तुलना पाश्चात्य दर्शन से करते हैं और अपने दर्शन को श्रेष्ठतर मानते हैं, अपने दर्शन को आधुनिक विज्ञान से समर्थित मानते हैं। इक़बाल के दर्शन में भी ये तीनों बातें पायी जाती हैं। उनके दर्शन का मूल आधार कुरान है। कुरान उनका प्रेरणा स्रोत ही नहीं है, बल्कि अद्यावधि ज्ञात सत्यों की सीमा है। वे मानते हैं कि दर्शन धर्म का सेवक नहीं है,[1] और न मनुष्य सम्पूर्ण सत्य को जान पाया है।[2] फिर भी उनका विश्वास है कि कुरान में वर्णित सिद्धान्त निश्चित रूप से सत्य हैं, और जीवन पर्यन्त उन्होंने कविता एवं व्याख्यानों द्वारा कुरान में निहित सिद्धांतों की व्याख्या की। उनका मत है कि मुसलमानों के पतन का कारण कुरान के मूल रूप को भुला देना है। उनके अनुसार सर्वेश्वरवाद एवं सूफीमत ने कुरान के सिद्धांतो की सही व्याख्या नहीं की। परिणामस्वरूप इस्लामी समाज निष्क्रिय एवं आत्मनिषेधक हो गया। इक़बाल का उद्देश्य कुरान की सही व्याख्या देकर इस्लामी समाज में नवचेतना उत्पन्न करना था।

इसके लिए इक़बाल ने पाश्चात्य दर्शन एवं आधुनिक विज्ञान की सहायता ली है। उनके अनुसार मार्गन के आरम्भिक विकासवाद एवं आइंस्टाइन के सापेक्षतावाद से कुरान के जगत् सम्बन्धी विचारों का समर्थन होता है। इसी प्रकार उन्होंने व्हाइटहेड, वर्गसां, वार्ड मैक्टैगर्ट एवं नीत्शे का उपयोग अपने विचारों के समर्थन के लिए किया है। जो सिद्धान्त कुरान के अनुकूल नहीं हैं उनकी इक़बाल ने आलोचना की है। हिन्दू तथा बौद्ध दार्शनिकों का कुछ गिने चुने स्थानों पर छोड़कर विशेष उल्लेख नहीं किया है। इक़बाल का यह दृष्टिकोण

1. आर. ए. निकलसन, सीक्रेट आव दी सेल्फ पृ. 13.
2. इक़बाल, सिक्स लेक्चर्स आव दी रिकान्स्ट्रक्शन ऑफ रिलीजस थाट इन इस्लाम (संक्षक में सिक्स लेक्चर्स), प्रिफेस, 2.

उनके स्वतंत्र चिंतन में अनिवार्य रूप से बाधक सिद्ध हुआ है। इतना निर्विवाद रूप से सत्य है कि इक़बाल बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न विद्वान थे और एक साथ उनका कई विषयों एवं भाषाओं पर अधिकार था। किन्तु संभवतः अपने समय की ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण वे इस्लाम, मुहम्मद एवं कुरान के प्रति इतना अधिक प्रतिबद्ध हो गये थे कि उनका मूल रूप केवल व्याख्याकार का ही रह जाता है। सभी संभावनाओं के होते हुए भी इक़बाल इबन-उल-अरबी के समान दार्शनिक न हो सके, यद्यपि काव्य में वे निस्सन्देह रूमी के समकक्ष हैं।

इक़बाल का जन्म 22 फरवरी, 1873 को स्यालकोट में हुआ था। उनके पूर्वज काश्मीरी ब्राह्मण थे। इक़बाल की आरम्भिक शिक्षा स्यालकोट में ही हुई। वे उच्च शिक्षा के लिए 1895 ई. में लाहौर आ गये थे। स्यालकोट में ही इक़बाल ने कविताएँ लिखना शुरू किया था, किन्तु लाहौर आकर उनका कई कवियों एवं विद्वानों से परिचय हुआ और उनकी ख्याति बढ़ने लगी। उन्होंने उर्दू एवं फारसी दोनों में लिखा। कुछ अंग्रेजी कविताओं का भी अनुवाद किया। 1905 में इक़बाल योरप गये। वहाँ कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी में उन्होंने दर्शन का अध्ययन किया। कुछ समय बाद वे जर्मनी गये और म्यूनिख युनिवर्सिटी से फारसी तत्त्वशास्त्र पर पी-एच.डी. की डिग्री प्राप्त की। इसी समय इक़बाल पर जर्मन साहित्य एवं दर्शन का प्रभाव पड़ा, विशेषकर नीत्शे का। 1908 ई. में इक़बाल लाहौर आ गये और वकालत शुरू की। वे कुछ समय तक इंगलिश और दर्शन में पार्ट टाइम प्रोफेसर भी थे। इक़बाल लगातार कविताएँ एवं दार्शनिक विषयों पर लिखते रहे : उनकी प्रसिद्ध कृतियाँ निम्न हैं : इसरार-ए-खुदी (1915), रुमज ए वेखुदी (1918)– 1918 के बाद लिखी कविताओं में काव्य सौन्दर्य अधिक है[1]– बांग ए दरा, पयाम ए मशरिक जबर-ए-अजमू, जावेदनामा, बाल ए जिग्रील, दर्व ए कलीम और मृत्यु पश्चात् प्रकाशित अर्मुगान-ए-हिजाज। दर्शन में उनकी प्रसिद्ध पुस्तक सिक्स लेक्चर्स आन दि रिकान्स्ट्रक्शन आव रिलिजस थाट इन इस्लाम है। इसके अतिरिक्त उनके कुछ लेख भी हैं।

इक़बाल को 1922 में नाइट की उपाधि दी गई। वे कई बार योरप गये। उन्होंने भारत के प्रमुख शहरों का भी भ्रमण किया था, और वे काफी समय तक भोपाल में थे। 21 अप्रैल, 1938 को उनकी मृत्यु हो गयी। उनका अन्तिम शब्द था 'अल्लाह।'[2]

---

1. एम.ए. वाहिद, इक़बाल हिज आर्ट एण्ड थाट, पृ. 12.
2. एम.ए. वाहिद, इक़बाल हिज आर्ट एण्ड थाट, पृ. 32.

इक़बाल पर अन्य दार्शनिकों का प्रभाव

इक़बाल के दर्शन का मूल आधार कुरान तथा अन्य इस्लामी साहित्य है। इनका अध्ययन उन्होंने प्रारम्भ में ही किया था। इक़बाल पर अन्य जो भी प्रभाव पड़ा उसे उन्होंने तभी स्वीकार किया जब वह पवित्र कुरान के सिद्धांतों के अनुकूल तथा उसकी व्याख्या में सहायक था। वशीर दर के अनुसार 'इस प्रारम्भिक ट्रेनिंग के बाद ही इक़बाल ने पाश्चात्य दर्शन का अध्ययन आरम्भ किया, और उन्होंने इसका आलोचनात्मक अध्ययन इस्लाम द्वारा निर्धारित विशेष परिप्रेक्ष्य में ही किया।[1] उनके अनुसार इस्लाम पर ग्रीक दर्शन तथा उससे प्रभावित सूफी दर्शन का बहुत ही भ्रामक प्रभाव पड़ा। इसी प्रभाव के कारण इस्लाम में अतीन्द्रिय सत्ता को अधिक महत्त्व दिया गया, परलोक तथा संन्यास की ओर प्रवृत्ति बढ़ी और निष्क्रियता तथा मनन को प्रमुख स्थान दिया गया। इक़बाल के अनुसार ये सभी बातें इस्लाम की अपेक्षा ईसाईमत के अधिक अनुरूप थीं। इकबाल ने इन सिद्धान्तों की आलोचना की। उनके अनुसार इस्लाम की मूल शिक्षाओं की व्याख्या अल बैकलानी के आध्यात्मिक अणुवाद, गज़ाली द्वारा ग्रीक दर्शन की आलोचना और इब्न उल तिमैया द्वारा अरस्तू के तर्कशास्त्र की आलोचना में मिलती है।

इक़बाल पर इस्लामी साहित्य में कुरान के बाद सर्वाधिक प्रभाव मौलाना रूमी का है। रूमी की मसनवी एवं दीवान में निहित विचारों का इक़बाल पर बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ा है। यह विवाद का विषय है कि इस्लाम में रहस्यवाद कितना ग्रीक दर्शन से आया और कितना बौद्ध तथा वेदान्त दर्शनों में, किन्तु इतना स्पष्ट है कि रूमी के समय में रहस्यवाद इस्लाम साधना का अंग बन गया था। रूमी ने तर्क की अपेक्षा अनुभव को प्रधान माना, आत्मनिषेध के स्थान पर आत्मा की सत्ता स्वीकार की, तकदीर की नयी व्याख्या की और विकास का सिद्धांत स्वीकार किया। इक़बाल ने इन सभी सिद्धांतों को अपनाया है। रूमी और इक़बाल दोनों ने आदम को आदर्श मानव माना। दोनों के अनुसार अमरता संघर्ष से प्राप्त होती है। रूमी ने प्रेम (इश्क) को सृष्टि मात्र का मूल नियम माना। प्रेम से ही जीवन को गति मिलती है। इक़बाल ने भी प्रेम को तर्क से अधिक महत्त्व दिया है। प्रेम से ही आत्म-पूर्णता संभव है, एवं प्रेम से ही ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है।

पाश्चात्य दार्शनिकों में हम सबसे पहले नीत्शे को लेते हैं। इक़बाल की

1. बशीर अहमद दर, ए स्टडी इन इकबाल्स फिलासफी, पृ. 33.

इसरार-ए-खुदी पर सबसे अधिक प्रभाव नीत्शे का ही है। यह बात आंतरिक प्रमाण तथा इक़बाल की बातचीत दोनों से सिद्ध होती हैं।[1] अन्य रचनाओं में यह प्रभाव इतना अधिक नहीं है किंतु जावेदनामा, पयामे-ए-मशरिक तथा अन्य कविताओं में भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है। इक़बाल ने कई धारणाओं को नीत्शे से लिया है और कई कविताएँ स्वयं नीत्शे पर लिखी हैं। इकबाल ने नीत्शे को 'कांच की दुकान में प्रविष्ट उन्मत्त व्यक्ति' (दीवाना बकारगद शीसद गर रशीद) कहा है। इक़बाल के अनुसार नीत्शे 'बुद्धि से नास्तिक किन्तु हृदय से आस्तिक' दार्शनिक हैं। नीत्शे 'बिना क्रास का हल्लाज-' है। इसी प्रकार इक़बाल के अनुसार नीत्शे एक मज्जूब है जो दिव्य प्रेम में डूबा हुआ है। पाश्चात्य मनोविज्ञान इसे नहीं समझ पाया था और इसीलिए पाश्चात्य विद्वानों ने उसे विक्षिप्त कहा।[2] इक़बाल ने लिखा है कि यदि आज नीत्शे जीवित होता तो वे उसे ईश्वर का स्थान दिखा देते :

"अगर होता वह मज्जूब फिरंगी इस जमाने में।
तो इक़बाल उसको समझाता मुकाम-ए-कब्रिया क्या है।"

किन्तु इक़बाल ने नीत्शे की उन्हीं धारणाओं को अपनाया है जो इस्लाम के अनुकूल हैं। नीत्शे आधुनिक दार्शनिक हैं और उसकी भाषा में पाश्चात्य एवं ईसाई दर्शन के आदर्शों को सरलता से ध्वस्त किया जा सकता है। संभवतः इसी कारण इक़बाल ने नीत्शे के शस्त्रागार से अत्यधिक सशक्त एवं विध्वंसक शस्त्रों का उपयोग किया था।

नीत्शे के जिन विचारों का इक़बाल ने उपयोग किया उनका संक्षिप्त वर्णन आवश्यक है। नीत्शे के अनुसार ग्रीक संस्कृति डायोनिसियस की उपासक थी। इस संस्कृति की सर्वोत्तम तत्त्व बुद्धि के विरोध में प्रेम एवं सौन्दर्य है। यह प्रवृत्ति सबसे अधिक संगीत में व्यक्त होती है। बुद्धि सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकती, उसे प्रेम द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। रूमी ने भी संगीत को अपनी साधना का अंग बनाया था। इसी प्रकार इक़बाल तर्क एवं बुद्धि के विरोध में काव्य एवं प्रेम को अपनाते हैं। नीत्शे ने प्लेटो एवं अरस्तू के बुद्धिवाद की आलोचना की और इक़बाल प्लेटो को भेड़ कहते हैं इक़बाल ने बुद्धि..... प्रेम को सर्वश्रेष्ठ माना है :

---

1. डा. खलीफा अब्दुल हकीम, 'रूमी, नीत्शे एण्ड इकबाल' इक़बाल ऐज ए थिंकर में संकलित, पृ. 141.
2. इक़बाल ने अपने लेक्चर्स में नीत्शे को 'आधुनिक पैगम्बर' कहा है।

"बू अली अन्दर गुबार नाकिद गुम।

दस्त रूमी पर्दा महमिल गिरफ्त।"

नीत्शे ने शापेनहावर का अनुसरण करते हुए बुद्धि के स्थान पर संकल्प को मुख्य तत्त्व माना था। इक़बाल भी इसे स्वीकार करते हैं। किंतु जहाँ नीत्शे 'शक्ति उन्मुख संकल्प' मानता है, इक़बाल ने 'शक्ति एवं दृष्टियुक्त संकल्प' माना है :

"दिलबरी बेकाहरी जादूगरी सत।

दिलबरी बाकाहरी पैगम्बरी अस्त।"

नीत्शे ने ईसाई नैतिक आदर्शों की आलोचना की। उसके अनुसार शक्ति ही सद्गुण है, किन्तु ईसाई धर्म ने शक्ति के स्थान पर सहनशीलता को सद्गुण मान कर मानव संस्कृति को पतन के कगार पर खड़ा कर दिया। सहनशीलता, दया, संतोष मनुष्य को शक्तिहीन बनाते हैं। नीत्शे ने इन आदर्शों की आलोचना कर इनके स्थान पर ऐसी नैतिकता की कल्पना की जो अतिमानव के विकास में सहायक हो। ईसाई नीति जीवन-निषेध की ओर ले जाती है, जबकि वास्तविक नीति जीवन एवं जगत् को स्वीकार करती है। जीवन को अनिवार्य बुराई एवं दुःख पूर्ण मानकर परलोक की आशा करना पतन का कारण है। इसी कारण मूर्ख एवं दरिद्र का महात्म्य गाया गया, सांसारिक सौंदर्य की आलोचना की गई एवं मनुष्य को आदम के पाप का भागीदार माना गया। नीत्शे ने इन भ्रामक आदर्शों की चिंधियाँ उड़ा दीं।

इक़बाल ने इन आलोचनाओं का सहर्ष स्वागत किया एवं उन्हें आधार मानकर इस्लाम में प्रविष्ट ईसाई प्रभाव का खण्डन किया। नीत्शे के पहले ही मुसलमान विद्वानों ने ईसाई मत की आलोचना की थी, किन्तु इस्लाम में ईसाई रहस्यवाद पर्याप्त मात्रा में घुस गया था। इक़बाल ने नीत्शे का अनुसरण करते हुए इस्लाम को पुनः ईसाई नीति से मुक्त करने की चेष्टा की। इक़बाल के अनुसार इस्लाम का सारतत्त्व जिहाद है। जिहाद ही जीवन का नियम एवं सत्य है। जीवन कठिनाइयों एवं दुःखों से भरा हुआ है किन्तु जिहाद इन कठिनाइयों को दूर करता है। जिहाद द्वारा जीवन का विकास करना एवं आत्मा की पूर्णता प्राप्त करना प्रत्येक मुसलमान का कर्तव्य है। जीवन का विकास, प्रकृति पर विजय एवं पूर्णता के लिये संघर्ष इस्लाम के आदर्श हैं। इन प्रवृत्तियों की उपेक्षा

करने के लिए इक़बाल ने इसरार-ए-खुदी के प्रथम संस्करण में हाफिज की आलोचना की।

बुद्धिवाद एवं ईसाई मत की आलोचना के बाद नीत्शे ने अतिमानव की कल्पना की। उसके अनुसार विकास का उद्देश्य अतिमानव उत्पन्न करना है। अतिमानव सभी अर्थों में शक्तिसंपन्न है इक़बाल ने इस धारणा को बेहिचक स्वीकार किया है। किंतु यह धारणा भी इस्लाम में थी और इकबाल इससे परिचित थे। इक़बाल ने लिखा है कि उन्होंने ऐण्टीक्वेरी पत्रिका में अब्दुल करीम अल-जिन्नी के अनुसार पूर्ण मानव के स्वरूप पर लेख लिखा था। इक़बाल की पूर्णमानव की कल्पना विस्तम के बयाजिद के समय से प्रचलित इस्लामी धारणा के ही अनुसार है। उनका पूर्ण मानव नीत्शे की अपेक्षा रूमी के आदर्शों के अधिक अनुरूप है।

नीत्शे के अनुसार अतिमानव सृष्टि का लक्ष्य है। वह सतत संघर्ष द्वारा अपना पूर्ण विकास करता है। कठोरता एवं संघर्षशीलता उसके अनिवार्य गुण हैं। नीत्शे के अनुसार अतिमानव अपना आदर्श स्वयं है। उसके आगे या पीछे अतिमानव ईश्वर नाम की कोई शक्ति नहीं है। वह मूल्यों का स्रष्टा है। ईश्वर का निषेध छोड़कर अन्य बातों को इक़बाल ने स्वीकार किया है। इसरार-ए-खुदी में पूर्णमानव को नये मूल्यों का स्रष्टा कहा गया है। वह मानवता का लक्ष्य है। 'हजरत अली' का अर्थ बताते समय इक़बाल ने पूर्ण मानव की व्याख्या की है। पूर्णमानव का व्यक्तित्व स्वतंत्र एवं सृजनशील होता है। वह वातावरण को अपने अनुकूल बनाता है। वह एक नये जगत् की सृष्टि करता है। एक अन्य पुस्तक में इक़बाल ने 'फक्र' को पूर्ण मानव का गुण माना है। 'फक्र' उसकी खुदी का सारतत्त्व है। वह अपनी 'तक़दीर' स्वयं बनाता है। 'फक्र' और 'खुदी' को इक़बाल ने इतना महत्त्व दिया है कि मनुष्य इनके आधार पर ईश्वर को भी चुनौती देता है :

"यज्दाँ बकमन्द आवर-ए-हिम्मत मदीना"

किंतु इक़बाल का पूर्णमानव रूमी के पूर्णमानव की तरह ईश्वर का बंदा ही रहता है। न तो वह ईश्वर हो सकता है, न ईश्वर का निषेध कर सकता है।

इक़बाल के ईश्वर संबंधी विचारों पर फिक्टे एवं बर्गसां का भी प्रभाव है। फिक्टे के अनुसार सत्ता 'क्रियाशील आत्मा' है। नैतिक विकास एवं संघर्ष के लिए क्रियाशील आत्मा ही 'अन्य' की उत्पत्ति करता है। इक़बाल ने इसरार

ए-खुदी में इस धारणा को व्यक्त किया है। आत्मा की क्रियाशीलता के वर्णन में इक़बाल नीत्शे की अपेक्षा फिक्टे से अधिक प्रभावित हैं।[1] इसी प्रकार सत्ता को प्रवाह मानने एवं वास्तविक काल को वर्तना मानने और अनुभूति को दार्शनिक प्रणाली मानने में इक़बाल वर्गसां से प्रभावित हैं किंतु यहाँ भी इक़बाल कुरान की सीमा में ही वर्गसां का सिद्धांत मानते हैं। कुरान में सृष्टि के संबंध में दो कथन मिलते हैं : (1) ईश्वर ने छः दिन में सृष्टि की रचना की, (2) ईश्वर ने पलक झपकने के समय में ही सृष्टि की। इक़बाल ने इसकी व्याख्या करते समय वर्गसां की भाँति दो काल माना : दैशिक काल एवं वास्तविक काल।

दैशिक काल के अनुसार सृष्टि में काफी समय लगता है किंतु वास्तविक काल में यह सतत प्रक्रिया है, जिसमें निरंतरता बनी रहती है। इसी प्रकार मुहम्मद के कथन 'समय की निंदा मत करो' को आधार मान कर इक़बाल ने वर्गसां के नास्तिकवाद को आस्तिकवाद में बदल दिया। इक़बाल वर्गसां की भाँति सत्ता को प्रवाह तो मानते हैं किंतु वे इसे निरुद्देश्य नहीं मानते। अंत में विश्व को अनंत आत्माओं की इकाई. मानने में इक़बाल जोसिया रवायस, मैक्टैगर्ट एवं जेम्स वार्ड से प्रभावित हैं।

आधुनिक वैज्ञानिकों में इक़बाल पर मार्गन, एडिंगटन, व्हाइटहेड एवं आइंस्टाइन का प्रभाव है। इक़बाल ने आरम्भिक विकासवाद का सिद्धांत स्वीकार किया है। इसके अनुसार विकास की विभिन्न अवस्थाओं का अपना विशेष नियम है। उच्च अवस्था की व्याख्या निम्न अवस्था के नियमों से नहीं हो सकती। रूमी ने पहले ही इसकी कल्पना की थी। आइंस्टाइन ने दिखाया कि जड़ तत्त्व स्थिर एवं द्रव्यात्मक नहीं है। उसने सापेक्षतावाद के अनुसार विश्व की व्याख्या की। इक़बाल ने इन धारणाओं का उपयोग किया है। किंतु वैज्ञानिक सिद्धांतों की व्याख्या करते समय भी इक़बाल कुरान की ही सीमा में रहते हैं। एक दार्शनिक किस प्रकार वैज्ञानिक सिद्धांतों के साथ खिलवाड़ करता है इक़बाल इसका स्पष्ट उदाहरण हैं। वे अपने मत की पुष्टि के लिए आरंभिक विकासवाद का उपयोग करते हैं, पर साथ ही यह भी कहते हैं कि आरंभण ईश्वर[2] के कारण होता है। इसी प्रकार वे सापेक्षतावाद का उपयोग करते हैं किंतु यह भी मानते हैं कि आइंस्टाइन वास्तविक काल का स्वरूप नहीं समझ सके। ऐसी गड़बड़ियाँ अधिकांश धर्मशास्त्री करते हैं।

---

1. डा. खलीफा अब्दुल हकीम, ऊपर उद्धृत लेख, पृ. 185
2. इक़बाल, लेक्चर्स, पृ. 148

अंत में यह कहा जा सकता है कि इक़बाल ने आधुनिक दर्शन एवं विज्ञान का उपयोग कुरान के सिद्धांतों की पुष्टि के लिये किया है। जहाँ वे उचित समझते हैं नीत्शे, फिक्टे, वर्गसां, वार्ड, मैक्टैगर्ट, मार्गन, आइंस्टाइन आदि के विचारों का उपयोग करते हैं। किंतु उनका मूल आधार कुरान एवं रूमी का काव्य है। रूमी ही उनके धर्म गुरु हैं। विभिन्न विद्वानों का मत आत्मसात् करते समय, जैसा स्वाभाविक है, विरोधों को हटा पाना कठिन हो जाता है। इक़बाल में भी ये विरोध विद्यमान हैं।

(तीन)

इक़बाल की दार्शनिक विधि : अनुभूति

जैसा एम.ए. शरीफ[1] ने लिखा है, इकबाल का दर्शन तीन अवस्थाओं में बाँटा जा सकता है। पहली अवस्था 1905 से 1908 तक है। इस अवस्था में इक़बाल पारंपरिक इस्लामी एवं नव्य प्लैटानिक रहस्यवाद को मानते हैं। इस अवस्था में ईश्वर को शाश्वत सौंदर्य माना गया है और वही सर्वत्र गति का स्रोत है। यहाँ इक़बाल का विचार वही है जो सर्वेश्वरवादियों का था। दूसरी अवस्था 1908 से 1920 तक है। इसमें इक़बाल वार्ड एवं मैक्टैगर्ट के प्रभाव में अनेक आत्माओं की सत्ता स्वीकार करते हैं। इसी समय वे रूमी की ओर आकृष्ट होते हैं और आत्मा की अमरता, स्वतंत्रता तथा पूर्णता की ओर विकास का सिद्धांत अपनाते हैं। इसी समय वे नीत्शे एवं वर्गसां के प्रभाव में प्रवाह अथवा गति को सत्ता का मूल रूप मानने लगते हैं। फिक्टे का प्रभाव भी इसी समय का है। ये सारे प्रभाव बाँग-ए-दरा, इसराए-एखुदी, एवं रुमूज ए बेखुदी में स्पष्ट हैं। इस अवस्था में ईश्वर की अवधारणा शाश्वत सौंदर्य के रूप में नहीं अपितु पूर्ण आत्मा के रूप में की गई है। तृतीय अवस्था 1920 से 1938 तक है। इसमें आत्मा की क्रियाशीलता पूर्ववत् है किंतु गति अथवा प्रवाह को अधिक महत्त्व मिल जाता है। ईश्वर सम्पूर्ण सत्ता है, और सम्पूर्ण सत्ता अनिवार्यतः प्रवाह है।

इक़बाल की तत्त्वमीमांसा पर लिखने के पहले संक्षेप में उनकी अनुभूतिमूलक पद्धति की व्याख्या आवश्यक है। जो दार्शनिक तत्त्वमीमांसा का खण्डन करते हैं वे ज्ञान को इन्द्रिय-प्रत्यक्ष एवं विचार तक सीमित रखते हैं। इक़बाल के अनुसार यदि ज्ञान की यही सीमा है तो न तो तत्त्वमीमांसा सम्भव है न सत्ता का ज्ञान

1. एम.ए. शरीफ, 'इकबाल कन्सेप्शन ऑफ गाड'

ही हो सकता है। यही कारण है कि कान्ट ने तत्त्वमीमांसा की संभावना नहीं मानी। किंतु इक़बाल ज्ञान को इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तक सीमित नहीं करते। अतीन्द्रिय सत्ता का ज्ञान अनुभूति के द्वारा संभव है। अनुभूति द्वारा आत्मा का अस्तित्व, अमरता तथा ईश्वर का अस्तित्व ज्ञात होता है।

अनुभूति को अधिकांश दार्शनिकों ने माना है। जब मनुष्य सीमित तथा इन्द्रिय प्रत्यक्ष से संतुष्ट नहीं होता तो वह अनुभूति का आश्रय लेता है। वह सम्पूर्ण सत्ता का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करना चाहता है और यह किसी न किसी प्रकार की अनुभूति से ही संभव है। इस्लामी रहस्यवादियों, जैसे गजाली, ने अनुभूति को ही वास्तविक ज्ञान माना था। किंतु उनके अनुसार अनुभूति एक विशेष प्रकार का ज्ञान है जो विचार एवं प्रत्यक्षानुभव से पूर्णतः भिन्न है। अनुभूति की यह धारणा उसकी प्रामाणिकता के विषय में संशय उत्पन्न करती है। संभवतः इसी कारण इक़बाल ने अनुभूति को प्रत्यक्ष तथा विचार की ही भाँति ज्ञान माना है। अनुभूति निस्संदेह बुद्धि तथा प्रत्यक्ष से श्रेष्ठ है, किंतु इनमें प्रकार का अंतर नहीं है। अनुभूति होते हुए भी यह ज्ञानात्मक है और वैसे ही विषयगत है जैसे साधारण ज्ञान।

इक़बाल के अनुसार अनुभूति का प्रस्थान बिन्दु आत्मा है, आत्मा की अनुभूति निश्चिंत एवं संशयरहित है। प्रत्येक क्रिया, ज्ञान एवं विचार में आत्मानुभूति निहित है। अनुभूति से हमारी वास्तविक सत्ता अपनी संपूर्णता में प्रकाशित होती है। इक़बाल के अनुसार यह पद्धति बुद्धिवाद एवं अनुभववाद से भिन्न है और दोनों के दोषों से मुक्त है। आत्मानुभूति के आधार पर ईश्वर तथा जगत् की व्याख्या हो सकती है। अनुभूति की निम्न विशेषताएँ हैं :

1. अनुभूति में सत्ता का प्रत्यक्ष अनुभव है। इसके द्वारा हम आत्मा तथा ईश्वर को वैसे ही जानते हैं जैसे इंद्रिय प्रत्यक्ष में वस्तुओं को। अनुभूति प्रत्यक्ष होने के कारण बुद्धि से भिन्न है, क्योंकि बुद्धि अप्रत्यक्ष है। किन्तु अनुभूति में इन्द्रिय संवेदों का कोई स्थान नहीं है।[1]

2. अनुभूति में सत्ता का ज्ञान सम्पूर्णता[2] में होता है। इन्द्रिय एवं बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान आंशिक एवं खंडित होता है। इसी प्रकार इन्द्रिय एवं बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान दैशिक काल में होता है, किन्तु अनुभूति द्वारा प्राप्त ज्ञान वास्तविक काल में होता है। वास्तविक काल में होने वाला परिवर्तन क्रमहीन होता है।

---

1. इक़बाल सिक्स लेक्चर्स, अध्याय एक।
2. इक़बाल सिक्स लेक्चर्स, अध्याय एक।

3. अनुभूति हृदय[1] का गुण है, इन्द्रियों एवं बुद्धि का नहीं। इन्द्रियों एवं बुद्धि द्वारा केवल आभास का ज्ञान होता है। अनुभूति द्वारा वास्तविक सत्ता का।

4. अनुभूति असम्प्रेषणीय है। यह मूलतः वैयक्तिक अनुभव है और इसीलिए भाषा द्वारा इसे पूर्णतः व्यक्त नहीं किया जा सकता। यह सभी कोटियों के परे है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि अनुभूति विषयहीन है।[2] इकबाल ने अनुभूति की प्रामाणिकता के लिए दो मापदण्ड माना है : बौद्धिक और व्यावहारिक। वे मानते हैं कि इन दोनों मापदण्डों पर अनुभूति की प्रामाणिकता सिद्ध की जा सकती है।[3]

5. अनुभूति अविश्लेष्य है।[4] अनुभूति में अनुभवकर्ता भी निमग्न हो जाता है किन्तु यह निमग्नता केवल कुछ समय के लिए है। और इस स्थिति में भी व्यक्तित्व का विलय नहीं होता।

बर्गसां भी अनुभूति मानता है, किन्तु बर्गसां एवं इक़बाल की धारणाओं में अन्तर है। बर्गसां के अनुसार अनुभूति 'बौद्धिक सहानुभूति' है। इक़बाल के अनुसार अनुभूति सत्ता का प्रत्यक्ष अनुभव है, सहानुभूति नहीं। अनुभूति के क्षेत्र में विषय में भी दोनों में अन्तर है। मेरे विचार से इक़बाल की अनुभूति संबंधी धारणा अन्य रहस्यवादियों की धारणा से भिन्न नहीं है। उनका मत है कि अनुभूति गुणात्मक दृष्टि से साधारण अनुभव से भिन्न है। किन्तु जब वे अनुभूति को भाषा एवं विचार की कोटियों से परे मानते हैं तो अनुभूति साधारण से श्रेष्ठ ही नहीं प्रकार में भी भिन्न हो जाती है। रहस्यवादियों की धारणा भी मूलतः यही है।

(चार)

सर्वेश्वरवाद का खण्डन और आत्मा का स्वरूप

शंकर एवं देकार्त की तरह इक़बाल भी अनुभूति को अपने दर्शन का प्रस्थान बिन्दु मानते हैं। आत्मानुभूति के आधार पर ही ईश्वर का अस्तित्व समझा जा सकता है। इसी अनुभूति पर इक़बाल की तत्त्वमीमांसा आधारित है।

1. इक़बाल सिक्स लेक्चर्स, अध्याय एक।
2. इक़बाल सिक्स लेक्चर्स, अध्याय एक।
3. इक़बाल सिक्स लेक्चर्स, अध्याय एक।
4. इक़बाल सिक्स लेक्चर्स, अध्याय एक।

इक़बाल मानते हैं कि अनुभूति से ही हम आत्मा का अस्तित्व, स्वतंत्रता, क्रियाशीलता एवं अमरता का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

अपने दार्शनिक विकास की प्रथम अवस्था में इक़बाल सर्वेश्वरवादी थे, किंतु थोड़े समय बाद वार्ड, मैक्टैगर्ट एवं रूमी के अध्ययन से उन्होंने यह सिद्धांत त्याग दिया। लेक्चर्स एवं रूमी के अध्ययन से उन्होंने सर्वेश्वरवाद के विरुद्ध दो तर्क दिया है।

1. यदि सर्वेश्वरवाद सत्य है तो जगत् और उसके साथ जीवों का भी अस्तित्व मिथ्या हो जाता है। जीवों के मिथ्या हो जाने पर आकांक्षा, क्रिया एवं उत्तरदायित्व की सम्भावना समाप्त हो जाती है। किन्तु जगत् निरन्तर हमारे समक्ष उपस्थित रहता है और क्रिया तथा आकांक्षा का निषेध नहीं किया जा सकता। अतः जीवों का अस्तित्व है।

2. आत्मा अथवा जीव की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। सर्वेश्वरवाद भी किसी न किसी प्रकार की सत्ता मानता है और यह सत्ता आत्मा ही हो सकती है। आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। ईश्वर में इसका विलय नहीं माना जा सकता। इस प्रकार इक़बाल सर्वेश्वरवाद के स्थान पर जीवों का संगठन मानने लगे।

मोटे रूप में आत्मा की कल्पना दो प्रकार से की गई है। द्रव्य रूप में एवं पर्याय रूप में। बुद्धिवादियों के अनुसार आत्मा एक द्रव्य है और उसके अनुभव, विचार आदि उसके गुण हैं। इस रूप में आत्मा एक सरल, अमर इकाई है। इसका अस्तित्व चिन्तन से सिद्ध होता है। गज़ाली ने आत्मा का यही स्वरूप माना था। किन्तु आत्मा की यह धारणा इक़बाल को मान्य नहीं है। वे इस विषय में कांट की आलोचना[1] से पूर्णतः सहमत हैं उनके अनुसार आत्मा अनुभवों से भिन्न द्रव्य नहीं है, और विचार से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करना मात्र अनुमान है। अनुभववादियों ने आत्मा को अनुभवों की क्रमिक अवस्था या संतान माना है। किंतु अनुभववाद आत्मा की क्रमिक अवस्थाओं में किसी सम्बन्ध की व्याख्या नहीं कर पाता। आत्मा मात्र पर्यायों का प्रवाह नहीं है। अनुभवों के प्रवाह में एक इकाई भी है और यह इकाई है व्यक्तित्व का मूल तत्त्व।

इन दोनों सिद्धांतों की आलोचना कर इक़बाल अनुभूति का आश्रय लेते

1. इक़बाल सिक्स लेक्चर्स, पृ. 140.

हैं। आत्मा किसी प्रमाण से नहीं सिद्ध होता– काँट के नैतिक प्रमाण में भी नहीं। हमें आत्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है, और यह अनुभूति ही हमें आत्मा के वास्तविक स्वरूप तक ले जाती है। निस्सन्देह आत्मा सत्ता या प्रवाह है किंतु यह प्रवाह विभिन्न अनुभवों का असंबद्ध संगठन नहीं है। यह क्रमहीन परिवर्तन है, शुद्ध गति है। दो अनुभवों के मध्य किसी भी अर्थ में अंतर नहीं है। आत्मा ऐसा प्रवाह है जिसमें एक अनुभव दूसरे से अनुपूरित हैं, और तमाम अनुभवों में एक इकाई है। इक़बाल के अनुसार आत्मा अनेकता में एकता और एकता में अनेकता है। आत्मा क्रियाशील प्रवाह है। सोद्देश्य क्रियाशीलता ही इसका सार है।[1] इक़बाल के अनुसार आत्मा आकांक्षा, क्रिया एवं उपलब्धि के द्वारा ही अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है। जिसमें इन गुणों का अभाव है, वह मृतात्मा है। इसरार-ए-खुदी तथा अन्य रचनाओं में इक़बाल ने बहुत ही सुन्दर ढंग से इस तथ्य का चित्रण किया है। सोज़ और इश्क ही आत्मा की क्रियाशीलता तथा विकास के लिए जगत का होना आवश्यक मानते हैं। वाह्य जगत का अस्तित्व आत्मा के संबंध में ही संभव है। इसका मूल्य इसलिए है क्योंकि हमने इसे अपनी रुचि एवं मूल्यांकन से सार्थक किया है। जगत् नितांत वाह्य एवं आत्मविरोधी नहीं है। प्रकृति खुदी की अभिव्यक्ति है और खुदी के विकास एवं उपलब्धि के लिए आवश्यक है। ज्ञान के लिए ज्ञेय का होना आवश्यक है। अतः ज्ञाता ज्ञेय को उत्पन्न करता है। ज्ञाता ही ज्ञेय का स्रोत है। आत्मा और जगत् में आध्यात्मिक सम्बन्ध है। इक़बाल के अनुसार संपूर्ण सत्ता आत्म-रूप है। देशकाल के परिप्रेक्ष्य में आत्मा ही जगत् के रूप में व्यक्त होता है।[1] आत्मा की पूर्णता से मुँह मोड़ने जगत् से मुँह मोड़ने में नहीं बल्कि उस पर विजय प्राप्त करने में है। आत्मा एवं अनात्मा के द्वन्द्व में ही आत्मा अपनी प्रामाणिक सत्ता का अनुभव करता है।

इसी परिप्रेक्ष्य में इक़बाल ने आत्मा और शरीर के सम्बन्ध का विश्लेषण किया है। उनका कहना है कि जड़त्व का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं माना जा सकता।[2] देकार्त ने आत्मा एवं शरीर को पृथक् पृथक् द्रव्य माना था किंतु वह इन दोनों का संबंध दिखाने में सफल नहीं हुआ। इक़बाल पारस्परिक क्रियावाद और समानान्तरवाद दोनों की आलोचना करते है।[3] इक़बाल के अनुसार जब

1. इक़बाल सिक्स लेक्चर्स, पृ. 216-17.
2. इक़बाल सिक्स लेक्चर्स, पृ. 145.
3. इक़बाल सिक्स लेक्चर्स, पृ. 146.

मैं कोई कार्य करता हूँ तो मेरा कार्य एक अविभाज्य क्रिया है। इस क्रिया में शरीर और आत्मा के कार्य में अंतर करना असंभव है।[1] शरीर शून्य में स्थित ठोस वस्तु नहीं है, बल्कि घटनाओं अथवा क्रियाओं का संस्थान है। अनुभवों का संस्थान अथवा आत्मा भी क्रियाओं का संस्थान है। इसके द्वारा आत्मा और शरीर का अंतर समाप्त नहीं होता, बल्कि दोनों का घनिष्ठ संबंध व्यक्त होता है।[2] आत्मा स्वतः क्रियाशील है और शरीर इसकी अभिव्यक्ति अथवा आदत है। इस रूप में शरीर आत्मा से पृथक नहीं हो सकता।[3] जड़तत्व केवल निम्न स्थितियों वाले जीवों का संगठन है जिससे चेतना का विकास होता है।[4] जीवन और शरीर दोनों आत्म रूप हैं, और इसीलिए दोनों में संबंध संभव है।

अब हम इक़बाल के अनुसार आत्मा की अमरता एवं स्वतंत्रता की व्याख्या करेंगे। आत्मा की अमरता के लिए इस्लाम में व्याख्याएँ मिलती हैं। मुतकल्लिमीन विचारकों ने ग्रीक प्रभाव में आत्मा को सूक्ष्म प्रकार का अणु माना था किंतु यह धारणा बाद में अस्वीकृत कर दी गई। इब्न उल रश्द ने आत्मा की व्याख्या के लिए शुद्ध तत्त्वमीमांसा प्रणाली अपनाई। उसने 'नक्स' और 'रूह' के अंतर के आधार पर माना कि बुद्धि सार्वभौमिक एवं शाश्वत है, अतः अमर है। इक़बाल इस धारणा को भी नहीं मानते। इसी प्रकार इक़बाल ने कांट के नैतिक प्रमाण का भी खंडन किया है। हल्लाज एवं रूमी का अनुकरण करते हुए वे मानते हैं कि आत्मा वस्तु नहीं क्रिया है।

कुरान में सृष्टि के लिए दो शब्दों का प्रयोग किया गया है। 'खल्क' और 'अम्र'। ईश्वर 'खल्क' द्वारा जगत् की रचना करता है और 'अम्र' द्वारा आत्माओं को उत्पन्न करता है। 'खल्क' रचना है किन्तु 'अम्र' निर्देश है। ईश्वर के निर्देश से आत्माओं की उत्पत्ति होती है। निर्देश ईश्वर की निर्देशक शक्ति है। निर्देशक शक्ति से उत्पन्न होने के कारण आत्मा का स्वभाव द्रव्यात्मक नहीं बल्कि निर्देशात्मक (गत्यात्मक) है।[5] मेरा वास्तविक व्यक्तित्व द्रव्य नहीं अपितु क्रिया है।[6] मेरे अनुभव विच्छिन्न नहीं अपितु परस्पर ओतप्रोत हैं।

---

1. इक़बाल सिक्स लेक्चर्स, पृ. 147.
2. इक़बाल सिक्स लेक्चर्स, पृ. 147.
3. इक़बाल सिक्स लेक्चर्स, पृ. 147.
4. इक़बाल सिक्स लेक्चर्स, पृ. 147.
5. इक़बाल सिक्स लेक्चर्स, पृ. 143.
6. इक़बाल सिक्स लेक्चर्स, पृ. 144.

इस प्रकार ईश्वर ने अपनी निदेशक शक्ति से आत्माओं की उत्पत्ति की। अर्थात् आत्मा अजन्मा नहीं है। इसका विकास निम्न आत्माओं के जटिल संघात से होता है। जैसा इक़बाल कहते हैं यह व्याख्या प्राणिशास्त्रीय है। उनके अनुसार आत्मा की अमरता के लिए किसी प्रकार का प्रमाण नहीं दिया जा सकता, न आत्मा की अमरता को तथ्य के रूप में लिया जा सकता है। आत्मा की अमरता अनुभूति से ही ज्ञात होती है। जैसा कि ऊपर देख चुके हैं इक़बाल दैशिक काल एवं वास्तविक काल में अंतर करते हैं। जड़ वस्तुएँ दैशिक काल में स्थित हैं, किंतु आत्मा वास्तविक काल में। वास्तविक काल में स्थित होने का अर्थ क्रमिक काल से आबद्ध होना नहीं है बल्कि प्रतिरक्षण इसका निर्माण करना है।.....।"[1] वास्तविक काल में स्थित होने के कारण ही आत्मा अपनी अमरता का अनुभव करता है। वास्तविक काल में वर्तमान क्षण में ही भूत एवं भविष्य विद्यमान है। अतः आत्मा की अमरता गुणात्मक है, मात्रात्मक नहीं और इसका साक्षात्कार अनुभूति से हो सकता है। किंतु इक़बाल के अनुसार आत्मा तथ्यात्मक नहीं है। ईश्वर के 'अम्र' से आत्मा की उत्पत्ति होती है और अमरता प्राप्त करने के लिए उससे सतत संघर्ष करना पड़ता है। "वैयक्तिक अमरता हमारा अधिकार नहीं है, इसे अपने ही प्रयास से प्राप्त करना है।"[2] कुरान के अनुसार ईश्वर से प्रत्येक आत्मा को अमरता की संभावना दी है, किंतु इस अमरता को अपने ही प्रयास से प्राप्त करना पड़ता है। मृत्यु के बाद 'वरजख' की अवस्था भी निष्क्रियता नहीं है। यहाँ भी आत्मा को 'पुनरुत्थान' के लिए क्रियाशील रहना पड़ता है। मृत्यु के पश्चात आत्मा विश्वात्मा में विलीन नहीं हो जाता। निर्णय के दिन वह भी अपनी वैयक्तिकता के साथ ही ईश्वर का साक्षात्कार करता है। किंतु यह वैयक्तिकता उसे सतत प्रयास एवं विकास से ही प्राप्त होती है। इस प्रकार इक़बाल के अनुसार अमरता एक आदर्श है जो प्राप्त भी हो सकता है और नहीं भी।

वास्तविक काल में स्थिति ही आत्मा की स्वतंत्रता है। इक़बाल के अनुसार हमारी प्रत्येक क्रिया में स्वतंत्रता व्यक्त होती है। यह स्वतंत्रता मनुष्य की सृजनात्मक क्रियाशीलता है। प्रकृति इस क्रियाशीलता में बाधक नहीं, अपितु साधक है। प्रकृति के क्षेत्र में ही आत्मा की क्रियाशीलता व्यक्त होती है। आत्मा का निदेशात्मक होना ही इसकी स्वतंत्रता सिद्ध करता है।[3] ईश्वर अपनी स्वतंत्रता को स्वेच्छा से सीमित कर आत्माओं की उत्पत्ति करता है और उन्हें स्वतंत्रता

1. इक़बाल सिक्स लेक्चर्स, पृ. 68.
2. इक़बाल सिक्स लेक्चर्स, पृ. 165.
3. इक़बाल सिक्स लेक्चर्स, पृ. 151.

प्रदान करता है।[1] इस प्रकार अमरता की भाँति स्वतंत्रता भी प्रयास से अर्जित होती है।[2] इसी सम्बन्ध में इक़बाल 'तकदीर' की व्याख्या करते हैं। वे यह मानते हैं कि ऐतिहासिक कारणों से इस्लाम में 'तकदीर' का अर्थ परतन्त्रता मान लिया गया, किन्तु यह धारणा कुरान सम्मत नहीं है। रूमी की तरह वे मानते हैं कि ईश्वर निःसन्देह मनुष्य को उसकी तकदीर प्रदान करता है किन्तु 'तकदीर' केवल उसकी संभावना है।[3] 'तकदीर' स्वतंत्रता में बाधक नहीं है, बल्कि स्वतंत्रता की ही उपलब्धि है। इसी संबंध में इक़बाल पूर्णमानव की व्याख्या करते हैं, जिसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। पूर्णमानव मूसा की भाँति सत्ता के प्रकाश से आँख नहीं फेर लेता बल्कि मुस्करा कर उसका साक्षात्कार करता है। वह पूर्ण सत्ता में विलीन नहीं होता बल्कि पूर्णसत्ता को अपने में समाहित कर लेता है। यह सामर्थ्य उसमें सोज, इश्क और फक्र से आती है।

इक़बाल के आत्मा के प्रत्यय में कई महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं। वे काल को विषयिगत मान कर तथा दैशिक क़ाल एवं वास्तविक (शुद्ध वर्तना) में अंतर कर सफलतापूर्वक दिखाते हैं कि किस प्रकार आत्मा देश तथा दैशिक कोटियों से परे है। आत्मा को द्रव्य तथा मात्र क्रमिक अवस्थाओं का प्रवाह न मान कर उसे वास्तविक काल में घटित होने वाले परस्पर ओतप्रोत अनुभवों की सतत विकासशील इकाई मानना भी इक़बाल की महत्त्वपूर्ण देन है। इसी प्रकार मनुष्य के कार्य को एक अविभाज्य क्रिया मानना जिसमें आत्मा तथा शरीर के कार्यों में अंतर नहीं किया जा सकता मानवीय व्यक्तित्व का सही विश्लेषण है। किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि उनके विचारों में कठिनइयाँ नहीं हैं। शुद्ध संप्रत्ययात्मक एवं तार्किक दृष्टि से उनका मत पुष्ट नहीं है। इक़बाल का यह विचार ठीक है कि आत्मा द्रव्य या अनुभवों का संतान मात्र नहीं है। यह भी ठीक है कि आत्मा अनिवार्य रूप से इकाई है और हमें अनुभूति से इसका ज्ञान होता है। किंतु क्रमहीन एवं परस्पर ओतप्रोत अनुभव इकाई की अनुभूति की व्याख्या नहीं कर सकता। यह कहने से कठिनाई दूर नहीं होती कि आत्मा देश में नहीं बल्कि शुद्ध वर्तना में स्थित है। इसी प्रकार मानवीय क्रिया के विश्लेषण से इक़बाल को यह निष्कर्ष निकालना चाहिए था कि व्यक्ति मूलकोटि है, आत्मा तथा शरीर उसे समझने की दो दृष्टियाँ हैं। किन्तु इस महत्त्वपूर्ण तथ्य तक वे

---

1. इक़बाल सिक्स लेक्चर्स, पृ. 151.
2. इक़बाल सिक्स लेक्चर्स, पृ. 151.
3. खुदी को कर बुलन्द इतना कि हर तकदीर के पहले।
   खुदा बंदे से खुद पूछे बता तेरी रजा क्या है।।

नहीं पहुँच सके और अंत तक आत्मा तथा शरीर का द्वैत मानते रहे। इसी कारण उनकी आत्मा तथा शरीर के संबंध की व्याख्या भी संतोषजनक नहीं है। इक़बाल लाइब्नित्श की तरह मानते हैं कि शरीर निम्न स्तर वाले जीवों का संगठन है। किन्तु शरीर को निष्क्रिय जड़ तत्त्व न मानकर जीवों का संगठन मानने से समस्या का समाधान नहीं हो जाता। प्रश्न ज्यों का त्यों रह जाता है : एक विकसित चेतना वाले जीव का उसके शरीर का निर्माण करने वाले अविकसित जीवों से संबंध कैसे संभव है?

इसी प्रकार स्वतंत्रता तो अनुभूति से सिद्ध की जा सकती है, किंतु अमरता नहीं। हम प्रत्येक निर्णय, संकल्प एवं क्रिया में अपनी स्वतंत्रता का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। किंतु अमरता की अनुभूति कैसे हो सकती है? अमरता के लिए किसी न किसी प्रकार का प्रमाण आवश्यक है। स्वतंत्रता एवं वर्तना की अनुभूति अमरता की अनुभूति नहीं है। यही नहीं इक़बाल की अमरता की धारणा भी दोषमुक्त नहीं है। इसमें दो कठिनाइयां हैं। एक तो यह कि इक़बाल आत्मा का जन्म मानते हैं किंतु जिसका जन्म होता है, उसकी मृत्यु अनिवार्य नहीं है तो संभव अवश्य है। मृत्यु न भी हो तो जिसका आरंभ है वह अमर नहीं। वास्तविक अर्थ में वह अमर नहीं है, जिसका न आदि हो न अंत। एक के भी होने पर अमरता असंभव है। ईश्वर इसलिए अमर है क्योंकि वह अजन्मा है। जन्म और अमरता एक साथ मानना असंभव है। यदि इक़बाल ने यहाँ रूमी का अनुकरण किया होता तो यह कठिनाई उत्पन्न न होती। रूमी के अनुसार ईश्वर आत्मा का निर्माण नहीं करता। उसने आदम में आत्मा का 'प्रवेश' मात्र किया था। अर्थात् आत्मा अजन्मा एवं शाश्वत है। ईश्वर केवल उसे एक विशेष शरीर से संबंधित कर देता है। किंतु यह विश्वास कुरान की परंपरागत व्याख्या के अनुरूप नहीं है। संभवतः इसीलिए इक़बाल ने इसे नहीं माना। दूसरी कठिनाई यह है कि इक़बाल के अनुसार अमरता अपने प्रयास से प्राप्त की जा सकती है। किंतु आत्मा यदि अपने प्रयास में कभी निष्क्रिय न हो तब भी अमरता प्राप्त ही हो जाय यह आवश्यक नहीं। यदि अमरता तथ्य नहीं है, अथवा आत्मा का स्वाभाविक रूप नहीं है, तो अपने अनवरत प्रयास के होते हुए भी अन्य अधिक शक्तिशाली सत्ता द्वारा आत्मा का विनाश संभव है। इस स्थिति में केवल ईश्वर ही उसकी रक्षा कर सकता है, किंतु तब जन्म की ही भाँति आत्मा की अमरता भी ईश्वर की इच्छा पर निर्भर है। यही कठिनाई आत्मा की अमरता भी ईश्वर की इच्छा पर निर्भर है। यही कठिनाई आत्मा की स्वतंत्रता में भी है। इक़बाल के अनुसार ईश्वर अपनी स्वतंत्रता सीमित कर आत्मा को स्वतंत्रता प्रदान करता है। तात्पर्य यह कि वह मनुष्य पर निर्भर है। दी हुई स्वतंत्रता वास्तविक स्वतंत्रता नहीं है। संभवतः

वास्तविक स्वतंत्रता निम्न स्थितियों में ही संभव है। (1) जब ईश्वर अनिवार्यतः जीवों में विभक्त माना जाय (मैक्टैगर्ट) (2) जीव और ईश्वर अभिन्न हों (शकर), या (3) ईश्वर न हो केवल जीव हो (नीत्शे)। जीव को ईश्वर की सृष्टि मानने से न अमरता की व्याख्या हो सकती है, न स्वतंत्रता की। संभवतः इक़बाल ने आत्मा को स्वभावतः अमर एवं स्वतंत्र इसलिए नहीं माना क्योंकि ऐसा मानने पर क्रिया एवं संघर्ष के लिए स्थान न रह जायगा। किंतु यह सत्य नहीं है। आत्मा के स्वभावतः अमर एवं स्वतंत्र होने पर भी उसे इसका बोध क्रिया एवं संघर्ष द्वारा ही हो सकता है। अन्यथा उसकी सत्ता एक शाश्वत किंतु मृत अणु की सत्ता ही रह जायेगी।

(पाँच)

जगत्

इक़बाल के अनुसार वाह्य जगत् की सत्ता वास्तविक है। इन्द्रियप्रत्यक्ष से वाह्य जगत् का अस्तित्व सिद्ध होता है। ज्ञान के विश्लेषण से भी वाह्य जगत् की सत्ता सिद्ध होती है। प्रत्येक ज्ञान में ज्ञाता एवं ज्ञेय का द्वैत बना रहता है जिससे ज्ञेय के रूप में वाह्य जगत् के अस्तित्व का निषेध नहीं किया जा सकता। अंत में मानवीय क्रिया से भी वाह्य जगत् का अस्तित्व सिद्ध होता है। हमारी प्रत्येक क्रिया एक विशेष परिवेश में ही संभव है। इन परिवेशों से ही वाह्यजगत् बना हुआ है। किंतु इस जगत् का स्वरूप क्या है?

कुरान का उद्धरण देते हुए इक़बाल मानते हैं कि जगत् की रचना मात्र खेल नहीं है। इसका एक विशेष उद्देश्य है, अर्थात् जगत् की रचना निरुद्देश्य नहीं है। नीत्शे के अनुसार सृष्टि का कोई उद्देश्य नहीं है। वर्गसां का भी यही मत है। उसके अनुसर उद्देश्य भी एक प्रकार का मंत्रवाद है। इक़बाल इस मत का खंडन करते हैं। उनके अनुसार यदि उद्देश्य पूर्वनिर्धारित है तो निस्संदेह यह एक प्रकार का मंत्रवाद है। इक़बाल इस मत का खंडन करते हैं। किंतु उद्देश्य को खुली संभावना मान लेने पर यह कठिनाई दूर हो जाती है। जैसे हम अपनी प्रत्येक क्रिया में नये उद्देश्य का निर्माण करते हैं, वैसे ही जगत् भी अपने विकास में नित्य नवीन उद्देश्यों की सृष्टि करता है। सत्ता अंध प्रेरणा मात्र नहीं है। यह पूर्णतः सोद्देश्य है।[1]

इक़बाल मानते हैं कि जगत् वर्द्धमान है। यह स्थिर, विकास रहित एवं

1. इक़बाल सिक्स लेक्चर्स, पृ. 73-74.

गतिशून्य सत्ता नहीं है। ईश्वर ने जगत् का निर्माण इस प्रकार किया है कि अपनी इच्छानुसार इसकी वृद्धि कर सकता है। इक़बाल ने इस संघर्ष में आइंस्टाइन के 'सांत किंतु सीमाहीन' देश तथा 'विकासशील' जगत् की धारणाओं का उल्लेख किया है। वे नीत्शे के नित्यावर्तन सिद्धांत का खंडन करते हैं और जगत! के निरन्तर विकास को स्वीकारते हैं।

किंतु मूल प्रश्न है, जगत् अचेतन है या चेतन? इक़बाल के अनुसार अनुभव जिस रूप में काल में व्यक्त होता है, उसके तीन स्तर हैं– जड़तत्व, जीवन और मन। इनका अध्यापन क्रमशः भौतिकी, प्राणिशास्त्र एवं मनोविज्ञान में होता है। भौतिकी में इन्द्रिय प्रत्यक्षों का अध्ययन होता है। इनकी व्याख्या के लिए वैज्ञानिक अणुओं की कल्पना करता है। इस प्रकार वह मानता है कि जगत् रिक्त देश में स्थित ठोस एवं स्थिर वस्तुओं का बना है। बार्कले ने इस सिद्धांत का खंडन किया था। आधुनिक काल में व्हाइटहेड ने इस सिद्धांत का खंडन किया। इस प्रकार आइंस्टाइन ने दिखाया कि जगत् ठोस वस्तुओं से नहीं बल्कि परस्पर ओतप्रोत घटनाओं से बना है। वर्गसां के अनुसार सत्ता का मूल रूप शुद्ध गति है। गति जैसा हम उसे अनुभव करते हैं अविभाज्य है। आइंस्टाइन के अनुसार देश वास्तविक किंतु दर्शक-सापेक्ष है, और देश तथा जड़ तत्त्व परस्पर आश्रित हैं। किंतु इक़बाल के अनुसार काल को चतुर्थ आयाम मानना ठीक नहीं है। देश और काल के आयाम ज्ञाता की चेतनानुसार परिवर्तित होते रहते हैं।

इक़बाल के अनुसार आधुनिक विज्ञान वाह्य जगत की व्याख्या की सही दिशा की ओर संकेत करता है, किन्तु वह इसकी आंतरिक सत्ता तक ले जाने में असमर्थ है। हम वाह्य जगत् की वास्तविक व्याख्या अपने अनुभव के आधार पर ही कर सकते हैं। हम अपनी आत्मा जो अनुभूति से जानते हैं। आत्मानुभूति के सादृश्य पर ही वाह्य जगत् की व्याख्या की जा सकती है। वर्गसां के अनुसार वाह्य जगत् का ज्ञान अनुभूति का अर्थ होगा आत्मा का वाह्य जगत् से तादात्म्य अथवा विलीनीकरण। अतः इक़बाल सादृश्य को ही इसकी व्याख्या का आधार मानते हैं।[1]

जब हम आत्म-निरीक्षण करते हैं तो ज्ञान होता है कि हम बिना किसी व्यवधान या क्रम के निरंतर परिवर्तित होते रहते हैं। हमारे आंतरिक अनुभव में कुछ भी स्थिर नहीं है – केवल सतत् परिवर्तन है। किन्तु सतत् परिवर्तन बिना काल के असंभव है। अनुभूति से सिद्ध होता है कि ग्राही आत्मा शुद्ध काल में सतत् गतिशील है। शुद्ध काल में गति का परिवर्तन है किन्तु क्रम या

1. इक़बाल, सिक्स लेक्चर्स, पृ. 63.

व्यवधान नहीं है। शुद्ध काल पूर्ननिर्धारित तत्त्वों को उत्पन्न नहीं करता, बल्कि नित्य नये तत्त्वों को उत्पन्न करता है। ग्राही आत्मा का काल एक क्षण है, जिसे बुद्धि अनेक क्षणों में विभक्त करती है। अतः इक़बाल मानते हैं कि वाह्यजगत् हमारे चेतन अनुभव के सादृश्य पर, एक स्वतंत्र सृजनशील गति है।[1] ठोस वस्तु की निष्पत्ति गति से होती है, न कि गति की ठोस वस्तु से वस्तुएँ द्रव्य नहीं बल्कि गति हैं।[2] जगत् भी काल में है, किन्तु काल में होना आत्माओं का गुण है, अतः जगत् भी आत्मा है। जगत् का स्वरूप आत्मवत् है। यह जीवित तत्त्व है।

वर्गसां के अनुसार सत्ता स्वतंत्र, अनिर्धारित, सृजनशील संकल्प शक्ति है, जिसे विचार वस्तुओं में परिवर्तित कर देता है, किन्तु इक़बाल वर्गसां के संकल्प एवं विचार के द्वैत को नहीं मानते।[3] इक़बाल के अनुसार विचार भी गत्यात्मक एवं आंगिक है।[4] विचार एवं जीवन अभिन्न है। इसी प्रकार इकबाल मूल संकल्प को अन्य शक्ति नहीं मानते। प्रत्येक गति सोद्देश्य सृजन है। वर्गसां के अनुसार मूल संकल्प जीवित रहने का संकल्प है। नीत्शे के अनुसार यह शक्ति का संकल्प है। किन्तु इकबाल के अनुसार यह श्रेष्ठ एवं पूर्ण जीवन का संकल्प है। इसे खुदी का संकल्प कहा जा सकता है।[5]

इस प्रकार इक़बाल के अनुसार वाह्य जगत् को आत्मा के सादृश्य पर आत्मा मानना चाहिए। सभी वस्तुएँ 'परम-मैं-हूँ' की अभिव्यक्ति है। परम सत्ता आत्मा है, और आत्मा से आत्माओं की ही अभिव्यक्ति होती है। सृजनशील शक्ति जीव-इकाइयों के रूप में ही कार्य करती है। प्रत्येक अणु आत्मा है। वाह्य जगत् कमोवेश रूप में विकसित आत्माओं का समूह है। जड़तत्त्व निम्नस्तर वाले जीवों का समाज है, जिससे उच्चस्तर की चेतना का विकास होता है।[6] ईश्वर अपने को सान्त केन्द्रों में व्यक्त करता है, अतः सभी वस्तुएँ मूल रूप में आत्मा हैं। और प्रकृति ईश्वर का स्वभाव है।[7] मन और शरीर दोनों मूलतः एक ही प्रकार के हैं और इक़बाल का दर्शन आध्यात्मिक बहुत्ववाद है।

अंत में इक़बाल के अनुसार जगत् स्वतंत्र एवं सृजनशील प्रवाह है।

---

1. इक़बाल, सिक्स लेक्चर्स, पृ. 69.
2. इक़बाल, सिक्स लेक्चर्स, पृ. 70.
3. इक़बाल, सिक्स लेक्चर्स, पृ. 70
4. इक़बाल, सिक्स लेक्चर्स, पृ. 7.
5. डॉ. इशरत हसन अनवर, दी मेटाफिजिक्स आव इक़बाल, पृ. 59.
6. इक़बाल, सिक्स लेक्चर्स, पृ. 147.
7. इक़बाल, सिक्स लेक्चर्स, पृ. 76.

इसका मूल रूप में आध्यात्मिक है,[1] और प्रतिक्षण इसका विकास हो रहा है।। जगत् के विकास की कोई अंतिम अवस्था नहीं है। यह विकास शुद्ध काल में ही संभव है।

वाह्य जगत् के संबंध में इक़बाल का सिद्धान्त स्पष्ट रूप से मानवतारोपी सिद्धांत है और इक़बाल ने स्वीकार किया वे मानते हैं कि हम अपने स्वभाव एवं अनुभव के सादृश्य पर ही जगत् की व्याख्या कर सकते हैं। इक़बाल लाइब्नित्श तथा वार्ड की तरह मानते हैं कि संपूर्ण जगत् विभिन्न मात्रा में विकसित जीवों का संस्थान है। डॉ. अनवर के अनुसार इक़बाल लाइब्नित्श से भी आगे जाकर मानते हैं कि जगत् मूलतः भावनात्मक, संकल्पनात्मक एवं वैचारिक है। यही नहीं इक़बाल संकल्प एवं विचार में विरोध नहीं मानते।[2] इस प्रकार इक़बाल ने सर्वेश्वरवाद का खण्डन करके सर्वजीववाद की स्थापना की है। मैं यहाँ सर्वजीववाद की आलोचना नहीं करना चाहता, किन्तु इतना बताना आवश्यक है कि यदि इक़बाल का सर्वजीववाद सत्य है तो 'सल्क' और 'अभ्र' में अंतर नहीं किया जा सकता। विभिन्न जीवों में केवल चेतना के विकास का अंतर है, अन्यथा वे एक से हैं। इस स्थिति में संपूर्ण जगत् की अभिव्यक्ति 'अभ्र' से ही हो सकती है। एक बात और। आधुनिक विज्ञान ने जगत् की व्याख्या शक्ति के रूप में अवश्य ही की है किन्तु यह शक्ति भौतिक या जड़ है, आध्यात्मिक या चेतन नहीं। इसका उपयोग जगत् की आध्यात्मिक व्याख्या के लिए नहीं हो सकता।

(छः)

ईश्वर

इक़बाल के अनुसार ईश्वर का अस्तित्व तर्क द्वारा नहीं सिद्ध किया जा सकता।[3] इक़बाल के तर्क मुख्यतया कांट से लिये गये हैं। उनके अनुसार कारणात्मक तर्क सान्त का निषेध करके ही अनन्त की स्थापना कर सकता है, किन्तु वास्तविक अनन्त सान्त का निषेध नहीं करता। इसी प्रकार सत्ता की अनिवार्यता कारणता के प्रत्यय की अनिवार्यता से भिन्न है, और यह तर्क केवल दूसरे को ही सिद्ध कर सकता है। उद्देश्यमूलक तर्क से केवल ऐसी शक्ति का अस्तित्व सिद्ध होता है जो दिये हुए उपादान से जगत् की रचना करता है। ऐसी शक्ति उपादान की प्रकृति से सांत ही हो सकती है। अंत में

1. इक़बाल, सिक्स लेक्चर्स, पृ. 52-99.
2. डॉ. इशरत हसन अनवर, दी मेटाफिजिक्स आव इक़बाल, पृ. 60-नोट.
3. इक़बाल, सिक्स लेक्चर्स, पृ. 29.

सत्तामूलक तर्क प्रत्यय द्वारा अस्तित्व सिद्ध करता है, किन्तु यह संभव नहीं है। किन्तु इक़बाल यह भी मानते हैं कि यदि विचार को वस्तु का निर्माणकारी अवयव माना जाय तो यह तर्क उचित हो सकता है। हमारी वर्तमान स्थिति में विचार और अस्तित्व में अनिवार्य द्वैत है, पर यदि यह दिखाया जा सके कि मानवीय स्थिति अंतिम नहीं है और विचार तथा सत्ता अंत में 'एक है, तो इस तर्क का महत्त्व दिखाया जा सकता है।'[1]

इक़बाल के अनुसार यदि हम अपने अनुभव की परीक्षा करें तो ज्ञात होता कि हमारे संपूर्ण अनुभव का आधार एक सृजनशील संकल्प है जो परम आत्मा है और कुरान में 'अल्लाह' नाम दिया गया है। परम आत्मा व्यक्ति है, व्यक्तित्वहीन नहीं। जैसा हम पहले ही कह चुके हैं इक़बाल ने आंरभ में ईश्वर को शाश्वत् सौंदर्य माना था, किन्तु बाद में सौंदर्य को ईश्वर का केवल एक गुण माना। अब उन्होंने सौंदर्य की अपेक्षा संकल्प को सत्ता का मूल रूप माना। ईश्वर सांत आत्माओं में अपने को व्यक्त करता है, अतः आत्मा के माध्यम से ही ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान हो सकता है। और अंत में इक़बाल ने संपूर्ण सत्ता को परम आत्मा मानते हुए सृजनशील संकल्प और गति पर अधिक बल दिया है।

ईश्वर 'संपूर्ण सत्ता' है और संपूर्ण अनिवार्यतः आध्यात्मिक है – अर्थात् वह आत्मा एवं व्यक्ति है। मानवीय आत्मा की तरह वह अनुभवों की इकाई है, अतः उसे आत्मा ही माना जा सकता है। इक़बाल के अनुसार ईश्वर इसलिए भी आत्मा है कि वह हमारी प्रार्थना सुनता है और उसका उत्तर देता है।[2] प्रत्युत्तर ही आत्मा का मापदंड है।[3] वास्तव में ईश्वर पूर्ण अथवा परम आत्मा है। सभी वस्तुएँ ईश्वर में ही है। उसके बाहर कुछ नहीं है।

यहाँ कहा जा सकता है कि यदि ईश्वर व्यक्ति है तो वह अनंत नहीं हो सकता। किन्तु इक़बाल का मत है कि ईश्वर दैशिक अर्थ में अनंत नहीं है।[4] देश एवं काल वस्तुएँ नहीं हैं वे केवल परम आत्मा की क्रिया के बुद्धिनिर्मित रूप हैं। ईश्वर की क्रिया से स्वतंत्र देश काल का अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार ईश्वर की अनंतता ईश्वर की सृजनशील क्रिया की अनंत संभावनाओं में निहित है, न उसके दैशिक विस्तार में। ईश्वर की अनंतता गहनता या अतिशयता है।

---

1. इक़बाल, सिक्स लेक्चर्स, पृ. 43.
2. इक़बाल, मैक्टैगर्टस फिलासफी।
3. इक़बाल, मैक्टैगर्टस फिलासफी।
4. इक़बाल, सिक्स लेक्चर्स, पृ. 89.

उससे अनंत शृंखला उत्पन्न होती है, किन्तु वह स्वयं यह शृंखला नहीं है।

इक़बाल के अनुसार ईश्वर की अन्य बुद्धिग्राह्य विशेषताएँ सृजनशीलता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता एवं शाश्वतता है। साधारण आत्मा के लिए प्रकृति 'अन्य' तत्त्व है, किन्तु ईश्वर के लिए यह 'अन्य' नहीं है। यह ईश्वर की सतत् क्रियाशीलता की अभिव्यक्ति है। इस क्रियाशीलता में इस अर्थ में उत्पत्ति नहीं होती जिसमें वस्तु की उत्पत्ति के पूर्व एवं पश्चात् में अंतर होता है। यह ऐसी क्रिया का प्रवाह है जिसमें क्रम या व्यवधान नहीं है। क्रम, व्यवधान एवं पृथकता केवल मानवीय बुद्धि के कारण आभासित होते हैं।[1] यह क्रियाशीलता निरंतर वर्द्धमान है। इसका कोई पूर्व निर्धारित रूप नहीं है। ईश्वर की क्रियाशीलता स्वतंत्र है। अतः स्वतंत्र, सृजनात्मक संकल्प ही ईश्वर की प्रकृति है। किन्तु यह संकल्प अंध शक्ति नहीं है, यह नित्य अपने उद्देश्य की सृष्टि करता रहता है। इसमें विचार एवं संकल्प एक है। ईश्वर की क्रिया दैशिक काल में नहीं बल्कि शुद्ध काल में होती है।

ईश्वर सर्वज्ञ है। उसका ज्ञान साधारण आत्माओं की भाँति द्वैत बोधक नहीं है। ईश्वर की सत्ता अथवा ज्ञान में किसी प्रकार का द्वैत नहीं है। इक़बाल के अनुसार ईश्वर की सर्वज्ञता केवल घटनाओं का ज्ञान मात्र नहीं है। उसका ज्ञान अपनी ही क्रियाशीलता का ज्ञान है। इस ज्ञान में क्रिया एवं ज्ञान अभिन्न है। क्रिया एवं ज्ञान तथा ज्ञान एवं क्रिया एक साथ है। इसी प्रकार ईश्वर को भविष्य का ज्ञान है, किन्तु उसके ज्ञान में भविष्य की केवल संभावना विद्यमान है, पूर्वनिर्धारित इतिहास नहीं।[2]

ईश्वर सर्वशक्तिमान है, किन्तु सर्वशक्तिमान का अर्थ अंध असीमित शक्ति नहीं है। एक विशेष अर्थ में यह सीमित है और सीमित होना इसके स्वभाव से ही सिद्ध होता है। ईश्वर किसी वाह्य शक्ति से सीमित नहीं है क्योंकि उसके बाहर कुछ नहीं है। न यह किसी पूर्व निर्धारित साध्य से सीमित होता है क्योंकि ईश्वर स्वतंत्र क्रियाशील शक्ति है। ईश्वर स्वयं अपना साध्य निर्धारित करता है और इस प्रकार अपना संकल्प सीमित करता है। यहाँ एक गंभीर समस्या उत्पन्न होती है। यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान एवं शुभ संकल्प वाला है तो अशुभ क्यों है? इक़बाल के अनुसार ईश्वर मनुष्य की परीक्षा एवं पूर्णता की प्राप्ति के लिए अशुभ की उत्पत्ति करता है।[3] मनुष्य के विकास के

---

1. इक़बाल, सिक्स लेक्चर्स, 91, नोट : यहाँ एक विरोध लगता है। एक ओर जड़ तत्व को वास्तविक माना गया है और दूसरी ओर बुद्धिजन्य।
2. इक़बाल, सिक्स लेक्चर्स, पृ. 109.
3. इक़बाल, सिक्स लेक्चर्स, पृ. 118

लिए अशुभ आवश्यक है किन्तु यह अंतिम सत्य नहीं है। इसी प्रकार ईश्वर अपने संकल्प को सीमित कर मनुष्य को स्वतंत्रता प्रदान करता है। ईश्वर शाश्वत है। परम आत्मा होने के कारण ही वह शाश्वत है। किन्तु शाश्वत होने का अर्थ दैशिक काल में स्थिति नहीं है। दैशिक काल में जो भी वस्तु है, उसका आदि और अंत है, किन्तु हम अपने अनुभव से जानते हैं कि हमारे अनुभव में क्रमिक परिवर्तन नहीं होता। हामारी आंतरिक अनुभूतियाँ परस्पर ओतप्रोत हैं। यह स्थिति शुद्ध वर्तमान में ही संभव है। इसमें भूत वर्तमान में समाहित है और भविष्य संभावना रूप में वर्तमान में निहित है। परम आत्मा इसी शुद्ध वर्तना में स्थित है। संपूर्ण सृष्टि ईश्वर के वर्तमान क्षण में निहित है और इस क्षण में किसी प्रकार का क्रम या व्यवधान नहीं है। वास्तव में परम आत्मा स्वयं काल का स्रोत है, अतः काल से पूर्ण है।

ईश्वर के स्वरूप पर विचार करने के पश्चात् यह जानना आवश्यक हो जाता है कि ईश्वर एवं मानवीय आत्मा में क्या संबंध है? इक़बाल के अनुसार आत्माएँ ईश्वर में विलीन नहीं होती, उनका पृथक् अस्तित्व बना रहता है।

ईश्वर आत्माओं के परे हमी नहीं हैं। इक़बाल के अनुसार अन्य आत्माएँ परम आत्मा पर निर्भर हैं। परम आत्मा इन आत्माओं में व्याप्त है। किन्तु दोनों का पृथक भाव सदैव बना रहता है। इक़बाल की स्थिति बहुत कुछ रामानुज के सदृश है। इक़बाल के अनुसार रहस्यानुभूति में केवल कुछ समय के लिए व्यक्तित्व परम आत्मा इन आत्माओं में व्याप्त है। किन्तु दोनों का पृथक् भाव सदैव बना रहता है। इक़बाल् की स्थिति बहुत कुछ रामानुज के सदृश है। इक़बाल के अनुसार रहस्यानुभूति में केवल कुछ समय के लिए व्यक्तित्व परम आत्मा में निमग्न होता है, किन्तु इस समय भी उसकी समाप्ति नहीं होती। ईश्वर सृष्टि में व्याप्त भी है और परे भी। इस प्रकार ईश्वर आत्मा से भिन्न और अभिन्न दोनों है। इसी संदर्भ में इक़बाल प्रार्थना के अर्थ एवं महत्त्व की व्याख्या करते हैं। धार्मिक चेतना उपास्य एवं उपासक के द्वैत में ही संभव है। प्रार्थना उपास्य एवं उपासक का गहनतम संबंध है। वास्तविक प्रार्थना न तो जादुई परिणाम के लिए है न फल की प्राप्ति के लिए। प्रार्थना मनुष्य की प्रकृति में निहित है। प्रार्थना चिंतन का ही एक रूप है। सत्य के सभी अन्वेषण प्रार्थना ही हैं। सभी प्रकार की प्रार्थना विश्व की भयानक चुप्पी में मनुष्य के मन में प्रत्युत्तर की आकांक्षा की अभिव्यक्ति है।[1] प्रार्थना से हमारी भावनाएँ उदात्त होती हैं, और हमारे संकल्प को शक्ति मिलती है। प्रार्थना में ही ईश्वर से घनिष्टतम संबंध स्थापित होता है।

---

1. इक़बाल, सिक्स लेक्चर्स, पृ. 127

इक़बाल की ईश्वर की धारणा वैयक्तिक ईश्वर की धारणा है। इस धारणा में जो कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं, वे सब इक़बाल के दर्शन में भी विद्यमान हैं। ईश्वर की सृजनशील, चेतन संकल्पात्मक सत्ता मान लेने पर भी ये कठिनाइयाँ दूर नहीं होती। सबसे बड़ी कठिनाई है ईश्वर के स्वरूप का मानवीकरण। जैसा हम ऊपर कह चुके हैं इक़बाल के दर्शन पर कई दार्शनिकों का प्रभाव है, किन्तु इन प्रभावों को वे सुसंगठित रूप नहीं दे सके। उदाहरण के लिए वर्गसां के प्रभाव में संपूर्ण सत्ता को सृजनात्मक प्रवाह मानते हैं कि सृजनशील क्रिया की सभी अवस्थाएँ परस्पर ओतप्रोत हैं, किन्तु आत्माओं को, जिनकी उत्पत्ति इसी सृजनशील क्रिया से होती है, इस क्रिया से ही नहीं बल्कि एक दूसरे से भी स्वतंत्र मानते हैं। इसी प्रकार जड़ जगत् को वे कभी ईश्वर से उत्पन्न मानते हैं, कभी आत्मा (सांत) से और कभी उसे केवल बुद्धि द्वारा उत्पन्न आभास मात्र।

समाज, राजनीति, संस्कृति एवं धर्म के संबंध में इक़बाल के विचारों की व्याख्या करने के लिए यहाँ पर्याप्त स्थान नहीं है। संक्षेप में हम केवल संकेत कर सकते हैं। इक़बाल ने जाति, कुनबों एवं राष्ट्रों के अंतर की कटु आलोचना की है। वे सारी दुनियाँ में एक समाज की स्थापना चाहते हैं जिसमें किसी प्रकार का अंतर न हो। किन्तु उनका यह आदर्श समाज इस्लाम पर आधारित है। यह ऐसा धार्मिक समाज है जिनमें अन्य कोई धर्म, संस्कृति या जाति नहीं रह सकती। उनकी दृष्टि एक नये मक्का पर है।[1] इसी आधार पर वे नये समाज का पुनर्गठन चाहते हैं। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वे 'जेहाद' को उचित मानते हैं। किन्तु 'जेहाद' तभी उचित है जब वह ईश्वर के लिए किया गया हो। इक़बाल ने स्पष्ट रूप से अपने को 'सर्व इस्लामवादी' माना है। इस्लाम के धार्मिक आदर्शों के आधार पर स्वस्थ समाज की रचना संभव है। केवल राजनैतिक एवं आर्थिक आधारों पर वास्तविक प्रजातंत्र की रचना नहीं हो सकती। इसीलिए इक़बाल ने आधुनिक प्रजातंत्र एवं समाजवाद की आलोचना की है।

मेरे विचार में मध्यकालीन भारतीय विचारक समकालीन भारतीय विचारकों की अपेक्षा आधुनिक थे। उनके विचार किसी विशेष धर्म पर आधारित नहीं थे। वे केवल नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों को ही महत्त्व देते थे, और ये मूल्य किसी विशेष धर्म के मूल्य नहीं थे। कबीर एवं दाराशिकोह का नाम इस प्रसंग में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह दुर्भाग्य ही है कि दाराशिकोह की हत्या कर दी गई और उसके क्रांतिकारी विचार आगे न बढ़ सके।

●●●

1. निकल्सन, इन्ट्रोडाक्शन, सीक्रेट आव दी सेल्फ।

अध्याय 7

सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

व्यक्तित्व एवं कृतित्व

स्वामी विवेकानन्द के बाद जिस व्यक्ति को सर्वाधिक सम्मान - अपने ही समय में मिला - वे थे सर्वपल्ली राधाकृष्णन्। मद्रास के मिशनरी स्कूलों में अपनी शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् वे वहीं के प्रेसिडेन्सी कॉलेज में दर्शन शास्त्र के प्राध्यापक के रूप में नियुक्त हो गए। तत्पश्चात् वे एक लंबी अवधि तक अध्ययन एवं अध्यापन से ही जुड़े रहे। दर्शन में उनकी विशेष रुचि थी और उसी क्षेत्र को आलोकित करने में वे बराबर कार्यरत रहे। स्वामी विवेकानन्द ने जिस वेदांत का प्रसारण अमेरिका तथा इंग्लैंड में किया था, वही उनका प्रिय विषय था। और हर मंच से किसी न किसी रूप में उसका प्रसारण - मानों उनका मिशन ही बन गया था। वे आदि शंकर से तो प्रभावित थे ही महावीर, महात्मा बुद्ध, महात्मा गांधी, कवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर आदि से भी प्रभावित थे। साथ ही वे इन सभी के अन्यतम भावों को आत्मसात् करते हुए - इन्हीं के संदर्भ में, भारतीय संस्कृति की अन्यतम गहराइयों पर इतना सुंदर प्रकाश डालते थे कि सुनने वाले चकित हो जाते थे। उन्हें लगता था कि यह सब बातें उनकी अपनी होते हुए भी अभी तक उन्हें अपनी मालूम क्यों न हुई? वे उससे अनभिज्ञ क्यों रहें? यह कहना कठिन है कि भारतवर्ष को अब कब ऐसा सशक्त और सही अर्थों में भारत का प्रतिनिधित्व करने वाला स्वर मिलेगा? मुझे तो ऐसा लगता है कि स्वामी विवेकानन्द के अधूरे कार्य को उन्हीं की प्रेरणा से राधाकृष्णनन् ने पूरा करने की भरपूर कोशिश की। पर्याप्त समय तक सन् 1926 से 1952 तक वे ऑक्सफोर्ड तथा शिकागो विश्वविद्यालय में तुलनात्मक धर्म एवं दर्शन के अध्यापन कार्य से जुड़े रहे और यह कार्य उन्होंने कितनी योग्यता से संपन्न किया, इसका अनुमान उनकी कृतियों से लगाया जा सकता है जिन्हें हमें पढ़ने का मौका मिला, और उनके व्याख्यानों से जिन्हें हमें सुनने को मिला। उनकी भाषा का प्रवाह और भावों का स्पंदन हमें मंत्र मुग्ध करते थे। संक्षिप्त होते थे उनके व्याख्यान पर साथ ही अत्यधिक सशक्त।

दर्शन की दृष्टि से यूँ तो उनकी सभी कृतियाँ अच्छी हैं, पर मेरी दृष्टि में "द आइडियलिस्ट व्यू ऑफ लाइफ" सबसे अच्छी है। इसी के साथ उनकी कृतियों की एक लंबी सूची है : "द् फिलॉसफी ऑफ रवीन्द्र नाथ टैगोर", "द् रेन ऑफ रिलीजन इन कंटेम्पोटेरी फिलॉसफी", "ईस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थॉट", "द् हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ", "ईस्ट एण्ड वेस्ट इन रिलीजन", "कॉल्की", "माई सर्च फॉर ट्रुथ" आदि।

इन कृतियों के शीर्षक स्वतः इस बात का जीवंत साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं कि पूर्व एवं पश्चिम की दार्शनिक विचारधाराओं पर उनकी पकड़ कितनी ज़बर्दस्त थी और इसीलिए उन्होंने न केवल उन धाराओं को बड़ी सच्चाई से लोगों के सामने रखा, बल्कि दोनों के बीच सार्थक-संवाद का मार्ग प्रशस्त किया। डॉ. राधाकृष्णनन् के इस योगदान को दार्शनिक जगत हमेशा के लिए याद रखेगा और देश अपनी सांस्कृतिक विरासत के प्रति उनकी असीम निष्ठा एवं समर्पण को भी कहीं बहुत गहरे से संजोये रखेगा।

समकालीन भारतीय चिंतन में राधाकृष्णन् 'धार्मिक अध्यात्मवाद'[1] के समर्थक हैं। उन्होंने वेदांत के निष्कर्षों को धार्मिक अनुभूति के आधार पर प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। इसलिए अध्यात्मवादी होते हुए भी वे आमूल अनुभववादी हैं और ऐसा कहने में कोई विसंगति नहीं प्रतीत होती। 'अनुभव' शब्द को उन्होंने सामान्य से अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया है। सामान्यतः 'अनुभव' शब्द इंद्रियानुभूति को ही व्यंजित करता है, किन्तु इंद्रिय की मध्यस्थता से जो कुछ भी ज्ञेय है, वह अंतिम नहीं है – इस तथ्य को प्रायः सभी दार्शनिकों ने स्वीकार किया है। राधाकृष्णन् भी इसी तथ्य का समर्थन करते हुए कहते हैं कि मानवीय जीवन का और अंततः विश्व का तात्विक स्वरूप सर्जनात्मक अनुभूतियों में और विशेष रूप से धार्मिक अनुभूति में जिस स्पष्टता के साथ व्यंजित होता है, वैसा अन्यत्र कहीं भी व्यंजित नहीं होता, इसलिए अपनी पुस्तकों में उन्होंने धार्मिक अनुभूति की विशद चर्चा की है और, विश्व के प्रमुख संतों की अनुभूतियों के साक्ष्य के आधार पर अपने निष्कर्षों का समर्थन किया है।

राधाकृष्णन् का अध्ययन क्षेत्र व्यापक और गम्भीर है, यही कारण है कि उन्होंने पूर्व और पश्चिम दोनों दार्शनिक विचारधाराओं को आत्मसात् करते हुए दोनों को एक-दसरे के निकट लाने का प्रयत्न किया है। यदि उन्हें पूर्व तथा पश्चिम के मध्य संपर्क अधिकारी[2] कहा जाय तो कुछ अनुचित न होगा क्योंकि

1. Religious idealism.
2. Liason Officer

उन्होंने दोनों दृष्टिकोणों की असहिष्णुता को समाप्त करते हुए दोनों को एक-दूसरे के निकट लाने का अथक प्रयास किया है। और उनके प्रयास की स्वीकृति तथा उसे मान्यता प्रदान करने का ही परिणाम है कि उन्हें लाइब्रेरी ऑफ लिविंग फिलासफर्स माला के अंतर्गत विशेष स्थान मिला।

राधाकृष्णन् का दर्शन कोरे चिंतन का परिणाम नहीं है। उन्होंने दर्शन को जीवन से सम्बद्ध करने की चेष्टा की है और इस दृष्टि से उन्होंने अपने दर्शन को अस्तित्ववादी ध्वनि देने की चेष्टा की है। अपने लेख 'प्रकृतिवाद की समीक्षा' में उनके दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करते हुए बर्नार्ड फिलिप्स कहते हैं कि उनके अध्यात्मवाद में 'जीवन शैली' का एक अस्तित्ववादी पूर्वाभिमुखीकरण है।[1] यही कारण है कि उनके दर्शन में तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, आदि की विशद् तथा दुर्बोध चर्चा नहीं मिलती जैसी कि अन्य दार्शनिकों में मिलती है। उन्होंने अपने दर्शन का इस प्रकार के शीर्षकों में विभाजन नहीं किया है और चिंतन की सहज स्वाभाविक गति को कायम रखने की पूरी कोशिश की है।

उन्होंने जीवन की समस्याओं को प्रस्तुत करने की चेष्टा की है, उनके मूल में विद्यमान कारण को अनावृत किया है और उन समस्याओं के हल के रूप में अपने सुझाव भी दिये हैं। पर यह सब करते हुए अपने स्वाभिमान को- व्यक्तिगत और राष्ट्रीय दोनों ही स्तरों पर बनाये रखने की भरपूर चेष्ट की है। लेकिन स्वाभिमान की रक्षा में उन्होंने पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों से सम्बद्ध तथ्यों की प्रस्तुति में उन तथ्यों के साथ कहीं भी किसी प्रकार का अन्याय नहीं किया है।[2] दोनों संस्कृतियों के मूल में प्रविष्ट होकर उनकी आत्माओं का साक्षात् करते हुए, उनके व्यापक और विश्वव्यापी संदेश को अनावृत करते हुए दोनों को पूर्णतटस्थता के साथ एक ही धरातल पर प्रस्तुत करने की चेष्टा की है।

विश्व की वर्तमान स्थिति का अवलोकन करते हुए वे कहते हैं कि औद्योगिक और तकनीकी प्रगति के बावजूद मनुष्य अपने को आज असुरक्षित और असहाय अनुभव कर रहा है। बुद्धि के चतुर्दिक् विलास और अप्रत्याशित सफलताओं के कारण पुरातन मूल्यों में, नीति में, अध्यात्म में उसका विश्वास सहज ही नष्ट हो गया है। किन्तु उस आस्था के समर्पण के पश्चात् उसे ऐसा

---

1. "It has the existential orientation of a Way of life".
लाइब्रेरी ऑफ लिविंग फिलासफर्स, राधाकृष्णन् : संपादक शिल्प, पृ. 124

2. कुछ समीक्षकों का यह आरोप है, विशेष रूप से ए.सी. अंडरवुड और श्वीतज़र का। इसकी चर्चा आगामी पृष्ठों में की जायेगी।

कुछ भी नहीं प्राप्त हो सका है, जो उसे आश्वस्त कर सके। मानव के अंतस् की शून्यता की दृष्टि से युग की विशेषताओं को व्यंजित करते हुए वे कहते हैं, कि यह आध्यात्मिक खोखलेपन, नैतिक भ्रामकता तथा सामाजिक अराजकता का युग है।[1] पुनः एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं कि यह 'आर्थिक तथा बौद्धिक नृशंसता का युग है।'[2] मानव अपने 'पौरुष' में आस्था रखने लगा है, परिणामस्वरूप वह अपने पुनरुत्थान के स्रोत से वियुक्त और अन्दर से निष्प्राण हो चुका है।

यदि उस शून्यता से उसे मुक्ति पानी है और जीवन को पुनः पुनरुज्जीवित करना है अर्थात् उसे सक्रिय एवं सशक्त बनाना है, तो अध्यात्म की ओर उसे पुनः प्रेरित होना होगा। आध्यात्मिक आकांक्षाओं से युक्त मानव ही जीवन को सही दिशा प्रदान कर सकेगा, ऐसा उनका अखंड विश्वास है।

कंटेम्परेरी इण्डियन फिलॉसफी में अपनी इस आस्था को व्यक्त करते हुए वे कहते हैं कि "जब आध्यात्मिक जीवन भीतर से मानव को रूपांतरित एवं आलोकित करेगा, तभी इस पृथ्वी का नवीनीकरण संभव होगा। अध्यात्म से प्रेरित धर्म एक ऐसा धर्म होगा, जो जीवन को उसकी सोद्देश्यता प्रदान करेगा, जो हमसे किसी प्रकार के पलायन तथा[3] द्वयर्थकता की अपेक्षा नहीं करेगा, जो जीवन के यथार्थ एवं आदर्श, गद्य एवं काव्य को समन्वित करेगा, जो जीवन की गहराइयों से हमारा आह्वान करेगा और हमें संपूर्णतः संतुष्ट करेगा, आलोचनात्मक बुद्धि तथा सक्रिय इच्छाओं – दोनों ही को संपूर्ण रूप से संतुष्ट करेगा, और इस प्रकार के धर्म की आज विश्व को आवश्यकता है।"[4]

आधुनिक सभ्यता की विध्वंसकारी स्वरूप की चर्चा करते हुए रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी अध्यात्म की ओर प्रेरित होने में, आध्यात्मिक आकांक्षाओं को स्वीकारने में ही स्थायी मानवीय हित की कल्पना करते हैं। आधुनिक सभ्यता मानव की आदिम वृत्तियों का पोषण कर रही है, अध्यात्म में हमारी आस्था ध्वस्त हो चुकी है, अध्यात्म की ओर प्रवृत्त होने का हमें अवकाश भी नहीं है। इस

1. "an age of spirtual bankruptcy", "of ethical confusion and social chaos", कालकी, पृ. 35.
2. "age of economic and intellectural barbarism."
   वही, पृ. 28
3. "With the apotheosis of power and the withering of man who has been cut off from the sources of self-renewal."
   फ्रैग्मेंट्स ऑफ ए कन्फेशन, लाइब्रेरी ऑफ शिविंग फिासफर्स, पृ. 22.
4. 'द स्पिरिट इन मैन', कंटेम्पोरेरी इंडियन फिलासफी, पृ. 483.

ध्वस्त आस्था से हमारे जीवन में जो अवसाद प्रविष्ट हो रहा है, जो कटुता फैल रही है, वह हमें उत्तरोत्तर अशक्त एवं निष्प्राण बना रही है। पुनः सशक्त होने का एक ही उपाय है कि हम अपनी सर्जनात्मक आध्यात्मिक यथार्थता को पहचानें और उसकी अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्नशील हों।[1] आस्तिक अस्तित्ववादी चिंतन में भी हमें यही ध्वनि मिलती है। आधुनिक सभ्यता का सबसे बड़ा अभिशाप यही है कि हम अपने यथार्थ व्यक्तित्व के प्रति उदासीन हो गये हैं और एक कृत्रिम, निष्प्राण, सतही जीवन व्यतीत कर रहे हैं। यथार्थ व्यक्तित्व के लिए ये दार्शनिक 'ऑथेंटिक' (Authentic) शब्द का प्रयोग करते हैं। उनका विश्वास है कि दर्शन के क्षेत्र में वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण भ्रामक रहा है। व्यावहारिक जीवन की दृष्टि से वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण कितना ही सफल क्यों न हो किन्तु धर्म तथा दर्शन के क्षेत्र में इसके कारण जो भ्रांति उत्पन्न हुई है, उसका निराकरण तभी संभव है जब हम वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण का परित्याग कर दें और सत्ता के यथार्थ स्वरूप का अपने अंतस् में साक्षात्कार ही न करें अपितु वहीं से प्रेरणा प्राप्त करें। सत्ता के जिस स्वरूप को मार्सेल प्राथमिक एवं मूल मानते हैं; वह मूलतः अविश्लेषणीय है और अपरोक्षानुभूति में ही उसका साक्षात्कार संभव है और इसी सत्ता से संयुक्त होने के पश्चात ही मानव स्थायी रूप से आश्वस्त हो सकेगा, ऐसा मार्सेल का विश्वास है। इस सत्ता को 'प्रेजेंस' शब्द द्वारा उन्होंने व्यक्त किया है, जिसका शाब्दिक अर्थ 'उपस्थिति' है। यह चिंतन का विषय न होकर अनुभूति में ही अभिगम्य है और उसकी पावन अनुभूति के साथ ही मानवीय चेतना अपने वर्तमान बंधनों से मुक्त होकर सार्वभौम हो जाती है, अपने में तथा अचेतन में अपूर्व त्याग, क्षमा, सेवा, स्नेह की सामर्थ्य एकबारगी उत्पन्न कर लेती है।

किसी और रूप में परमार्थ की, लोकहित की आकांक्षा व्यक्ति को इस प्रकार प्रभावित नहीं कर पाती, जिस प्रकार वह स्वयं अपने भीतर की गहराइयों से अपने हितों की पूर्ति की अपेक्षा करता है। यही कारण है कि राधाकृष्णन् कहते हैं कि आज का युग जिस त्याग और सौहार्द की अपेक्षा करता है,

---

1. "Modern civilisation for the same reason seems to turn itself back to that primitive mentality. Our needs have multipled so furiously fast that we have lost our leisure for the deeper realisation of our self and our faith in it." Religion of Man. p. 123. "Men of our times have analysed the human mind, its dreams its spiritual aspirations. This may be an important discovery, but what is still more important to realize is the fact that by some miracle of creation man imfinitely transcends the component part of his own character."
   वही, पृ. 123.

उसके योग्य आज का मानव अपने को नहीं पाता। उसकी चेतना अहंकेन्द्रित है, किन्तु जिन आदर्शों की वह कल्पना करता है, वे 'अहं' के विलयन की स्थिति में ही यथार्थ हो पाते हैं। यथार्थ और आदर्श की इस विसंगति को एक सार्वभौम चेतना का स्पर्श ही सुलझा सकता है – इस संभावना को हमें केवल सैद्धान्तिक स्तर पर ही नहीं स्वीकार करना है, प्रत्युत् इसकी प्राप्ति के लिए हमें अपने को निरपेक्ष भाव से समर्पित कर देना है।

अतएव यह कहा जा सकता है कि आज के मानव के समक्ष एक दिव्य, पावन सार्वभौम चेतना के अवतरण का आह्वान है, युग की इस माँग को हमें पहचानना है और इसके अनुरूप अपने को और संपूर्ण समाज को बनाना है।

योगी अरविंद ने इसी चेतना को 'नॉस्टिक' (Gnostic) शब्द से व्यक्त किया है। हम चाहें अथवा न चाहें उसकी अभिव्यक्ति की दिशा में हमें आगे बढ़ना ही है। स्वामी रामतीर्थ ने इसी तथ्य को व्यक्त करते हुए कहा था – "विश्व व्यापी नियम हमें संगीन की नोक पर धार्मिक बनाता है।"[1]

राधाकृष्णन् के लेख भी इसी विश्वास से अनुप्राणित हैं। आध्यात्मिक आकांक्षाओं की उपेक्षा हम अधिक समय तक नहीं कर सकते हैं। वर्तमान व्याधि एवं अराजकता की स्थिति आगामी शांति एवं व्यवस्थापूर्ण स्थिति के अवतरण की तैयारी मात्र है।[2] हमें तो वर्तमान विशृंखलित तत्त्वों में व्यवस्था लानी है और तब अशांति के स्थान पर शांति की निश्चित स्थापना हो जायेगी।

पाश्चात्य धार्मिक परंपरा के परिप्रेक्ष्य में हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता का समर्थन

राधाकृष्णन् पाश्चात्य एवं पूर्वी धार्मिक परंपराओं का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। पूर्व के धर्म की, विशेष रूप से हिन्दूधर्म की असहिष्णुतापूर्ण आलोचना कुछ पाश्चात्य विद्वानों द्वारा हुई है। उनके अनुसार हिन्दूधर्म उपनिषद् में विद्यमान एकतत्ववादी दर्शन पर आधारित है। यही कारण है कि उसमें मानवीय व्यक्तित्व की स्पष्ट उपेक्षा मिलती है। एकतत्त्ववाद परमसत् को ही एकमात्र सत् के रूप में स्वीकार करता है। उसके अनुसार मानवीय इकाइयाँ

1. "The law makes us religious at bayonet's point".
   इन वुड्स ऑफ गॉड रियलाइजेशन।
2. "The present profound malaise is really a form of growing pains. The new world for which the old is in travail is still like an embryo. The components are all there, what is lacking is the integration, the completeness which is organic consciousness, the binding together of the different elements, making them breathe and come to life".
   ईस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थॉट, पृ. 19

स्ववर्ती इकाइयाँ नहीं हैं। अतएव इन इकाइयों के तात्त्विक स्वरूप के साथ न्याय करने के लिए यह आवश्यक है कि हम इन्हें इनके संदर्भ में प्रस्तुत करें। अतएव यदि इन इकाइयों को इनमें विद्यमान परमसत् के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया जाय तो इनका वर्तमान स्ववर्ती दीखने वाला स्वरूप निश्चित ही आभास प्रतीत होगा। एक अनुभवातीत आध्यात्मिक सत् ही अपनी उपस्थिति मात्र से इनके तात्त्विक व्यक्तित्व का निर्माण करता है और वह मूलतः निर्वैयक्तिक है।

अपनी पुस्तक 'कन्टेम्परेरी थॉट ऑफ इंडिया' में अंडरवुड हिन्दू धर्म एवं दर्शन के इस पक्ष को पर्याप्त महत्त्व नहीं देते। वे हिन्दूधर्म की अपेक्षा ईसाई धर्म को अधिक उत्कृष्ट मानते हैं क्योंकि उक्त धर्म में उन्हें मानवीय व्यक्तित्व की उपेक्षा नहीं मिलती। उनकी दृष्टि में हिन्दू धर्म का नवीनीकरण संभव नहीं और राधाकृष्णन् ने उसे जिस रूप में प्रस्तुत किया है, वह उसका सही रूप नहीं है। उन्होंने हिन्दू धर्म की प्रस्तुति में ईसाई धर्म से व्यक्तित्व तथा स्वातंत्र्य संबंधी तत्त्वों को लेकर उसे नवजीवन प्रदान करने की कोशिश की है। ऐसा करने से हिन्दू धर्म के मूल तत्त्वों के साथ अन्याय तो हुआ ही है, साथ ही उसमें ऐसे तत्त्वों का बरबस समावेश हो गया है जिनके साथ उस धर्म के मूलतत्त्वों की संगति किसी भी प्रकार संभव नहीं। अतएव उनके विचार में राधाकृष्णन् का प्रयास एक असंभव प्रयास है और एक 'चोट खाये राष्ट्रीय अभिमान'[1] का एक अवांछनीय परिणाम भी प्रतीत होता है।

अंडरवुड की भाँति श्वीटज़र ने भी हिन्दूधर्म को ईसाई धर्म की तुलना में हेय माना है। धर्म के क्षेत्र में मूलतः दो दृष्टिकोण देखने को मिलते हैं : एक जीवन की स्वीकृति से और दूसरा उसके निराकरण से संबद्ध हैं। प्रथम दृष्टिकोण पाश्चात्य धर्म के भावात्मक चिंतन की विशेषता है। इस दृष्टिकोण के अंतर्गत मनुष्य स्वयं में महत्त्वपूर्ण है, उसके व्यक्तित्व की सुरक्षा एवं सम्मान अनिवार्य है। उसकी उपेक्षा हो ही नहीं सकती। किन्तु पूर्व का दृष्टिकोण मूलतः एक पलायनवादी दृष्टिकोण है। 'ब्रह्म सत्यं जगन् मिथ्या' के साथ वह विश्व के असद् रूप को घोषित करता है। उसके अनुसार जीवन के परित्याग में ही जीवन की परिपूर्णता है। वह कैसी परिपूर्णता होगी जो अंततः जीवन के प्रति निषेधात्मक वृत्ति को पुष्ट करती है। शून्यता का वरण करने वाली दृष्टि कैसे कल्याणकारी हो सकती है?

श्वीटज़र तथा अंडरवुड की समीक्षाओं के प्रत्युत्तर में राधाकृष्णन् दो प्रकार की युक्तियों को प्रस्तुत करते हैं। सर्वप्रथम वह यह सिद्ध करना चाहते हैं कि जीवन से पलायन की वृत्ति भारतीय धर्म की ही विशेषता नहीं है। इस

1. "Wounded nationalist pride". 12

प्रकार की निषेधात्मक एवं पलायनवादी वृत्ति सभी धर्मों के मूल में है। जिस 'जीवन' को सामान्यतः हम स्वीकार करते हैं वह ऐन्द्रिक व्यक्तित्व से संबद्ध जीवन है। सुख-दुख की धुरी पर चलने वाले इस जीवन को सामान्यतः हम अपनी एकमात्र पूँजी के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। इसलिए उसको खोने के लिये हम अपने को मानसिक रूप से तैयार नहीं पाते। किन्तु अध्यात्म की महत्ता के समर्थन के लिए यह आवश्यक है कि हम इस जीवन की सीमाओं को जाने और इसके परित्याग के लिए प्रस्तुत हों। तभी अध्यात्म के अखंड साम्राज्य में हमारा प्रवेश संभव हो सकेगा। यह संदेश सभी धर्मों का है। इसमें हिन्दू धर्म तथा ईसाई धर्म के एक दूसरे से भिन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। श्वीटज़र ने बरबस ही इस आधार पर इन दोनों की विभाजन-रेखा को कायम रखने का असफल प्रयास किया है।[1] पुनः वे कहते हैं कि भेद हिन्दू तथा ईसाई धर्म में नहीं बल्कि धर्म और मानवतावाद में हैं।[2] सभी धर्म पलायनवादी हैं। पश्चिम ने जीवनशैली के रूप में मानवतावाद को स्वीकार किया है और पूर्व ने अपनी संपूर्ण निष्ठा के साथ धर्म को ही जीवन-शैली के रूप में स्वीकार किया है।

धर्म तथा मानवतावाद में अंततः कोई अंतर नहीं है।[3] मानवीय जीवन के जिस चित्र को 'मानवतावाद' अधूरा प्रस्तुत करता है, 'धर्म' उसी चित्र को पूर्णता प्रदान करता है। 'जनकल्याण' के जिस आदर्श से मानवतावाद अनुप्राणित है वह सार्थक तभी हो सकता है, जब हम मानव में विद्यमान आध्यात्मिक आकांक्षाओं को तो स्वीकार करें और उनकी अभिव्यक्ति के लिए निष्ठा से प्रयत्नशील हों। किन्तु मानवतावादी दृष्टिकोण भावात्मक होने के कारण 'अध्यात्म' की उन्नत आकांक्षाओं को तो अस्वीकार करता है, उन्नत आकांक्षाओं को तो पूर्णतः अस्वीकार करता है। यही कारण है कि आदर्श विषयक उसके निष्कर्ष सही होते हुए भी निष्प्राण हैं और इसीलिए प्रभावी भी नहीं हैं। और यदि सभी धर्म पलायनवादी हैं तो इस आधार पर किया हुआ धर्मों का विभाजन अनुचित और तथ्यों के विपरीत है। इसके साथ ही राधाकृष्णन् ने यह भी सिद्ध

1. "All immense simplification of the complicated patterns of reality are misleading. To divide people into those who will accept nothing else is hardly fair. The many reservations which Schweitzer is obliged to make in applying his scheme of world — affirmation and world negation as apposite categories of which one or the other must be denied show that it is not adequate to the facts". वही, पृ. 75.
2. "The contrast to my mind is not so much between Hinduism and Christianity as between religion and a self-sufficient humanism. While religion is taken more seriously in the East, Humanism is the predominant feature of the Western life. Hindu religion like all religion is other Wordly". वही, पृ. 76.
3. वही, पृ. 77.

करना चाहा है कि हिन्दू धर्म ने जीवन को उसकी समग्रता में स्वीकार किया है। जिन तत्त्वों के कारण श्वीटज़र ईसाई धर्म की श्रेष्ठता का समर्थन करते हैं वे मात्र उसी धर्म की विशेषता नहीं है। हिन्दू धर्म में भी कल्याण एवं लोकसेवा का आदर्श पर्याप्त सक्रिय रहा है। लेकिन लोक-कल्याण की भावना से ओतप्रोत मानव अपने दृष्टिकोण के कारण निश्चित ही सामान्य मानव से भिन्न होगा। दृष्टांत के रूप में भागवद्गीता में प्रस्तुत आदर्श को ही लिया जा सकता है। गीता का स्थितप्रज्ञ जन-कल्याण की भावना से ओतप्रोत है। वह तो अपने समस्त जीवन को यज्ञ रूप में ईश्वर के समक्ष अर्पित कर देता है – अर्थात् उसी से प्राप्त जीवन उसी के निमित्त स्वीकार कर लेता है। जीवन से पलायन का उसके लिए तब प्रश्न ही नहीं उठता। जीवन-दृष्टि बदल देने मात्र से यही संसार जो निराशा के क्षणों में मृगमरीचिका-सा प्रतीत होता है, शिवस्थली बन जाता है, जहाँ तिल-तिल करके हमारे व्यक्तित्व में ईश्वर से संयुक्त होने के कारण निखार आता जाता है।

निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि श्वीटज़र तथा अंडरवुड ने भारतीय दर्शन एवं धर्म के जिस रूप को प्रस्तुत किया है, वह उसका यथार्थ स्वरूप नहीं है। वस्तुतः कोई भी दर्शन नितान्त पलायनवादी नहीं हो सकता। लौकिक इच्छाओं एवं आकांक्षाओं का समर्पण एवं परित्याग कुछ पाने के लिए ही होता है। अब यदि आध्यात्मिक उपलब्धियों के लिए उक्त परित्याग एक आवश्यक सोपान है, तो उसके प्रति असंतोष व्यक्त करना, अपने व्यापक हितों की उपेक्षा ही होगी। मुझे तो इन दोनों विद्वानों की असहिष्णुतापूर्ण समीक्षा के मूल में यही कारण प्रतीत होता है। विपरीततः कुछ विद्वानों ने राधाकृष्णन् की इस प्रस्तुति को हिन्दू धर्म के सारतत्त्वों की प्रस्तुति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना है। पाश्चात्य चिंतकों में फिलिप्स[1] और भारतीय चिंतकों में पी.टी. राजू[2] उल्लेखनीय हैं। उनके विचार से आधुनिक युग की विशेष माँगों के अनुरूप ही

1. "Proud presentor of a hoary tradition — in its essential purity, freed from the obscuring and partisan details which have so often attached themselves to it". क्रिटिक आफ नैचुरलिज्म : लाइब्रेरी ऑफ लिविंग फिलासफर्स (राधाकृष्णन्) पृ. 148.

2. "The negativistic interpretation of Indian thought is consonant neither with Vedanta in general nor even with the logic of the advaita — it contains only so much of negativism as does every religion which believes in a reality beyond and behind the mundane world. This new re-emphasis on the positive attitude which Radhakrishnan has given-both in his writings and lectures, was so suitable to the changing and renovated India that it has been accepted as the norm". वही, लेख, राधाकृष्णन् एण्ड इंडियन थॉट, पृ. 53.

भारतीय धर्म के कतिपय महत्त्वपूर्ण पक्षों को राधाकृष्णन् ने बड़ी योग्यता के साथ प्रस्तुत किया है, किन्तु कहीं भी उस धर्म की आत्मा के साथ उन्होंने अन्याय नहीं किया है।

हिन्दू धर्म को असहिष्णुता को पूर्ण समीक्षा से बचाने के साथ ही राधाकृष्णन् हिन्दू-धर्म के सार तत्त्वों को भी बड़ी सफलतापूर्वक पृथक करते हैं। धर्म का सार अध्यात्म और उससे सम्बद्ध आकांक्षा को स्वीकार करने और उसे अनुभव करने में है। धर्म के साथ जो आकस्मिक रूप से कर्मकाण्ड विषयक संस्कार स्थायी रूप से जुड़ जाते हैं, उन्हें महत्त्वपूर्ण मान लेने से ही हमारे अंदर ध ार्मिक अनुदारता पुष्ट होती है। प्रत्येक धर्म में ये संस्कार विशिष्ट होते हैं, यही नहीं, ये प्रत्येक व्यक्ति के लिए भी भिन्न हो सकते हैं। इनमें पर्याप्त स्वतंत्रता होनी चाहिए। लेकिन इनसे संबद्ध जिन विश्वासों को हम संस्कार रूप में अपनी शैशवावस्था से ही ग्रहण करते हैं, उनसे बाद में हम मुक्त नहीं हो पाते। प्रारंभ में उपयोगी होते हुए भी आगामी विकास की दृष्टि से इन्हीं से बँधे रहना उचित नहीं है। स्वामी विवेकानन्द ने भी कर्मकाण्ड की सार्थकता को प्रतिपादित करते हुए उसकी सीमाओं को बड़े स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त किया था। उन्होंने कहा था "किसी भी चर्च में जन्म लेना तो ठीक ही है किन्तु वहीं पर मर जाना बुरा है।"[1] मंदिर या मस्जिद की सीमाओं के अंदर हम धर्मविशेष में दीक्षित होते हैं किन्तु आगे के पाठ हमें उनसे स्वतंत्र होकर, उनकी सीमाओं को समझते हुए ही पढ़ने हैं। धार्मिक प्रतीकों में विद्यमान सत् की ओर ध्यान आकृष्ट होते ही हमें सब धर्मों के एकत्व का विश्वास होने लगता है। कर्मकाण्ड विषयक वैविध्य से अधिक यथार्थ एवं ठोस 'अध्यात्म' में हमारी आस्था होने लगती है और इस दृष्टि से यदि देखें तो सभी धर्म की मूल आकांक्षा एक ही है – परमसत् से साक्षात्कार।

हिन्दू धर्म ने इसी आकांक्षा विषयक एकत्व को स्वीकार किया है और इसीलिए वह विशिष्ट न होकर सभी धर्मों के सार से आंतरिक रूप से संबद्ध है। उसकी श्रेष्ठता उसकी इसी अविशिष्ट स्वरूप के कारण है, जिसको उक्त विद्वान् ठीक से समझ नहीं सके हैं। हिन्दू धर्म मूल में उपनिषद् दर्शन पर आधारित है। परमसत् का स्वरूप एक ही है किन्तु अपनी मनःस्थिति एवं संस्कारों के अनुरूप विविध रूपों में उसे प्रस्तुत किया जाता है : 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'।

---

1. "It is good to be born in a church but it is bad to die there."

परमसत् विषयक अनुभूति की संभावना तथा उसकी इसी मौलिक एकता को सभी धर्मों ने स्वीकार किया है। वैविध्य का संबंध तो उन कर्मकांड विषयक विश्वासों से है जो देश-काल की सीमाओं के मध्य उपजते और पनपते हैं।

(क) प्राकृतिक निरीश्वरवाद (Nature alistic Atheism)

धर्म के सार तत्त्वों की चर्चा करते हुये राधाकृष्णन् 'धर्म' को उन सिद्धातों से पृथक् करते हैं जिन्हें आधुनिक युग ने महत्त्वपूर्ण विकल्पों के रूप में प्रस्तुत किया है। इनमें प्राकृतिक निरीश्वरवाद, अज्ञेयवाद, संशयवाद, मानवतावाद, व्यावहारिकतावाद प्रमुख हैं।

प्राकृतिक निरीश्वरवाद मनुष्य को मात्र एक प्राकृतिक विषय के रूप में स्वीकार करता है। उसमें तथा अन्य इकाइयों में कोई मूल अंतर नहीं है। जिस प्रकार विश्व की सभी वस्तुएँ कारणता के नियम से नियंत्रित हैं, उसी प्रकार मानवीय जीवन भी उसी नियम के अधीन है, उसका जीवन भी प्रकृति की अन्य घटनाओं से महत्त्वपूर्ण अर्थ में नियंत्रित होता है और उन्हें नियंत्रित करता है।

अतः मनुष्य जब अपने लिए एक भिन्न आयाम की कल्पना करता है तो वह एक मधुर स्वप्न के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। नीति और अध्यात्म और उससे संबद्ध उसकी आकांक्षाएँ – विश्व के लिए महत्त्व नहीं रखतीं और न ही वे उससे सामंजस्य स्थापित करती हुई दिखलाई देती हैं। 'दि एसेंस ऑफ रिलीजन' शीर्षक लेख में अपने विचार व्यक्त करते हुये बर्ट्रेन्ड रसल कहते हैं कि 'अयुक्त एवं अविवेकशील में विहार करने से यथार्थ को स्वीकार करना और उसे सहन करना अधिक पुरुषोचित है'।[1] जीवन की अप्रिय यथार्थता और मानवीय आकांक्षाओं के प्रति उसकी निर्ममता से आँख मूँद लेना हमारे लिए उचित नहीं, हमें उसे स्वीकार करना ही चाहिए। अपनी कल्पना में सुखद संभावनाओं की स्वीकृति एवं आदर्शों के सृजन द्वारा हम अपने को थोड़ा बहुत आश्वस्त भले ही कर लें किन्तु जो काल्पनिक एवं स्वप्नशील ही बना रहेगा, उसको उससे स्थायी संतोष प्राप्त नहीं हो सकता, यह निश्चित है।

प्राकृतिक निरीश्वरवाद की अपर्याप्तता को लक्षित करते हुए राधाकृष्णन् कहते हैं कि यदि उपरोक्त बात सही है तो प्रश्न स्वाभाविक है कि तथाकथित

1. "It is more manly to believe in the actual and suffer in it than to revel in the absurd". आइडियलिस्ट व्यू आफ लाइफ, पृ. 41.

उन्नत सर्जनात्मक जीवन के लिए प्रेरणा, नीति और अध्यात्म से संबद्ध आकांक्षाएँ, आती कहाँ से हैं। क्या वे उसी प्रकृति के अंतर्गत नहीं जिसकी चर्चा प्राकृतिक निरीश्वरवाद करता है? और यदि हैं तो प्राकृतिक निरीश्वरवाद इन तथाकथित अयथार्थ, काल्पनिक एवं अप्राकृतिक तत्त्वों को अपनी प्राकृतिक व्यवस्था के साथ किस प्रकार समन्वित कर सकेगा? और क्या उसे समन्वित करने के प्रयास में वह अपने मूल विश्वास को फिर कायम रख सकेगा?

रसल स्वयं मानवीय प्रकृति के इस पक्ष को एक 'रहस्य' मानते हैं – प्राकृतिक व्यवस्था में किंचित् 'अपवाद' रूप में ही उसे स्वीकार करते हैं। किन्तु उसे मात्र 'रहस्य' कहने से काम नहीं चलेगा। इस 'रहस्य' का अनावरण करना ही होगा। मानवीय प्रकृति विश्व के अंतर्गत, उसकी व्यवस्था के अधीन एक इकाई विशेष ही है और इसलिए उसमें व्यंजित विश्व का स्वरूप मात्र आकस्मिक नहीं हो सकता। ये 'आकांक्षाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि मनुष्य मात्र प्राकृतिक नहीं – वह प्रकृति का एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में 'स्वामी' है।[1] इस तथ्य को प्रायः सभी अध्यात्मवादी दार्शनिकों ने स्वीकार किया है। उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि मानवीय व्यक्तित्व में विद्यमान आध्यात्मिक सत् इस विश्व में व्याप्त परम सत् के साथ आंतरिक रूप से संयुक्त है, और मानव उस सत् को अपने माध्यम से अपनी विशिष्ट शैली में अभिव्यक्त भी करता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि मानवीय जीवन की सौम्य आकांक्षाएँ प्रकृति के लिए अपवाद स्वरूप नहीं है। वे प्रकृति के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष को व्यंजित करने वाली हैं, जिसकी स्पष्ट उपेक्षा प्राकृतिक निरीश्वरवाद में मिलती है।

निरीश्वरवाद का संबंध बुद्धि से है।[2] जब हम बुद्धि का अतिक्रमण कर जीवन के अंतस् में प्रविष्ट होते हैं तो हम अनायास अपने में विश्व को स्वीकार करने की एक अपूर्व बाध्यता की अनुभूति करते हैं। किन्तु जीवन को स्वीकार करने की इस मूल सहजवृत्यात्मक आकांक्षा के साथ सामंजस्य स्थापित करने में निरीश्वरवाद असमर्थ है। राधाकृष्णन् कहते हैं कि जीवन के शिव रूप

1. "The man who, even when conquered by the caprice of the world, remains unconquered points to his own innate dignity and superiority to nature". वही, पृ. 44.

2. "Atheism belongs to the intellect. When we sink back into the innermost core of our lives, we are compelled, whether we like it or not to accept the universe. Atheism is contrary to the ultimate instinct of life. That life is good and is to be made the most of is the act of faith, the unanalysable ultimate for which no reasons could be given." वही पृ. 45.

का साक्षात् हम बुद्धि के समर्पण के पश्चात् ही कर पाते हैं। प्राकृतिक निरीश्वरवाद की समीक्षा के पश्चात् वे अज्ञेयवाद को अपूर्ण सिद्ध करते हैं।

(ख) अज्ञेयवाद (Agnosticism)

जीवन के रहस्यपूर्ण पक्ष को स्वीकार करते हुए भी 'अज्ञेयवाद' उसे 'अज्ञेय' ही मानता है। वह अपने सिद्धांत में विद्यमान असंगतियों की उपेक्षा करता है। यदि सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार किया जाय और साथ ही यह भी कहा जाय कि यह दुर्बोध और अचिंत्य है तो क्या ऐसा कहना उचित है? वह एक विशेष अर्थ एवं संदर्भ में ही 'अज्ञेय' हो सकती है। क्योंकि उसकी उपस्थिति का हमें स्पष्ट बोध है इसलिए वह नितांत अज्ञेय तो हो ही नहीं सकती। अतएव उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि बोध के किसी सामान्य से भिन्न आयाम में उसका साक्षात्कार संभव है,[1] अतएव उसकी अज्ञता विषयक इस तथ्य को हमें स्वीकार करना ही चाहिए।

कृष्णचंद्र भट्टाचार्य ने भी काँट के अज्ञेयवाद का इसी आधार पर खंडन किया है। उनके निष्कर्षों में विद्यमान असंगतियों की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि सत्ता की अचिंत्यता इस बात की स्पष्ट चुनौती होना चाहिए कि हम उस आयाम का पता लगायें जिसमें उसका साक्षात्कार हो सके। भट्टाचार्य ने उन संभाव्य आयामों की विशद व्याख्या अपनी पुस्तक 'सब्जेक्ट ऐज़ फ्रीडम' में की है।[2]

(ग) संशयवाद (Scepticism)

संशयवाद की समीक्षा प्रस्तुत करते हुए राधाकृष्णन् कहते हैं कि संशयवाद का समर्थन एक निष्कर्ष के रूप में संभव नहीं, किन्तु पद्धति-रूप में उसकी स्वीकृति संभव ही नहीं है बल्कि पूर्वधारणाओं से विमुक्त होने के लिए नितान्त आवश्यक भी है। पद्धति के रूप में इसका सफल प्रयोग आधुनिक युग में सर्वप्रथम देकार्त ने किया था। दर्शन को पूर्वाग्रहों से मुक्त करते हुए उन्होंने उसे एक स्वस्थ धरातल प्रदान करने की चेष्ट की थी। इस प्रकार के प्रयास दर्शन के इतिहास में अनेक बार हुए हैं। पर निष्कर्ष रूप में संशयवाद की

---

1. वही पृ. 45.
2. "To be ignorant is not the special prerogative of man; to know that he is ignorant is his special privilege", subject as freedom पृ. 46.

स्वीकृति असंगतियों से युक्त है। क्योंकि संशयवाद अपने सिद्धान्त की यथार्थता में विश्वास तो रखता ही है, साथ ही वह संशय की प्रक्रिया और अंततः संशयकर्ता के अस्तित्व को भी प्रच्छन्न रूप से स्वीकार करता है।

संशयवाद की अपर्याप्तता को स्थापित करते हुए राधाकृष्णन् कहते हैं : 'संशयवाद विचार का अंतिम विश्राम-स्थल कभी नहीं हो सकता।' पुनः वे कहते हैं : 'निषेध मात्र निषेध नहीं है। हम किसी वस्तु को इसलिए अस्वीकार करते हैं, क्योंकि हम किसी ऐसी वस्तु में विश्वास रखते हैं जिसके साथ उसका मेल नहीं हो सकता।[1]

(घ) मानवतावाद (Humanism)

संशयवाद के पश्चात् वे 'मानवतावाद' को भी सिद्धान्ततः अपर्याप्त मानते हैं। मानवतावाद सिद्धान्त की अपेक्षा व्यवहार में अधिक आस्था रखने वाला मत है। सैद्धान्तिक स्तर पर वाद-विवाद में पड़कर अमूल्य समय नष्ट करने की अपेक्षा जीवन में सुधार लाने का प्रयास कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रकृतिवाद तथा रहस्यवाद को समान रूप से अस्वीकार करते हुए मानवतावाद 'मानव' को ही एक महत्त्वपूर्ण इकाई के रूप में स्वीकार करता है और उसके हित एवं कल्याण को सर्वोपरि मानता है।

प्रकृतिवाद के विरुद्ध वह यह स्वीकार करता है कि मानव जीवन मात्र प्राकृतिक नहीं है। यदि वह मात्र प्राकृतिक होता तो उसके लिए सर्जनात्मक आकांक्षाओं का कोई मूल्य न होता। किन्तु जीवन में मूल्यों की स्वीकृति इस बात का प्रमाण है कि मनुष्य के जीवन का एक भिन्न आयाम है, जो उसे प्राकृतिक वस्तुओं से पृथक करता है। पर इसके विपरीत मानवतावाद अपने भावात्मक दृष्टिकोण के कारण, अनुभवातीत सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता और न ही मनुष्य को उससे संयुक्त करने की कोशिश करता है। मानव मानव से परस्पर सम्बद्धता स्थापित कर ले, परस्पर विद्वेष की वृत्ति से मुक्त हो जाय और एक आदर्श सुव्यवस्थित समाज, की रचना करने में सफल हो जाय—यही उसके लिये पर्याप्त है।

अतः मानव का सहज 'धर्म' लोकसेवा और लोक-कल्याण की भावना

---

1. "Scepticism cannot be the final resting place for thought". पृष्ठ 49. वे पुनः कहते हैं : "Negation is never mere negation. We deny a thing because we believe in something else with which it is in consistent". वही, पृष्ठ 48.

से नियंत्रित होकर कार्य करने में हैं। अनुभवातीत स्रोतों से नियंत्रित होने की जो कल्पना धर्म में मिलती है, उसे मानवतावाद स्वीकार नहीं करता। उनका विश्वास है कि जो भी प्रेरणा मानव जीवन की व्यवस्था के लिए आवश्यक है, उसे मनुष्य अपने अन्दर से ही प्राप्त करता है। किन्तु राधाकृष्णन् के अनुसार मानवतावाद जिस आंतरिक नियंत्रण की चर्चा करता है, तथा जिन आदर्शों एवं आकांक्षाओं को मनुष्य के लिए स्वीकार करता है, उनकी सार्थकता इसी में है कि वह अपने में विद्यमान अनुभवातीत सत् को भलीभाँति पहचाने और उसके साथ न्याय करे। मानवतावाद जिस सत् को अस्वीकार करता है, वह ही वस्तुतः मानवीय जीवन के लिए आधारभूत है। उसकी स्थायी उपेक्षा मानव-हित में कभी नहीं हो सकती। किन्तु मानवतावाद इसी की उपेक्षा करता है। वस्तुतः सर्जनात्मक क्रियाशीलता मानवीय जीवन के एक सामान्य से भिन्न आयाम से संबद्ध है। धर्म और नीति का भी अंततः उसी से संबंध है। आयाम की इसी भिन्नता की उपेक्षा करते हुए मानवतावाद बौद्धिक स्तर पर मानवीय आदर्शों एवं मूल्यों विषयक जिस संभावना को प्रस्तुत करता है, वह उस स्तर के लिए नितांत असंभव है। विशुद्ध धार्मिक जीवन की सरलता, निश्छलता एवं निष्ठा की चर्चा करते हुए राधाकृष्णन् कहते हैं : 'संत सच्चाई एवं ईमानदारी की कामना करते हैं, सम्मान की नहीं। उनके हृदय में सदैव एक अदम्य उत्साह सक्रिय रहता है, जो जीवन की भी परवाह नहीं करता। पर मानवतावाद में ठीक इसी शक्ति के स्पर्श का अभाव है, जो धर्म के मूल में है और जिसके द्वारा ही वह अपने भीतर सौम्य आस्था विकसित करता है, जिसकी सर्जना-शक्ति अपरिमित है और आशा अमर है।"[1] पुनः धार्मिक व्यक्तित्व की विशेषता की चर्चा करते हुए वे यूँ कहते हैं : "जो वास्तव में धार्मिक हैं वे आत्मा की सहज गहराइयों से प्रेरित होकर जीवन व्यतीत करते हैं, उनकी उपलब्धियाँ विश्व के पुनर्निर्माण की आकांक्षा से ही नियंत्रित नहीं होतीं। उनकी आस्था मूलतः जीवन का अतिक्रमण करने वाली है और फलतः जीवन को आमूलतः रूपांतरित करने वाली है।[2]

निष्कर्षतः, यह कहा जा सकता है कि मानवतावाद और धर्म में विरोध नहीं है। जिन मूल्यों को मानवतावाद स्वीकार करता है, उन्हें अतीन्द्रिय सत् से संबद्ध करने का कार्य धर्म का है, तभी ये मूल्य हमारे जीवन में सार्थक हो

1. आइडियलिस्ट व्यू आफ लाइफ, पृ. 52.
2. वही, पृ. 53.

सकेंगे और तभी उनमें हमारी आस्था सबल और स्थायी हो सकेगी।[1] कांट ने ईश्वर को अभ्युपगम (Postulate) के रूप में स्वीकार किया था, धर्म उसे अनुभूत सत् के रूप में प्रस्तुत करता है। अतएव धर्म मानवतावाद में स्वीकृत मूल्यों को साक्ष्यों के आधार पर यथार्थता प्रदान करता है। इसलिए वह उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। पर मानवतावाद की दृष्टि से लोकहित से प्रेरित कार्य 'फल' की दृष्टि से ही विशेष महत्त्व रखते हैं किन्तु लोकहित से प्रेरित कार्य भी सही अर्थों में उसी व्यक्ति द्वारा संभव होते हैं, जो ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखता है और आंतरिक रूप से उससे संयुक्त रहता है। बिना निष्ठा के कोई भी कार्य संपन्न नहीं होता और निष्ठा का अंतिम स्रोत 'अध्यात्म' ही है।

(ङ) व्यावहारिकतावाद[2] (Pragmatism)

व्यावहारिकतावाद निरपेक्ष सत् को स्वीकार नहीं करता। वह सत् को परिणाम-सापेक्ष ही मानता है। उसके अनुसार सत् वह है जो परिणामों में अभिव्यक्त होने की क्षमता रखे। ईश्वर है अथवा नहीं इस वाद-विवाद में पड़ना निरर्थक है। ईश्वर विषयक विश्वास हमारे जीवन को प्रभावित कर सकता है उसे सार्थक बना सकता है। अतः यह तथ्य उसकी सार्थकता की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि सामाजिक उत्थान के लिए, मानवता की प्रगति के लिए यह विश्वास आवश्यक है तो वह महत्त्वपूर्ण है और सार्थक भी।

व्यावहारिकतावादी दृष्टिकोण वस्तुनिष्ठ निरपेक्ष सत् की स्वीकृति की अपेक्षा उससे संबद्ध 'विश्वास' को ही अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है। यही उसकी भूल है। हमारे विश्वास जीवन में तभी सार्थक और सक्रिय होंगे जब उनका कोई वस्तुनिष्ठ आधार होगा अन्यथा नहीं। यदि 'विश्वास' नितांत आकस्मिक हैं और उनका कोई वस्तुनिष्ठ आधार नहीं है तो कालांतर में वे स्वतः नष्ट हो जायेंगे।[2]

---

1. "Humanism is concerned with value, religion relates value to reality, human life to the ultimate background against which it is set". "There is no conflict between religion and a reasonable humanism. The truly religious act in this world; the inner feeling of the relation between God and man is bound to issue in the service of humanity. While what matters is work or fruits of religious life, its social productivity, the most efficient servants of society are those who cultivate anxiously the interior life. A religion whose centre is man and not God is never a strong one". वही पृ. 55-56.
2. If the object of belief were only imaginary, created in order to satisfy our needs, then the belief itself would in time wither away.
   "God is not what a man wishes to be true for the sake of an easy time, but what he knows to be true, even though it means sacrifice and self denial". वही, पृ. 58.

अतएव ईश्वर सम्बन्धी विश्वास आकस्मिक नहीं हो सकता। कोई भी व्यक्ति अपनी आस्था को ऐसे विषय की ओर स्थायी रूप से प्रेषित नहीं करेगा जो नितान्त काल्पनिक हो। ईश्वर परमसत् स्वरूप है, इसलिए वह हमारी आस्था का स्थायी पात्र है। उससे संयुक्त होकर ही हम पूर्णता को प्राप्त कर सकते हैं।

धार्मिक अनुभूति : स्वरूप एवं उसकी महत्ता

आधुनिक चिंतन द्वारा प्रस्तुत कतिपय विकल्पों की अपर्याप्तता को सिद्ध करने के पश्चात् राधाकृष्णन् 'धर्म' की धार्मिक अनुभूति की महत्ता प्रतिपादित करते हैं। धार्मिक अनुभूति के आधार पर ही 'ईश्वर' की उपस्थिति में हमारा विश्वास सहज होता है। बुद्धि के स्तर पर जिसे हम मात्र एक 'अभ्युपगम' के रूप में स्वीकार कर पाते हैं, अनुभूति के स्तर पर वह अनुभूत सत् के रूप में साक्षात् उपस्थित होता है। इस अनुभूति के पश्चात् उसके अस्तित्व के विषय में अनास्था की कोई गुंजाइश ही नहीं रहती। अतएव आध्यात्मिक अनुभूतियों का अध्यात्मवाद के मूल निष्कर्षों की दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व है।

धार्मिक अनुभूति संबंधात्मक चेतना से भिन्न एक समग्र अनुभूति है। तत्त्वों का इकाइयों में विभाजन, उनकी परस्पर पृथकता और स्पष्टता और विषय से उनका पार्थक्य – यह सभी संबंधात्मक चेतना की विशेषता है। किन्तु स्पष्टता के प्रयास के बावजूद जैसा कि अनेक दार्शनिकों ने विभिन्न संदर्भों में सिद्ध किया है, इस स्तर पर बहुत कुछ अस्पष्ट ही रह जाता है। अतएव प्रयास की अंतिमता में संदेह होना स्वाभाविक है। किन्तु धार्मिक अनुभूति में ज्ञाता-ज्ञेय के मूल द्वैत के साथ सभी द्वैतों का एकबारगी अतिक्रमण हो जाता है। सत्-चित् का अपूर्व तादात्म्य इस चेतना की विशेषता है, यही कारण है कि इसकी प्रामणिकता असंदिग्ध है। जब चेतना तटस्थ होकर विषयों से अपना पार्थक्य बनाए रखती है तब विषयों को उनके बाह्य रूप में ही जानना संभव है। और इस प्रकार के ज्ञान की प्रामाणिकता के लिए भी उनके पृथक् एवं वाह्य तत्त्वों पर ही हमें आश्रित होना पड़ता है किन्तु जब ज्ञेय से अंततः सत् से चेतना का तादात्म्य हो जाता है तब उस बोध के विषय में संशय की कोई गुंजाइश ही नहीं रहती।

समग्र अनुभूति जो धार्मिक अनुभूति का पर्याय है, सत से सहज तादात्म्य की स्थिति है। वह स्वतः सिद्ध, स्वयंवेद्य तथा स्वप्रकाश है।[1] जिस प्रकार प्रकाश

---

1. "Absolute and self authenticating" देखिये फिलिप्स का लेख शीर्षक 'क्रिटिक ऑफ नैचुरलिज्म' : द लाइब्रेरी ऑफ लिविंग फिलॉसफर्स के अंतर्गत प्रकाशित हुआ ग्रंथ है : पृ. 137.

के माध्यम से सभी वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं, किन्तु प्रकाश को अपनी अभिव्यक्ति के लिए किसी अन्य पर निर्भर नहीं रहना होता, उसी प्रकार समग्र अनुभूति अपनी प्रामाणिकता के लिए किसी अन्य पर आश्रित नहीं होती।

पुनः समग्र अनुभूति अवर्ण्य है। प्रत्ययों की मध्यस्थता से यह व्यंजित नहीं हो सकती, किन्तु व्यंजना की आवश्यकता की भी अवहेलना नहीं की जा सकती। अतएव इसकी अभिव्यक्ति के लिए हमें शब्दों को उनके सामान्य अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रस्तुत करना पड़ेगा, अर्थात् शब्दों को प्रतीक मानकर अभिव्यक्ति की एक नवीन शैली का निर्माण करना पड़ेगा। यही कारण है कि सारी संतवाणी सामान्य चेतना के लिए अटपटी वाणी ही रहती है, किन्तु जिस अनुभूति से वह रंजित रहती है, उससे तादात्म्य स्थापित करके उसके अपूर्व अर्थ और ध्वनि को सहज ग्रहण किया जा सकता है।

इसमें संदेह नहीं कि धार्मिक अनुभूति सभी के लिए संभव नहीं है, किन्तु धार्मिक अनुभूति की विशेषता को हम सहज ग्रहण कर सकते हैं, यदि हममें सर्जनात्मक क्षमताएँ हैं। सर्जनात्मक क्षमता रखने वाला व्यक्ति जानता है कि किस प्रकार उसकी कृतियों में एक-एक शब्द उसके लिए विशिष्ट होकर आता है। प्रत्येक शब्द उसकी सर्जनात्मक कल्पना को अंकित करने वाला और उसकी अंतरात्मा की गहराइयों से प्रेरित एवं अनुप्राणित होता है। सर्जनात्मक कृतियों का कोरी बुद्धि के आधार पर विश्लेषणात्मक पद्धति द्वारा आस्वादन संभव नहीं है। विपरीततः एक परिष्कृत संवेदनशील चेतना ही एकबारगी कलात्मक कृतियों में व्यंजित अर्थ को उसकी सम्पूर्णता में ग्रहण कर लेती है।

किन्तु राधाकृष्णन् कहते हैं कि समग्र अनुभूति की अवर्ण्यता का उसकी विषयिनिष्ठता से कोई संबंध नहीं है। अचिंत्य एवं अवर्ण्य होने के बावजूद ठोस है, विषयनिष्ठ है और स्वेच्छा से उत्पन्न नहीं होती। जैसे, जिस समय, जिस रूप में हम चाहें विषयों का प्रत्यक्ष नहीं कर सकते, उसी प्रकार सत् की अनुभूति भी हमारी स्वेच्छा पर निर्भर नहीं करती। कभी-कभी तो बिना चाहे–आनायास ही हमें उसकी अनुभूति हो जाती है।

यही नहीं, अनुभूति की अभिव्यक्ति जिन शब्द-प्रतीकों के माध्यम से होती है, वे प्रत्येक व्यक्ति के लिए विशिष्ट होते हैं। अभिव्यक्ति विषयक यह वैविध्य देश, काल तथा व्यक्ति की मानसिक पृष्ठभूमि से नियंत्रित होता है,

इसलिए उस वैविध्य के आधार पर अनुभूति को विषयिनिष्ठ मान लेना उचित नहीं है।[1]

पुनः वे कहते हैं कि समग्र अनुभूति अनेक अर्थों में असामान्य होते हुए भी सामान्य जीवन से नितांत असंबद्ध नहीं है। इससे सदृशता रखने वाली अनुभूतियों का अनुभव हमें प्राप्त होता है। परस्पर स्नेह के आदान-प्रदान में मनुष्य जिस सहजता के साथ द्वैत का समर्पण कर एकता को प्राप्त कर लेता है, वह उक्त अनुभूति के पर्याप्त निकट है।

उक्त समग्र अनुभूति उच्च चेतना से संबद्ध होने के कारण चिरशांति एवं संतोष प्रदान करने वाली होती है। इसके आविर्भाव के साथ जीवन के सभी तनाव एकबारगी समाप्त हो जाते हैं और मानवीय चेतना द्वंद्वों से मुक्त हो जाती है। इसी स्थिति को संभवतः धर्मों में 'स्वर्ग' शब्द से अभिव्यक्त किया गया है और यह भी कहा गया है कि 'स्वर्ग' का साम्राज्य तो आपके भीतर ही है[2] और इस स्थिति की प्राप्ति के साथ व्यक्ति अपने 'अहं' का सहज समर्पण कर देता है और उसकी चेतना एक अपरिमित सार्वभौम चेतना से आप्लावित हो जाती है।

अन्तःप्रज्ञा एवं प्रज्ञा

समग्र अनुभूति की कतिपय विशेषताओं को प्रस्तुत करने के पश्चात् राधाकृष्णन् समग्र-अनुभूति (अंतः प्रज्ञा) एवं संबंधात्मक चेतना (प्रज्ञा) के संबंध पर प्रकाश डालते हैं। अन्तःप्रज्ञा तथा प्रज्ञा की चर्चा करते हुये वे विश्व-चिंतन को दो स्पष्ट खंडों में विभाजित करते हैं। पूर्व ने अंतः प्रज्ञा को और पश्चिम ने 'प्रज्ञा' को ज्ञान के संदर्भ में अंतिम माना है। किन्तु इस प्रकार का वर्गीकरण कुछ उचित नहीं है। क्योंकि बहुत से पाश्चात्य दार्शनिकों ने प्रज्ञा की सीमाओं को स्पष्ट स्वीकार किया है क्योंकि और अन्तःप्रज्ञा की अंतिमता को उसी अर्थ में स्वीकार किया है, जिस अर्थ में भारतीय दृष्टिकोण द्वारा स्वीकार किया गया है। किन्तु दोनों परम्पराओं की सामान्य विशेषता की दृष्टि से उक्त विभाजन उन्हें उचित ही प्रतीत होता है।

---

1. "The variety of the pictures of God is easily intelligible when we realize that religious experience is psychologically mediated".

   द हिन्दू वियू आफ लाइफ, पृ. 25.

   "The frame of reference which each individual adopts is determined by heredity and culture."

   एन आइडियलिस्ट वियू ऑफ लाइफ, पृ. 78.

2. The Kingdom of God is within you.

पाश्चात्य दार्शनिकों में ही ब्रैडले, वर्गसां, क्रोचे आदि ने प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि की सीमाओं को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया है। सभी ने 'अव्यवहितत्व'[1] को 'प्रज्ञा' से अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। 'प्रज्ञा' जिसे ब्रैडले 'संबंधात्मक-चेतना' भी कहते हैं, सत् को उसकी संपूर्णता में ग्रहण करने में सर्वथा असमर्थ है। सत् को ग्रहण करने के प्रयास में वह उसकी समग्रता को 'तद्' और 'किम्' दो खंडों में स्पष्ट रूप से विभाजित कर देती है और ये दोनों पक्ष उसके प्रयासों द्वारा पुनः कभी भी संयुक्त नहीं हो पाते। 'प्रज्ञा' की अपनी एक विशिष्ट शैली है, जिसका वह अपने स्तर पर परित्याग नहीं कर पाती। वह किम पक्ष ही से संबद्ध हो पाती है और अंत तक उसी को विकसित करती और अपने स्तर पर तद् का किम से पुनः जुड़ जाना या फिर एक हो जाना असंभव है। भला एक कृत्रिम शैली से सत् की यथार्थ प्रस्तुति किस प्रकार संभव है।

परंतु ब्रैडले संबंधात्मक चेतना के अतिक्रमण की संभावना को स्वीकार करते हैं। 'प्रज्ञा' से उच्च 'अव्यवहितत्व' की वे कल्पना करते हैं, जिनमें ये पृथक् किये हुए तत्व पुनः एक सहज तादात्म्य को प्राप्त कर लेंगे।

बर्गसां प्रज्ञा को व्यावहारिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानते हैं। 'प्रज्ञा का लक्ष्य व्यावहारिक जीवन की सफलता है।[2] जैविक लक्ष्यों की प्राप्ति एवं सुरक्षा के लिए 'प्रज्ञा' प्रकृति द्वारा प्रदत्त एक विशिष्ट क्षमता है। अतएव विश्व के कतिपय पक्षों से ही वह संबंध स्थापित कर पाती है। और अन्य पक्षों की इसीलिए उपेक्षा भी करती है। प्रज्ञा उपयोगी है, किन्तु सत्य नहीं है और न ही यथार्थता को जानना उसका लक्ष्य ही है। अतः प्रज्ञा ठीक इसके विपरीत सत्य है किन्तु उपयोगी नहीं।

जब अंतःप्रज्ञा के संबंध में हम उसकी वैधता संबंधी प्रश्न उठाते हैं तो हम एक ऐसे प्रश्न का उत्तर चाहते हैं, जो वस्तुतः इस संदर्भ विशेष में संभव नहीं है। क्योंकि 'वैधता' का प्रश्न प्रज्ञा के संदर्भ में ही सार्थक है। प्रज्ञा के

---

1. Immediacy ब्रैडले ने इसे Pre-relational consecutiveness भी कहा है।

2. Intellectual consciousness is practical. When a man points a pistol at me, I do not care to ascertain its colour and made but simply react to it by running away from it. Its dangerous character alone is of practical interest to me; all else is irrelevant. पुनः बर्गसां के विचार प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं : "Scientific knowledge is an extenstion of the workings of practical consciousness. It abstracts from the real certain aspects which are practically useful, which happen to be repeated in others. Action is impossible without abstraction, and thought in so far as it is logical, is abstration". एन आइडियलिस्ट वियू ऑफ लाइफ, पृष्ठ 113.

विकल्प तथा उसके प्रतिमान अपने संदर्भ में ही महत्त्वपूर्ण हैं। उस संदर्भ के बाहर वे निरर्थक हैं। अंतःप्रज्ञा स्वतः-प्रामाणिक है, उसके अंतर्विषय के निराकरण का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

क्रोचे भी इसी प्रकार की बात कहते हैं। उनका कहना है कि विशिष्ट एवं अपूर्व का बोध हमें किस प्रकार प्रज्ञा के माध्यम से हो सकता है? सर्जनात्मक अनुभूति एवं क्रिया विशेष रूप से सृजनशील सौंदर्यात्मक क्रिया ही अपने माध यम से इस विशिष्ट एवं अपूर्व का हमें साक्षात् कराती हैं, इसीलिए वह प्रज्ञा से श्रेष्ठ है। सर्जनात्मक कलात्मक क्रिया में ही हमें वस्तुतः विषयों का उसकी अविश्लेषित सम्पूर्णता में बोध होता है, किन्तु उस धरातल पर हमें इस बात का अहसास नहीं होता कि हम कुछ देख अथवा जान रहे हैं। 'प्रज्ञा' ज्ञाता एवं ज्ञेय के स्पष्ट द्वैत की अपेक्षा करती है, किन्तु कलात्मक बोध में इस प्रकार के द्वैत का अभाव रहता है, अनुभूति की प्रक्रिया अपने अंतर्विषय के साथ एक अपूर्व अभेद की स्थिति में रसमग्न रहती है और जिसे प्रज्ञा के माध्यम से, अभिव्यक्त करना असंभव है।

पाश्चात्य दार्शनिकों के विचारों के संदर्भ में स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रज्ञा' की अपनी सीमायें हैं और उनकी अवहेलना से ही दर्शन के क्षेत्र में अनेक भ्रांतियों का आविर्भाव हुआ है। 'दर्शन' यदि 'सत्' से संबद्ध ज्ञान है, तो उसे 'प्रज्ञा' की अपेक्षा 'अंतःप्रज्ञा' की अंतिमता को मानना ही पड़ेगा।

किन्तु प्रश्न यह है कि क्या अंतःप्रज्ञा का सामान्य जीवन से कोई संबंध नहीं है? क्या वह 'प्रज्ञा' से नितान्त असंबद्ध है?

हमें राधाकृष्णन् के विचार इस प्रश्न पर ब्रैडले के विचार के अधिक निकट प्रतीत होते हैं। 'प्रज्ञा' की परिपूर्णता 'अंतःप्रज्ञा' में ही संभव है, किन्तु दोनों की शैली में आमूल भेद है। अंतःप्रज्ञा से आप्लावित होकर 'प्रज्ञा' के अपने स्वरूप का समर्पण निश्चित है। जो 'प्रज्ञा' के विषय में सत्य है, वही 'संकल्प' और 'भावना' के लिए भी सत्य है। इनकी परिपूर्णता भी अंतःप्रज्ञा से आप्लावित होने में ही है। ऐसी सर्जनात्मक प्रज्ञा सामान्य प्रज्ञा से निश्चित ही भिन्न है, इसी प्रकार सर्जनात्मक संकल्प तथा भावना भी अपनी सामान्य अभिव्यक्तियों से भिन्न हैं।

प्रज्ञा तथा अंतःप्रज्ञा का अंतर स्पष्ट करते हुए राधाकृष्णन् कहते हैं कि अंतःप्रज्ञा को प्रज्ञा के ही विकसित रूप में स्वीकार करना उसके स्वरूप के साथ अन्याय करना होगा। अंतः प्रज्ञा चेतना के एक अपूर्व आयाम से संबद्ध

है और उससे जो कुछ भी आप्लावित अथवा नियंत्रित होता है, वह अपूर्व होता है। प्रज्ञा के संदर्भ में अंतःप्रज्ञा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं "बौद्धिक मानव की परिपूर्णता कोई आध्यात्मिक उपलब्धि नहीं, बल्कि वह एक ऐसी अपूर्व शक्ति के प्रवाह को सूचित करती है, जो बाहर से प्रवाहमान है और उसे अनुप्राणित कर रही है।" पुनः अन्तःप्रज्ञात्मक दृष्टि के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं : यह हृदय के सरल तथा लोभ, ईर्ष्या, घृणा संदेह आदि आवेशों से मुक्त लोगों की दृष्टि है। इसी में वस्तुतः मानव जीवन की परिपूर्णता है क्योंकि इसमें मानव जीवन के सभी पक्ष उन्नत हो जाते हैं और इसे प्राप्त करने पर व्यक्ति को ऐसी वस्तुओं का बोंध होने लगता है, जिन्हें सरलता से हम व्यक्त नहीं कर सकते।[1]

अंतःप्रज्ञा सर्जनात्मक है और प्रज्ञा में इस क्षमता का अभाव है। दोनों की उपलब्धियाँ भिन्न है। अंतःप्रज्ञात्मक चेतना संपूर्ण व्यक्तित्व के सक्रिय होने पर ही संभव है। उसकी झलक हमें कभी-कभी प्रतिभा संपन्न व्यक्तियों की सर्जनात्मकता में मिलती है, किन्तु उसका पूर्णतः विकसित रूप हमें आध्यात्मिक चेतना में ही मिलता है। संतों का जीवन अपूर्व आंतरिक सौम्यता से पूरित होता है, जबकि सामान्य व्यक्ति का जीवन अशांत और असंतुष्ट रहता है। उनकी सौम्यता इस बात का प्रमाण है कि उन्होंने जीवन के सभी पक्षों को समन्वित कर लिया है। उनका संकल्प शुभ से, भावनायें सुंदर से और प्रज्ञा सत्य से स्थायी रूप से नियंत्रित हैं। उनमें यथार्थ और आदर्श की असंगति दूर हो चुकी है और उनकी चेतना की मध्यस्थता से जीवन के उन्नत मूल्यों की सहज अभिव्यक्ति हो रही है। अंतः प्रज्ञात्मक चेतना और सामान्य चेतना के इस अंतर की अवहेलना नहीं हो सकती। अपने संदर्भ से वियुक्त सामान्य चेतना की उपलब्धियाँ इस उन्नत चेतना की सहज स्थिति के समक्ष फीकी है।[2] उसके लिए वस्तुतः उपलब्धि शब्द का कोई अर्थ ही नहीं है। जो निम्न स्तर के लिए अथक परिश्रम के पश्चात् प्राप्त होने वाली उपलब्धियाँ हैं वे सभी और उससे कहीं अधिक श्रेष्ठ उपलब्धियाँ नितांत सहजता के साथ इस स्तर पर यथार्थ हो जाती हैं। दोनों चेतना के दो भिन्न आयामों से संबद्ध हैं। किन्तु उनकी परस्पर संबद्धता की भी अवहेलना उचित नहीं।

---

1. ईस्टर्न रिलीजन्स एण्ड वेस्टर्न थॉट : पृ. 23-24.
2. "No amount of intellectual skill can lead us to intuitive experience. We must reach a new level of consciousness to which the highest truths are revealed even as concepts are given to thought and colours to sense. The life of spirit is essentially creative in its character. We cannot create through the exercise of intellect any more than a flower can evolve in obedience to a formula". एन आइडियलिस्ट वियू ऑफ लाइफ, पृ. 167.

इस संबद्धता को स्पष्ट करते हुए राधाकृष्णन् समग्र और खंड विशेष की आंतरिक संबद्धता को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। खंड विशेष अपनी परिपूर्णता उस 'समग्रता' में ही प्राप्त करता है, जिसमें वह घटक रूप में सम्मिलित है। किन्तु उस परिपूर्णता को प्राप्त करने में उसे अपने खंडित व्यक्तित्व की आभासी स्वपर्याप्तता का समर्पण करना होगा। ब्रैडले ने 'प्रज्ञा' के संदर्भ में इसी तथ्य को प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट कहा है : 'प्रज्ञा को अपनी संपूर्णता प्राप्त करने के लिए आत्महत्या करनी ही होगी'।[1] किन्तु उनके इस कथन के साथ यह ध्वनि भी संबद्ध है कि अपने इस आभासी 'स्वत्व' के समर्पण द्वारा उसे अपने तात्विक की भी प्राप्ति होगी। अन्य शब्दों में 'स्वत्व' का यह समर्पण सब कुछ खोने के बराबर नहीं होगा। प्रत्युत् यह खोना उसके अपने तात्विक, समग्र व्यक्तित्त्व की प्राप्ति के लिए ही आवश्यक होगा।

इस दृष्टि से यदि प्रज्ञा तथा अंतः प्रज्ञा को देखें तो दोनों में कोई विरोध नहीं है। अंतः प्रज्ञात्मक दृष्टि प्रज्ञा विरोधी नहीं है। वह प्रज्ञा को परिपूर्णता प्रदान करने वाली अनुभूति है। इस प्रश्न पर अपने विचार व्यक्त करते हुए राधाकृष्णन् कहते हैं : ''समग्र-चेतना में सत्य के खोज की वृत्ति निहित होने के कारण वह अर्थात् तर्क-बुद्धि अंतः प्रज्ञा-विरोधी नहीं है। जब इसका आविर्भाव होता है, तब तार्किक स्तर पर इसकी प्रामाणिकता का प्रकाशन भी होना चाहिए।''[2]

किन्तु इसके पश्चात इनको एक दूसरे के और अधिक निकट लाने के प्रयास में, जब वे अंतः प्रज्ञा की प्रामाणिकता का आधार प्रज्ञा को मान लेते हैं, तब इनके कथन का अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता। अंतःप्रज्ञा के प्रमाण-निरपेक्ष स्वरूप का वह अनेक स्थलों पर इस प्रकार समर्पण कर देते हैं कि वह क्या कहना चाह रहे हैं यह समझ में नहीं आता। भला जो चेतना स्वतः सिद्ध एवं स्वतः प्रकाश हो वह कैसे अपनी प्रामाणिकता के लिए बुद्धि पर निर्भर हो सकती है?[3]

राधाकृष्णन् के अंतः प्रज्ञा संबंधी विचार में जो असंगति प्रतीत होती है, उसका एक ही कारण समझ में आता है। इस प्रकार के कथनों द्वारा संभवतः

1. "Thought must commit suicide inorder to become whole".
2. आइडियलिस्ट वियू आफ लाइफ, पृ. 143.
3. "Mere intuitions are blind while intellectual work is empty. There is no gulf between the two" वही पृ. 143. "Spiritual perception is liable to error and requires the testing process of logical thought". हिन्दू वियू ऑफ लाइफ, पृ. 16.

वे इस भ्रान्ति का निराकरण करना चाहते हैं कि अंतः प्रज्ञा असामान्य है और वह सामान्य क्षमताओं से नितांत असंबद्ध है; और संभवत इसी प्रयास द्वारा वे दोनों क्षमताओं को एक दूसरे के पूरक तत्त्व के रूप में भी स्वीकार कर लेते हैं।

किन्तु उपर्युक्त कथन राधाकृष्णन् के विचारों की मूल ध्वनि के साथ सामंजस्य स्थापित करने में सर्वथा असमर्थ हैं। दोनों समस्तरीय पूरक क्षमताएँ हैं - एक दूसरे को सशक्त करने वाली एवं पूर्णता प्रदान करने वाली हैं ऐसा कहना उचित नहीं प्रतीत होता। दोनों के मूल अंतर को कायम रखते हुए उनकी आंतरिक संबद्धता की बात करना ही अधिक उचित प्रतीत होता है। इस दृष्टि से ब्रैडले ने अंतः प्रज्ञा तथा प्रज्ञा के मूल अंतर को अंत तक बनाये रखा है और साथ ही दोनों की सावयविक संबद्धता (organic relatedness) की भी उपेक्षा नहीं होने दी है।

राधाकृष्णन् दोनों की सम्बद्धता के प्रश्न पर ब्रैडले के पर्याप्त निकट हैं, किन्तु अन्त में दोनों को समीप लाने के प्रयास में वे दोनों को समस्तरीय एवं पूरक क्षमताएँ मान लेते हैं, जिसके कारण अंतः प्रज्ञा के स्वतः सिद्ध, स्वतः संवेद्य, स्वप्रकाश स्वरूप का स्वतः समर्पण हो जाता है। दोनों समस्तरीय एवं पूरक क्षमताएँ नहीं है, यह उपर्युक्त प्रस्तुति से स्पष्ट हो चुका है। जिस सावयविक एकता के प्रत्यय के आधार पर इन दोनों के सम्बन्ध को उन्होंने प्रस्तुत करने की चेष्टा की है, उसके अनुसार 'समग्रता' तथा उसमें निहित एवं उससे नियंत्रित खंड-विशेषों का परस्पर संबंध सह-अस्तित्वान् दो सत्ताओं के संबंध की तरह कदापि नहीं हो सकता। जो आधारभूत समग्र एकता है – वह खंडों के आभासी, स्वपर्याप्त, स्ववर्ती स्वरूप से निर्मित कृत्रिम, आकस्मिक एकता से निश्चित ही भिन्न होगी। इस अन्तर की अवज्ञा नहीं हो सकती। राधाकृष्णन् स्वयं इस अन्तर को स्वीकार करते हैं।

अंतः प्रज्ञा को सामान्य जीवन की अनुभूतियों का भी समर्थन प्राप्त है किन्तु जब सामान्य जीवन की अनुभूतियाँ इससे अर्थात् मूल एकता से नियंत्रित एवं प्रेरित होती हैं, तो उनका स्वरूप निश्चित ही भिन्न हो जाता है।[1] कवि तथा कलाकार की सर्जनात्मक क्षमता कविता एवं कलाकृतियों में अभिव्यक्त

1. "The creative insight is not the final link in a chain of reasoning". आइडियलिस्ट वियू ऑफ लाइफ, पृ. 140. "Religious consciousness is not reducible to either intellectual or ethical or aesthetic activity or a sum of these "..... वही, पृ. 157. "The creative spirit and its activity are so unlike the conscious mind that the latter feels itself to be inspired and raised above its normal power by the breath of spirit". वही, पृ. 146.

होती है और सामान्य व्यक्ति जब इनसे प्रभावित होता है तो वह भी अपनी संवेदनशीलता के सहारे कवि तथा कलाकार की दृष्टि से सहज अनन्यता प्राप्त कर लेता है। इस संवेदनशीलता के अभाव में सर्जनात्मक कृतियों के प्रति समुचित दृष्टिकोण असम्भव है। जो कलाकृतियों के बारे में सही है, वही नैतिक मूल्यों के विषय में भी सही है। नैतिक मूल्यों में आस्था रखने वाला व्यक्ति नैतिक मूल्यों का बोध रखने वाले व्यक्ति से निश्चित ही भिन्न होता है। संवेदनशीलता के इस तथ्य को प्रस्तुत करते हुए राधाकृष्णन् कहते है : 'एक ईसामशीह को समझने के लिए ईसामसीह का मस्तिष्क होना आवश्यक है।'[1]

मानव की 'संवेदनशीलता' स्वयं इस बात का प्रमाण है कि मनुष्य में अंतः प्रज्ञात्मक चेतना सक्रिय है। सामान्य मानव कलाकार एवं दार्शनिक भले ही न हो पाये – वह कलाकार एवं दार्शनिक के प्रति आस्थावान है, इतना ही उसके लिए पर्याप्त है। समय आने पर इस सम्भावना के विकास की आशा की जा सकती है।

अन्तःप्रज्ञा की स्वीकृति दर्शन की दृष्टि से नितांत महत्त्वपूर्ण है। मानवीय जीवन तथा विश्व के तात्त्विक स्वरूप को प्रस्तुत करने में, उसका अनुभव करने में इसकी अवहेलना उचित नहीं, यह स्पष्ट ही है।

मानवीय व्यक्तित्व की द्विपक्षीय व्याख्या : मनोवैज्ञानिक एवं तत्त्वमीमांसीय

राधाकृष्णन् मानवीय व्यक्तित्व की चर्चा करते हुए कहते हैं कि उसे दो दृष्टिकोणों के आधार पर दो भिन्न रूपों में प्रस्तुत किया जा सकता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से वह अन्य इकाइयों की भाँति एक व्यवस्थित इकाई है। इसमें सम्मिलित सभी तत्त्व एक आंतरिक व्यवस्था से नियंत्रित हैं और जब तक यह व्यवस्था कायम रहती है तब तक उसके व्यक्तित्व की एकता बनी रहती है। बहु-व्यक्तित्व (Multiple Personality) का तथ्य इसी सत्य का अपने तरीके से समर्थन करता है। यह आंतरिक व्यवस्था जब किन्हीं कारणों से भंग हो जाती है, तब या तो वह व्यक्ति सम्पूर्ण रूप से विक्षिप्त हो जाता है, अथवा उसके अंदर एक से अधिक व्यक्तियों का आविर्भाव हो जाता है जो अपने में पृथक-पृथक रूप से व्यवस्थित होते हुए भी व्यक्तित्व की एकता में बाधक हो जाते हैं। परिणामतः उस व्यक्तित्व के व्यवहार की संगति नष्ट हो जाती है।

---

1. "To understand a christ we must have the mind of Christ". वही, पृ. 164.

राधाकृष्णन् इस संदर्भ में मानवीय व्यक्तित्व की व्याख्या संबंधी कई विकल्पों की चर्चा करते हैं और इन्हें असंतोषपूर्ण मानते हैं। मानवीय व्यक्तित्व की सरलता में वे विश्वास नहीं करते, फलस्वरूप उन सिद्धांतों का खंडन करते हैं, जिनमें उसे एक सरल इकाई के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इन सिद्धांतों के अंतर्गत 'आत्मा' सरल है, इसलिए वह शाश्वत है, ऐसा विश्वास किया जाता है। विपरीततः जो कई तत्त्वों से निर्मित होने वाली एकता है, उदाहरणार्थ शारीरिक इकाई वह तत्त्वों के विलयन के पश्चात् सहज ही नष्ट हो जाती है।

वे ह्यूम तथा विलियम जेम्स जैसे दार्शनिकों के विचारों को भी अस्वीकार करते हैं। मानवीय चेतना मनःस्थितियों का संघात मात्र है और वह इसके माध्यम से स्वतः संबद्धता प्राप्त कर लेती है, इस दृष्टिकोण को भी वे अपर्याप्त मानते हैं। वे सचेतन स्तर परं आंतरिक व्यवस्था को प्राप्त करने की विशेषता को ही मानवीय व्यक्तित्व की अनिवार्य विशेषता के रूप में स्वीकार करते हैं। और यह आंतरिक व्यवस्था उसे बाह्य जगत् से क्रिया-प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप ही प्राप्त होती है। अतएव इस दृष्टि से मानवीय इकाई एक स्वपर्याप्त, आणुविक इकाई नहीं है। वह प्रारंभ से ही विश्व में अवस्थित है, उससे संबद्ध है, उससे प्रभावित होता है और उसे एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में प्रभावित भी करता है।

यदि मानवीय स्तर से निम्न इकाइयों का और अध्ययन किया जाय तो उन इकाइयों में भी एक सहजवृत्यामक व्यवस्था स्पष्ट लक्षित होती है। प्रत्येक इकाई की एक आंतरिक व्यवस्था होती है, जो उसे अन्य इकाइयों से पृथक करती है यही नहीं वह वातावरण से भी सहजवृत्यात्मक रूप से सम्बद्ध होती है। और इसी सहजवृत्यात्मक आंतरिक व्यवस्था एवं वातावरण से अपनी संबद्धता को वह अंत तक बनाये रखती है।

विपरीततः मानवीय इकाई अनवरत सचेतन प्रयासों द्वारा आंतरिक व्यवस्था को प्राप्त करती है, यही उसकी निजी विशेषता है। वह जीवन में अपने संकल्प द्वारा निश्चित उद्देश्यों को स्वीकार करती है और उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होती है। और इन उद्देश्यों की स्वीकृति में एवं उससे संबद्ध प्रयासों में प्रत्येक व्यक्तित्व अपनी व्यक्तिगत विशेषता बनाए रखता है। मनोविज्ञान इसी व्यक्तिगत जीवन शैली का अध्ययन प्रस्तुत करने वाला विज्ञान है।

किन्तु मानवीय जीवन के इस पक्ष से भिन्न एक अन्य पक्ष भी है, जिसकी मनोविज्ञान उपेक्षा करता है। मनुष्य 'विषयी' रूप भी है। ध्यान, धारण के एवं समाधि अर्थात् चेतना, उच्चतर आयाम की संभावना इसी पक्ष की स्वीकृति पर आधारित है। ह्यूम तथा जेम्स ने उसके इस स्वरूप की उपेक्षा करते

हुए मानवीय व्यक्तित्व को मात्र एक 'विज्ञान संतान' (stream of consciousness) के रूप में प्रस्तुत किया है। काँट तथा जेम्स वार्ड ने विषयी के अस्तित्व एवं कार्य को तो स्वीकार किया है किन्तु उनका 'विषयी' एक अमूर्त-तत्त्व के रूप में ही प्रस्तुत हो सका है।

राधाकृष्णन् 'विषयी' के उक्त रूप को स्वीकार नहीं करते। क्योंकि आनुभाविक चेतना के स्तर पर 'विषयी' का जो रूप अभिव्यक्त होता है, वह विषय-सापेक्ष ही है; क्योंकि अपनी संपूर्णता के लिए वह 'विषय' की किसी न किसी रूप में अपेक्षा करता है। 'विषयी' एवं 'विषय' की सापेक्षता, उनका द्वैत, इस बात का संकेत करता है कि उनका यह रूप अन्तिम नहीं है। वे सम्बद्ध हैं, किन्तु उनकी संबद्धता के मूल में एक और सत् एक और एकता विद्यमान है, जिसे एकांतिक रूप से इस द्वैत के स्तर के किसी भी पद विशेष के माध्यम से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है। यह निरपेक्ष सत् स्थायी रूप से इन दोनों की पृष्ठभूमि में विद्यमान है और इनकी मध्यस्थता से अभिव्यक्त होने के लिए सतत् प्रयत्नशील भी है। अन्य शब्दों में, इस परम सत् का 'विषयी' और 'विषय' दोनों में से किसी से भी तादात्म्य स्थापित नहीं हो सकता, क्योंकि वह अविशिष्ट होकर ही दोनों का समान रूप से अधिष्ठान हो सकता है। काँट ने जब इसी तत्त्व को 'आत्मा'[1] शब्द से व्यक्त किया तो उन्होंने उक्त सत् को बुद्धि की एक कोटि विशेष की मध्यस्थता से व्यंजित करना चाहा, यही उनकी भूल थी।[2] ब्रैडले ने अपनी पुस्तक 'आभास और सत्' (Appearance and Reality) में आत्मा को बुद्धि की एक कोटि विशेष के माध्यम से प्रस्तुत करते हुए उसकी आंतरिक विसंगतियों के कारण उसके आभासी रूप को सिद्ध करने की चेष्टा की है।

अतएव यह कहा जा सकता है कि एक सामान्य अ-विशिष्ट चेतना मानवीय व्यक्तित्व के अधिष्ठान के रूप में विद्यमान है। वह मानवीय व्यक्तित्व का आधारभूत तत्व ही नहीं है, प्रत्युत वह विश्व की सभी इकाइयों का अधिष्ठान है। इसी नाते मनुष्य आंतरिक रूप से विश्व की सभी इकाइयों से संयुक्त है और इसी मूल सम्बद्धता को सचेतन स्तर पर स्वीकार करते हुए इसी की प्रेरणा के अनुरूप कार्य करने में ही, अंततः मानव जीवन का कल्याण है।

---

1. Self Transcendental unity of Apperception.
2. "The deeper unity is what Kant refers to as the transcendental self. Only in calling it the self he is applying to noumenal reality a category of the phenomenal world ..... While the empirical self is always co-related with a not self, the universal self includes all and has nothing outside to limit it". आइडियलिस्ट व्यू ऑफ लाइफ, पृष्ठ 215.

मानव से निम्न स्तरों पर यह मूल संबद्धता सहजवृत्यात्मक रूप से सक्रिय है, किन्तु बुद्धि के आविर्भाव के कारण और परिणामस्वरूप 'अहं' के निर्माण के कारण, वह सहज संबद्धता मानवीय स्तर पर नष्ट हो गई है।

सर्जनात्मक प्रक्रिया के माध्यम से उस मूल संबद्धता को पुनः अभिव्यक्त करने का यह विकल्प मानव के लिए ही सम्भव है। जीवन के तीनों मूल्य – सत्यं, शिवं, सुन्दरम्, इसी मूल संबद्धता की ओर हमें पुनः आकृष्ट कर रहे हैं, ताकि हम अपने सचेतन प्रयासों द्वारा एक बार पुनः एक अपूर्व स्वर्ग का इस धरती पर निर्माण कर सकें। ज्ञान, कला, नीति तथा धर्म उस 'स्वर्ग' के अवतरण के साधन हैं, क्योंकि इसके माध्यम से अपनी मूल संबद्धता की मनसा, वाचा, कर्मणा अभिव्यक्ति के लिए अपने वैमनस्य का परित्याग करते हुए हम एक दूसरे के निकट आ जाते हैं।

मानव की स्वातिमणीयता स्वतः इस बात का प्रमाण है कि उसका ऐतिहासिक व्यक्तित्व ही उसका एकमात्र पूँजी नहीं है, उसकी आध्यात्मिक आकांक्षायें यथार्थ हैं और पूरा करने में ही उसके व्यक्तित्व की स्थायी सफलता एवं संतोष है।

ब्रैडले के विद्यार्थी इस युक्ति से भलीभाँति परिचित हैं जिसमें वे कहते हैं, कि मानव का ही नहीं प्रत्युत् विश्व की समस्त इकाइयों का स्वरूप ही कुछ ऐसा है, कि वे अपनी सीमाओं के मध्य शांत होकर रह नहीं पातीं और सदैव अपने विस्तार की कामना करती हैं। किन्तु मानवीय व्यक्तित्व में विश्व की इकाइयों की यह सहज स्वातिक्रमणीयता पर्याप्त स्पष्टता के साथ व्यंजित होती है। यही उसकी विशेषता है। इसलिए तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से मानव का अध्ययन विशेष महत्त्व रखता है।

निष्कर्षः रूप से यह कहा जा सकता है कि तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से मानवीय व्यक्तित्व की सहज स्वातिक्रमणीयता, आध्यात्मिक सत् की उपस्थिति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रमाण है। इसी तथ्य को अपनी अपूर्व शैली में राधाकृष्णन् व्यक्त करते हुए कहते हैं, "सार्वभौम आत्मा की यथार्थता कोई अनालोच्य अंतदृष्टि या दर्शन का अभ्युपगम नहीं है, बल्कि दिन-प्रतिदिन के हमारे जीवन का वह सुस्पष्टतम निहितार्थ है। मानवीय स्तर पर उसकी प्रकृति में अतिमानव की ओर अग्रसर होने की एक गुप्त प्रवृत्ति सक्रिय दिखायी देती है।"[1]

1. आइडियलिस्ट व्यू आफ लाइफ, पृ. 215.

ईश्वर की अभिगम्यता का समर्थन

तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से जिसे आध्यात्मिक सत् कहा जाता है, वही धार्मिक चेतना के संदर्भ में 'ईश्वर' कहलाता है। ईश्वर के विषय में भी निषेधात्मक रूप से यही कहा जा सकता है कि वह प्रज्ञा के माध्यम से ज्ञेय नहीं है। किन्तु 'वह ज्ञेय नहीं है' कि वर्तमान संदर्भ में भी अज्ञेयता की अ-स्वीकृति यहाँ पर ईश्वर की अज्ञेयता की अ-स्वीकृति उन्हीं कारणों से की गई है जिनको पूर्व पृष्ठों में प्रस्तुत किया गया है, अर्थात् जो नितांत 'अज्ञेय' है, उसके विषय में तो यह भी नहीं कहा जा सकता है कि वह है।[1] उसकी उपस्थिति का बोध हमारे लिए इस बात की चुनौती होनी चाहिए कि हम उन आयामों का पता लगायें जिनमें उसका साक्षात्कार संभव हो सके।

कतिपय सामान्य मानवीय अनुभूतियों में भी उसकी उपस्थिति का हमें बोध होता है। सर्जनात्मक अनुभूतियों में और अन्ततः धार्मिक अनुभूतियों में भी हम अपने व्यक्तित्व के एक ऐसे स्रोत से सम्बद्ध हो जाते हैं, जो सत्ता के एक भिन्न आयाम का हमें साक्षात्कार कराता है। इसका प्रमाण हमें संतवाणी में मिलता है, जिसमें पूर्व और पश्चिम दोनों ही अपनी स्वरचित सीमाओं का सहज ही समर्पण कर देते हैं।

सामान्य जीवन में तो हम अनायास अपने व्यक्तित्व के इस सर्जनात्मक पक्ष की उपेक्षा करते हैं। किन्तु राधाकृष्णन् कहते हैं कि यदि हमें अपने जीवन का उसकी गहराइयों में उसकी संपूर्णता में साक्षात्कार करना है तो हमें अनुभूतियों के परिपक्वतम् और श्रेष्ठतम् क्षणों में प्रविष्ट होना होगा – उनमें ही उसका साक्षात्कार करना होगा। जीवन के सामान्य क्षणों में तो हमें उसका बोध हो ही नहीं सकता। इसी तथ्य को अपनी अपूर्व शैली में व्यक्त करते हुए वे कहते हैं "जीवन के उत्कृष्टतम् क्षणों में प्राप्त अंतर्दृष्टि ही मानव की गहराइयों को उनकी यथार्थता में व्यक्त करती है। मानवीय प्रकृति की इस अन्यतम यथार्थता को उसकी प्रेरणा के न्यूनतम क्षणों में देखना और उत्कृष्टतम क्षणों में उसे देखने का यत्न न करना, सर्वथा अनुचित है।"[2]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि ईश्वर की उपस्थिति का बोध हमें

---

1. "If the real were utterly transcendent to the self of man, it should have been impossible for us to apprehend even dimly its presence. We would not be able to say even that it is 'wholly other'." वही, पृ. 81.
2. आइडियलिस्ट व्यू आफ लाइफ, पृ. 83.

जीवन के अन्यतम सर्जनात्मक क्षणों में और अंततः धार्मिक अनुभूति में होता है। वह हमारे उक्त अनुभव में अभिगम्य है इसलिए वह नितांत अज्ञेय नहीं है। ईश्वर की अंतवर्तिता के साथ ही राधाकृष्णन् उसके अनुभवातीत स्वरूप की भी चर्चा करते हैं। धार्मिक अनुभूति में हमें उसके अनुभवातीत स्वरूप की स्पष्ट झलक देखने को मिलती है। और अपने इस विश्वव्यापी, आश्वस्त करने वाले अपने इस रूप में वह हमारे जीवन की एक बहुत बड़ी माँग की पूर्ति करता है। वह हमारे व्यक्तित्व का अतिक्रमण करने वाली अपूर्व सत्ता है – अनंत ज्ञान, शक्ति एवं ऐश्वर्य से संपन्न। ऐसी सत्ता की सुरक्षा को प्राप्त कर जीव निश्चिन्त हो जाता है जैसे शिशु अपनी माता के सामीप्य में सुरक्षा और निश्चिन्तता का अनुभव करता है।

ईश्वर के रूप से संबद्ध दृष्टिकोणों की सार्थकता

ईश्वर के अंतवर्ती और अनुभवातीत रूपों में अंततः कोई असंगति नहीं है। एक में मानव उस परम सत् से अपने तादात्म्य की – विभिन्न अनुपात की भावनात्मक संबद्धता की अनुभूति करता है, तो दूसरे के माध्यम से वह अपने ऐतिहासिक व्यक्तित्व का अतिक्रमण करने वाले परम सत् के ऐश्वर्य का साक्षात्कार करता है। दार्शनिकों ने ईश्वर के अंतर्वर्ती स्वरूप पर और अंततः जीव तथा परम सत् के ऐक्य पर विशेष बल दिया है, किन्तु संतों ने उसके विशाल ऐश्वर्य एवं अनुभवातीत स्वरूप को अपनी अनुभूतियों के आधार पर भिन्न प्रकार से प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। उन्होंने उसे दिव्य, पावन व्यक्तित्व प्रदान किया है और विभिन्न संबंधों के माध्यम से उसकी 'उपासना' की है और इस उपासना की पृष्ठभूमि में विद्यमान एवं सक्रिय उसकी कृपा के माध्यम से उस जैसा बन जाने की आकांक्षा विद्यमान है और 'ईश्वर' मानव की उक्त आकांक्षा को यथार्थ करने वाले रूप का, उस आदर्श का प्रतीक है और इस बात का प्रमाण भी है कि मनुष्य प्रज्ञा द्वारा नियंत्रित सामान्य जीवन में स्थायी रूप से अवस्थित नहीं होना चाहता। अतः सामान्य जीवन से संबद्ध उसकी आकांक्षाएं अनिवार्य होते हुए भी अन्तिम नहीं है।

परम सत् के इस रूप की कुछ दार्शनिकों द्वारा कटु आलोचना हुई है। स्पिनोजा कहते हैं कि यदि पशु में कल्पना शक्ति होती तो वह ईश्वर को एक सुंदर पशु के रूप में चित्रित करता। ठीक इसी प्रकार मनुष्य की कल्पना ने ईश्वर को एक विराट पुरुष के रूप में प्रस्तुत किया है। पर उसका यह रूप यथार्थ नहीं हो सकता। निष्कर्षतः वे कहते हैं कि स्वयं अपने ही रूप में ईश्वर

को देखने की इस वृत्ति के निराकरण के पश्चात् ही मानव के लिए उस सत् का साक्षात्कार संभव हो सकेगा।

राधाकृष्णन् उक्त आलोचना की सत्यता को स्वीकार करते हैं, किन्तु इसके साथ ही वे 'ईश्वर' संबंधी प्रत्ययों के महत्त्व और उसकी उपयोगिता का भी सोत्साह समर्थन करते हैं। 'ईश्वर' परम सत् की यथार्थ तात्विक प्रस्तुति तो नहीं है, और हो भी कैसे सकती है किन्तु वह उसकी श्रेष्ठतम प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति तो है ही। 'प्रज्ञा' के माध्यम से उस सत् को जब हम ग्रहण करने की चेष्टा करते हैं तो वह हमारी कल्पना में 'ईश्वर' का रूप ले लेता है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अपने तात्विक स्वरूप में वह प्रज्ञा के माध्यम से अग्राह्य है किन्तु जब तक मानवीय चेतना मात्र प्रज्ञात्मक है इस कल्पना का महत्त्व बना ही रहेगा।

पुनः वे कहते हैं कि क्योंकि 'व्यक्तित्व-आरोपण' प्रज्ञा की विशिष्ट माँग है। अतएव 'ईश्वर' की कल्पना में प्रक्षेपित व्यक्तित्व की प्रतीकात्मकता की यदि हमें स्मृति बनी रहे तो इस प्रस्तुति से अन्ततः हम लाभान्वित ही होंगे। वस्तुतः विकास की दृष्टि से निरपेक्ष सत् की अनुभूति की दिशा में अग्रसर होने का यह आवश्यक सोपान है और इसी दृष्टि से इसे हमें स्वीकार करना भी चाहिए। इन्हीं विचारों को व्यक्त करते हुए राधाकृष्णन् कहते हैं : ''व्यक्तित्व वस्तुतः एक प्रतीक है और इस प्रतीक की यदि हम अवहेलना करें तो निश्चित ही हम सत्य को प्राप्त करने में असमर्थ रहेंगे।''[1] यही नहीं इस अभिव्यक्ति की सार्थकता को व्यक्त करते हुए वे कहते हैं : ''किसी निम्न सत्ता से सर्वोच्च की तुलना करने की अपेक्षा उच्चतम ज्ञेय सत्ता से उसकी तुलना करना सत्य के अधिक निकट आने का प्रयास क्रमशः है।''[2] पुनः यदि धार्मिक चेतना की दृष्टि से यदि देखा जाय तो स्पष्ट है कि धर्म प्रतीकात्मक है और 'ईश्वर' वह प्रतीक है जिसके माध्यम से उक्त चेतना परम सत् को क्रमशः ग्रहण करती है। अतएव परम सत् की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति का, उसकी प्रतीकात्मकता का हमें सदैव स्मरण रखना चाहिए। पुनः वे कहते हैं कि दार्शनिकों के मध्य परम सत् के उक्त दो प्रारूपों के विषय में पर्याप्त मतभेद भले ही रहा हो, किन्तु धार्मिक अनुभूति ने इन प्रारूपों के एकत्व का ही समर्थन किया है।[3]

---

1. आइडियलिस्ट व्यू आफ लाइफ, पृ. 85.
2. वही, पृ. 84.
3. "God is a symbol in which religion cognises the Absolute. Philosophers may quarrel about the Absolute and God, and contend that God the holy one who is worshipped, is different from the Absolute which is the reality demonstrated by reason. But the religous consciousness has felt that the two are one". वही, पृ. 86.

ईश्वर संबंधी युक्तियों की समीक्षा

ईश्वर के सविशेष एवं निर्विशेष स्वरूप की चर्चा के उपरांत राधाकृष्णन् कहते हैं कि प्रमाणों के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता, किन्तु जब हमें अनुभूति के आधार पर उसकी उपस्थिति का अहसास हो जाता है तब उसकी युक्ति-युक्तता का स्थापन विभिन्न प्रमाणों के आधार पर सरलता से किया जा सकता है। क्योंकि तब तर्क का कार्य प्रमाण प्रस्तुत करना नहीं, प्रत्युत् निर्विशेष सत् को सुनिश्चितता प्रदान करना है।[1]

समय-समय पर विभिन्न युक्तियों के आधार पर प्रज्ञा ने ईश्वर को सिद्ध करने की कोशिश की है। उसने उसे विश्व के 'कारण' के रूप में प्रस्तुत किया है, किन्तु यह निश्चित है कि वर्तमान संदर्भ में यदि 'कारण' शब्द का प्रयोग हुआ है तो अपने सामान्य से भिन्न अर्थ में ही हुआ है। वह विश्व का तार्किक आधार है, अर्थात् विश्व की युक्ति-युक्तता को स्थापित करने के लिए उसकी स्वीकृति अनिवार्य है – इसी विशेष अर्थ में वह सार्थक रूप से विश्व का कारण हो सकता है।

पुनः एक अन्य युक्ति के आधार पर उसे विश्व के सर्जनात्मक संकल्प एवं प्रयोजन के रूप में भी स्वीकार किया गया है। विश्व की प्रक्रियायें सुव्यवस्था की स्थापना में सक्रिय हैं – इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। अतएव विश्व की अंतर्वर्ती सोद्देश्यता स्वतः इस बात का प्रमाण है कि उसकी मध्यस्थता से एक सृजनशील आध्यात्मिक चेतना अभिव्यक्ति के लिए सतत् प्रयत्नशील है। प्रकृतिवाद को छोड़कर विश्व के स्वरूप से सम्बद्ध प्रायः सभी सिद्धान्त विश्व की प्रक्रियायें 'सर्जना शक्ति' के परिणाम ही प्रतीत होती हैं। वे पूर्वनिश्चित नहीं हैं। किन्तु यदि यंत्रवाद सत्य है, तो किसी प्रकार की सर्जना-शक्ति के विलास के लिए विश्व में गुंजाइश नहीं है। पर वह एक ऐसी अवांछित भ्रांति है, जिसका जितनी जल्दी निराकरण हो जाय, उतना ही अच्छा है।

पुनः राधाकृष्णन् कहते है कि विश्व की अंतवर्ती सोद्देश्यता का अशुभ, असत्य एवं असुन्दर से कोई मूल असंगति नहीं है। संभवतः जिन्हें हम वर्तमान संकुचित दृष्टि से अशुभ मानते हैं वे भावी प्रगति की दृष्टि से नितान्त आवश्यक हों।

ब्रैडले भी कुछ इसी प्रकार की युक्ति के आधार पर 'अशुभ' की अंतिमता को अस्वीकार करते हैं। यहीं सामान्य जीवन में बहुत बार कष्ट एवं पीड़ा को आह्लाद में बदलते हुए देखा गया है। हमने देखा है कि आह्लाद की

1. "The function of reasoning is not so much proof as the determination of an indeterminate object". वही, पृ. 263.

स्थिति में पूर्व कष्ट एवं पीड़ा अपनी कटुता का सहज समर्पण कर देते हैं, यही नहीं तटस्थ होकर देखने पर उनका शिव रूप स्पष्ट उभरने लगता है। यदि सामान्य अनुभूतियों में जीवन की कटुता को शुभ में रूपांतरित होते हुए देखा जाता है तो फिर ब्रैडले कहते हैं कि 'अशुभ' की अंतिमता को किस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है?

अतः वे कहते हैं कि निष्कर्षतः यह स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि परम सत् के साथ 'अशुभ' और इन्हीं कारणों से 'असत्य' एवं 'असौंदर्य' की स्थायी असंगति है। 'अशुभ' की तथ्यता तथा परमसत् की परमता की स्वीकृति में कोई मूल असंगति नहीं है। किन्तु परमसत् में किस प्रकार अशुभ अंततः शुभ शिवरूप को प्राप्त कर लेगा, इसे प्रज्ञा के माध्यम से जाना नहीं जा सकता है। पर प्रज्ञा के स्तर पर इस संभावना की युक्तियुक्तता को तो हम स्वीकार कर ही सकते हैं।

उपर्युक्त युक्तियों के साथ ही धार्मिक अनुमति की तथ्यता के आधार पर भी ईश्वर की उपस्थिति का समर्थनं किया जा सकता है। नैतिक चेतना जिसे एक 'अभ्युपगम'[1] के रूप में स्वीकार करती है, धार्मिक अनुमति उसे अनुभूत सत् के रूप में प्रस्तुत करती है।

राधाकृष्णन् कहते हैं कि मनुष्य की उन्नत आकांक्षाओं में और विश्व की तात्विक संरचना में एक अपूर्व असंगति है। ये आकांक्षाएँ विश्व की मूल प्रकृति के अनुरूप नहीं है – हाँ, उनकी पूर्ति के लिए व्यक्ति को अपने को तैयार करना होगा।

ईश्वर के शिव रूप की कल्पना धर्म के अन्तर्गत ही होती है वह विश्व का स्रष्टा, संरक्षक तो है ही वह न्यायी एवं दयालु भी है। उसकी कृपा के हम आकांक्षी हैं, क्योंकि हमारा विश्वास है कि उसकी अनुकंपा से ही हम उसे प्राप्त कर सकते हैं – उस जैसे पावन और मंगलमय हो सकते हैं।

ईश्वर के मंगलमय स्वरूप की स्वीकृति धार्मिक अनुभूति की अपनी विशेषता है। किन्तु ईश्वर का यह स्वरूप कितना भव्य एवं हृदयग्राही क्यों न हो, वह परमसत् के तात्विक स्वरूप की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति मात्र ही है। इसे हमें सदैव स्मरण रखना चाहिये। उक्त प्रतीक का महत्त्व ही इसमें है कि उसके माध्यम से हम निर्विशेष सत् की ओर उन्मुख होते हैं। अन्य प्रतीकों की

1. काँट ने नैतिक चेतना के संदर्भ में तीन अभ्युपगम स्वीकार किये हैं, जिनमें 'ईश्वर' भी एक है।

अपेक्षा वह उक्त सत्य के निकटतम है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।[1]

सविशेष निर्विशेष की नूतन व्याख्या

किन्तु आध्यात्मिक सत् की अनुभूति का एक और रूप है, एक और पक्ष है जिसके साथ उक्त प्रतीक न्याय नहीं कर पाता। शाश्वत् शांति, स्थिरता, संपूर्णता की प्राप्ति उस ईश्वर द्वारा कैसे संभव है, जो काल-चक्र के अधीन तथा अपनी ही सृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में सीमित है।

अतएव 'ईश्वर' विषयक अनुभूति की अपर्याप्तता के बोध के साथ हम निर्विशेष की ओर अग्रसर होते हैं, जो देश-काल और प्रज्ञा की अन्य कोटियों का एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में अतिक्रमण करता है। इस निर्विशेष को राधाकृष्णन् ने सर्जनात्मक-व्यक्तित्व, सर्जनात्मक मानवीय व्यक्तित्व जैसी एकता के रूप में प्रस्तुत किया है। सर्जनात्मक व्यक्तित्व एक अपूर्व समग्रता है, जो एक से अधिक कलाकृतियों के सृजन की संभावना से संयुक्त है। इनमें से कौन किस समय और किस रूप में व्यंजित होती है, इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। किन्तु जब किसी कृति विशेष का सृजन हो जाता है, तब उसका आधार हमें उसी सर्जनात्मक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति विषयक मुक्त प्रेरणा में मिल जाता है और इस दृष्टि से उस अभिव्यक्ति विशेष के सदंर्भ में वह निश्चित ही एक सविशेष मूल कारण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। किन्तु अनभिव्यक्त संभावनाओं के संदर्भ में तो वह निर्विशेष ही है वा यूँ कहें कि वह एक ऐसी समग्रता है जिसे अभी अभिव्यक्ति होकर अनेक रूपों में सविशेषता प्राप्त करना है।

परमसत् के निर्विशेष स्वरूप की कल्पना राधाकृष्णन् ने उपरोक्त मॉडल के आधार पर की है। परमसत् अनंत संभावनाओं से युक्त एक सर्जनात्मक चेतना है। इनमें से केवल एक संभावना इस विश्व में अभिव्यक्त हो रही है। इस व्यंजित संभावना के संदर्भ में परमसत् सविशेष हो जाता है और इस विशिष्ट संभावना की अभिव्यक्ति की यह प्रेरणा नितांत मुक्त प्रेरणा है और यह कहना ग़लत न होगा कि नितान्त सहजता एवं स्वतंत्रता के साथ किसी दूसरी संभावना का चुनाव भी उसी सहजता के साथ हो सकता था। क्यों इस संभावना विशेष का ही चुनाव हुआ है अन्य का नहीं, इसके विषय में निश्चित कुछ नहीं कहा जा सकता है। संभावनाओं के चुनाव के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहने की असंभवता को 'माया' शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है। कभी-कभी इसे 'लीला' शब्द द्वारा भी व्यक्त करने की कोशिश की जाती है। और सर्जनात्मक

1. "There are certain vital values of religion which are met by the character of God as wisdom, love and goodness. Values acquire a cosmic importance and internal life becomes meaningful". आइडियलिस्ट वियू आफॅ लाइफ, पृ. 271.

होने के कारण परमसत् में मुक्त अभिव्यक्ति की, विलास की, क्रीड़ा की इच्छा का होना सहज एवं स्वाभाविक है।

निर्विशेष एवं सविशेष की यह प्रस्तुति निश्चित ही अद्वैत वेदांत की प्रस्तुति से भिन्न है। अद्वैत-वेदांत सविशेष की प्रज्ञा-स्तरीय सापेक्षता को स्वीकार करता है और सविशेष की यथार्थता विश्व की यथार्थता से संबद्ध है। जब तक व्यावहारिक दृष्टि से हमारी चेतना नियंत्रित रहती है, विश्व के वैविध्य को हम यथार्थ मानते हैं और ईश्वर को उसके 'कारण' के रूप में स्वीकार करते हैं : किन्तु जैसे ही व्यावहारिक दृष्टि का हम अतिक्रमण कर पारमार्थिक दृष्टि को प्राप्त कर लेते हैं, हमें विश्व का स्ववर्ती रूप हमें भ्रामक प्रतीत होता है और 'ब्रह्म' ही एकमात्र सत् है – इसका भी हमें सहज बोध होता है।

प्रज्ञा की दृष्टि से विश्व ही एकमात्र सत् है, किन्तु अंतः प्रज्ञा हमें 'ब्रह्म' का साक्षात्कार कराती है और ब्रह्म के साक्षत्कार का अर्थ है, विश्व की स्ववर्तिता के मिथ्यात्व का बोध।

किन्तु राधाकृष्णन् सर्जनात्मक व्यक्तित्व के मॉडल पर सविशेष एवं निर्विशेष की जो व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, उसमें विश्व के मिथ्यात्व के बोध का प्रश्न ही नहीं उठता। कलाकार की सभी कृतियाँ उसकी सर्जनात्मक क्षमता से संबद्ध होने के कारण यथार्थ हैं। उसकी जीवन में उनका मूल्य और स्थान है। सर्जनात्मक क्षमता की ये उत्पत्तियाँ हैं। सर्जनाएं हैं। इस दृष्टि से सर्जनात्मक क्षमता सापेक्षतः अनंत है, पर ये सर्जनाएँ सान्त हैं। और उत्पत्तियाँ होने के कारण से उससे संबद्ध हैं? यही नहीं, यथार्थ भी। अतः सर्जनात्मक सामर्थ्य की निर्विशेषता का एक ही अर्थ हो सकता है और वह यह है कि उसमें सविशेष रूप ग्रहण करने की अनंत संभावनायें विद्यमान हैं। पर अभिव्यंजना की इस अनंत संभावना के कारण ही वह कभी भी अपनी संपूर्णता में व्यक्त नहीं हो पाती। या यूँ कहें कि वह मूल सर्जनात्मक सत्ता इन सर्जनाओं का बराबर अतिक्रमण करती रहती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि विश्व की यथार्थता के साथ ही ईश्वर की तथा उसके सविशेष रूप की यथार्थता को राधाकृष्णन् स्वीकार करते हैं। और इसी नाते, इस विश्व के विशेष संदर्भ में निर्विशेष सत् भी हो जाता है।[1] निर्विशेष की अनंत संभावनाओं में से केवल एक इस विश्व के रूप में

1. "The way in which the relation between the Absolute and God is here indicated is not the same as that either of Shankara or of Bradley, thought it has apparent similarities to their doctrines ..... Even as the world is a definite manifestation of one specific possibility of the Absolute God with whom the worshipper stands in personal relation is the very absolute in the world context and is not a mere appearance of the Absolute" कंटेम्परेरी इण्डियन फिलासफी.

अभिव्यक्त हो रही है। इसी विशेष संभावना के संदर्भ में निर्विशेष परमसत् को ही ईश्वर की संज्ञा दी गई है। अतएव निर्विशेष से संबद्ध होने के कारण न विश्व ही मिथ्या है और न ईश्वर ही आभास है।

पी.टी. राजू एवं राधाकृष्णन्

'ईश्वर' की अंतिमता को न स्वीकार करते हुए भी राधाकृष्णन् अपने सिद्धांत में उसे विशेष सार्थकता प्रदान करते हैं और इस प्रकार वे धार्मिक अनुभूतियों में स्वीकृत ईश्वर और तत्त्वमीमांसीय चिंतन में स्वीकृत निर्विशेष – दोनों के मध्य सामंजस्य स्थापित करने में सफल प्रतीत होते हैं। पी.टी. राजू इस प्रस्तुति की श्रेष्ठता के समर्थक हैं। उनका विचार है कि निर्विशेष एवं सविशेष, निर्विशेष एवं जगत के मध्य भावात्मक संबंध की स्थापना द्वारा राधाकृष्णन् ने अद्वैत वेदांत के निष्कर्षों के साथ अन्याय नहीं किया है। वस्तुतः शंकराचार्य ने स्वयं यत्र-तत्र इस भावात्मक संबंध की चर्चा की है।[1]

पुनः वे कहते हैं कि ब्रह्म एवं विश्व के निषेधात्मक संबंध की परंपरागत प्रस्तुति द्वारा भारतीय मानस पर अनुचित प्रभाव भी पड़ा है। राधाकृष्णन् के दर्शन में इस संबंध की जो भावात्मक व्याख्या मिलती है उसके द्वारा जीवन के प्रति एक स्वस्थ दृष्टिकोण के निर्माण में पर्याप्त सहायता मिलती है उसके, साथ ही वह अद्वैत वेदान्त के मूल निष्कर्षों के विपरीत भी नहीं होगा।

हमें परंपरागत अद्वैत वेदांतीय दृष्टिकोण की अनुचित प्रस्तुति हमें राजू की इस समीक्षा में मिलती है। ब्रह्म एवं विश्व के मध्य निषेधात्मक संबंध की कल्पना अद्वैत वेदांत ने नहीं की है क्योंकि किसी प्रकार की संबद्धता दो समस्तरीय सत्ताओं में ही संभव है विभिन्न स्तरीय सत्ताओं में किसी प्रकार के संबंध को स्वीकार ही करना असंभव है। ब्रह्म पारमार्थिक सत् है और विश्व व्यावहारिक सत् है। व्यावहारिक के निराकरण के पश्चात ही पारमार्थिक का बोध संभव है। राधाकृष्णन् ने स्वयं 'वेदांत में शंकराचार्य के दर्शन को प्रस्तुत करते हुए इस बात का समर्थन किया है।[2] पुनः वे कहते हैं कि संबंधों की

---

1. "आइडियलिज्म ऑफ प्रोफेसर राधाकृष्णन्" द कैलकटा रिव्यू, 1940, पृ. 289.
2. "For Shankara the question is an illegitimate one and so impossible of answer. It is because we shift our stand-point in the course of our argument that the problem arises. For an imaginary difficulty there cannot be any real solution ..... Again a relation pressupposes two distincts, and if Brahman & world are to be related, they should be regarded as distincts, but the Advaita holds that the world is not other than Brahman," द् वेदांत, पृ. 131-132.

स्वीकृति दो पृथक सत्ताओं में ही संभव है, किन्तु अद्वैत वेदांत विश्व और ब्रह्म के अद्वैत का समर्थन करता है। 'कारणता' के वैज्ञानिक नियम में तथा 'अनन्यत्व' के दार्शनिक प्रत्यय में स्पष्ट अंतर है। और शंकर इसे स्वीकार करते हैं।

अतएव राधाकृष्णन् के वेदांत में और शंकराचार्य के वेदांत में स्पष्ट अंतर है, जिसकी अवहेलना संभव नहीं है। राधाकृष्णन् स्वयं इस अंतर का समर्थन करते हैं[1] इसलिए राजू का कथन कि राधाकृष्णन् में निर्विशेष एवं विश्व के भावात्मक संबद्धता की स्वीकृति से परंपरागत अद्वैत वेदान्त के मूल निष्कर्ष में कोई अंतर नहीं आता, उचित नहीं प्रतीत होता।

प्रश्न है कि क्या विश्व एवं निर्विशेष के भावात्मक संबंध की स्वीकृति तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से उचित है। क्या राधाकृष्णन् द्वारा निर्विशेष एवं सविशेष की प्रस्तुति रक्षणीय है?

उक्त व्याख्या की समीक्षा

राधाकृष्णन् के दर्शन में निर्विशेष एवं सविशेष की प्रस्तुति आपत्तियों से सर्वथा मुक्त नहीं है। कतिपय स्थानों पर वे स्वयं सविशेष को निर्विशेष की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। उसकी प्रतीकात्मकता की अनुभूति एवं निरंतर स्मृति आध्यात्मिक प्रगति के लिए आवश्यक है और आध्यात्मिक प्रगति की आरंभिक स्थिति में तो इन प्रतीकों की मध्यस्थता से ही निर्विशेष परमसत् की ओर अग्रसर हुआ जाता है। विकास की आगामी स्थितियों में निर्विशेष की निर्विशेषता सरलता से ही प्राप्त हो जाती है।

किन्तु 'आइडियलिस्ट वियू ऑफ लाइफ' के अंतिम पृष्ठों में वे निर्विशेष एवं सविशेष तथा विश्व की जो व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, वह उपुर्यक्त प्रस्तुति से निश्चित ही भिन्न है। 'निर्विशेष' ही इस विश्व के संदर्भ में सविशेष होकर विश्व का अधिष्ठान बन जाता है। उनका कहना है कि इस विश्व के संदर्भ में ही निर्विशेष सर्विसेज होकर विश्व का अधिष्ठान बन जाता है। किन्तु विश्व के अंतिम आधार के रूप में वे निर्विशेष सत्ता को ही स्वीकार करते हैं। उसका ही समर्थन करते हैं। यह सत्ता सर्जनात्मक है और विश्व उसकी मुक्त सर्जनात्मक अभिव्यक्ति का ही परिणाम है। विश्व उसी प्रकार यथार्थ है जैसे सर्जनात्मक कल्पना की सर्जनायें, उसकी अभिव्यंजनाएँ यथार्थ होती हैं। किसी विशिष्ट कल्पना के स्थान पर कोई दूसरी कल्पना भी यथार्थ हो सकती थी और उसी

1. कंटेम्पेरीर इंडियन फिलासफी, पृ. 496.

प्रकार नितांत सहजता के साथ। क्यों कोई कल्पना विशेष ही यथार्थ हुई और दूसरी नहीं हुई, इसका कोई उत्तर संभव नहीं है। यह प्रश्न वर्तमान सन्दर्भ में ठीक उसी प्रकार का है जिसमें कोई किसी कलाकार से यह पूछें कि उसने किसी कृति-विशेष का निर्माण किया है, किसी अन्य का नहीं।

राधाकृष्णन् अपनी उक्त पुस्तक के अंतिम पृष्ठों में यह नहीं कहते कि निर्विशेष पर सविशेष का आरोपण मनुष्य की उसी आरोपी वृत्ति के स्वरूप का परिणाम है, अतएव उसका केवल एक प्रतीकात्मक महत्व ही है। इस प्रश्न पर उनकी प्रस्तुति में स्पष्ट विसंगति है और इसका निराकरण उन्होंने कहीं नहीं किया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सामान्य धार्मिक अनुभूति के अध्ययन के आधार पर प्राप्त तथ्यों को ही राधाकृष्णन् ने अंतिमता प्रदान करते हुए निर्विशेष और सविशेष को प्रस्तुत किया है और ऐसा करने से अनचाहे ही परम सत् के विषयी स्वरूप की अवहेलना हो गई है। जो 'विषयी' है उसे प्रज्ञा के प्रत्ययों के माध्यम से अभिव्यक्त किया ही नहीं जा सकता। अतएव प्रज्ञात्मक चेतना की दृष्टि से 'नेति नेति' पद्धति ही अभिव्यक्ति के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है।

पुनः प्रज्ञा की मध्यस्थता से जो अनभिव्यक्त है, वह नितांत अज्ञेयता नहीं है, वह बोध के अन्य आयामों में ज्ञेय है – इस तथ्य को राधाकृष्णन् स्वयं स्वीकार करते हैं। अंतःप्रज्ञात्मक अनुभूति परमसत् से तादात्म्य की अनुभूति है। पर उसे प्रज्ञा के माध्यम से 'सविशेष' के रूप में प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति ही मिल सकती है। किन्तु राधाकृष्णन् ने उस अभिव्यक्ति की प्रतीकात्मकता की अवहेलना करते हुए निर्विशेष परमसत् को सविशेष से और अंततः विश्व से भावात्मक रूप से संबद्ध मान लेते हैं। यह उनकी भूल है। सर्जनात्मक चेतना के रूप में निर्विशेष की प्रस्तुति उसके तात्विक स्वरूप के निकटतम ही क्यों न हो, उसकी प्रतीकात्मकता की उपेक्षा असंभव है। किन्तु 'आइडियलिस्ट व्यू आफ लाइफ' के अंतिम पृष्ठों में 'निर्विशेष' की उक्त प्रस्तुति की अंतिमता को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया गया है। और उससे संबद्ध प्रश्नों का उत्तर 'लीला' तथा 'माया' शब्दों द्वारा दिया गया है।

शंकराचार्य ने भी उक्त संदर्भ में 'माया' एवं 'अनिर्वचनीय' शब्दों का प्रयोग किया है। किन्तु उन्होंने परमसत् के 'विषयी' रूप की कहीं भी अवहेलना नहीं की है। आधुनिक युग में कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने परमसत् के विषयी रूप को ही अंतिमता प्रदान की है। इस प्रश्न पर वे परंपरागत अद्वैत वेदांत के निकटतम हैं। इसकी चर्चा आगामी अध्याय में की जायेगी।

राधाकृष्णन् ने परमसत् के 'विषयी' रूप की स्पष्ट चर्चा कई प्रसंगों में की है, इसमें संदेह नहीं। किन्तु निर्विशेष एवं सविशेष तथा विश्व से उनके

भावात्मक संबंधों के प्रसंग में इस रूप की अवहेलना मिलती है। ऐसे स्थलों पर उनका वेदांत भावात्मक दृष्टिकोण का समर्थक और परंपरागत अद्वैत वेदांत का विरोधी प्रतीत होता है।

विश्व का स्वरूप : उद्गामी विकासवाद का संशोधित सिद्धांत[1]

निर्विशेष एवं सविशेष एवं विश्व से उनकी संबद्धता की व्याख्या के उपरांत राधाकृष्णन् विश्व के स्वरूप की भी चर्चा करते हैं। विश्व एक सुव्यवस्थित समग्रता है, जिसमें विभिन्न घटक एक दूसरे से अभिन्न रूप से सम्बद्ध है। ये घटक स्वयं सुव्यवस्थित हैं और अपनी आंतरिक सुव्यवस्था की दृष्टि से विशिष्ट एवं अपूर्व हैं।

और क्योंकि वे एक मूल संबद्धता से अनुप्राणित हैं, इसलिए वे सभी विभिन्न स्तरों पर और विभिन्न रूपों में उस मूल संबद्धता का अपने तरीके से समर्थन करती हैं। किन्तु मानवीय स्तर पर 'प्रज्ञा' के आविर्भाव के कारण यह मूल संबद्धता किंचित् आवृत हो गई है। 'प्रज्ञा' इन घटकों को विभिन्न स्वपर्याप्त इकाइयों में रूपांतरित कर देती है, और इनके इस रूप को बनाये रखने की पूरी कोशिश करती है। व्यावहारिक सफलता की दृष्टि से इस प्रकार की प्रस्तुति अपनी विशिष्ट सार्थकता रखती है, किन्तु तात्विक दृष्टि से यह मनुष्य की अपनी प्रकृति के विपरीत है। इसी असंगति को वह अपनी व्यग्रता द्वारा अनेक प्रकार से अनेक स्तरों पर प्रकाशित भी करता है।

पुनः राधाकृष्णन् कहते हैं कि अपने 'अहं' द्वारा वह जिन भी सीमाओं का अपने लिए निर्माण करता है, वे उसे स्थायी संतोष प्रदान करने वाली नहीं होतीं। अतएव आंतरिक व्यग्रता से प्रेरित होकर मानव इन स्वरचित सीमाओं के विस्तार के लिए निरंतर सक्रिय रहता है – इस आशा में कि इससे उसे संतोष की प्राप्ति होगी। पर व्यावहारिक स्तर पर इस दिशा में उसके किये हुए सभी प्रयास अंततः अपने दायरे के विस्तार में, अहं को सुदृढ़ करने में ही संलग्न रहते हैं। परिणामतः वह पूर्ववत् व्यग्र और असंतुष्ट दिखाई देता है – चाहे उसके दायरे कितने ही विस्तृत क्यों न हो चुके हों।

किन्तु उसके जीवन का एक और पक्ष है जो सर्जनात्मक क्षमताओं से संबद्ध है। नीति, कला एवं धर्म की दिशा में बढ़ने से वह सही दिशा में अग्रसर होता है और इन सभी की मध्यस्थता से वह पुनः उसी मूल संबद्धता के समर्थन में सफल भी होता है जिसे अन्य इकाइयाँ नितान्त सहजता के साथ

1. Emergent Evolution

सहजवृत्यात्मक रूप से प्रकाशित करती हैं। आत्मबोध सम्पन्न मानव जब इस दिशा में कदम उठाता है तो अपने सचेतन प्रयासों द्वारा वह अपने जीवन को पावन और दिव्य बना लेता है। प्रकृति मानव से यही अपेक्षा भी रखती है उसके सचेतन सहयोग द्वारा वह विश्व को अध्यात्म की क्रीड़ास्थली बनाना चाहती है। एक आध्यात्मिक लोकतन्त्र[1] की स्थापना के लिए प्राकृतिक शक्तियाँ आरंभ से ही सक्रिय हैं, ऐसा राधाकृष्णन् का अखंड विश्वास है।

विश्व के स्वरूप की तात्विक प्रस्तुति में राधाकृष्णन् प्रकृतिवाद को निरसित करते हैं और संशोधित उद्‌गामी विकासवाद का समर्थन करते हैं। उनकी दृष्टि में प्रकृतिवाद विश्व की मूल आध्यात्मिक आकांक्षा के साथ न्याय करने में सर्वथा असमर्थ है। और दर्शन के क्षेत्र में स्वीकृत 'यंत्रवाद' प्रकृति की उक्त आकांक्षा की अस्वीकृति पर नहीं आधारित है। प्रकृति की सभी घटनाएँ यंत्रवत् नियंत्रित नहीं होती। यू तो कारणता के नियम की सार्वभौमिकता की अपनी विशेष सार्थकता है, पर उसकी सीमाएँ भी हैं। इसे दर्शन के सभी विद्यार्थी जानते हैं जिन्होंने अध्यात्मवादी परंपरा का अध्ययन किया है। आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधान भी यंत्रवाद का समर्थन नहीं करती। छोटी से छोटी इकाई भी मात्र यंत्रवत् कार्य नहीं करती। उनमें संबद्धता है, सोद्‌देश्यता है और इसको वह अपने स्तर पर अपने तरीके से प्रकाशित भी करती है।

पुनः राधाकृष्णन् कहते हैं, काल के प्रभाव से नवीन का आविर्भाव होता है और वह नवीन पुरातन से पग-पग पर नवीन प्रकार से संबद्धता स्थापित करता चलता है।[2] इस नवीनता का कोई स्पष्टीकरण यंत्रवादी दृष्टिकोण के अंतर्गत नहीं मिलता। उनके अपने विचार में प्रकृति की इस सहज स्वाभाविक सहज सर्जनात्मक गति के साथ उद्‌गामी विकासवाद ही न्याय करने में अधिक समर्थ है। विश्व के इतिहास का यदि अध्ययन किया जाय तो नवीन के आविर्भाव के लिए उसकी अर्थात् प्रकृति की शक्तियाँ सतत् प्रयत्नशील रहती हैं जड़, जीवन, मनस, बुद्धि के उद्‌गमन के पश्चात् अब 'दिव्यता' के प्रकाशन के लिए वे प्रयत्नशील हैं; उद्‌गामी विकासवाद नूतन एवं पुरातन की सहज संबद्धता को भी स्वीकार करता है। पुरातन समवेत रूप से उस धरातल को प्रस्तुत करता है जिस पर नवीन का आविर्भाव होता हैं। पुद्‌गल, जीवन, मन और

1. आइडियलिस्ट वियू आफ लाइफ, पृ. 249.
2. "Time introduces something new in the properties of things. The historical process has introduced two elements of continuity and novelty. Every stage of it is at once a continuity and a crisis. Nature has its own rhythm and cannot be rushed. Its process as irreversible". वहीं, पृ. 257.

बुद्धि सम्मिलित रूप से स्वतः 'दिव्यता' के लिए उपयुक्त धरातल का निर्माण करेंगे। किन्तु अलेक्जेण्डर के उद्गामी विकासवाद से वे सर्वथा संतुष्ट नहीं हैं, क्योंकि जीवन के महत्वपूर्ण पक्षों को स्वीकार करते हुए भी वह उनकी समुचित व्याख्या प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं।

'देशकाल' एक अमूर्तता है, जिसका सांत अस्तित्वों (existents) के माध्यम से ही हमें बोध होता है। उसे सर्जना से संयुक्त करना और विश्व के तात्विक आधार के रूप में प्रस्तुत करना सर्वथा अनुचित है। जो अस्तित्व का न्यूनतम रूप है वह उच्चतम का आधार किस प्रकार हो सकता है?

उद्गामी विकासवाद का संशोधन प्रस्तुत करते हुए राधाकृष्णन् कहते हैं कि 'सर्जना' की उपस्थिति स्वयं इस बात का प्रमाण है कि विश्व आरम्भ से ही चेतना से संयुक्त है। 'दिव्यत्व' का प्रकाशन होना है, किन्तु वह मौन 'आकांक्षा' के रूप में, प्रकृति में आरंभ से ही विद्यमान है। ऐसा यदि स्वीकार न किया जाय तो उसके आविर्भाव की कल्पना ही निराधार हो जायेगी।[1]

वह 'ईश्वर' जो प्रकृति की उत्पत्ति मात्र है – प्राकृतिक शक्तियों की अपूर्व सर्जना का परिणाम मात्र है, कैसे हमारी आस्था का स्थायी पात्र हो सकता है? जिस 'ईश्वर' को हम जीवन में स्वीकार करते हैं, हम जिसकी उपासना करते हैं, वह निश्चित ही विश्व का नियामक तत्त्व है। वह कालचक्र के अधीन एक निरीह उत्पत्ति मात्र नहीं हो सकता।

हमारी आस्था यदि सार्थक है और विश्व की प्रकृति के साथ संगति रखने वाली है तो वह स्वयं इस बात का प्रमाण है कि ईश्वर देश-काल का अतिक्रमण करने वाला सत् है। अतः हमें उसे प्रकृति के अधिष्ठान के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि उद्गामी विकासवाद जिस तत्त्व को मूलसत् के रूप में स्वीकार करता है, उसमें उन्नत सर्जना की सामर्थ्य को प्रक्षेपित करना उचित नहीं। वस्तुतः उद्गामी विकासवाद अन्य प्राकृतिक विकासवादी दृष्टिकोणों की तरह जीवन के तथ्यों को ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर देता है।

1. "The nisus cannot be an unconscious drive coming by degrees to consciousness in man. The creative spirit which is responsible for the nisus is not the result of the universe ..... but is the source as well, of the great religions & philosophies as pirations of life". वहीं, पृ. 256.

प्रकृति की अन्तर्वर्ती सोद्देश्यता को स्वीकार करते हुए भी वह उसके कारण की व्याख्या करने में सर्वथा असमर्थ है।

राधाकृष्णन् आध्यात्मिक दृष्टिकोण के समर्थक हैं। उनका यह दृढ़ विश्वास है कि उन्नत आध्यात्मिक आकांक्षाओं के साथ किसी अन्य दृष्टिकोण में संभव नहीं है। उनके मूल निष्कर्ष से असहमत होने का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु निर्विशेष एवं सर्विशेष की और अंततः विश्व की भावात्मक सम्बद्धता से जुड़े प्रश्नों पर उनके विचार कहीं-कहीं उचित नहीं प्रतीत होते हैं। पर बावजूद इसके इसमें कोई संदेह नहीं कि दार्शनिक प्रश्नों पर राधाकृष्णन् की पकड़ काफी गहरी है और साथ ही व्यापक भी। तुलनात्मक धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में मुझे तो स्वामी विवेकानन्द के बाद दूसरा कोई नजर नहीं आता।

●●●

अध्याय 8

श्री अरविंद

व्यक्तित्व एवं कृतित्व

श्री अरविंद का जन्म 15 अगस्त, 1872 ई. में हुआ था। इनकी प्रारंभिक शिक्षा अंग्रेजी माध्यम के मिशनरी स्कूलों में हुई और उसके पश्चात 21 वर्ष की आयु तक वे अध्ययन हेतु इंग्लैंड में रहे। इनके पिता की आस्था भारतीय की अपेक्षा पाश्चात्य संस्कृति में थी। परन्तु, इसके बावजूद श्री अरविंद के हृदय में देश-भक्ति की भावना पर्याप्त प्रबल थी। जैसा कि प्रायः देखा जाता है एक प्रतिभावान पुत्र के पिता के हृदय में उसकी उन्नति के बड़े-बड़े सपने जगने लगते हैं, श्री अरविंद के पिता भी उनके I.C.S. बनने का सपना देखने लगे। पर श्री अरविंद के हृदय में राष्ट्रीय सम्मान की भावना उद्दीप्त हो चुकी थी और वे प्रवास से भारत लौट आये।

स्वदेश लौटने के पश्चात् वे गायकवाड़ के नरेश के साथ बड़ौदा गए और वहीं पर उन्हें अंग्रेजी के अध्यापन का कार्य मिल गया। बड़ौदा में वे 13 वर्ष रहे। यह समय उनके लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रहा; क्योंकि यहीं पर उनके हृदय में यह विचार आया कि भारत को आध्यात्मिक क्षेत्र में सम्पूर्ण विश्व का नेतृत्व करना है। और यह कार्य बिना स्वतंत्र हुए संभव नहीं है। अतएव, इसी उद्देश्य से श्री अरविंद ने क्रान्तिकारी आंदोलन का समर्थन करने का निश्चय किया और कांग्रेस के दल से पृथक हो गए। यह 1906 की बात है। क्रान्तिकारी गतिविधियों के कारण वे 1908 में जेल भेजे गए, किन्तु एक वर्ष के पश्चात् देशबन्धु चितरंजनदास की पैरवी से निर्दोष छोड़ दिये गये।

कारावास का एक वर्ष का समय आध्यात्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ; क्योंकि इस बीच स्वतंत्रता-संग्राम से अधिक अध्यात्म में उनकी रुचि बढ़ती गई। और अंततः स्वतंत्रता-संग्राम से संन्यास लेते हुए वे पांडिचेरी के लिए रवाना हुए। यही पर उनके आध्यात्मिक जीवन में गति आई। यहीं पर श्री माता जी भी फ्रांस से आईं और एक सुंदर व्यवस्थित आश्रम की स्थापना

हुई। यहीं पर 1914 में आर्य पत्रिका के प्रकाशन का आरंभ हुआ जिसमें उनकी कृतियाँ क्रम से प्रकाशित हुईं। और यहीं पर "सावित्री" महाकाव्य की रचना हुई। उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियों में "ईशंवास्योपनिषद", "एसेज ऑन द गीता", "लाइफ-डिवाइन", "सिनथिसिस ऑफ योग", "द् ह्यूमन साइकिल" आदि हैं।

श्री अरविंद के इस छोटे से परिचय से स्पष्ट हो जाता है कि वे बहुमुखी प्रतिभा से संपन्न थे। यही कारण है कि उन्होंने अपने व्यक्तित्व के स्पर्श से कई क्षेत्रों को आलोकित किया। पर उनकी प्रमुख रुचि अध्यात्म में थी और इसी क्षेत्र में उन्होंने अपनी क्रान्तिकारी साधना-शैली का विकास किया। एक विकासवादी सिद्धान्त के तहत उन्होंने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि विश्व के विकास का अगला पड़ाव अतिमानसिकीय चेतना का आर्विभाव एवं उसकी सहज अभिव्यक्ति है। और विकास की इस संभावना का यथार्थ होना केवल किसी वर्ग विशेष के लोगों के लिए ही संभव न होगा, बल्कि एक नितांत नवीन चेतना का आर्विभाव होगा और उसकी अपेक्षाओं को पूरा कर सकने वाला एक नितांत भिन्न यंत्र का सृजन भी होगा जिसकी उन्नत संवेदनशीलता एवं पारदर्शिता के लिए कुछ भी असंभव न होगा। इस चेतना को अतिमानसिकीय चेतना (Supramental Consciousness) कहा गया है और इस चेतना से युक्त मानव महामानव कहलायेगा और उस संपूर्ण जाति को 'महामानवों की जाति' कहा जायेगा (a race of Gnostic beings)। इस नवीन जाति के मानवों में उन सपनों को यथार्थ करने की सहज क्षमता होगी जिनकी एक धुंधली-सी कल्पना ही आज हमारे लिए संभव है। श्री अरविंद इसी संभावना को साकार करने के लिए जीवन भर प्रयत्नशील रहे। 5 दिसम्बर, 1950 को उनकी देह शान्त हो गई थी। उन्होंने आगे मानो चिर-समाधि ले ली थी। आगे फिर कब कोई साधक इस प्रयोग को नए सिरे से करेगा और सिद्धि की प्राप्ति करेगा? इसके बारे में क्या कहा जाय? जहाँ तक इनकी साधना-शैली का प्रश्न है, वह हठयोग से भिन्न है। वे शक्ति के आरोहण (ascent) की बात नहीं करते। वे तो महाशक्ति के अवतरण (descent) की बात करते हैं। जब साधक अपने में महाशक्ति के अवतरण के लिए समुचित भाव-भूमि तैयार कर लेता है, तो महाशक्ति का अवतरण होता है। व्यक्ति के अपने संकल्प तथा प्रयास का इस साधना में कोई महत्त्व नहीं है। उसे तो "माँ", "महाशक्ति" के प्रति अपने में समुचित ग्रहणशीलता विकसित करनी है, बाकी सारा कार्य तो उसी महाशक्ति का ही है। इसे वो अवरोह का पथ कहते हैं; और इसकी सिद्धि इतनी व्यापक

होती है कि जब जीवन के सभी आयामों में महाशक्ति की धारा बिना किसी अवरोध के अपने आप को स्थापित कर लेती है तो, सभी आयाम यथा मन, बुद्धि, प्राण, और शरीर भी उससे पूर्ण तद्‌ता स्थापित कर लेते हैं, तब व्यक्ति का अपना कुछ भी नहीं रह जाता है - न उसकी इच्छा और न ही संकल्प। सभी कुछ उसका अर्थात् महाशक्ति का है – यह शरीर भी। श्री अरविंद पार्थिव अमरत्व की भी बात करते हैं। कैसे यह संभव होगा? कैसे मानव का यह सपना पूरा होगा? यह आगे आने वाले दिन ही बतायेंगे। और कब? इसके बारे में अभी कुछ भी कहना संभव नहीं है। पर इसे होना है निश्चित ही है, क्योंकि प्रकृति की गति, उसका बहाव इसी दिशा की ओर बराबर बढ़ रहा है।

समकालीन भारतीय दर्शन के पुनरुत्थान का श्रेय जिन दार्शनिकों को है, उनमें श्री अरविंद का नाम कई कारणों से विशेष महत्त्व रखता है। उन्होंने सिद्धांततः तो वेदांत दर्शन को ही स्वीकार किया है और इसी को परिपूर्णता प्रदान करने की दृष्टि से व्यावहारिक स्तर पर भी मानव की व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय चेतना दोनों को ही जागृत एवं सक्रिय करने की चेष्टा की है। पांडेचरी आश्रम की स्थापना तथा उसकी गतिविधियाँ उनके इस दिशा में किये हुए प्रयासों में महत्वपूर्ण हैं। उनका यह विश्वास था कि मानवीय चेतना अति-प्राज्ञ की दिशा में बढ़ने के लिए पूर्वनियत है। इसलिए उन्होंने मानव को इस दिशा में बढ़ने का आह्वान किया। अति-प्राज्ञ चेतना में स्थायी रूप से स्थित होना तथा पार्शिव अमरत्व की संभावना का यथार्थ होना – ये दोनों ही मानव के पूर्ण रूपांतरण को साकार करने वाली यथार्थतायें होंगी। एक नए मानव का जन्म होगा और मानव का पृथ्वी पर जन्म लेने को सार्थक बनायेंगी।

श्री अरविंद की योग-साधना इसी लक्ष्य की दृष्टि से विकसित की गयी है। उनके साधकों का उसमें गहरा विश्वास था। श्री अरविंद को वे महाभारत ही मानते थे और भावी मानव के लिए आदर्श रूप।

सभी देशों तथा सभी कालों में दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति सामान्यतः प्रज्ञा के स्तर पर ही हुई है। दर्शन के सभी ''वाद'' किसी व्यक्ति विशेष के चिंतन के माध्यम से सत् को ग्रहण करने के विभिन्न प्रयासों का ही परिणाम हैं। इस प्रकार देश-काल की विशिष्टताओं से रंजित अनेक सिद्धांतों का समय-समय पर प्रतिपादन हुआ है, किन्तु उनमें से दो दृष्टिकोण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं क्योंकि दर्शन ने बार-बार उन्हीं की ओर प्रत्यावर्तन किया है। इन दो व्यापक दृष्टिकोणों को अरविंद एकांतिक मानते हैं, क्योंकि जिस सत् का समर्थन एक में होता है, उसी के निषेध द्वारा ठीक विपरीत सत् का समर्थन दूसरे

सिद्धांत में होता है। विशुद्ध आध्यात्मवाद भौतिक तत्त्व के निरसन पर आधारित है और ठीक इसके विपरीत विशुद्ध भौतिकवाद आध्यात्मिक तत्त्व के निषेध पर आधारित है। इन दो महत्त्वपूर्ण निषेधों से संबंधित तथा सीमित ये सिद्धांत संपूर्ण सत् को व्यंजित करने में सर्वथा असमर्थ हैं और इन दोनों दृष्टिकोणों की चर्चा वे 'लाइफ डिवाइन' के द्वितीय तथा तृतीय अध्याय में विशेष रूप से करते हैं। ये दो एकार्तिक दृष्टिकोण एक और दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि इनमें से एक भारतीय दृष्टिकोण का और दूसरा पाश्चात्य दृष्टिकोण का महत्त्वपूर्ण अर्थ में प्रतिनिधित्व करता है।[1]

अरविंद के उक्त वर्गीकरण का समर्थन एलबर्ट स्वीट्जर[2] के मत में भी मिलता है। उन्होंने भी दो मूल दृष्टिकोणों की चर्चा की है – एक वह जिसमें विश्व का और उससे संबंधित मूल्यों का निषेध है और दूसरा वह जिसमें उपरोक्त का समर्थन है। प्रथम भारतीय दृष्टिकोण को व्यक्त करता है और दूसरा पाश्चात्य दृष्टिकोण को। स्वीट्जर ने भारतीय दृष्टिकोण की लगभग उसी प्रकार से आलोचना की है, जिस प्रकार की आलोचना हमें श्री अरविंद की लाइफ डिवाइन में मिलती है। किन्तु अरविंद ने भारतीय दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए उसका संपूर्ण रूप से निषेध नहीं किया है। उनकी दृष्टि में भारतीय दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व बाहर पाश्चात्य देशों में और भीतर भारत में सदियों से शांकर अद्वैत ने किया है, जिसमें ब्रह्म की सत्ता का एकमात्र समर्थन और विश्व की सत्ता का संपूर्ण निषेध है। किन्तु सत्ता को उसकी संपूर्णता में प्रस्तुत करने में अद्वैत वेदांत सर्वथा असमर्थ है। अपने इस निष्कर्ष के समर्थन में वे कहते हैं कि आध्यात्मिक जीवन की संभावना को जीवन में स्वीकार एवं साकार करने के लिए यह पूर्णतया आवश्यक है कि हम केवल आध्यात्मिक तत्त्व को ही स्वीकार न करें बल्कि उसकी अभिव्यंजना हेतु समुचित माध्यम के रूप में भौतिक तत्त्व को भी स्वीकार करें। यही नहीं परम सत् के रूप में स्वीकृत इस आध्यात्मिक तत्त्व तथा माध्यम के रूप में समर्थित विश्व के भौतिक स्वरूप के मूल एकत्व का भी उपनिषद् की भाँति समर्थन करें।

अरविंद का विश्वास है कि वेदांत के इस नूतन स्वरूप की अभिव्यंजना

1. Life Divine, पृ. 10-11.

2. 'World or life negating' तथा 'World or Life affirming.'

विचार की ही नहीं प्रत्युत् व्यापक रूप से स्वयं जीवन की भी माँग है। यदि 'विचार' मात्र विचार होता तो संभवतः वह पूर्व प्रस्तुत इन दो एकान्तिक दृष्टिकोणों तथा इसके बीच आने वाले अनेक दृष्टिकोणों का और उनसे संबद्ध विसंगतियों का किसी भी प्रकार से अतिक्रमण न कर पाता। किन्तु वह अपने द्वारा प्रस्तुत जीवन-दर्शनों से स्वतः संतुष्ट नहीं है। 'संपूर्ण संगति' की प्राप्ति स्वयं उसके निजी स्वरूप की एक अंतरंग मांग है और उस माँग की संतुष्टि उसके लिए अपने ही स्तर पर संभव नहीं। उसमें विद्यमान 'यथार्थता का बोध'[1] स्वयं उसे अपनी प्रस्तुतियों से संतुष्ट नहीं होने देता। यह इस बात का प्रमाण है कि उसमें अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करने की तड़प है, चाह है। इस स्वातिक्रमण की इसी मूल वृत्ति को अरविंद ने न केवल स्वीकार किया है, बल्कि यही से उनके दर्शन का आरंभ होता है।

विचार की स्वातिक्रमणीयता : ब्रैडले तथा श्री अरविंद

'विचार' के स्वरूप की विशद व्याख्या के आधार पर पाश्चात्य दार्शनिक ब्रैडले ने भी समान निष्कर्षों को प्रस्तुत किया है। प्रज्ञा की अपनी सीमायें हैं तद-किम् का विभाजन उसके लिए अनिवार्य है। और इन्हीं सीमाओं के भीतर ही वह सक्रिय हो पाता है। किन्तु इन सीमाओं को कायम रखते हुए विश्व का– अन्ततः परम सत्ता का जो चित्र वह प्रस्तुत करता है, वह निश्चित ही अधूरा है। इस मूल अधूरेपन को ब्रैडले ने अपनी अपूर्व शैली में 'प्रत्ययात्मकता'[2] शब्द के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। इससे मुक्त होना अर्थात् तद किम् को पुनः समवेत रूप से प्रस्तुत करना, उसके लिए असंभव है और जब तक ऐसा नहीं होता, सत्ता का पूर्ण चित्र प्रस्तुत करना उसके लिए असंभव है।

अतः विचार को यदि अपने व्यक्तित्व की अंतरंग माँग को पूरा करना है, विचार तथा जीवन का एक संगतिपूर्ण चित्र प्रस्तुत करना है, तो उसे अपने व्यष्टित्व का समर्पण करना होगा और व्यष्टित्व के अपने निजत्व के समर्पण की संभावना को वे ठीक उन्हीं कारणों से स्वीकार करते हैं जिन कारणों से अरविंद स्वीकार करते हैं : ब्रैडले का भी विश्वास है कि विचार मात्र विचार नहीं है, उसमें एक व्यापक बोध की संभावना प्रेरणा रूप में विद्यमान है जो उसे अपनी

1. Sense of actuality, element of immediacy.
2. Ideality.

सहज व्यंजना शैली से स्थायी रूप से संतुष्ट नहीं रहने देती।[1] ब्रैडले के इस कथन से कि 'संपूर्ण होने के लिए विचार को आत्महत्या करनी होगी[2]' – दर्शन के विद्यार्थी परिचित ही होंगे।

अतः दोनों दार्शनिकों के विचारों के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि अपनी 'प्रत्ययात्मकता' के बावजूद विचार एक ऐसे समन्वय की ओर गतिशील है, जिसमें सभी विसंगतियों का विलय स्वयमेव हो जायेगा और वह स्वयं एक स्थायी समन्वय की स्थिति में सहजता के साथ स्थित हो जायेगा। साथ ही वर्तमान प्रश्न पर हमारे लिए यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि उपर्युक्त समन्वय की प्राप्ति उसे अपने स्तर पर नहीं होनी है। इस अपिप्राज्ञ समन्वय को अरविंद 'तेजोमय समन्वय'[3] की संज्ञा देते हैं।

पुनः वे कहते हैं कि अतिप्राज्ञ की दिशा में बढ़ते हुए जिस सम्पूर्ण सत्य का प्रकाशन होगा, उसमें निश्चित ही वर्तमान स्तर की एकांगिकता का अभाव होगा।

अतिप्राज्ञ स्तर पर प्रकाशित होने वाले सत्य की इस सम्भावना को ब्रैडले ने भी स्वीकार किया है, किन्तु उसका कोई भावात्मक चित्र प्रस्तुत करने का उन्होंने कोई प्रयास नहीं किया; क्योंकि वे दार्शनिक थे और दर्शन का संबंध, उनकी दृष्टि में, एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में प्रज्ञा से ही है। श्री अरविंद योगी थे। उन्होंने अतिप्राज्ञ चेतना और उससे संबद्ध संभावनाओं का संभवतः अनुभव किया था और यही कारण है कि उसका विशद वर्णन हमें 'लाइफ डिवाइन' के पृष्ठों में मिलता है।

अधिमानस तथा मानस : अतिमानसिकीय सत्ता की महत्त्वपूर्ण अभिव्यंजनायें

अतिप्राज्ञ की दिशा में बढ़ते हुए उन्होंने सर्वप्रथम अधिमानस (Over Mind) की चर्चा की है। यह एक दृष्टि से तो 'मनस और अतिमानस' के बीच की महत्त्वपूर्ण कड़ी है। 'अतिमानसिकीय सत्ता' की अभिव्यंजना की दृष्टि से यदि इसे कड़ी को प्रस्तुत किया जाय तो यह वस्तुतः उसकी अपनी अभिव्यक्ति की दिशा में उत्तरोत्तर विश्व की ओर बढ़ते हुए 'सत्य' की अभिव्यक्ति का प्रथम रूप है। इस स्तर पर अतिमानस की समग्रता तत्त्वों के वैविध्य में

---

1. जी.आर. जी. मूर ने अपनी समीक्षा में इस पक्ष के महत्त्व को प्रस्तुत किया है ओर ब्रैडले के निष्कर्षों में उक्त स्वीकृति को अनिवार्य माना है।
2. "Thought must commit : suicide inorder to become whole".
3. 'Luminous reconciliation'.

वितरित हो गयी है। ये सभी तत्त्व एक ही मूल सत् से उत्पन्न होते हुए भी स्वतः सम्पूर्ण और महत्त्वपूर्ण दिखाई देते है। किन्तु अवतरण की इस प्रक्रिया में उनकी 'एकता' अभी नष्ट नहीं हुई है। अन्य शब्दों में, एकता के संदर्भ में, उसे कायम रखते हुए ही वैविध्य की अभिव्यंजना इस अवस्था की विशेषता है। किन्तु मानस के स्तर पर अर्थात् अवतरण की द्वितीय स्थिति में 'वैविध्य' इतना अधिक विषम हो जाता है, तत्त्व इतने सूक्ष्म और अनेक हो जाते हैं, कि उनमें किसी एकता को ढूँढ़ निकालना प्रायः असम्भव होता है। अधिमानस के स्तर पर विद्यमान वैविध्य के स्वरूप की चर्चा करते हुए अरविंद 'प्रिज़्म' का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जिसमें पार करने पर किरण इंद्रधनुषी रंगों में वितरित हो जाती है, किन्तु वितरित होने के बावजूद वह अपनी मूल एकता तथा संगति को नष्ट नहीं करती। अतः अतिमानसिकीय सत् जब अधिमानस की मध्यस्थता से व्यंजित होता है, तो वह एक ऐसे वैविध्य में वितरित हो जाता है, जो विविधता के बावजूद अपनी आंतरिक एकता का समर्पण नहीं करता। किन्तु इसके पश्चात् वही सत् जब मानस के माध्यम से प्रकाशित होता है, तो वैविध्य पक्ष इतना अधिक विषम हो जाता है, कि उसकी आंतरिक एकता उन वितरित खंडों में इस प्रकार संपूर्ण रूप से विभाजित हो जाती है, अशेष रूप से बंट जाती है कि उसकी उपस्थिति के विषय में भी संदेह होने लगता है।

अतः अवतरण की दृष्टि से, सत्य के प्रकाशन की दृष्टि से, अतिमानसिकीय सत्य के विशुद्धतम स्वरूप और उसकी मानसिकीय अभिव्यंजना के बीच अधि ामानस एक महत्त्वपूर्ण कड़ी प्रतीत होता है। किन्तु एक द्वितीय दृष्टिकोण से यदि अधिमानस को प्रस्तुत किया जाय तो वह एक 'आवरण' ही प्रतीत होता है जो पारदर्शी होते हुए भी सत्य को उसकी संपूर्णता में प्रकाशित होने में बाधक होता है। ईश – उपनिषद् में उसे एक स्वर्णिम आच्छादन[1] (cover) कहा गया है जो 'स्वर्णिम' होने के बावजूद सत् को उसकी संपूर्णता में व्यंजित नहीं होने देता।[2]

---

1. 'Golden lid', लाइफ डिवाइन, प्रथम खंड, पृ. 15-16.
2. A super-conscient cosmic mind in direct contact with the supramental Truth-Consciousness, an original intensity determinant of all movements below it and all mental energies,–not Mind as we know it, but an overmind that covers as with the wide wings of some creative oversoul this whole lower hemisphere of knowledge–Ignorance links it with that greater Truth–Consciousness while yet at the same time with its brilliant golden lid it veils the face of the greater Truth from our sight, intervening with its flood of infinite possibilities as at once an obstacle and a passage in our speaking of the spiritual law of our existence, its highest aim, reality'. वही, पृ. 424.

माया के दो रूप : अधिमानसिकीय एवं मानसिकीय

अरविंद इसी प्रसंग में दो प्रकार के 'आवरण' की चर्चा करते हैं, जो संपूर्ण 'सत्य' को क्रमशः आवृत्त करते हैं और उसे एक भिन्न रूप में प्रस्तुत करते हैं। प्रथम को वे सर्वव्यापी ज्ञान की माया कहते हैं और दूसरे को अज्ञान की माया।[1] अधिमानसिकीय आवरण पारदर्शी है। वह सत्य की संपूर्णता को विकृत नहीं करता। वैविध्य में वितरित होने के बावजूद उसे ज्यों का त्यों प्रस्तुत करने की अधिकतम चेष्टा करता है। पर क्योंकि यह 'आवरण' है इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि 'सत्य की संपूर्णता' अपने मूल रूप में व्यंजित न होकर किंचित् धूमिल हो जाय। किन्तु धूमिल होते हुए भी 'एकत्व' के बोध का इस स्तर पर लेशमात्र भी विलय प्रतीत नहीं होता। यही कारण है कि इस स्तर पर एक और अनेक में किसी प्रकार की विसंगति का बोध भी नहीं होता। एक से अनेक की ओर और इसी प्रकार अनेक से एक की ओर गमन ही बना रहता है, अन्य शब्दों में पक्षों की एकांतिकता का बोध भी इस स्तर पर नहीं होता। जो मानस के स्तर पर दो विरोधी तथा एकांतिक संभावनाएँ प्रतीत होती हैं, वे यहाँ सहज रूप से समन्वित पूरक तत्त्वों के रूप में दिखायी देती हैं।[2]

ब्रैडले ने 'व्यष्टित्व'[3] शब्द के माध्यम से सत् के जिस रूप को प्रस्तुत किया है, उससे उपरोक्त की पर्याप्त सदृशता है। उनके विचार में 'व्यष्टित्व' शब्द एक ऐसी संपूर्णता का प्रतीक है, जो आनुभाविक एकता है, जिसमें तत्वतः सभी कुछ अपनी विसंगतियों का समर्पण करते हुए समन्वित रूप से स्थित है। अन्य शब्दों में उससे वाह्य किसी तत्त्व की कल्पना संभव ही नहीं है। क्योंकि वाह्य की कल्पना उसकी एकता के लिए, उसके समन्वित स्वरूप के लिए घातक है।

सत् के इस स्वरूप में एकता भी है और विविधता भी है, पर एकता तथा 'विविधता' एकांतिक और विरोधी न होकर सहज रूप से समन्वित हैं। अर्थात् एकता का यह बोध स्पष्ट और वैविध्य को सूत्रबद्ध करता हुआ प्रतीत होता है।

---

1. 'Cosmic Mays of knowledge', Cosmic Maya of Ignorance.
2. "What to the mental reason are irreconcilable differences present themselves to the overmind intelligence as conexitent correlative, what to the mental reason are contraries, are to the overmind intelligence complementaries." लाइफ डिवाइन प्रथम खंड पृ. 429.
3. Individuality."

किन्तु 'अधिमानस' के पश्चात् जब मानस के स्तर पर हम आते हैं, तो आवरण बोझिल और अपारदर्शी हो जाता है, परिणामस्वरूप 'सत्य' को उसके मूल रूप में प्रस्तुत करने में वह सर्वथा असमर्थ रहता है। एक ओर अनेकता के प्रसार के अन्तर्गत विभिन्न इकाइयों के रूप में विद्यमान नानात्व जिसका प्रत्येक खंड दूसरों से वाह्य एकांतिक और विरोधी हो जाता है। उनका विरोध स्थायी और एकता की कल्पना आकस्मिक और कभी-कभी तो असंभव-सी प्रतीत होने लगती है। यही कारण है कि मानस के स्तर पर किया हुआ चिंतन स्थायी रूप से संतोष प्रदान करने वाला नहीं होता और 'संपूर्णता' और 'समन्वय' स्थापित करने की उसकी आकांक्षा अपूर्ण रह जाती है। अन्य शब्दों में, एकता, संपूर्णता तथा समन्वय की बात अधिक से अधिक 'नियामक प्रत्ययों'[1] के रूप में ही सार्थक प्रतीत होते हैं। वे मानस के स्तर पर कभी यथार्थ हो सकेंगे यह असंभव प्रतीत होता है।

मानसिकीय अभिव्यंजना की विशेषता

इस प्रकार अरविंद क्रमशः अतिमानस, अधिमानस तथा मानस को प्रस्तुत करते हैं और प्रत्येक स्तर की विशेषताओं की विशद चर्चा करते हैं। उनके विचार में अधिमानस से मानस की अभिव्यक्ति उतनी ही सहज है जितनी अतिमानस से अधिमानस की। वे कहते हैं कि विभाजन की प्रवृति को यदि किसी भी कारण से एकबार स्वीकार कर लिया गया है तो फिर उसे अपनी संपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए पूर्ण क्षेत्र प्रदान करना ही होगा। 'अतिमानसिकीय सत्य' यदि विभेद की प्रक्रिया के माध्यम से सर्वप्रथम अधिमानस के स्तर पर व्यंजित होता है तो उस स्तर पर पूर्ण विराम कैसे लगाया जा सकता है? अधिमानसकीय के स्तर पर भेद की यह वृत्ति एकता से शत-प्रतिशत अनुप्राणित है। अर्थात् उसकी ही पृष्ठभूमि में व्यंजित, उससे ही समर्थित एवं उससे ही सक्रिय है। किन्तु विभेद की इस प्रवृत्ति को यदि आगे बढ़ाया जाय, उसे अपने विकास के लिए पूरी छूट दे दी जाय, तो निश्चित ही वह अपने को कुछ इस प्रकार प्रकाशित करेगा कि वैविध्य के अपरिमित प्रसार में एकता का बोध क्रमशः विलुप्त ही हो जायगा। मानसिकीय स्तर पर अतिमानसिकीय का अवतरण इसी प्रवृत्ति का परिणाम है।[2] पुनः मानसिकीय बोध की चर्चा करते हुए अरविंद

1. 'Regulative concepts'.
2. "For if each principle loosed into action must follow its independent, line and carry out its complete consequence, the principle of separation must also be allowed its complete course and arrive at its absolute consequence, this is inevitable descent, facilus descensus." लाइफ डिवाइन, प्रथम खंड

कहते हैं कि मानव के लिए यही सहज है, इसी में उसकी चेतना की विशिष्टता' प्रतीत होती है। मानसिकीय से निम्न स्तर की चेतना का उसे सहज बोध नहीं होता, और न ही उससे श्रेष्ठ स्तर का ही उसे बोध होता है। पशु के विषय में तो उसका बोध कभी-कभी इतना विकृत होता है कि वह उसे सर्वथा चेतना शून्य मान लेता है, क्योंकि पशु का अध्ययन वह तटस्थ होकर ही कर पाता है, उससे संवाद स्थापित करने में वह सर्वथा असमर्थ है। और अतिमानसिकीय स्तरों के विषय में भी वह सामान्यतः अनभिज्ञ ही है। उनसे संपर्क स्थापित करना उसके लिए असंभव-सा ही है। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मानव की उपलब्धियों की, उसकी आकांक्षाओं की इति यहीं पर है।

किन्तु सर्जनात्मक क्षमताओं के रूप में मनुष्य के पास पर्याप्त प्रमाण हैं कि उसकी नियति का क्षेत्र उपरोक्त सीमा से कहीं आगे है। प्रतिभाशाली व्यक्ति अल्पकाल में ही वह सब कुछ कर लेते हैं जो सामान्य व्यक्ति एक सौ वर्ष में भी नहीं कर पाते चाहें उनका संबंध विज्ञान, कला, संगीत, साहित्य, दर्शन इनमें से किसी भी क्षेत्र से क्यों न हो। उनकी दृष्टि निःसंदेह अतिमानसिकीय चेतना से अनुप्राणित है। अरविंद की भाँति टैगोर, राधाकृष्णन् आदि ने भी आध्यात्मिक जीवन तथा समृद्ध संभावनाओं की स्वीकृति के लिए उपरोक्त तथ्य को विशेष अर्थ में महत्त्वपूर्ण माना है। पुनः सर्जनात्मक क्षमताओं के अतिरिक्त संतों तथा योगी की अनुभूतियों में निश्चित ही हमें इस बात का स्पष्ट आभास मिलता है कि मानवीय चेतना में स्वातिक्रमण की ओर उच्चस्तरीय चेतना में अवस्थित होने की अपूर्व क्षमता विद्यमान है। इन प्रमाणों की अवहेलना हो ही नहीं सकती और यह हमारा कोरा हठ ही होगा यदि हम इन प्रमाणों को अस्वीकार करें या अपनी ही सीमाओं के प्रति अतिशय आसक्ति के कारण तथ्यों की अवहेलना करें।[1] निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अरविंद मानसिकीय चेतना के अतिक्रमण की संभावना को दोनों ही दृष्टियों से – मानव के विकास की दृष्टि से तथा 'सत्य'[2] के अनावरण की दृष्टि से, महत्त्वपूर्ण मानते हैं। 'सत्य' के जिस स्वरूप को वे लाइफ डिवाइन के पृष्ठों में प्रस्तुत

1. आध्यात्मिक अनुभूति की प्रामाणिकता की चर्चा करते हुए वे कहते हैं : "here the gates already lie wide open to the possibility of extending our conscious beyond its present limits-unless, indeed, by an obscurantism that refuses to inquire or an attachment to our boundaries of mental normality we shut them or turn away from the vistas they open before us." वही, पृ. 4.

2. 'सत्य शब्द यहाँ पर अतिप्राज्ञ के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है और इस स्तर पर तार्किक 'संगति' या 'प्रामाणिकता' से संबंधित प्रश्न का कोई महत्त्व नहीं है।

करते हैं, वह अतिमानसिकीय स्तर से संबद्ध है और तार्किक संगति या 'तार्किक प्रामाणिकता' की परिधि से एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में बाह्य है। अन्य शब्दों में, उनके विचार से सत्य सम्बन्धी उनकी इस प्रस्तुति का खंडन नहीं हो सकता – हाँ, एक अतिप्राज्ञ अनुभूति के आधार पर उसकी सत्यता का असंदिग्ध समर्थन हो सकता है।

माध्यमिक शून्यवाद तथा अद्वैतवाद का खंडन

(क) इनकी पृष्ठभूमि में सक्रिय मनःस्थिति की समीक्षा

'सत्य' के अतिप्राज्ञ स्वरूप को अनावृत करते हुए वे माध्यमिक शून्यवाद और अद्वैतवाद – दोनों से ही अपने समग्र दृष्टिकोण को पृथक करते हैं। इन दोनों ही दृष्टिकोणों की एकांतिकता पर वे विशेष बल देते हैं। इन दोनों ने ही आध्यात्मिक सत्ता के एकमात्र अस्तित्व को स्वीकार किया है, किन्तु नानात्व को, विश्व के वैविध्य को, असत् अथवा मिथ्या घोषित किया है। विश्व का संपूर्ण रूप से निषेध करने वाले इन दोनों में से किसी भी एक को स्वीकार करना अरविंद के लिए संभव नहीं, क्योंकि आध्यात्मिक सत्ता तथा विश्व के बीच वे भावात्मक संबद्धता अनिवार्य मानते हैं – भले ही उस भावात्मक संबंद्धता की प्रज्ञा के स्तर पर व्याख्या करने में हम समर्थ न हो सकें। यदि आध्यात्मिक सत्ता विश्व का अधिष्ठान है, अर्थात् उसका आधार है, परम सत् है और उपनिषद् अनेक बार अनेक स्थान पर ऐसा ही कहते हैं, वह नितांत असत् कैसें हो सकता है? श्री अरविंद प्रश्न करते हैं कि विश्व को असत् या मिथ्या घोषित करने वाला उनका दर्शन फिर आध्यात्मिक सत्ता के अधिष्ठान का किस प्रकार समर्थन करेगा? उनकी दृष्टि में तब इस दर्शन की परिधि में रहते हुए उपनिषद् में प्रस्तुत सत् के इस पक्ष के साथ न्याय करना किस प्रकार संभव है। विश्व के असत् स्वरूप का उसकी भ्रामकता का समर्थन करने वाले उपरोक्त दृष्टिकोणों के धरातल को प्रस्तुत करते हुए अरविंद कहते हैं कि जीवन की ही निराशापूर्ण घड़ियों में अर्थात् जब हम अपने में, जीवन में, उससे संबद्ध आकांक्षाओं एवं संभावनाओं में विश्वास खो देते हैं, वस्तुतः इस दृष्टिकोण का मनोवैज्ञानिक आधार प्रस्तुत करती हैं। ऐसी निराशा से बोझिल मनःस्थिति में ही विश्व का निषेध करने वाली दार्शनिक दृष्टियों का संभवतः आविर्भाव होता है। किन्तु उपर्युक्त अनुभूतियाँ अस्थायी होती हैं और हमने स्वयं अनेक बार अनुभव किया है कि शीघ्र ही उस मनोवैज्ञानिक दशा में क्रमशः सुधार होने लगता है और हम दुगुने उत्साह से पुनः जीवन में तथा उससे संबद्ध

आकांक्षाओं में अपनी आस्था का समर्थन करने लगते हैं। स्पष्ट है कि ऐसी तरल, अस्थायी मनःस्थितियाँ किसी ठोस जीवन-दर्शन का आधार नहीं बन सकतीं। फिर भी ये मनःस्थितियाँ इतनी आकस्मिक भी नहीं हैं। बड़े सहज रूप से बार-बार हमें इनकी अनुभूति होती है, और इनके प्रभाव से मुक्त रहना सामान्यतः हमारे लिए सरल नहीं है। यही कारण है कि इनसे प्रभावित हो कर और इनसे मुक्त होने की इच्छा से प्रेरित होकर ही बार-बार दार्शनिकों ने दो प्रकार के प्रश्रयों की खोज की है, जिन्हें वे मूर्तमान सामान्यतः 'स्वर्ग' और 'अपवर्ग' की संज्ञा देते हैं 'स्वर्ग' शब्द से एक ऐसे शाश्वत् आध्यात्मिक जीवन की कल्पना मूर्त है, जिसमें इस विश्व का, इससे संबद्ध सभी कुछ का संपूर्ण निषेध है मानो विश्व से संन्यास लेकर ही उस शाश्वत् जीवन की उपलब्धि हमारे लिए संभव है। बौद्ध दर्शन में 'भवचक्र' की कल्पना आवागमन की प्रक्रिया के मूल में विद्यमान विश्व के प्रति एक गहरी मूल आसक्ति की स्वीकृति है। इसी के साथ निर्वाण जो इसी आसक्ति से मुक्ति की संभावना को प्रस्तुत करती है में हमें इस निषेधात्मक दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि में विद्यमान सभी तत्त्वों की बड़ी स्पष्ट अभिव्यंजना मिलती है। और 'अपवर्ग' की कल्पना इसी की तार्किक परिणति है। इसमें विश्व के निषेध के साथ बड़े सहज रूप से 'व्यष्टित्व' के समर्पण की भी अपेक्षा की जाती है। क्योंकि 'व्यष्टित्व' को कायम रखने वाली वृत्ति भी जीवन के प्रति इसी मूल आसक्ति का परिणाम है, अतएव उसे भी जाना ही है। पर व्यष्टित्व निरपेक्ष इस प्राप्ति की सार्थकता अरविंद को स्वीकार्य नहीं है। यह ठीक है कि जीवन की संरचना ही कुछ इस प्रकार की है कि घटनायें हमें बार-बार बुरी तरह झकझोर देती हैं, और इन घटनाओं के मध्य संतुलन बनाये रखना हमारे लिए प्रायः संभव नहीं होता। पर प्रत्येक घटना में भागवती चेतना का दिव्य संदेश विद्यमान है और उसे अनावृत करना तथा उनके संदेश को समझना ही इन घटनाओं का मुख्य प्रयोजन है। इस प्रयोजन को समझने में, इसके अनुरूप अपने का ढालने में, उस दिव्य से आंतरिक रूप से संयुक्त हो जाने में तथा उसके 'संकल्प'[1] के आगे अपने 'व्यष्टित्व' को समर्पित कर देने में ही जीवन की सार्थकता एवं उसकी परिपूर्णता है। किन्तु 'व्यष्टित्व' के इस समर्पण का यह अर्थ कदापि नहीं है कि व्यक्ति को भागवती चेतना के प्रसार एवं उसकी व्यंजना का, सजीव एवं सक्रिय माध यम बन जाना है। इस संदर्भ में प्रयुक्त 'यज्ञ' शब्द का यही अर्थ है। 'यज्ञ' का अर्थ है माध्यम के रूप में अपने आप को अर्पित कर देना। स्पष्ट है कि इस समर्पण के उपरान्त व्यष्टित्व की निजी सीमायें नहीं रह जाती, अपितु

1. 'संकल्प' शब्द को भी अतिप्राज्ञ अर्थ में ही ग्रहण करना होगा।

व्यष्टित्व के प्रसारण की, अन्य से संस्पर्श स्थापित करने की तरल रेखाएँ सभी दिशाओं में प्रवाहित होने लगती हैं। अन्य शब्दों में जो पहले बाधायें प्रतीत होती थीं वे कालान्तर में संपर्क रेखाओं करने की अनिवार्य रेखाओं के रूप में परिवर्तित हो जाती है और अशिव रूप में दिखाई देने वाला यह जगत् 'शिव'[1] रूप में रूपांतरित हो जाता है। स्पष्ट है कि विश्व भागवती चेतना की क्रीड़ा[2] का विलक्षण क्षेत्र है और इसलिए इसका संपूर्ण निषेध संभव ही नहीं है और जो दृष्टिकोण ऐसा मानते हैं, वे एकांतिक हैं और इसलिए अस्वीकार्य भी हैं।

(ख) आधारभूत तत्त्वमीमांसीय दृष्टि की समीक्षा

विश्व का निषेध करने वाले दोनों दृष्टिकोण की मनोवैज्ञोनिक पृष्ठभूमि को अनावृत करने तथा उसकी अपर्याप्तता को सिद्ध करने के पश्चात् अरविंद तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से भी उसके अयुक्तता को सिद्ध करते हैं। जिन अनुमानों के आधार पर ये सिद्धांत अपने निष्कर्षों को स्थापित करते हैं, उनके साम्यानुमानों के आधार पर वस्तुतः उनसे भिन्न निष्कर्ष स्थापित होने चाहिए।

'प्रज्ञा' नितांत असत् सर्जनाओं की आधारभूत चेतना नहीं है। उसकी विविध क्रियाओं के स्वरूप का यदि अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि अपनी सभी कार्य विधियों में वह तथ्यात्मक जगत् की अपेक्षा करती है, उसे स्वीकार करता है। इसलिए यह कहना कि 'विश्व' प्रज्ञा की ही सृष्टि है अतः असत् है, सर्वथा अनुचित है। विपरीततः स्वप्न[3], कल्पना, भ्रम-विभ्रम के तरीके अलग-अलग हैं और उन्हें नए संधातों में ढालने की विभ्रम की स्थितियों के अन्वेषण से यही सिद्ध होता है कि इन सभी के मूल घटक यथार्थ जगत् से ही आते हैं, केवल इनको संयुक्त करने के तरीके अलग-अलग हैं और उन्हें नए संधातों में ढालने की उसे पूरी स्वतंत्रता है। प्रज्ञा अज्ञान स्वरूप है, इसमें कोई संदेह नहीं। वह सत् को उसकी संपूर्णता में ग्रहण करने में असमर्थ है। किन्तु वह एक ऐसा 'अज्ञान' नहीं है, जो सत् के स्पर्श से नितांत अछूता हो

1. 'शिव' शब्द यहाँ पर अतिप्राज्ञ चेतना के सन्दर्भ में अर्थ व्यंजित करता है। प्रज्ञा के स्तर पर तो वह 'अशिव' सापेक्ष है।

2. 'क्रीड़ा' तथा 'लीला' दिव्य शक्ति के अवतरण की तथ्यता को व्यंजित करने वाले शब्द हैं। इन्हें इस रूप में स्वीकार भी करना चाहिए। इसके बारे में प्रश्न करना-विश्व की प्रक्रिया के विषय में 'क्यों' तथा 'कैसे' को जानने का प्रयास करना, हमारी अल्पज्ञता का सूचक है – वह इस बात को व्यक्त करता है कि हम प्रज्ञा के माध्यम से ही विश्व के रहस्य के उद्घाटन की कामना करते हैं।

3. लाइफ डिवाइन, पृ. 202-207.

और इसलिए सत् के लिए सर्वथा अपारदर्शी हो। यदि ऐसा होता तो निश्चित ही सत् के साक्षात् के लिए उसका निषेध अनिवार्य होता किन्तु 'प्रज्ञा' मूलतः सत् से अनुप्राणित, उसी की प्राप्ति की दिशा में सक्रिय है तथा अपनी सारी सीमाओं के बावजूद वह एक व्यापक अर्थ में सत् के – संपूर्ण सत् के ही आदर्श की ओर अनवरत रूप से गतिशील है। इसी में उसकी सार्थकता है और अरविंद इसी संभावना को स्वीकार करते हैं कि अपनी सीमाओं के समर्पण के पश्चात् इसी सत् रूप से अवस्थित हो सकती है।[1]

निष्कर्षतः, प्रज्ञा की जिस अनियंत्रित, नितांत मुक्त सर्जनात्मक क्षमता के आधार पर विश्व की व्याख्या शून्यवाद या विवर्तवाद प्रस्तुत करता है, वह भ्रामक है। कल्पना एक यथार्थ-वैविध्य की अपेक्षा करती है, किन्तु ये सिद्धांत विश्व को एक अयथार्थ-वैविध्य के रूप में प्रस्तुत करते हैं। स्पष्ट है कि प्रज्ञा से प्राप्त साम्यानुमानों के आधार पर शून्यवाद का समर्थन नहीं हो सकता। पुनः अरविंद कहते हैं कि यह दर्शन 'एक तथा अनेक' की समस्या का जो चिरंतन से दार्शनिकों के लिए एक पहेली रही है, का कोई संतोषपूर्ण हल प्रस्तुत नहीं करता। 'एक' तथा 'अनेक' की सापेक्षता से इंकार नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वह एकता 'अनेक' को ही सूत्रबद्ध करने वाली तथा उस 'अनेक्रता' सम्भव बनाने वाली है। अतएव एक के निषेध के साथ दूसरे का निषेध भी अनिवार्यतः सम्बद्ध है। यह नहीं हो सकता कि इनमें से किसी भी एक का यानी इस सन्दर्भ में अनेकता का हम निषेध करें और दूसरे तत्त्व का अर्थात् 'एकता' का एकमात्र सत् के रूप में समर्थन करें। हमें इस 'एकता' का बोध जिस माध्यम से होता है अर्थात् जिनको सूत्रबद्ध करने के प्रयास में होता है उसको सर्वथा असत् कैसे कहा जा सकता है? उपनिषद् जिस परम सत का समर्थन करता है, वह 'अनेकत्व' का अधिष्ठान है, भूमा है। और उपरोक्त सिद्धांतों में उपनिषद् के इन भावात्मक कथनों की हमें स्पष्ट अवहेलना मिलती है।[2]

पुनः वे कहते हैं कि जब विश्व के निषेध की बात इस दर्शन में की

1. "It is an instrument of ignorance but this ignorance proceeds-however stumblingly, upon knowledge and towards knowledge; it is inherently capable of shedding the limitation, the mixture and can turn by that liberation into the Truth-Consciousness, into a Power of the original knowledge" वही, पृ. 218.

2. वर्तमान प्रसंग में एक बात स्पष्ट करनी आवश्यक है। अरविंद जब 'एक' तथा 'अनेक' की सापेक्षता की बात करते हैं और दोनों को समान रूप से स्वीकार करने की बात करते हैं तो इनकी सम्बद्धता की चर्चा वे प्रज्ञा अर्थात बुद्धि के स्तर पर नहीं करते। इस मूल सम्बद्धता का आशय सम्पूर्ण रूप से अतिप्राज्ञ चेतना के स्तर पर ही स्पष्ट हो सकेगा–ऐसा उनका दृढ़ विश्वास है।

जाती है, तो उसी के साथ एक सहयोगी स्वर के रूप में चेतना के सत् होने की बात किस प्रकार की जा सकती है? क्योंकि चेतना का बोध भी तो हमें प्रज्ञा के माध्यम से ही होता है और प्रज्ञा अविद्या स्वरूप है। अपने विचारों को गति देते हुए अरविंद कहते हैं कि अविद्या स्वरूप प्रज्ञा के निर्णयों को एक संदर्भ में अविश्वसनीय मान लेना और दूसरे में विश्वसनीय मान लेना संभव हो सकता है?[1]

स्पष्ट है कि यह सिद्धांत सामान्य अनुभूतियों की संपूर्ण सार्थकता को अपहृत कर लेता है और केवल एक ही अनुभूति को अर्थात् परम चेतना में अपने व्यष्टित्व के विलय को सार्थक मानता है।[2]

पुनः यह दर्शन सत् संबंधी एक समग्र दृष्टि प्रस्तुत करने के स्थान पर एक अन्य विरोधाभास प्रस्तुत है। अनेकत्व के निषेध और एकत्व के समर्थन के साथ ही वह गत्यात्मकता का निषेध और स्थैतिकता को परमसत् के रूप में स्थापित भी कर देता है और क्योंकि इस वाद (system) के समर्थक-दार्शनिक जानते हैं कि जीवन की गत्यात्मकता का निषेध संभव नहीं है, वे परमसत् में इस भ्रम के सर्जन हेतु एक सर्जना शक्ति के अस्तित्व को भी स्वीकार कर लेते हैं।

पर विश्व के आविर्भाव का आधार एक ऐसी सर्जना-शक्ति कदापि नहीं हो सकती जो नितांत अयथार्थ सर्जनाओं को उत्पन्न करे। यदि विश्व का आविर्भाव परमसत् में विद्यमान सर्जना शक्ति से होना है तो उसे यथार्थ सर्जनाओं की उत्पत्ति की सामर्थ्य से युक्त होना ही होगा। इस प्रकार अरविंद शून्यवाद का खंडन करते हैं।

श्री अरविंद विवर्तवाद को शून्यवाद की अपेक्षा अधिक संतोषपूर्ण मानते हैं, क्योंकि वह व्यावहारिक स्तर पर विश्व की सत्यता को स्वीकार करता है। किन्तु पारमार्थिक स्तर पर यदि उसकी सत्ता का अंततः निषेध होना ही है, तो उसकी इस अस्थायी सार्थकता के समर्थन से क्या लाभ?[3] विवर्तवाद का खंडन अरविंद उन्हीं कारणों से करते हैं जिनसे उन्होंने शून्यवाद का किया है। एक

1. "What is our assurance of our experence of the other term, the true self, the Silent Static or absolute reality since that too comes to us in a mind moulded of delusion and formed in a body created by delusion" वहीं पृ. 262-263.
2. "It unifies by elimination, it deprives all knowledge and experience, except the one supreme merger of reality and significance". वहीं पृ. 265.
3. "If from the ultimate point of view concessions are withdrawn then what is the good of ever giving them". "Maya and Cosmos and ourselves are both real and unreal-but the reality is an unreal reality, real only to our ignorance, unreal to any true knowledge". खंड द्वितीय (प्रथम अर्द्ध) पृष्ठ 244-45.

ऐसी सत्ता का, समर्थन जिसमें विश्व का, उसके वैविध्य तथा अंततः उसकी गत्यात्मकता का निषेध हो, उन्हें मान्य नहीं। विवर्तवादी दृष्टिकोण एकांतिक है, क्योंकि वह जीवन के एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण पक्ष की उपेक्षा करता है और दूसरे पक्ष को एकमात्र सत् के रूप में प्रतिष्ठित करता है। ऐसा केवल उस मनःस्थिति के कारण है जो जीवन की घटनाओं के कारण अकस्मात् उत्पन्न हो जाती है, किन्तु जो तरल है, और क्रमशः क्षीण हो जायेगी। ऐसी अस्थायी मनःस्थिति को आधार मानकर जगत की सत्ता का निषेध करना भ्रामक है, क्योंकि सामान्य स्थिति के वापस लौटने पर हम विश्व में अपनी संपूर्ण आस्था को पुनः ज्यों का त्यों सुरक्षित पाते हैं और यह स्वयं इस बात का प्रमाण है कि जीवन और जगत असत् नहीं है वरन् सत् है। 'परम चेतना विश्व के नानात्व के माध्यम से व्यंजित हो रही है, यह कथन जिस सत्य को प्रस्तुत करता है वह उस सत्य से कहीं अधिक व्यापक एवं संपूर्ण है, जिसका समर्थन शून्यवाद या विवर्तवाद में होता है। इसीलिए अरविंद अपने वेदांत को संपूर्ण अथवा समग्र अद्वैतवाद कहते हैं, क्योंकि इसमें सत् के अनुभवातीत तथा आनुभविक स्वरूपों को समन्वित रूप से प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी।[1]

परिपूर्ण अद्वैतवाद का समर्थन

विश्व की गत्यात्मकता के साथ न्याय होना चाहिए और इस पक्ष के साथ उपरोक्त सिद्धांतों में न्याय नहीं हुआ है, ऐसा श्री अरविंद का दृढ़ विश्वास है। इसी विश्वास से नियंत्रित होकर वे परम सत् में एक ऐसी सर्जना-शक्ति के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं जो नानात्व के आर्विभाव के स्रोत के रूप में सक्रिय रहे। यह सर्जना-शक्ति जिस विश्व का सृजन करती है, वह न मिथ्या है और न ही असत्। इस संदर्भ में वे 'मिट्टी' तथा मिट्टी से निर्मित पात्रों का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। उपनिषद् में प्रस्तुत यह उदाहरण बड़ी कठिनाई से विवर्तवाद या शून्यवाद का समर्थन करने के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है,

1. "The reasoning which cancels the dynamics of the Absolute, the imposition of the stigma of unreal reality on the pragmatic truth of things because it is pragmatic is difficult to accept; for the pragmatic truth is after all the something quite other, quite separate and unconnected with spiritual truth, it is a result of the energy or a motion of the dynamic activity of the spirit. A distinction must, no doubt, be made between the two, but the idea of an entire opposition can rest only on the postulate that a silent and quiescent status is the Eternal's true and whole being, but in that case we must conclude that there is nothing dynamic in the Absolute and all dynamism is a contradiction of the supreme nature of the Divine and the Eternal". वही पृ. 237-48.

किन्तु वह नितान्त सहजता के साथ परिणामवाद का समर्थन कर सकता है, यही नहीं अवश्य करेगा, ऐसा अरविंद का विश्वास है। मिट्टी के पात्र के सृजन की शाश्वत् संभावना मिट्टी में मौजूद है और जब तक मिट्टी का अस्तित्व है, उक्त संभावना का निषेध हो ही नहीं सकता। अतः मूल सत् तथा उसकी अभिव्यंजनाओं का संबंध हो ही नहीं सकता। इन दोनों के संबंध के साथ यदि न्याय करना है, तो हमें मूल तथा उसकी अभिव्यंजना में भावात्मक संबंधों के अस्तित्व को स्वीकार करना ही पड़ेगा। अभिव्यंजनायें मूल सत्ता पर आश्रित होते हुए भी अभिव्यंजनाएं नितांत असत् नहीं हो सकतीं, और न ही किसी उच्चस्तरीय बोध में उसका सर्वथा निषेध ही संभव है।[1] दोनों में यदि स्पिनोज़ा की भाषा का प्रयोग किया जाय, तो द्रव्य तथा पर्याप्त का संबंध है। पर्याप्त द्रव्य पर आश्रित है और द्रव्य स्वतंत्र एवं मूल है। पर पर्यायपराश्रित होने के बावजूद असत् नहीं है और न ही उसके निषेध की कल्पना ही की जा सकती है। निष्कर्षतः अरविंद कहते हैं कि शाश्वत् सत्ता की स्वीकृति द्वारा काल का, गति का निषेध नहीं होता। दोनों में कोई विरोध नहीं और यदि है भी तो वह मात्र शब्दिक है। वस्तुतः वह अधीनता का, निर्भरता का संबंध है।[2]

देशकाल में अवस्थित यह जगत मिथ्या नहीं है और न ही उसकी उपस्थिति से परम सत् की परिपूर्णता विकृत होती है। इस संदर्भ में वे पुनः पूर्व प्रस्तुत उदाहरण को पुनः प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जब भौतिक द्रव्यों को अपरिमितता को पुनः उनकी कृतियाँ (उत्पत्तियाँ) सीमित नहीं करतीं तो परमसत् जो चेतनस्वरूप है, उसकी अपरिमितता को किस प्रकार यह विश्व सीमित कर सकता है।[3]

---

1. The Potform is an eternal possibility of earth substance, or ethereal substance and while the substance exists the form can always be manifested" "consequently, the relation between the two", is not that of an original reality and phenomenal unreality but of an original – or, if we go back from earth to the invisible substratu and constituent ether, an eternal and non-manifest to a resultant and dependent; to a temporal and manifested reality". वही, पृ. 247.
2. "Time is not necessarily concelled out of existence by timeless eternity; thier relation is only verbally a relation of contradiction, in fact, it is more likely to be a relation of dependence" वहीं, पृ. 247.
3. "Even material things have this superiority to manifestation, earth is not limited by the vessels made from it, nor air by the winds that move in it, nor the sea by the waves that rise on its surface. This impression of limitation belongs only to the mind and the sense which see the finite as if it were an independent entity separating itself from the infinite or something cut out of it by limitation." वहीं, पृ. 276.

वस्तुतः अपरिमित सत् प्रज्ञा के ही कारण परिमित प्रतीत होता है क्योंकि वह ही सांत इकाइयों को पृथक-पृथक तथा स्ववर्ती इकाइयों के रूप में प्रस्तुत करती है। पर सात इकाइयों का पृथक अस्तित्व और उसकी स्ववर्तिता--जिसका सामान्यतः[1] प्रज्ञा समर्थन सृजन एवं समर्थन करती है, भ्रामक है। न परम सत् भ्रामक है और न ही उसका यह विश्व रूप क्योंकि ये दोनों ही मन की भ्रामक प्रतीतियों पर आधारित नहीं है।[2]

परम सत् की परिपूर्णता पर विशेष बल देते हुए वे कहते हैं कि जीवन के स्थैतिक और गत्यात्मक दोनों ही पक्षों का वह समुचित आधार है। किन्तु सत् की परिपूर्णता में दोनों ही पक्षों का पृथक-पृथक अस्तित्व नहीं है, अतः इन्हें दो कहना भी भ्रामक है। ये दोनों सत् के एकत्व में पूर्णतः 'समन्वित' हैं किन्तु उस 'समन्वय' की कोई ऐसी मानवीय कल्पना प्रस्तुत करना जो उसके स्वरूप को यथार्थतः प्रस्तुत कर सके, संभव नहीं पर उस परिपूर्णता को इन दो पक्षों का मात्र एक गणितीय योग मानना भी तो सर्वथा अनुचित है।[3]

पुनः श्री अरविंद कहते हैं कि प्रज्ञा के माध्यम से उस 'परिपूर्णता' की प्रस्तुति कठिन होते हुए भी असंभव नहीं है और न ही उसके विषय में यह कहना सही है कि अन्तर्विषय रहित वह एक नितान्त शून्य है या यह कि वह निषेधों का परमयोग है।[4] विपरीततः उसके लिए यह कहना सत्य एवं अधिक सार्थक प्रतीत होता है कि जो कुछ भी विश्वरूप में अभिव्यंजित हो रहा है वह कभी संभव न होता यदि उस मूल सत्ता में उसका समुचित आधार न होता।[5]

उस परम सत् की निर्विशेषता की व्याख्या करते हुए वे उसे एक ऐसी

---

1. सामान्यतः प्रज्ञा सांत इकाइयों को मूलतः स्वतंत्र एवं पृथक् ही प्रस्तुत करती है किन्तु असामान्य संदर्भों में यथा ब्रैडले के दर्शन में यही प्रज्ञा इन सांत इकाइयों की स्वातिक्रमणीयता के माध्यम से परमसत् का समर्थन करती है।
2. "It is the impression that is illusory but neither the infinite nor the finite is an illusion, for neither exists by the impressions of the sense or the mind, they depend for their existence on the Absolute". वहीं पृ. 276.
3. "It is not a composite state of possession". The sum of a passivity and an activity, an activity, an integer made of those two fractions, passive with three fourth of himself, active with one fourth of his existence. वहीं, पृ. 430.
4. "A mystery of infinite blankness not a supreme sum of negations."
5. "Nothing can manifest that is not justified by some self-Power of the original and omnipresent reality". वहीं पृ. 40.

अपरिमितता के रूप में प्रस्तुत करते हैं जो अपनी सर्जनाओं का स्रोत होते हुए भी उनसे परिसीमित नहीं होता और जिसे इसी कारण उनमें से किसी एक के साथ या उनके संपूर्ण योग के साथ एकीकृत नहीं किया जा सकता। विपरीततः उसके लिए यह कहना अधिक उचित है कि वह इन सारी सर्जनाओं में व्यंजित हो रहा है और साथ ही इनसे कहीं अधिक व्यंजित होने की अपरिमित सामर्थ्य रखता है। इसीलिए इनसे उसे बाँधने का, सीमित करने का प्रयास अनुचित है। 'निर्विशेष' शब्द उसकी सर्जनात्मक सामर्थ्य की अपरिमितता को व्यंजित करता है और साथ ही यह भी व्यक्त करना चाहता है कि सर्जना के इस स्रोत में और उसकी अनंत अभिव्यक्तियों में एक भावात्मक संबंध है, निषेधात्मक नहीं।[1]

हमें उपनिषद् में भावात्मक तथा निषेधात्मक, दोनों प्रकार के कथन मिलते हैं और यदि दोनों के अर्थ को समन्वित रूप से प्रस्तुत किया जाय तो अद्वैत की अपेक्षा परिपूर्ण अद्वैत अधिक सार्थक निष्कर्ष प्रतीत होता है। एक ओर उपनिषद् परमसत् को 'न इति, न इति' पदावली से व्यंजित करता है तो दूसरी ओर उसे विश्व का अधिष्ठान मानता है अर्थात् एक ऐसे सत् के रूप में प्रस्तुत करता है जिसे जानने के उपरांत कुछ भी जानने को शेष नहीं रह जाता। अतएव इन दोनों प्रस्तुतियों को समन्वित रूप से प्रस्तुत करना ही उचित है और बोध के अतिप्राज्ञ स्तर पर तो भावात्मक तथा अभावात्मक कथनों में व्यंजित उसके स्वरूप में कोई विरोध रह ही नहीं जाता।[2]

अतः उपर्युक्त प्रस्तुति से स्पष्ट हो चुका होगा कि अरविंद इस जगत् के अस्तित्व को परमसत् की अनुभूति में समर्पित नहीं करना चाहते। जिस जगत् का परम सत् अधिष्ठान हो, जिसकी प्रत्येक गतिविधि उसके स्पर्श से अनुप्राणित हो, उसका निषेध कैसे हो सकता है? विपरीततः यह कहना अधिक उचित होगा कि क्योंकि जीवन के सभी यथार्थताओं एवं मूल्यों का वह स्रोत है इसलिए ये सभी उसमें – उसकी परिपूर्णता अपूर्व रूप से सुरक्षित हैं और क्योंकि इन मूल्यों को हमें अन्ततः परिपूर्णता में ही स्वीकार करना है, इसलिए हैं वे पावन,

---

1. "It is not limitable or definable by any one determination or any sum of determination; on the other side, it is not bound down to an indeterminable vacancy of pure existence. On the contrary, it is the source of all determination, its indeterminability is the natural, the necessary condition both of its infinity of being and its infinite power of being, it can be infinitely all things because it is, nathing in particular and exceeds, any definable totality". वही, खंड द्वितीय – प्रथम अर्द्ध, पृ. 33.

2. वहीं पृ. 34.

मंगलमय और शाश्वत् महत्त्व के हो जाते हैं। जब तक जीवन के इस शाश्वत् स्रोत से हम असंबद्ध रहते हैं और असंबद्ध होकर ही प्रतिक्रिया करते हैं तब तक हम एक अयथार्थ अधूरा जीवन व्यतीत करते हैं और ऐसी मनःस्थिति में जीवन को जिस रूप में हम स्वीकार करते हैं तथा उसे जीते हैं उसमें हमें प्रायः शिव की तुलना में अशिव की भी प्रतीति होती है। पर समग्र दृष्टि के आविर्भाव के उपरांत यही अशिवस्थली शिवरूप में रूपांतरित हो जाती है।[1] अतः समग्र दृष्टि तथा व्यावहारिक दृष्टि में परिपूर्ण और अपूर्ण का सम्बन्ध है।[2]

अरविंद के निष्कर्ष ब्रैडले के निष्कर्षों से पर्याप्त सदृशता रखते हैं। दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि बोध के अंतिम आयाम में व्यावहारिक सत् परिपूर्णता को प्राप्त करेगा और दोनों यह भी स्वीकार करते हैं कि इस परिपूर्णता की मात्र अभिव्यंजना, यही नहीं पदावली का ही अंतर प्रतीत होता है। क्योंकि दोनों ही जिस परिपूर्णता की चर्चा करते हैं, वह प्रज्ञा के लिए नितांत वाह्य नहीं है। एक उच्चस्तरीय बोध से अनुप्राणित होकर ही प्रज्ञा सक्रिय है। और यदि कोई उच्चतर चेतना उसमें विद्यमान न होती तो स्वातिक्रमण की संभावना भी उसमें विद्यमान न होती। और तब चेतना के किसी उच्चतर आयाम की संभावना भी उसके लिए नितांत काल्पनिक तथा निष्प्राण होती। और यदि वर्तमान संदर्भ में ब्रैडले की भाषा का प्रयोग किया जाय, तो प्रज्ञा अपने वर्तमान स्वरूप में प्रत्ययात्मक (Ideality) के दोष से दूषित दिखाई देगी और उससे मुक्त होना उसके लिए असंभव ही होगा। अन्य शब्दों में, तद-किम का विभाजन उसके लिए स्थायी है, क्योंकि उसके द्वारा ही वह आगे बढ़ती है। किन्तु इसी के साथ हमें यह न भूलना चाहिए कि प्रज्ञा अपने इस स्वरूप का अतिक्रमण भी करना चाहती है और एक उच्चतर चेतना में स्थायी रूप से स्थित होना चाहती है। यह प्रकृति भी उसके लिए उतनी ही प्राकृतिक है और कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं। इसी के आधार पर एक अतिप्राज्ञ बोध की संभावना का समर्थन ब्रैडले तथा अरविंद दोनों ही करते हैं। अरविंद योगी हैं,

---

1. आस्तिक अस्तित्ववाद में भी इसी प्रकार की व्याख्या मिलती है। उन्होंने दिव्य चेतना से अनुप्राणित जीवन को आथेंटिक जीवन (authentic) कहा है।

2. "It can only be a higher degree in the intensity of being of the same thing, a degree beyond the leftiest summit attainable by mental beings, and it is well known as it must be known to itself, that discovery would not destroy entirely what is given us by our supreme possible knowledge but rather carry to a higher fulfilment and larger truth of what it has already gained by self-vision and self-experience". वही, खण्ड द्वितीय प्रथम अर्द्ध पृ. 419.

अतः इसे मात्र संभावना के रूप में स्वीकार कर लेने से ही वे संतुष्ट नहीं होते। वे योग में उसे प्राप्त करने की बात करते हैं।

उपर्युक्त तुलना किंचित् अप्रासंगिक प्रतीत हो सकती है, किन्तु व्यावहारिक तथा अनुभवातीत सत्य के संबंध को स्पष्ट करने की दृष्टि से मुझे तो यह प्रस्तुति आवश्यक प्रतीत होती है। जैसा कि स्पष्ट हो गया होगा अरविंद के दर्शन में सत्य के इन दो प्रारूपों में कोई विरोध नहीं है। अनुभवातीत सत्य की अनुभूति बोध के उन आयामों में ही संभव है जो प्रज्ञा का अतिक्रमण करने वाले हैं। अनुभूति के उन स्तरों पर ही हम इस संपूर्ण विश्व को परमसत् की अनवरत आत्माभिव्यक्ति के रूप में देख सकेंगे। प्रज्ञा के स्तर पर अवस्थित होकर जिसे हम 'विकास' कहते हैं, सांत द्वारा दिव्यता की प्राप्ति कहते हैं, वही अतिप्राज्ञ चेतना के स्तर पर परमसत् की मुक्त क्रीड़ा दिखायी देती है। सब कुछ उसके द्वारा ही नियंत्रित और उससे ही सम्पन्न हो रहा है। और प्रज्ञा के स्तर के सभी विरोध उस स्तर पर स्वतः संगतिपूर्ण हो जाते हैं और उसके विषय में हमारी जिज्ञासा स्वतः शांत हो जाएगी। ऐसा अरविंद कहते हैं।

विवर्तवाद के पक्ष में दो शब्द

स्पष्ट है कि अरविंद शून्यवाद तथा विवर्तवाद की अपर्याप्तता प्रस्तुत करते हुए अपने दर्शन को सर्वाधिक युक्तियुक्त मानते हैं, किन्तु साथ ही वे यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि उनके दर्शन की युक्तता स्थापित करना प्रज्ञा के स्तर पर, प्रज्ञा द्वारा संभव नहीं है। अनुभवातीत सत्य की दृष्टि से यह संपूर्ण विश्व परमसत् का विलास है, उसकी क्रीड़ा है और इस बात में कहीं भी, किसी प्रकार की अयुक्तता नहीं है, किन्तु यह सत्य मानव-बुद्धि को कभी भी मान्य न होगा। बुद्धि तो उपरोक्त प्रस्तुति को अस्वीकार करते हुए संभवतः यही कहेगी कि यदि परिपूर्ण सत् विश्व का अन्तिम सत् है तो उसके विश्व में, उसकी आत्माभिव्यक्ति में, इतनी पीड़ा, इतना असंतोष एवं आक्रोश क्यों?

दार्शनिक सच्चाई इस बात की अपेक्षा करती है कि हम परिकल्पनात्मक अनुचिंतन की सीमाओं को निःसंकोच स्वीकार कर लें। विश्व की उत्पत्ति अथवा उसके आविर्भाव संबंधी कोई भी सिद्धांत प्रज्ञा के स्तर पर अन्ततः संतोषप्रद नहीं हो सकता। इस तथ्य को स्वयं अरविंद भी स्वीकार करते हैं जब वे यह कहते हैं कि उनके दर्शन की सत्यता की अनुभूति अतिप्राज्ञ स्तर पर ही संभव है या यों कहा जाय कि वह एक योगिक अनुभूति में ही अभिगम्य है।

किन्तु विवर्तवाद के विरोध में ब्रह्म परिणामवाद को प्रस्तुत करना और

उसकी श्रेष्ठता के लिए आग्रह करना विवर्तवाद विषयक एक मूल भ्रांति के नाते ही संभव है। विवर्तवाद और परिणामवाद वैकल्पिक सिद्धान्त नहीं हैं। विवर्तवाद विश्व की उत्पत्ति की चर्चा ही नहीं करता और न ही वह परमसत् में एक असत् विश्व को संभव करने वाली सर्जना सामर्थ्य को ही स्वीकार करता है। वह तो ब्रह्म तथा जगत् के बीच भावात्मक अथवा अभावात्मक – दोनों प्रकार के संबंधों की कल्पना को भी भ्रामक मानता है, क्योंकि संबंध वस्तुतः दो समस्तरीय सापेक्ष इकाइयों के बीच ही संभव है। जिन साम्यानुमानों का प्रयोग विवर्तवाद के समर्थन में किया गया है, यथा रज्जु में सर्प या शुक्ति में रजत वे तो केवल कार्य की कारण पर कार्य की शत-प्रतिशत निर्भरता को ही व्यक्त करने वाले प्रयास हैं। 'परिणाम' के प्रत्यय में तो कार्य तथा कारण दोनों एक ही स्तर की सत्तायें हैं, किन्तु 'आभास' में तो वे दो विभिन्न स्तर की सत्ताएँ हैं। 'अध्यस्त' सत्ता अधिष्ठान पर प्रक्षेपित है, अतः एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में वह उसकी अपेक्षा करता है। 'अधिष्ठान' के अतिरिक्त कहीं और उसके अस्तित्व की कल्पना संभव ही नहीं है। पर उसका अस्तित्व क्योंकि 'अविद्या' के कारण ही लक्षित होता है, इसलिए अविद्या के विलय के उपरान्त या यों कहें कि ज्ञान के आविर्भाव के उपरान्त उसका स्वतः विलय हो जाता है।[1]

इसी विशेष अर्थ में विवर्तवाद परिणायवाद से भिन्न है। अतएव इसे सर्जना सम्बन्धी सिद्धान्त मानकर इसकी आलोचना करना उचित नहीं है। उस परमसत् में जिसे बाधित नहीं होना है और मिथ्या बोध से समर्थित उस सत् में जिसे बाधित होना है, किसी भावात्मक अथवा निषेधात्मक संबंध की कल्पना किस प्रकार संभव है? उस रज्जु में जो एक वास्तविक सत्ता है और जिसे लौकिक संदर्भ में बाधित नहीं होना है तथा उस सर्प में जो उपरोक्त तथ्य से संबंधित एक मिथ्या कल्पना है किस संबंध की कल्पना की जा सकती है? इसी विशेष अर्थ में विश्व के अधिष्ठान ब्रह्म को परमसत् के रूप में अर्थात् अबाधित सत् के रूप में और उस पर प्रक्षेपित सत् को, नानात्व को। संसार को एक प्रक्षेपित सत् के रूप में उस सत् के रूप में जिसे अंततः बाधित होना है, विर्वतवाद द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

अद्वैत वेदांत में 'माया' शब्द इस 'असामान्य', 'अपूर्व' संबंध[2] को – जो सामान्य अर्थ में न भावात्मक है और न ही अभावात्मक, व्यंजित करता है।

1. "The world resides in Brahman even as the illusion of the snake is said to reside in the rope."

2. यदि वर्तमान प्रसंग में 'संबंध' शब्द का प्रयोग किया जा सके किन्तु प्रयोग करते समय साहचर्य से संबंधित भ्रांतियों में उलझने से हमें बचना चाहिए।

या यूँ कहा जाय कि वह प्रज्ञा के स्तर पर सम्बन्ध विषयक कल्पना की असंभवयता व्यक्त करता है। इस शब्द की सार्थकता स्पष्ट करते हुए सर्वपल्ली राधाकृष्णन् कहते है कि 'माया' शब्द इस बात पर विशेष बल देता है कि विश्वरूप में परमसत् क्यों आभासित हो रहा है इस रहस्य को अनावृत करने में प्रज्ञा सर्वथा असमर्थ है।[1]

अरविंद के दर्शन का भी यही निष्कर्ष है किन्तु इसके पश्चात् वे अतिप्राज्ञ स्तर पर परमसत् ब्रह्म तथा विश्व के संबंध को केवल स्वीकार ही नहीं करते प्रत्युत उसकी विशद् चर्चा भी करते है।

पुनः, हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि जब शंकराचार्य विश्व को 'मिथ्या' या 'आभास' कहते हैं तो उसे संपूर्ण रूप से असत् नहीं घोषित करते। विश्व की तथ्यता को तो कोई भी दार्शनिक अस्वीकार नहीं कर सकता। अतः यह कहना कि विवर्तवाद में विश्व का संपूर्ण निषेध है, अनुचित है और संभवतः इस सिद्धांत की जो भी आलोचना हुई है, वह इसी मिथ्या विश्वास के कारण हुई है। पाश्चात्य दार्शनिक ब्रैडले के दर्शन के विरुद्ध भी इसी प्रकार की आपत्ति लायी गयी है। उन्होंने भी 'विश्व' को आभास माना है और 'विश्व' से उनका तात्पर्य प्रज्ञा द्वारा समर्थित विश्व से है। प्रज्ञा द्वारा समर्थित 'विश्व' के विविध स्वरूप का उन्होंने विशद अध्ययन भी प्रस्तुत किया है और प्रत्येक अध्याय में उनका यही निष्कर्ष रहा है कि पक्षीय कोटियों के आधार पर निर्मित जगत स्वयं प्रज्ञा को ही अंततः स्वीकार्य नहीं। वह आंतरिक विसंगतियों से त्रस्त है और इसलिए उसी अनुपात में असंतोषप्रद भी है। इस कारण उस 'विश्व' की तथ्यता से इंकार न करते हुए भी उसे अंतिमता प्रदान करना असंभव है। जिस चित्र से प्रज्ञा स्वयं असंतुष्ट हो, जो विसंगतियों से पूरित हो, उसे बाधित होना है। स्वातिक्रमण की आकांक्षा रखने वाली प्रज्ञा की ही यह माँग है, और अंततः जिसे बाधित होना है उसे सत् की संज्ञा कैसे दी जा सकती है?

---

1. "The world 'Maya' registers our finiteness and points to a gap in our knowledge. The riddle of the rope is the riddle of the universe". राधाकृष्णन्, द वेदान्त, पृष्ठ 135 पुनः "For Shankara the question is an illegitimate one and so impossible of answer. When we intuit the Absoluste Brahman. The question of the nature of the World and its relation to Brahman does not arise, for the truth which disarms all discussion its seen as a fact. If we take our stand on logic, then there is no pure Brahman which requires to be related to the World. It is because we shift our standpoint in the course of our argument that the problem arises. For an imaginary difficulty there cannot be any real solution". वही, पृष्ठ 131.

कुछ इसी अर्थ में अद्वैत वेदांत भी विश्व की यथार्थता को स्वीकार करते हुए अपरोक्षानुभूति में उसके बाधित होने की संभावना को भी स्वीकार करता है, और इसी कारण उसे आभास मानता है, सत् नहीं। ब्रह्म 'विश्व' की ही अबाधित सत्ता है क्योंकि उसे किसी भी काल में बाधित नहीं होना है। अतः उसे ही परमसत् कहा जा सकता है।

राधाकृष्णन् विवर्तवाद का मूल्यांकन प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि विश्व की तथ्यता के आधार पर ब्रह्मवाद का खंडन नहीं हो सकता जैसे आनुभविक तथ्यों के आधार पर जटिल तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों का हल संभव नहीं है।[1] इसी प्रकार परमसत् के ईश्वर रूप को भी शंकराचार्य आभास मानते हैं। ईश्वर तथा विश्व सापेक्ष सत्ताएँ हैं और उनकी स्वीकृति अनेक ऐसे प्रश्नों से अनिवार्यतः संबद्ध है, जिनको उठाते हुए भी जिनका संतोषपूर्ण हल प्रज्ञा स्वयं नहीं दे पाती। दर्शन के विद्यार्थी उन प्रश्नों से परिचित हैं और उनकी प्रस्तुति वर्तमान प्रसंग में अपेक्षित भी नहीं है। निष्कर्षतः यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि विश्व के साथ है विश्व के सृष्टिकर्ता को भी और उसी कारण से अंतिमता प्रदान करना संभव नहीं है। इस प्रश्न पर ब्रैडले तथा शंकर के निष्कर्ष समान ही हैं।[2]

प्रज्ञा द्वारा समर्थित सत्यों की सीमायें हैं, इससे इनकार नहीं किया जा सकता है। अतएव जिस सत् की वह अपेक्षा करती है और जिसे अपने माध्यम से प्रस्तुत करने के लिए वह सतत् व्यग्र रहती है उस सत् को प्रज्ञा द्वारा प्रस्तुत सत्य से एकीकृत कर देना, या फिर उससे भावात्मक अथवा अभावात्मक संबंध स्थापित करना कहाँ तक उचित है? यह हमारा हठ ही होगा यदि फिर भी उसकी सीमाओं के स्पष्ट बोध के बावजूद, प्रज्ञा द्वारा समर्थित विश्व को ही हम अंतिमता प्रदान करने की बात करें और एक अतिप्राज्ञ अनुभूति में व्यंजित उसके स्वरूप के समक्ष प्रज्ञा द्वारा समर्थित रूप को समर्पण के लिए प्रस्तुत न हों। ब्रैडेल तथा शंकर दोनों ने इसी दृष्टि से विश्व के बाधित होने की बात की है।

---

1. "It is a hopeless method of attacking Shankara's theory that Atman is all to say that the physical facts and mental forms stare us in the face. He does not deny it. An ultimate metaphysical question cannot be answered by an appeal to empirical facts". वही, पृष्ठ 65.
2. "It involves Adhyasa, and like that of Isvara (God of religion) cannot be regarded as ultimate. Or to State it differently, the Saguna Brahman includes not merely reality but also appearance which is something less than real. The element of reality in it is the ultimate of Advaita". एम. हिरियन्ना, एन आउटलाइन ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, पृष्ठ 371.

अद्वैतवाद में प्रयुक्त 'अनिर्वचनीय' शब्द भी इसी कारण महत्त्वपूर्ण है। यह 'ब्रह्म' तथा 'जगत्' के तार्किक संबंध की असंभवयता को सूचित करता है। अतः वर्तमान प्रसंग में 'कारणता' के सिद्धान्त को अपर्याप्त मानते हुए अद्वैत वेदांत 'अनन्यत्व' को प्रस्तुत करता है! क्योंकि यदि संबंध की बात की जाय तो ब्रह्म तथा जगत् को हमें दो सत्तायें मानना होगा और यदि हम उन्हें पृथक-पृथक मान लें तो उन्हें पुनः सहज रूप से संबद्ध करना असंभव ही होगा।[1] और यदि हम उनमें संबंध की कल्पना हम कर भी लें, तो प्रज्ञा के स्तर पर ही हमें अनवरत कठिनाइयों का सामना करना होगा।[2] वस्तुतः ब्रह्म और जगत् एक ही सत् के दो भिन्न स्वरूप हैं। एक प्रज्ञा द्वारा और दूसरा अपरोक्षानुभूति के माध्यम से व्यंजित होता है। सत् और सत् की ही भ्रामक प्रस्तुति में कैसे संबंध का प्रश्न उठाया जा सकता है? और जो लोग ऐसा करते हैं, वे प्रज्ञा की कोटियों का अनुचित प्रयोग करते हैं। कोटियों की वैधता तो इन्द्रियानुभविक जगत् में ही है, इस बात को पाश्चात्य दर्शन में काँट ने भलीभाँति सिद्ध किया है।

उपर्युक्त प्रस्तुति विवर्तवाद से सम्बद्ध भ्रांतियों के स्पष्टीकरण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था। प्रज्ञा के स्तर पर उसके अपने द्वारा प्रस्तुत रूप में ब्रह्म परिणामवाद का समर्थन संभव ही नहीं है। इस तथ्य को तो अरविंद भी मानते हैं। कोटियों का प्रयोग प्रज्ञात्मक बोध के स्तर पर ही करने की चेष्टा करते हैं - ऐसा कहीं नहीं प्रतीत होता। वे ब्रह्म तथा जगत् में भावात्मक संबंध स्थापित करने के लिए व्यग्र दिखाई देते हैं। क्योंकि उनके अनुसार अद्वैत वेदांत का दृष्टिकोण मूलतः निषेधात्मक है और इसीलिए उनकी दृष्टि में उसके आधार पर विश्व के साथ न्याय कर पाना संभव ही नहीं है। पुनः उसका ब्रह्म स्थैतिक है। अतः जीवन के गत्यात्मक पक्ष के साथ वह न्याय कर सकना संभव ही नहीं हैं।

---

1. ब्रैडले ने इस तथ्य को विभिन्न प्रसंगों में अपनी पुस्तक अपियरेन्स एण्ड रियेलटी के 'आभास' खंड में भलीभाँति सिद्ध किया है।

2. "Shankara distinguished between the scientific principle of causality (Karya Karnatva) and the philosophical principle of non-difference (Ananyatva). World and the Brahman are not-different and so the question of the relation between the two is an inadmissible one. If we separate Bramhan and the world. We cannot bind them except loosely, artificially and externally. Bramhan and the World are one and exist as reality and appearance. The world is Maya since it is not the essential truth of the inbinite truth of Brahman" द वेदांत पृ. 131-132.

उपरोक्त कथन से स्पष्ट हो चुका होगा कि अद्वैत वेदांत का ब्रह्म न तो स्थैतिक ही है और न ही वह अनेकत्व का निषेध करने वाली एकता ही है। स्थैतिक तथा गत्यात्मक, एक व अनेक, प्रज्ञा के स्तर पर विरोधी और सापेक्ष प्रत्यय है। इनमें से किसी भी एक प्रत्यय के माध्यम से जगत् की व्याख्या एकांतिक दृष्टिकोण को जन्म देती है, और विरोध को आमंत्रित करती है। और यह विरोध स्वयं उसकी एकांतिकता का प्रमाण है, और उसे अधिक व्यापक और संगत व्याख्या की ओर प्रेरित करता है।

पर यद्यपि सभी प्रत्यय, जिनके माध्यम से सामान्यतः सत् की व्याख्या की जाती है, आंतरिक विसंगति के कारण अंतिम रूप से अस्वीकार्य है, फिर भी इनके माध्यम से सत् क्रमशः व्यंजित तो होता ही रहता है। अतः वह शून्य नहीं। वह भूमा है, पर प्रज्ञा के माध्यम से ग्राह्य नहीं है। वर्तमान संदर्भ में 'निर्विशेष' शब्द का भी यही अर्थ है।[1] और वर्तमान संदर्भ में अरविंद के निष्कर्ष भी इससे भिन्न नहीं प्रतीत होते। विवर्तवाद ने प्रज्ञा के माध्यम से परमसत् की अभिव्यक्ति की असंभवता पर विशेष बल दिया है, किन्तु उसके अधिष्ठान पक्ष की अवहेलना नहीं की है। श्री अरविंद ने प्रथम को स्वीकार करते हुए तथा उसके अधिष्ठान को पृष्ठभूमि में रखते हुए उसे ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मान लिया। किन्तु सामान्य अर्थों में प्रयुक्त यह शब्द अपने साहचर्य के कारण भ्रामक है। क्योंकि उसके साथ एक ऐसी सत्ता की कल्पना युक्त है जो उससे भिन्न होते हुए भी उस पर आश्रित है। विवर्तवाद ने संभवतः इसीलिए इस शब्द के प्रतीकात्मक-मूल्य को ही माना है पर उसे अर्थवत्ता प्रदान करने की चेष्टा नहीं की। उसके दृष्टिकोण से पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्ता के संबंध का प्रश्न अनुचित है, अयुक्त है। अतः जब पारमार्थिक सत् तथा व्यावहारिक सत् की चर्चा विवर्तवाद करता है तो वह एक ही सत् के दो प्रारूपों की बात करता है, किन्तु बोध की एक उच्चतर स्थिति में वह केवल एक ही सत् का समर्थन करता है। अन्य शब्दों में व्यावहारिक सत् के रूप में जब चेतना 'विश्व' का समर्थन करती है, तो ब्रह्म के अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता। विपरीततः जब पारमार्थिक सत् के रूप में ब्रह्म का, निर्विशेष सत् का समर्थन

1. It should be carefully noted that this reality is not the mere unity underlying the diversity of the universe, for unity and diversity are relative to each other and it is impossible to retain the one as real while rejecting the other as an appearance. Both ot them are alike appearances, the advaitic ultimate is what is beyond them their non-phenomenal ground (nirvisesa vastu). It is for this reason that Shankara describes his doctrine as advaita or nonduality, and not as 'aikya' or 'unity'.

   एम. हिरयाना, आउटलाइन्स, पृ. 312.

करती है, तो पूर्व चेतना द्वारा समर्थित 'विश्व' बाधित हो जाता है। भ्रांति के निराकरण के बिना परम सत्य की अनुभूति कैसे संभव है? और परम सत्य की अनुभूति के पश्चात् 'असत्य' से, आभासी सत् से उसकी संबद्धता का प्रश्न कैसे उठाया जा सकता है?

अद्वैत वेदांत ने परिणामवाद की सीमाओं को प्रज्ञा के स्तर पर प्रस्तुत करते हुए ही विवर्तवाद का समर्थन किया है। अतः विवर्तवाद की आलोचना और परिणामवाद का समर्थन सामान्यतः उस सिद्धांत के संबंध में अपर्याप्त समझ का ही परिणाम है। अतिप्राज्ञ स्तर पर तो प्रज्ञा द्वारा समर्थित विश्व का निषेध होना ही है और उस स्तर पर समर्थित सत्य का पुनः प्रज्ञा द्वारा समर्थित विश्व से संबंध स्थापित करने का प्रयास सर्वथा अनुचित है।

पर श्री अरविंद विवर्तवाद को एक अपर्याप्त सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत करते हुए ब्रह्म परिणामवाद का समर्थन करते हैं। यह संपूर्ण जगत् ब्रह्म का ही रूप है – उसकी ही मुक्त सर्जनात्मक अभिव्यक्ति है।

ब्रह्म के प्रारूपों की चर्चा

इस संदर्भ में वे ब्रह्म के दो प्रारूपों की चर्चा करते हैं। अपने प्रथम रूप में वह विशुद्ध सत् है – परात्पर ब्रह्म है और, प्रज्ञा की किन्हीं भी कोटियों के माध्यम से व्यंजित नहीं हो सकता।[1] परमसत् तथा विश्व के वैविध्य में और उस वैविध्य से सम्बद्ध हमारे सामान्य व्यावहारिक जीवन में बहुत बड़ा अन्तर है, जिसे सरलता से भरना संभव नहीं यानी इन दोनों के बीच किसी प्रकार के भावात्मक संबंध की कल्पना संभव नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि एक के समर्थन में दूसरे का निषेध अनिवार्य है।

अतएव यदि यह परम सत् जगत् का अधिष्ठान है, उसका शाश्वत स्रोत है तो हमें अनिवार्यतः इसके एक दूसरे आयाम की कल्पना करनी होगी। इसी को अरविंद ने 'परात्पर पुरुष' या 'गत्यात्मक दिव्य' कहा है, जिसमें सर्जना की प्रवृत्ति मूलतः विद्यमान है। ब्रह्म के इसी सर्जनात्मक पक्ष को उन्होंने 'अतिमानस' (Super mind) भी कहा है, जो निर्विशेष न होकर विशेष अर्थ एवं संदर्भ में सविशेष है। और यह सविशेष इसलिए है कि संभावना के रूप

1. You can become Para Brahman you cannot know Para Bramhan ".... by its symbols the Absolute can be known, so far as the symbols reveal or hint at it, but even the knowledge of the whole sum of symbols does not amount to real knowledge of the absolute".

   अरविंद बर्थ सेंटेनरी लाइब्रेरी-पांडिचेरी, वाल्यूम 17 में पूर्ण योग लेख से उदघृत : पृ. 65.

में इसमें संपूर्ण विश्व विद्यमान है। एक मध्यस्थ कड़ी के रूप में इसे स्वीकार करते हुए वे इसकी 'तार्किक अनिवार्यता'[1] को प्रस्तुत करते हैं, क्योंकि उनके विचार में इसे न स्वीकार करने से विश्व के आविर्भाव का स्पष्टीकरण किसी भी प्रकार संभव न होगा। यह मध्यस्थ कड़ी इसलिए है कि परम निर्विशेष से सम्बद्ध है और उसके ही महत्त्वपूर्ण आयाम के रूप में यह अस्तित्ववान है और यह मानसिकीय चेतना को उत्पन्न करने वाली भी है।[2]

इसी 'अतिमानस' की यह सर्जना शक्ति को ही श्री अरविंद दिव्य माया कहते हैं और इसी के द्वारा वे वैविध्य के आविर्भाव को संभव मानते हैं। अन्य शब्दों में, इसी माया के द्वारा ब्रह्म विश्व रूप में प्रक्षेपित होता है किन्तु इस प्रकार प्रक्षेपित होने के बावजूद मूल एकता के बोध का कहीं भी समर्पण नहीं होता। पुनः वे कहते हैं कि वैविध्य में एकता का वितरण मात्र व्यावहारिक स्तर की प्रतीति है। यथार्थ विभेद, जो मूल एकत्व का ही विलय कर दे, इस स्तर पर अस्तित्ववाद् ही नहीं है।[3]

पर चेतना का यथार्थ विभेदीकरण किसी भी स्तर पर अभिव्यक्त होने के बाद रुकता नहीं। एक द्वितीय सर्जना शक्ति के माध्यम से वैविध्य यथार्थतः प्रक्षेपित होता है। प्रथम के संदर्भ में इस द्वितीय सर्जना-शक्ति को निम्न माया कहा है। इसी माया के आधार पर उस पार्थक्य के बोध का आविर्भाव होता है, जिसमें एकता का अहसास अस्पष्ट एवं धूमिल और अन्ततः विलुप्त हो जाता है।

विकास की इस 'तार्किक अनिवार्यता' को श्री अरविंद स्वीकार करते हैं। क्योंकि यदि एक बार आपने विभेदीकरण की प्रवृत्ति को स्वीकार कर लिया है, तो आप उसे अन्तिम परिणति तक पहुँचने से रोक नहीं सकेंगे। अतएव अहं केन्द्रित चेतना तथा उससे सम्बद्ध विश्व का आविर्भाव सहज एवं अनिवार्य है।

सृष्टि के आविर्भाव की कल्पना में अरविंद 'प्रतिविकास' शब्द का प्रयोग करते हुए कहते हैं कि सर्जना की इस कहानी में दो प्रतिविकास सम्मिलित हैं। प्रथम आध्यात्मिक सत्य है, जिसमें सभी कुछ मूलतः विद्यमान है और उसी से आविर्भूत होता है और द्वितीय 'जड़' है, जिससे पुनः सभी कुछ को आविर्भूत होना है।[4]

---

1. द लाइफ डिवाइन, पृ. 133.
2. "Child of one and Parent of another". वहीं, पृ. 117.
3. "There is practical distinction in consciousness but there is no essential difference of consciousness or true division in its vision of itself". वहीं, पृ. 131.
4. वहीं, पृ. 120.

अतएव विश्व के अधिष्ठान के रूप में वे एक ऐसे सत् को स्वीकार करते हैं जो निर्विशेष परमसत् न होकर इस विशेष अर्थ में सविशेष है कि वह एक मूल आत्म एकाग्रता है।[1] जो कि कालान्तर में उस वैविध्य को अभिव्यक्त होना है और उसके द्वारा उसे पोषित भी होना है। उसमें विकास की, अर्थात् अभिव्यक्ति की और अपने में सभी कुछ समेट लेने की दोनों ही शक्तियाँ विद्यमान हैं।[2]

पर इस 'गत्यात्मक दिव्य' को श्री अरविंद अंतिमता नहीं प्रदान करते। यह स्वयं एक मध्यस्थ कड़ी है और परम निर्विशेष सत् की आधार रूप में अपेक्षा करती है। शिव और काली का युगल रूप, शिव के वक्षस्थल पर काली का नर्तन उनके दार्शनिक दृष्टिकोण की बड़ी भावपूर्ण व्यंजना प्रस्तुत करता है। शिव और काली एक ही मूल सत् के दो आयाम हैं, जो इस प्रकार समन्वित हैं कि उन्हें सामान्य अर्थ में दो भी नहीं कह सकते। अंग्रेजी में इन आयामों के लिए 'पायज़' (Poise) शब्द का प्रयोग किया गया है।

ईश्वर : सामान्य कल्पना से भिन्न

इसी गत्यात्मक दिव्य को यानी परमसत् के सर्जनात्मक आयाम को ईश्वर या परमपुरुष की संज्ञा दी गयी है। पर वह हमारी सामान्य कल्पना से भिन्न है। सामान्यतः हम 'ईश्वर' को अपनी ही आकृति में अर्थात् एक सर्वगुण संपन्न तथा अपरिमितता से युक्त मानव के रूप में प्रस्तुत करते हैं। पर मानवीकरण की यह प्रवृत्ति वर्तमान संदर्भ में सर्वथा अनुचित है।[3] सामान्यतः मानव की विशिष्टता उसके मानसिकीय व्यक्तित्व एवं उससे संबद्ध संभावनाओं के विकास में है। इस दिशा में अग्रसरित होने पर कितनी भी उपलब्धियाँ उसके हाथ क्यों न आ जाएँ मानसिकीय स्तर का अतिक्रमण उसके लिए सरल नहीं है।

पर 'दिव्यता' (divinity) में स्थायी रूप से स्थित होने के लिए 'मानसिकीय' का आमूल रूपांतरण आवश्यक है। यही 'दिव्यता' मानव जीवन की परम निष्पत्ति है, और इसकी विशिष्टता को सामान्य प्रत्ययों के माध्यम से प्रस्तुत करना असंभव ही है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि विश्व के मूल में सर्जनात्मक दिव्य के रूप में ईश्वर ओर उसे पोषित करने वाले परम निर्विशेष सत् की स्वीकृति अरविंद के दर्शन की विशेषता है और उसे शांकराद्वैत से पृथक् करती है।

1. "Original Self Concentration". वहीं, पृ. 119.
2. वहीं, पृ. 120.
3. वहीं, पृ. 123.

विश्व के संपूर्ण प्रसार में उसकी ही सृजनशीलता का सर्वत्र विलास है। अतएव इसमें हमें कहीं भी, किसी प्रकार की निष्क्रियता नहीं दिखलायी देती है। स्थूल से सूक्ष्य दिखने वाली सभी सत्ताओं में उसी का अर्थात् परम सत्ता का ही वास है, जो उसे दिव्यीकृत करने के लिए भीतर से प्रेरित करता रहता है। जड़, प्राण और मानस की विपक्षीय अभिव्यक्ति भी उसी से अनुप्राणित है और उसी की ओर प्रवाहमान भी है। श्री अरविंद के दर्शन में जड़ तथा प्राण के दिव्यीकृत होने की संभावना बड़े स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत की गयी है। और इसी दृष्टिकोण से उन्होंने परंपरागत भारतीय दार्शनिक दृष्टिकोण से अपने दृष्टिकोण को पृथक करने की चेष्टा की है। उनके अनुसार इस जगत में कुछ भी निषिद्ध नहीं है। अतः सब कुछ को हमें स्वीकार करना ही है, आगे बढ़ना भी है क्योंकि सभी में उसका वास है। श्री अरविंद का यह विश्वास है कि जब अतिमानसिकीय चेतना का पर्याप्त शक्ति के साथ इस विश्व में अवतरण होगा तब वह इन सभी में आमूल परिवर्तन ले आयेगी इसमें संदेह नहीं। यही नहीं इनके अस्तित्व को ऊपरी अर्द्ध से जोड़ते हुए वह इन सभी को दिव्यीकृत कर देगा।

मानव जीवन के संदर्भ में दिव्यीकृत होने की संभावना को प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि हमारा परिमित बोध एवं संकल्प जब सच्चिदानन्द के अपरिमित बोध एवं संकल्प से आप्लावित हो जायेगा तब चेतना के इस स्तर पर स्थिर होने के बाद हमें सभी कुछ उस अपरिमित बोध एवं संकल्प का सहज परिणाम प्रतीत होगा।[1] विकास के समर्थन के बावजूद तथा उद्‌गामी विकासवाद से पर्याप्त सदृशता महसूस करने के बाद भी यह स्पष्ट है कि श्री अरविंद का दृष्टिकोण सभी प्रचलित विकासवादी सिद्धान्तों से आमूलतः भिन्न है। उद्‌गामी विकासवाद से विशेष रूप से इसलिए कि वह संसार के आविर्भाव के लिए देश काल जैसी मूल सत्ता को स्वीकार करता है, जिससे उक्त उच्चतर संभावनाएं यथार्थ हो ही नहीं सकतीं। श्री अरविंद तो संसार के आर्विभाव के लिए सच्चिदानन्द की सत्ता को स्वीकार करते हैं जिसकी अपरिमित सृजनशीलता में अपरिमित्ति संभावनाएँ विद्यमान हैं। अतएव उसके लिए कुछ भी असंभव नहीं है। श्री अरविंद की यह बात "लॉ ऑफ सफिशेन्ट रीजन" (Law of Sufficient Reason) को पृष्ठभूमि में रखते हुए कही गयी है। ऐसा प्रतीत होता है और कालान्तर में तथाकथित नितांत नवीन संभावनाओं का आर्विभाव भी उसी मूल सत्ता से हो सकता है जिसमें उनके आर्विभाव की संभावनाएँ पहले से ही विद्यमान हैं। अतएव श्री अरविंद के अनुसार एक विशेष अर्थ में नितांत नवीन कुछ हो ही नहीं सकता। सभी कुछ पूर्व नियत है। उसे होना ही है हम

1. यहाँ पर स्मरण रखना आवश्यक है कि सभी कुछ की अनिवार्यता का समर्थन 'अतिप्राज्ञ' के सदंर्भ में होता है।

चाहें अथवा न चाहें। इससे उसमें कोई अंतर आना ही नहीं है।

इस प्रसंग में लाइबनित्ज़ के दर्शन के महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष का सहज स्मरण हो जाता है। लाइबनित्ज़ 'पूर्व स्थापित सामंजस्य' के सिद्धांत का समर्थन करते हैं और वे इस विश्व को ईश्वर से केवल संबद्ध ही नहीं, बल्कि आंतरिक रूप से पूर्णतः नियंत्रित मानते हैं। वे यह भी मानते हैं कि सभी कुछ, जिसका तथाकथित विकास की आगामी स्थितियों में आविर्भाव होगा, वह प्रत्येक चिद्बिंदु में संभावना के रूप में विद्यमान है और उसका आविर्भाव बाह्य उत्तेजनाओं के फलस्वरूप न होकर आंतरिक प्रेरणा से नियंत्रित होकर होता है। पुनः लाइबनित्ज़ कहते हैं कि अपरिमित शक्ति एवं सामर्थ्य से युक्त ईश्वर इस विश्व का स्रष्टा है और एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में वह इस विश्व की, यही नहीं, इसमें प्रत्येक चिद्बिंदु की सहज निष्पत्ति भी है। इसी बात को वे चिद्बिंदु को 'गवाक्षहीन' कह कर और यह भी कह कर कि वह अपने में संपूर्ण विश्व को प्रतिबिम्बित करता है, प्रस्तुत करते हैं।[1]

वे यह भी कहते हैं कि यह विश्व ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ कृति है और इसमें कुछ भी अकारण अर्थात् बिना किसी प्रयोजन के नहीं है। स्पष्ट है कि यद्यपि उनके विचार किंचित स्थूल प्रतिमाओं द्वारा व्यंजित होते हैं, इन विचारों की स्पष्ट प्रतिध्वनि हमें अरविंद के विचारों में मिलती है। किन्हीं भी दो दार्शनिकों में शत-प्रतिशत साम्य नहीं होता, पर लाइबनिज़ के दर्शन में जो ध्वनि विद्यमान है, उसकी सार्थकता एक विकसित अध्यात्मक (जैसा कि अरविंद का दर्शन है) के परिप्रेक्ष्य में ही स्पष्ट होती है।

इस प्रश्न पर कि सच्चिदानन्द विश्वरूप में क्यों व्यंजित हो रहे हैं, अरविंद का एक ही उत्तर है – यह सब उनकी 'लीला' है। उनकी यह अपरिमित सर्जना शक्ति अपने को पहले एक सहज निःसृत वैविध्य में आवृत कर लेती है। पुनः उसे अनावृत करने में जुट जाती है। यह छुपाछुपौवल का खेल है और प्रज्ञावान (wise) व्यक्ति उसे इसी रूप में जानता भी है। वह संपूर्ण लीलामय संसार आह्लादकारी है, क्योंकि सभी कुछ उसी मूल आह्लाद का ही अपरिमित प्रसार है, विलास है।[2]

---

1. "Windowless; a microcosm in macrocosm."

2. "The world .....is not a rigid exercise in logic, but like a strain of music an infinite hermony of many diversities"..... पुनः माया शब्द के लिए कहते हैं "leave the world for subordinate use and fix rather on the idea of Lila, a deeper and more penetrating world than Maya. Lila includes the idea of Maya and exceeds it, nor has it that association of the vanity of all things useless to you who have elected to remain and play with Sri Krishna iu Mathura and Vrindaban". अरविंद बर्थ सेन्टेनरी लाइब्रर्स, पांडिचेरी, वोल्यूम्स 16 से उद्घृत, पृ. 35.

श्री अरविंद परम सत् के सात आयामों की चर्चा करते हैं, जिनमें वह मूर्तमान होता है। उन आयामों की चर्चा करते हुए वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि वे एक दूसरे से वाह्य नहीं हैं। इनकी वाह्यता की कल्पना भ्रामक है चेतना-शक्ति है। ये परस्पर समन्वित होकर ही अस्तित्वान् हैं और वे परस्पर समन्वित होकर ही अस्तित्ववान हैं। और वे सातों आयाम इस प्रकार हैं – सत्, चेतना-शक्ति, आनन्द, अतिमानस, मानस, जैविकीय एवं जड़।[1] पर प्रज्ञा जब इन्हें ग्रहण करने की चेष्टा करती है, तो इन्हें सहअस्तित्ववान और इसी नाते एक दूसरे से बाह्य प्रस्तुत करती है और फिर आकस्मिक संबंधों से संश्लेषित करते हुए इनसे मूल एकता को सृजित करने का प्रयास करती है। यही 'कारण है कि मूल एकता को उसकी तात्त्विक समन्वित यथार्थता में वह प्रस्तुत नहीं कर पाती।

अपने इस समन्वित अविदित मूल रूप में परम सत् अपरिभाष्य एवं अज्ञेय ही है। अपने सर्वाधिक व्यापक प्रत्ययों एवं अनुभूतियों में भी हम उसको सम्पूर्ण बोध नहीं हो पाता।[2] और इस दृष्टि से न वह सत् ही हैं और न ही असत्। इस स्तर पर सत् तथा असत् दो एकांतिक एवं परस्पर विरोधी प्रत्यय नहीं हैं, जो एक दूसरे को नष्ट करने वाले हैं, बल्कि वे उस अन्तिम 'विप्रतिषेध'[3] को प्रस्तुत करते हैं, जिसके माध्यम से हम उस अज्ञेय की ओर उन्मुख होते हैं।[4] पुनः किसी भी ज्ञेय अनुभूति से उसे एकीकृत करना वस्तुतः उसकी अज्ञेयता के प्रति अनादर व्यक्त करना ही होगा।[5]

जीवन के भवितव्य का चित्र : परिपूर्ण दृष्टि से

इसी प्रसंग में श्री अरविंद जीवन की नियति का एक अन्यतम चित्र प्रस्तुत करते हैं। तात्त्विक दृष्टि से जीव उस समग्र सत् से केवल युक्त ही नहीं है, वरन् उसका ही यथार्थ स्वरूप है। अतएव अपने इसी स्वरूप को प्राप्त करना, इसी में स्थायी रूप से अवस्थित होना ही उसकी नियति है। मनुष्य का

1. Existence, Conasciousness — Force, Delight, Supermind, Mind, Life, Matter.
2. "We are obliged to negate our largest conceptions, our most comprehensive experiences in order to affirm that the reality exceeds all definitions", लाइफ डिवाइन, पृ. 35.
3. Antinomy.
4. "Last antinomy through which we look up to the unknowable." लाइफ डिवाइन, पृ. 35.
5. "We sin against its unknowableness". वही, पृ. 35.

मनुष्यत्व इसी में है कि वह इस जीवन में ईश्वर को परिपूर्णता के साथ अभिव्यक्त करे।[1]

पुनः इस परिपूर्ण सत् में जीव को अपने व्यष्टित्व का विलय नहीं करना होगा, प्रत्युत् अपने आपको, अपनी चेतना को, उत्तरोत्तर परिपूर्ण बनाना होगा। सतही दृष्टि से देखने पर मानवीय चेतना परिमित दिखाई देती है, पर वह वस्तुतः उसका अपना तात्त्विक स्वरूप नहीं है। तत्त्वतः उसकी चेतना परिपूर्ण चेतना से आप्लावित है और साधना के माध्यम से उसे उससे आप्लावित होने का बोध हो सकता है। वह उसमें सक्रिय भी हो सकती है और सक्रियता की उस स्थिति में उसका व्यक्तित्व भीतर से इस प्रकार पूरित हो उठेगा कि उसके सामने उसकी वर्तमान संकुचित दृष्टि का ठहरना असंभव हो जायेगा। इसी स्थिति को अनेक प्रसंगों में अरविंद 'आमूल परिवर्तन', 'आमूल रूपान्तरण' कहते हैं। यह परिवर्तन मानवीय व्यक्तित्व के सभी स्तरों यथा दैहिक, जैविकीय और मानसिकीय पर होगा और ये सभी स्तर अपनी स्ववर्तिता का समर्पण करते हुए अध्यात्म के नेतृत्व को सहर्ष स्वीकार कर लेंगे। यही अन्ततः श्री अरविंद के अध्यात्म योग का प्रयोजन है।

रूपांतरण की इस संभावना को स्वीकार करते हुए श्री अरविंद अपने दृष्टिकोण को परम्परागत दृष्टिकोण से पृथक कर लेते हैं। परम्परागत दृष्टिकोण में हमें मानव के तथाकथित निम्न व्यक्तित्व के परित्याग की बात मिलती है। पर वह हमारे दृष्टिकोण की एकांगिता के कारण ही है। यदि सभी कुछ ब्रह्म का, परिपूर्ण सत् का ही प्रसार है, तो उसमें निम्न अथवा निषिद्ध क्या कुछ हो सकता है? एक समग्र तथा परिपूर्ण दृष्टि के लिए तो कुछ भी निम्न तथा निषिद्ध हो ही नहीं सकता। यदि हमें ऊपर चढ़ना है तो आधार की उपेक्षा किस प्रकार हो सकती है? एक समग्र योग इसकी उपेक्षा कर ही नहीं सकता। यही कारण कि श्री अरविंद संन्यासवाद तथा मिथ्यावाद के प्रति अपना असंतोष व्यक्त करते हैं। संन्यासवाद तथा मिथ्यावाद दोनों ही देह और इस जगत की अवहेलना की बात करते हैं यही नहीं, वे मन से भी लड़ाई करने की, उससे भागने की बात करते हैं। पर शरीर तथा मन का संघात हमारा वर्तमान व्यक्तित्व ही हमारी भावी प्रगति का आधार प्रस्तुत करता है, अतः इसे पावन एवं दिव्य बनाना भावी प्रगति के लिए नितांत आवश्यक है।[2] एक अन्य कारण

1. "To fulfil God in life is man's manhood". लाइफ डिवाइन, पृ. 37.
2. "We climb ill if we forget the base. Not to abandon the lower to itself, but to transfigure it in the light of the higher to which we have attained, is true divinity of nature". लाइफ डिवाइन पृ. 37.

से भी वे इन दृष्टिकोणों से असंतुष्ट है। ये व्यक्तिगत मोक्ष की बात करते हैं किन्तु श्री अरविंद के योग की दृष्टि से इसका कोई महत्त्व नहीं है। अतएव इस संदर्भ में श्री अरविंद अर्थात् व्यक्तिगत, सर्वव्यापी एवं अनुभवातीत[1], चेतना के तीनों रूपों के समन्वय की बात करते हैं। व्यक्तिगत एवं सार्वभौम के समन्वय की बात तो प्रायः सभी योगों में होती है, पर चेतना के अनुभवातीत आयाम से समन्वित होने की संभावना की स्वीकृति उनके अपने योग की विशिष्टता है। इस आयाम की अवहेलना के कारण हम सामान्यतः वैयक्तिक सत्ताओं की – अपने व्यक्तित्व की और उससे सम्बद्ध अन्य व्यक्तियों की, अन्ततः संपूर्ण संसार की अवहेलना करते हैं, यही नहीं हम उनके कालान्तर में उनके परित्याग की और अन्ततः सार्वभौम में अपने विलय की चेष्टा भी करते हैं। पर यह सब खंडित दृष्टि का परिणाम है। एक समग्र दृष्टि सभी को स्वीकार करना सिखलाती है। पर अब स्वीकार करने का यह भाव पूर्व जैसा न होकर अर्थात् अहं से नियंत्रित न होकर अनुभवातीत सत् से सभी कुछ संबद्ध करते हुए; उसी के नाते, सभी कुछ को स्वीकार करना होगा। जीवन तब यज्ञ रूप हो जायेगा और व्यक्तिगत चेतना भागवती चेतना से आप्लावित होकर सक्रिय हो सकेगी।

एक समग्र दृष्टि के लिए व्यक्ति की निजी चेतना का किसी व्यापक सार्वभौम चेतना में विलय अनिवार्य नहीं है। परिपूर्ण दृष्टि को प्राप्त करने के पश्चात् व्यक्ति अपने अस्तित्व को तो कायम रखता है, पर तब वह अनुभवातीत परिपूर्ण सत्ता के प्रसारण का एक सार्थक केन्द्र ही बन जाता है और संपूर्ण विश्व के उन्नयन के लिए सतत् प्रयत्नशील हो जाता है।[2]

परिपूर्ण सत् की इस दिव्य लीला में व्यक्तिगत चेतना का अपना स्थान एवं अपूर्व योगदान है। अतएव इसका शाश्वत् महत्व भी है।[3] वह सदैव अपने को उस बिन्दु के रूप में प्रस्तुत करती है, जिनके वैविध्य के माध्यम से

---

1. "Individual, universal, transcendental".
2. "The continuation of the illumined individul in the action of the world is an imperative need of the world play". वही, पृष्ठ 38.
3. "The liberated sould extends its perception of unity horizontally as well as vertically. Its unity with the transcendent one is incomplete without its unity with the cosmic many" पुनः "And that bilateral unity translates itself by multiplication, a reproduction of its own liberated state at other points in the multiplicity". लाइफ डिवाइन, पृ. 40.

परिपूर्ण सत् के अनावरण का, आत्म-प्रकाशन का, कार्य प्रारंभ होता है।[1] विश्व-जागृति के इस महती कार्य में व्यक्ति के इस अपूर्व योगदान की कल्पना किसी अन्य 'योग' में नहीं मिलती। इसीलिए अरविंद की दृष्टि से उनका अपना योग ही 'परिपूर्ण योग' कहलाने का अधिकारी है।

विकासोन्मुख चेतना का अंतिम एवं स्थायी पड़ाव : अतिमानस

अरविंद ने 'अतिमानस' की विशद चर्चा की है, क्योंकि सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से इस परिपूर्ण चेतना का विशेष महत्त्व है। मध्यस्थ कड़ी होने के बावजूद, सच्चिदानन्द के जिस रूप को यह चेतना प्रस्तुत करती है, वह हमारे बोध एवं संकल्प दोनों के लिए अभिगम्य है, इसी से ये दोनों अनुप्राणित हैं, इसी की अभिव्यंजना के लिए सतत् प्रयत्नशील हैं और यही उनका अन्तिम पड़ाव भी है। विशुद्ध अनुभवातीत परम सत् को अरविंद परिपूर्ण चेतना के मूल आयाम के रूप में स्वीकार अवश्य करते हैं, पर उसमें मानवीय चेतना के स्थायी रूप से अवस्थित होने की बात नहीं करते।

इस विशुद्ध परमसत् का सर्जना-वृत्ति से युक्त सृजनशील रूप 'अतिमानस' है। जैसा पहले भी कहा जा चुका है, वह एक तथा अनेक के बीच एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है और हमारे व्यक्तिगत एवं सामूहिक विकास की दृष्टि से एक ऐसी महती ऊँचाई प्रस्तुत करता है जिसे प्राप्त करना हमारे लिए असंभव नहीं है और वही अंततः हमारे जीवन का परम लक्ष्य भी है।

अतिमानस की त्रिपादीय अभिव्यंजना की चर्चा करते हुए श्रीअरविंद कहते हैं कि वैविध्य में वितरित होने के बावजूद तीनों में से किसी भी अभिव्यक्ति में एकता के बोध का विलय नहीं होता। प्रथम में विश्व एक शाश्वत् संभावना के रूप में अस्तित्ववान् रहता है, पर क्योंकि वह अभी अभिव्यक्त नहीं हुआ है, इस लिए मूल एकत्व के समर्पण का इस स्तर पर अभिव्यंजन का प्रश्न ही नहीं उठता यही नहीं, इसका स्पष्ट अहसास इस स्तर पर बना रहता है। पर अभिव्यक्ति के द्वितीय स्तर पर एकता इस प्रकार रूपांतरित हो जाती है कि वह वैविध्य के आविर्भाव की पुष्टि करने वाली हो जाती है, यानी वैविध्य में वितरित होते हुए भी एकत्व अपने पृथक् अस्तित्व के

1. "Point of Light at which the intended complete self-manifestation in the Many begins to emerge", वहीं, पृ. 40.

बोध का समर्पण नहीं करता। पर तृतीय में एकत्व संपूर्ण रूप से अनेकत्व में, वैविध्य में, अपने को वितरित कर देता है। पर इस वितरण की भी अपनी विशेषता है, क्योंकि अभी अज्ञान का आविर्भाव नहीं हुआ है। इस कारण अपने सार में एकता सर्वत्र मौजूद है, केवल बाह्य रूप में विभिन्न अभिव्यंजना प्रतीत होती है।[1] अपने प्रत्येक रूप में जीवात्मा से दिव्य सत् के व्यष्टि (Individual Divine) रूप से पोषित है। किसी वास्तविक विभेद का अभी आविर्भाव नहीं हुआ है, केवल आनंद के लिए, लीला के लिए, दिव्य ने व्यावहारिक स्तर पर विभेद को स्वीकार लिया है।[2]

कृष्ण गोपियों की रासलीला में इसी तथ्य की बड़ी भावपूर्ण व्यंजना मिलती है। व्यक्तिगत चेतना परम से अपनी एकता का अहसास रखते हुए व्यावहारिक स्तर पर अपने पार्थक्य को बनाए रखती है।[3]

ये तीनों अभिव्यंजनाएँ एक ही सत् की त्रिपादीय अभिव्यंजनाएँ हैं। और इस स्तर पर भ्रम के आविर्भाव की कोई गुंजाइश नहीं है। इसके पश्चात् अतिमानसिकीय चेतना अपनी द्वितीय सर्जना-शक्ति[4] से जिस प्रकार के वैविध्य का आविर्भाव करती है, उसमें पार्थक्य का बोध मूल हो जाता है और एकत्व का बोध क्षीण ही नहीं बल्कि लुप्तप्राय हो जाता है। इस द्वितीय सर्जना-शक्ति को अरविंद ने निम्न माया कहा है और इसी माया का अतिक्रमण करके तथा प्रथम में अवस्थित होकर ही जीव को अपने सहज रूप को प्राप्त करना है।

इस भ्रम रूप वैविध्य को घोषित करने वाली चेतना तो 'मानसिकीय चेतना' ही है।

मानसिकीय और अतिमानसिकीय का आमूल अंतर

अतिमानसिकीय के विरोध में इसे प्रस्तुत करते हुए श्री अरविंद कहते हैं कि इसे समग्र दृष्टि प्राप्त नहीं है। यह सत् को खंडशः ही ग्रहण करती है और फिर इन खंडों को जिस आकस्मिकता से प्राप्त करती है, उसी आकस्मिकता के साथ उन्हें संयुक्त भी करती है। अतएव उसकी ज्ञान विषयक उपलब्धियों की

1. "Same in soul essence but varying is soul form" लाइफ डिवाइन, पृ. 136.
2. "No essential difference, but only a practical differentiation for the play which would not abrogate the real unity" वही, पृष्ठ 136 और भी देखें, 151.
3. "In this comprehensive knowledge there is no independent centre of existence, no individual separated ego such as we see in ourselves; the whole of existence is to its self awareness an equable extension, one in oneness, one in multiplicity, one in all conditions and everywhere" वहीं, पृ. 129.
4. वहीं, पृ. 131

स्पष्ट सीमाएँ हैं। एकत्व का बोध उसके लिए अधिक से अधिक एक नियामक प्रत्यय ही है।[1] इसी विचार को प्रस्तुत करते हुए अरविंद कहते हैं – मानव।

"मन विश्लेषण एवं संश्लेषण का यंत्र है, वह वास्तविक ज्ञान का यन्त्र नहीं है।"[2]

पुनः वे कहते हैं : "वह कुछ भी यथार्थ में नहीं जानता। वह विषय के अपने ही विश्लेषण को जानता है वह विषय को पृथक्-पृथक् पक्षों तथा विशेषताओं में वितरित करके पुनः उन्हें संश्लेषित कर जिस भी प्रत्यय को उससे प्राप्त करता है, केवल उसी को जानता है।[3]

पाश्चात्य दर्शन के विद्यार्थी मानसिकीय चेतना की इस प्रस्तुति से भलीभाँति परिचित हैं। समकालीन पाश्चात्य दार्शनिकों में ब्रैडले तथा वर्गसां दोनों ही ने बुद्धि की सीमाओं को बड़ी स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है। और वर्गसां ने तो उसे स्पष्टतः ज्ञान प्राप्ति के साधन के रूप में स्वीकार करने से इंकार किया है। उनका अपना विचार है कि मानवीय जीवन में बुद्धि का वही स्थान है, जो निम्न-मानवीय स्तरों में सहजवृत्ति का है। व्यावहारिक जीवन से संबद्ध होने के कारण बुद्धि की प्रवृत्ति मूलतः चयनात्मक है। वह केवल उतना ही जानना चाहती है, जितना तात्कालिक एवं सुदूरवर्ती प्रयोजनों की दृष्टि से अनिवार्य है। अतः तत्त्व मीमांसीय बोध का उसे अधिकार नहीं है।

अरविंद भी तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से मानसिकीय चेतना को अंतिम नहीं मानते अतएव तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से सत्ता को जानने के लिए हमें इसका अतिक्रमण करना होगा। पुनः वे यह भी कहते हैं कि इस अतिक्रमण द्वारा 'मानसिकीय' चेतना निश्चित ही अपनी परिपूर्णता को प्राप्त करेगी।[4] मानसिकीय की इस परिपूर्णता के विषय में या यूँ कहें कि अतिमानसिकीय में अवस्थित होने वाली चेतना के प्रयोजन के बारे में अरविंद कहते हैं कि उसका कार्य मानसिकीय में मात्र अपरिमित विस्तार एवं विकास लाना नहीं है क्योंकि मानसिकीय तथा अतिमानसिकीय में आमूल अंतर है। बावजूद इसके वो कहते हैं कि मानसिकीय

---

1. लाइफ डिवाइन, पृ. 126.
2. "Mind is an instrument of analysis and synttesis, but not of essential knowledge", वही, पृष्ठ 118.
3. "And really it does not know. It knows only its own analysis of the object and the idea it has formed of it by a synthesis of the separate parts and properties that it has seen" वही, पृ. 118.
4. "Mind has to make room for another consciousness which will fulfil mind by transcending it or reverse and so rectify its operation after leaping beyond it; the summit of mental knowledge is only a vaulting board from which that leapcan be taken". लाइफ डिवाइन, पृ. 118.

के लिए अतिमानसिकीय नितान्त बाह्य भी नहीं है। वह उससे व्याप्त है और अंतःप्रेरणा के रूप में अतिमानसिकीय उसमें निरंतर सक्रिय भी है, पर विकास की स्थिति में वह परिक्षीण है और मानसिकीय द्वारा आवृत भी।

एक रुचिकर विवाद : लैंगले तथा मित्रा

श्री अरविंद के यथार्थ मंतव्य को लेकर इस प्रसंग में विद्वानों में रुचिकर विवाद है। वे यह अनुभव करते हैं कि चेतना के इन दोनों आयामों की संबद्धता को उन्होंने दो प्रकार से प्रस्तुत किया हैं। कहीं तो वे दोनों के आमूल अंतर को स्वीकार करते हुए मानसिकीय चेतना की निम्नता एवं सत्य के अनावरण हेतु उसकी अपर्याप्तता को प्रस्तुत करते हैं और इस प्रकार की अभिव्यंजनाओं में वे प्रज्ञा-विरोधी दिखायी देते हैं। किन्तु अन्य स्थलों पर वे उच्चतर चेतना की प्रामणिकता के लिए प्रज्ञा की महत्ता को भी स्वीकार करते हैं।

लैंगले महोदय द्वितीय वृत्ति को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। वे कहते हैं कि यह सही वृत्ति है। विशुद्ध अंतःप्रज्ञा[1] को प्रामाणिक मानना खतरे से खाली नहीं है और न ही वह प्रज्ञा की भाँति हमें अपने प्राकृतिक वातावरण के विषय में इस प्रकार का बोध करा सकती है जो व्यावहारिक जीवन व्यतीत करने के लिए आवश्यक है।[2] पुनः वे कहते हैं कि दोनों चेतनाओं में कोई मूल विरोध हो ही नहीं सकता। मानसिकीय का आविर्भाव एवं उसका विकास अतिमानसिकीय के आविर्भाव के लिए अनिवार्य भूमिका प्रस्तुत करता है। अन्य शब्दों में, वह हमें चेतना के उच्च आयामों में अवस्थित होने के लिए तैयार करता है! वस्तुतः मानसिकीय स्वतः दिव्य को व्यंजित करने वाली चेतना है और इन दोनों की पारस्परिक सम्बद्धता को श्री अरविंद ने बड़ी स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है।

लैंगले के ठीक विरोध में अपने विचारों को व्यक्त करते हुए एस.के. मैत्रा कहते हैं कि अंतः प्रज्ञा मात्र विस्तारित बुद्धि नहीं है। श्री अरविंद के साथ न्याय करते हुए यदि वर्तमान प्रसंग में व्यक्त उनके विचारों को संक्षेप में तथा स्पष्टता के साथ प्रस्तुत करना है तो हमें यही कहना चाहिए कि वे

---

1. अंतःप्रज्ञा शब्द का प्रयोग 'प्रज्ञा' का अतिक्रमण करने वाली या फिर उच्चतर चेतना से है। अतिमानसिकीय शब्द भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। पर श्री अरविन्द में इसके कई प्रारूपों की चर्चा मिलती है।

2. "Only the latter view, it seems to me, can be supported.... It is dangerous, as we have learnt in recent times, to assume that intuition can for man be inerrable, nor can it supply the sort of knowledge of our natural surroundings which it is the proper function of intellectual activity to determine". श्री अरविंद; पृ. 38.

निश्चित ही प्रज्ञा के स्वातिक्रमणीय की बात करते हैं। वे किसी प्रकार की रहस्यमय शक्ति से प्रज्ञा को संबद्ध नहीं मानते जिसके स्पर्श से अंतः प्रज्ञात्मक चेतना जो मूल रूप से निर्जीव एवं शक्तिहीन है, सहसा सजीव एवं शक्तिमान हो उठे।[1]

पुनः अरविंद में विद्यमान प्रज्ञा द्वारा अंतःप्रज्ञा के समर्थन सम्बन्धी कथनों को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि इन प्रसंगों में सम्भवतः वे निम्न अंतःप्रज्ञा यानी मानसिकीय अन्तः प्रज्ञा की बात करते हैं।[2]

वर्तमान प्रसंग पर मैत्रा के विचार उचित प्रतीत होते हैं। वे अरविंद के दर्शन की आत्मा के अनुरूप तो हैं ही, लगता है। इस प्रश्न पर वे संपूर्ण भारतीय दर्शन की आत्मा का भी प्रतिनिधित्व करते हैं।

अपनी पुस्तक 'द रिडल आफ दिस वर्ल्ड' में श्री अरविंद स्पष्ट कहते हैं कि विश्व के गहनतम रहस्यों के साथ प्रज्ञा न्याय नहीं कर पाती। वह केवल सत्य के इर्द-गिर्द तो ही चक्कर लगा सकती है। अतः इतना तो विदित ही हो गया होगा कि केवल चिंतन करने से सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। तब कैसे वह अंतिम ज्ञान दे सकता है जिसको प्राप्त करने पर हम उसी में स्थिर हो जाते हैं।[3]

उपरोक्त से लैंगले महोदय के विचार की सीमा स्पष्ट हो गयी होगी। श्री अरविंद का सम्पूर्ण दर्शन एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में 'अतिमानसिकीय चेतना' को केन्द्र मान कर चलता है और प्रज्ञा तथा उसकी उपलब्धियों की सीमाओं को भी उसी दृष्टि से प्रस्तुत करता है और इसमें कोई संदेह नहीं कि इस दृष्टि से भी मैत्रा के विचार सत्य के अधिक निकट हैं।

पूर्ण योग

अरविंद के दर्शन के सैद्धान्तिक पक्ष की चर्चा के पश्चात् उनके दर्शन के व्यावहारिक पक्ष की भी चर्चा अनिवार्य है। क्योंकि श्री अरविंद के पूर्ण योग

1. "Sri Aurobindo never credits reason with such miraculous powers. It is certainly not his view that reason is a sort of magician's wand, at the very touch of which intuition, which otherwise is a feeble instrument, at once jumps into the supreme truth". स्टडीज़ इन अरविंद, पृ. 129.
2. "Reason is of help to intution when the letter does not rise above the level of mental intution". वही पृ. 130.
3. "It can only range about seeking for truth and catching fragmentary representations of it not the thing itself and trying to piece them together", पृ. 23 पुनः वे कहते हैं "Mere thinking out will not do it, will not give us the final knowledge from which we become what we know". स्टडीज इन अरविंद, पृ. 30.

का अपना व्यावहारिक महत्त्व तो है ही, वह उनके जीवन दर्शन पर भी पर्याप्त प्रकाश डालता है।

इस योग को उन्होंने अध्यात्म योग या अधिमानसिकीय योग कहा है। उनका कहना है कि उनके इस योग में व्यक्ति के सर्वांगीण विकास पर, यानी, सभी शक्तियों एवं पक्षों के एक साथ विकसित होने पर बल दिया जाता है और यह भी कि इस प्रकार के सर्वांगीण विकास द्वारा एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में व्यक्ति उन सभी शक्तियों एवं पक्षों का सहज अतिक्रमण कर लेता है।

जड़, जीवन तथा मानस इन सभी में से प्रत्येक के माध्यम से आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति हो सकती है। पर अरविंद का विशेष बल इन सभी की एकांतिकता के अतिक्रमण पर है, और चेतना के अतिमानसिकीय स्तर पर स्थिर होने पर है। तभी सभी प्रचलित योगों की तुलना में उनके योग को यथार्थ समन्वय की प्राप्ति होगी। वे स्पष्ट कहते हैं : सभी कुछ जो तुम्हें अन्य योगों से प्राप्त हो सकता है, वह सभी इस योग में तुम्हें मिलेगा - पर एक ऐसी अनुभूति के रूप में जिसकी एकांतिकता का विलय हो चुका है। और जो एक परिपूर्ण अनुभूति में रूपांतरित हो चुकी है।।[1]

इस योग की विशेषताओं को प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं –

1. इसमें आरोह एवं अवरोह की दो प्रक्रियायें हैं – साथ ही इसमें एक अंतरंग 'ऊर्ध्वगामी महत्वाकांक्षा' सक्रिय रहती है, जो संपूर्ण व्यक्तित्व की माँग को व्यंजित करती है।
2. इसमें व्यक्ति संपूर्ण रूप से अपने को प्रभु के समक्ष अर्पित कर देता है – इस शिशुवत् विश्वास के साथ कि माँ ! महाशक्ति करेगी। उसके हितों को उससे कहीं अधिक जानती है और उसके हित में जो भी होगा। इस समर्पण के नाते और इसमें निहित उस विश्वास के नाते, जिसे अभी प्रस्तुत किया गया है, व्यक्ति में उन सभी को सहन करने की, जो उसके रूपांतरण के लिए अनिवार्य है, शक्ति एवं साहस होना चाहिए। तभी इस योग की सार्थकता है।

पर प्रत्येक व्यक्ति की सहनशक्ति का स्तर भिन्न होता है, और सीमित भी इसलिए उसे अवतरित होती हुई दिव्य शक्ति से, माँ, महाशक्ति की पावन शक्ति से युक्त होना चाहिए और यह तभी हो सकेगा जब उस शक्ति के प्रति

---

1. "All for that the other Yogas can give three, thou shalt have, but as an experience overpassed, put in its place in the Divine whole and delivered from the inadequacy of an exclusive state or experience". द सुप्रमेन्टल योग, वोल्यूम 17, पृ. 70.

व्यक्ति का समर्पण पूर्ण होगा।

भागवती कृपा का इस योग में अत्यधिक महत्त्व है।[1]

और साधक को सदैव इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि अवतरित होती हुई भागवती शक्ति का कहीं गलत प्रयोग न हो जाय। अवतरित होती हुई भागवती शक्ति यदि हमारे अहं को ही पुष्ट करने लगे तो इस संकट से बड़े संकट की कल्पना ही नहीं की जा सकती। पुनः भागवती शक्ति के प्रति यह समर्पण, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, शिशुवत होना चाहिए।[2]

अरविंद व्यक्तित्व के संपूर्ण परिवर्तन की बात करते हैं। ज्यों-ज्यों हम मानसिकीय स्तर का अतिक्रमण करते जायेंगे और अधिमानसिकीय की दिशा में बढ़ेंगे, हमारे ज्ञान में, व्यवहार में विश्वास एवं प्रतिक्रियाओं में एक आमूल परिवर्तन लक्षित होगा। इसमें कोई संदेह नहीं। अरविंद तो इससे भी आगे बढ़ते हुए एक नवीन 'दिव्यीकृत मानव जाति'[3] की संभावना प्रस्तुत करते हैं। वर्तमान मानव को तो वे एक 'संक्रमणकालीन प्राणी'[4] मानते हैं, पर इसके साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि आज का 'मानव' ही आगामी मानव के आविर्भाव के लिए समुचित आधार प्रस्तुत करता है।

पूर्णतः मुक्त व्यक्ति का चित्र प्रस्तुत करते हुए अरविंद कहते हैं कि वह एक ऐसा व्यक्ति है जो अपने वर्तमान स्वरूप को आमूल रूप से परिवर्तित कर लेता है। पर एक पूर्ण मुक्त व्यक्ति के रूप में वे विदेह मुक्ति की संभावना के स्थान पर वे जीवनमुक्ति की संभावना प्रस्तुत करते हैं। परब्रह्म की अनुभूति मानव विकास की चरम (नियति) तो है, पर उसमें स्थायी रूप से स्थिर होने की वे बात नहीं करते। परब्रह्म में स्थायी रूप से स्थिर होने की तृष्णा तो एक तेजोमय भ्रांति या माया की सात्विक क्रीड़ा है।[5] एक मुक्त का तो विश्व के भीतर ही मुक्त स्थिति में ही जीवन व्यतीत होना चाहिए। विश्व के

---

1. "A descent of the Divine nature can alone divinise the human receptacle". द सुप्रमेन्टल योग, वोल्यमू 17, पृ. 71.
2. "The soul of a child in the arms of the mother". वही, पृ. 72.
3. "A new race of divinised creatures". वही, पृ. 73.
   "The supramental is not only revolution in knowledge or in our power for knowledge. If it is to be complete and stable, it must be a divine transformation of our will too, our emotions, our sensations, all our power of life and its forces, in the end even of the very substance and functioning of our body". वही पृ. 73.
4. "Transitional being".
5. "To lust after becoming Parabrahman is a sort of a luminous illusion or sattwic play of Maya".

बाहर होने का तो उनके योग में प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि यही मुक्त व्यक्ति को प्राप्त ईश्वरीय इच्छा है। अतएव जीवन-मुक्त को पर ब्रह्म की देहरी पर ही अपने को बनाए रखना होगा। अर्थात् स्थायी रूप से स्थित रखना होगा। उस देहरी को पार करने की चेष्टा उसके लिए कोई विशेष सार्थकता नहीं रखती।[1]

इसी प्रसंग में अरविंद परमब्रह्म तथा परमपुरुष के अन्तर को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि दोनों का अन्तर केवल दृष्टिकोण का अन्तर है। प्रथम मूलतः सत् के अनभिव्यक्त रूप को प्रस्तुत करता है और द्वितीय उसके अभिव्यक्त रूप को।

इसी प्रकार अपने अध्यात्म-योग को प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि इस योग का उद्देश्य केवल 'स्व' तक ही सीमित नहीं है। मनुष्य को अपने लिए कुछ भी नहीं करना है। उसे तो भगवती इच्छा को स्वीकार करते हुए उसी के लिए सभी कुछ करना है। और भगवती इच्छा को अभिव्यक्त करने का सीधा अर्थ होगा कि साधक केवल अपने ही जीवन में अपने को सीमित न करे बल्कि संपूर्ण विश्व में दिव्य जीवन के अवतरण के लिए सतत् प्रयत्नशील रहे।[2]

उपरोक्त स्वीकृति के अनुरूप उनके योग में व्यक्तिगत मोक्ष एवं आनंद भी स्वीकार्य नहीं है। वस्तुतः जीवात्मा तो नित्य मुक्त है। अतः बंधन में बंधना और फिर मोक्ष के लिए प्रयत्नशील होना, सभी कुछ उसे दिव्य की लीला ही है। और हमें उसे इसी रूप में स्वीकार भी करना चाहिए।

प्रज्ञावान वह है जो ईश्वर के इस खेल को खेलता है और उसके आदेशों को स्वीकार करता है इस विश्वास के साथ कि कालान्तर में वह स्वयं इस खेल की विधि को अपनी इच्छानुसार बदल दे।[3]

इस दृष्टि से विश्व में 'अशुभ' का कोई अस्तित्व नहीं है। अध्यात्म

---

1. "Has to stand on the threshold of Brahman. But not to cross the threshold". द सुप्रमेण्टल योग, वोल्यूम 17, पृ. 66.

2. "The Upanishads speak of the abolute Parabrahman as "Tat' they say Sat when they speak of the absolute Para Para Brahman." वही, पृ. 69.

   "You can become Para Brahman, you cannot know Para Brahman". वहीं पृ. 65.

3. योग एण्ड इट्स ऐम्स, वाल्यूम 16, पृ. 411.

की इस क्रीड़ा में, प्रत्येक वस्तु एक अनिवार्य कड़ी है जिसके माध्यम से आध्यात्मिक शक्ति अपना अपूर्व खेल खेल रही है। इसी दृष्टि से अरविंद अपने इस योग की अपूर्वता का समर्थन करते हैं।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, इस योग का आरंभ व्यक्ति द्वारा अपने संकल्प के समर्पण द्वारा होता है – 'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'। यही नहीं, व्यक्ति को अपने अंदर होने वाले परिवर्तनों के प्रति एक तटस्थता विकसित करनी चाहिए। और अंत में उसे सभी में ईश्वर की उपस्थिति का स्पष्ट एवं सतत् अहसास भी होना चाहिए। इस अन्तिम अवस्था के अन्तर्गत भी श्री अरविंद तीन अवस्थाओं को पृथक्-पृथक प्रस्तुत करते हैं। पहली अवस्था में व्यक्ति को एक निर्वैयक्तिक सत् के रूप में उसका अहसास होता है – एक ऐसे सत् के रूप में, जो संपूर्ण जगत की सर्वव्यापी पृष्ठभूमि का निर्माण करता है। दूसरी में, वह जगत् में व्याप्त सत् के रूप में अनुभूत होता है और अन्तिम अवस्था में साधक को यह संपूर्ण संसार उसकी दिव्य क्रीड़ा के रूप में दृष्टिगत होता है।

इस अंतिम अवस्था को प्राप्त करने के पश्चात् व्यक्ति के दृष्टिकोण में एक आमूल परिवर्तन आ जाता है। यही विश्व, जो पहले अशिव रूप में लक्षित होता था, अब 'शिव' में रूपांतरित हो जाता है और व्यक्ति स्वयं अपने को भागवती शक्ति के प्रवाह का माध्यम, उसकी सक्रिय अभिव्यंजना का केन्द्र महसूस करने लगता है। इस 'ब्राह्मी स्थिति' की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को दो वस्तुओं का परित्याग करना होगा – प्रथम कर्म फल का परित्याग और द्वितीय कर्म का ही परित्याग।[1]

इस योग की दृष्टि से अरविंद कर्तव्य-पालन के आदेश को भी महत्त्वपूर्ण नहीं मानते। व्यक्तिगत एवं सामाजिक आबंधों से युक्त रहते हुए एक कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति सामान्य व्यक्ति से निःसंदेह श्रेष्ठ होता है, क्योंकि उसमें अहं-केन्द्रिकता पर्याप्त नियंत्रित रहती है। ऐसा व्यक्ति नैतिक प्रतिमान की दृष्टि से निश्चित ही एक अच्छा व्यक्ति होगा पर वह इस योग को प्राप्त करने में सर्वथा असमर्थ होगा। परार्थ एवं नैतिकता से संबद्ध अहं-केन्द्रिकता से भयंकर किसी और चीज की कल्पना करना संभव ही नहीं है।

---

1. योग एण्ड इट्स ऐम्स, वाल्यूम 16, पृ. 419.

पुनः इस योग में व्यक्ति को मुमुक्षत्व के अहंकार से भी अपने को मुक्त करना है।[1] इसके पश्चात् स्वभाव-नियत कर्म नितान्त सहजता के साथ, निर्लिप्त भाव से स्वतः होने लगते हैं और व्यक्ति अध्यात्म की दिशा में सहज रूप से प्रवृत्त हो जाता है।

इस प्रकार श्री अरविंद अपने अध्यात्म-योग के विभिन्न आयामों को प्रस्तुत करते हुए गीता के सनातन योग के अपूर्व पहलुओं की अनेक विशिष्टताओं को प्रस्तुत करते हैं। गीता का 'सिद्ध' अथवा 'पूर्ण पुरुष' ही उनके योग की परम उपलब्धि है। ऐसा व्यक्ति, विश्व के साथ अनिवार्यतः सम्बद्ध होने के कारण, विश्व लीला से अपने को वियुक्त करने की बात कभी सोचता ही नहीं।

और इसमें कोई संदेह नहीं कि उनके योग के विभिन्न पहलुओं में हमें उनके जीवन दर्शन के अनेक पक्ष पर्याप्त स्पष्टता के साथ प्राप्त हो सके हैं। इसीलिए इस प्रस्तुति की दोहरी सार्थकता है।

●●●

1. "You must be free even from the highest satwic aham kara, even from the subtle ignorance of mumuksattva .... then be the Siddha or the perfect man of the Gita". वही, पृ. 426.

अध्याय 9

कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य

व्यक्तित्व एवं कृतित्व

राधाकृष्णन् एवं भट्टाचार्य दोनों ही समकालीन भारतीय दर्शन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। दोनों ही पाश्चात्य दार्शनिक परंपरा से भली-भाँति परिचित थे और उसी के संदर्भ में वे भारतीय दर्शन विशेषतः वेदांत के विचारों की सार्थकता एवं परिपक्वता का समर्थन करते हैं। पर राधाकृष्णन् का दर्शन व्यावहारिक जीवन से संबद्ध दर्शन है। वह विश्व की समस्याओं का गंभीर विश्लेषण एवं उनके निदान को प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हैं, जब कि भट्टाचार्य अंतर्मुखी प्रवृत्ति के दार्शनिक हैं। उनका दर्शन गंभीर एवं परिपक्व विश्लेषणात्मक दृष्टि का परिणाम है। उनकी सूक्ष्म दृष्टि अन्य दार्शनिक दृष्टियों की एकपक्षीयता को ढूँढ निकालती है और उन्हें अधिक व्यापक समन्वयात्मक धरातल पर आने की ओर इंगित करती है। निष्कर्ष की दृष्टि से वे, शास्त्रीय वेदांती दृष्टि के ही पोषक हैं। उनका सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'सब्जेक्ट ऐज़ फ्रीडम' है। कुछ छिटपुट लेख हैं, जैसे - 'द प्लेस ऑफ इनडेफेनिट इन लाजिक', 'द जैन थियोरी ऑफ अनेकान्तवाद', 'सम ऐसपेक्ट्स ऑफ निगेशन', 'द कान्सेप्ट ऑफ फिलॉसफी' आदि। इनके सभी लेखों का संकलन दो खंडों में 'स्टडीज इन फिलॉसफी' शीर्षक के अंतर्गत हुआ है, जो प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स कलकत्ता द्वारा प्रकाशित है।

दार्शनिक जगत को उनके योगदान का महत्त्व बहुत कम ही स्पष्ट हो सका है। क्योंकि उनकी भाषा दुरूह और विचार सरलता से ग्राह्य नहीं हो पाते। समकालीन पाश्चात्य दर्शन में 'फिनोमेनालेजी' के अन्तर्गत 'रिडक्शन' एवं 'ब्रैकेटिंग' की चर्चा मिलती है, जो भट्टाचार्य की दार्शनिक दृष्टि के अत्यधिक निकट आती दिखायी देती है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि समकालीन पाश्चात्य दर्शन की वह एक ऐसी महत्त्वपूर्ण कड़ी है, जो भविष्य में भारतीय तथा पाश्चात्य दार्शनिक दृष्टियों के समन्वय का पथ प्रशस्त करेगी।

भट्टाचार्य ने जिस नवीन ताने-बाने में वेदांत को प्रस्तुत किया है, वह

अपने में एक महती उपलब्धि है। वह इस बात का भी साक्ष्य प्रस्तुत करता है कि वेदांत दर्शन तत्कालीन पाश्चात्य-दर्शन की वैचारिक एवं तकनीकी अपेक्षाओं को पूरी करने में सर्वथा सक्षम है। कांट तथा हुसर्ल-दोनों ही दर्शन के संदर्भ में प्राकृतिक-विधि तथा उससे प्राप्त तथ्यों के अतिक्रमण की बात करते हैं और "अनुभवातीत-विमर्श (Transcendental reflection)" से प्राप्त तथ्यों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। एक भिन्न तकनीक से उपलब्ध ये 'तथ्य' विज्ञान के तथ्यों से भिन्न हैं, इसलिए दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में ये तथ्य एक भिन्न तकनीक की अपेक्षा करते हैं। हुसर्ल की भाँति डॉ. कृष्ण चन्द्र भट्टाचार्य भी कुछ मध्यवर्ती सत्ताओं की बात करते हुए अद्वैत की शुद्ध, विषयी रूप चेतना की बात करते हैं। वह एक स्वतः सिद्ध सत्ता है इसलिए हम उसे अर्थों का बाना नहीं पहना सकते हैं। वह अ-वस्तु-गत सत्ता है, पर इसलिए वह अर्थहीन या बेमानी नहीं है। एक विशिष्ट तरीके से वे उसे व्यक्त करते हुए कहते हैं कि वह "द् सिगनिफिकेन्ट स्पीकेबल है जो मीनेबल से भिन्न है" (The Significant speakable other than the meanable). पर इस सब के बावजूद मेरी दृष्टि में एक प्रश्न तो अनुत्तरित ही रह जाता है। क्या वेदांत को इस प्रकार प्रस्तुत करके हम उसके साथ न्याय कर रहे हैं? क्या इस प्रयोग में अपनायी गयी विशिष्ट विधि के तहत उसके साथ न्याय हो सकता है? अनुभवातीत-विमर्श भी तो अंततः एक विमर्श ही है, चिंतन का एक प्रकार ही है। भले ही वह कितना जटिल क्यों न हो? पर वेदांत की विषयी रूप चेतना तो शुद्ध 'अनुभूति' है। इसीलिए, भारतवर्ष के सभी दर्शन इसे यथार्थ करने के लिए एक साधना-शैली की अपेक्षा करते हैं। पर पाश्चात्य देशों में दर्शन से इस प्रकार की कोई अपेक्षा नहीं है। इसलिए दोनों की भाव-भूमि पृथक होने के कारण, उनकी तुलना करते समय हमें सर्तकता बरतनी ही चाहिए। तुलनात्मक दर्शन की सीमायें हैं। उसे सम-स्तरीय दर्शनों तक ही अपने को सीमित रखना चाहिए। नहीं तो हम सरलता से भ्रान्तियों के शिकार हो सकते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि समकालीन दर्शन की कुछ ऐसी विशेषताएँ थीं। जिनके कारण उनसे तुलनात्मक दर्शन की वृत्ति पर्याप्त पोषित हुई। पर मैं समझती हूँ कि आज इस प्रकार के प्रयासों की कोई आवश्यकता नहीं हैं। हमारा चिंतन हमारी ही संस्कृति के अनुरूप होना चाहिए। क्योंकि हमारी संस्कृति की अपनी कुछ निजी विशिष्टताएँ हैं जो चिंतन तथा व्यवहार दोनों ही दृष्टियों से अपनी पहचान रखती हैं। हमें इन्हें पहचानना होगा और इनकी अपेक्षाओं को पूरा करना होगा। परमहंस रामकृष्ण तथा स्वामी

विवेकानन्द के महती प्रयास के बाद इन्हें नये सिरे से जानना नहीं है; ये तो हमारी चेतना में ही अन्तर्भूत हैं और भीतर से हमें प्रेरित कर रही हैं। बस हमें इनकी आवाज़ को सुनना है।

काँट के अज्ञेयवाद का मूल्यांकन : चेतना के असामान्य आयामों का समर्थन

समकालीन भारतीय दर्शन में कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य नव्य-वेदांत के प्रमुख समर्थक हैं। अन्य समकालीन चिंतकों की भाँति उनके दृष्टिकोण की विशेषता यही है कि उन्होंने वेदांत के निष्कर्षों को पाश्चात्य दार्शनिक चिंतन के संदर्भ में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य कांट के विचारों से विशेष रूप से प्रभावित हैं। अतः उनके निष्कर्षों[1] को एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में स्वीकार करते हुए वे उन्हें एक नवीन मोड़ देने की चेष्टा करते हैं।

अपनी प्रथम क्रिटिक में कांट ने पारमार्थिक[2] एवं संवृत्ति[3] दो प्रकार की सत्ताओं की चर्चा की है। संवृत्ति सत्ता ज्ञेय है, वह सामान्य ज्ञान की परिधि में आने वाली वस्तु है, किन्तु पारमार्थिक सत्ता अतीन्द्रिय होने के कारण सामान्य ज्ञान की परिधि में नहीं आ पाती और इसीलिए अज्ञेय रह जाती है।

वर्तमान संदर्भ में 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग सामान्य ज्ञान के अर्थ में ही किया गया है। सामान्य अर्थ में ज्ञान शब्द इन्द्रियानुभविक[4] ज्ञान का ही पर्याय है। इस ज्ञान की दो प्रमुख विशेषताएँ होती है : प्रथम, वह इन्द्रिय एवं बुद्धि के सहयोग से प्राप्त होने वाली उपलब्धि है। अतः जहाँ इनमें से किसी भी एक तत्त्व का अभाव होता है, वहाँ यह संभव नहीं। द्वितीय – इसमें ज्ञाता-ज्ञेय द्वैत अनिवार्य होता है। जितना ही इन दोनों इकाइयों के स्वरूप में स्पष्टता आती जायेगी, उतना ही इन्द्रियानुभविक ज्ञान की उपलब्धियों में भी निखार आता जायेगा।

इन दोनों विशेषताओं के कारण इन्द्रियानुभविक ज्ञान का एक विशेष

1. कांट के जिन निष्कर्षों को भट्टाचार्य महत्त्वपूर्ण मानते हैं, वे प्रथम क्रिटिक से संबद्ध हैं। कांट की यही पुस्तक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानी भी गई है, पर कांट के विचारों के साथ न्याय करने के लिए उनकी द्वितीय और तृतीय क्रिटिक का भी अध्ययन आवश्यक है।
2. Noumenal.
3. Phenomenal.
4. Empirical.

आयाम होता है और उस आयाम की विशेषताएँ उसकी सीमाओं को भी निर्धारित करती है। यही कारण है कि उस आयाम[1] के स्वर पर जो सत्ता अपने को अभिव्यक्त न कर सके, वह एक सार्थक अर्थ में अचिन्त एवं अज्ञेय ही रह जाती है।

काँट ने पारमार्थिक सत्ता को मूलतः अचिन्त्य एवं अज्ञेय ही माना है। कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य की दृष्टि में इसका प्रमुख कारण यही है कि उन्होंने ज्ञान के, चेतना के इसी आयाम को महत्त्वपूर्ण एवं अंतिम मान लिया था। अतएव कांट का दर्शन अज्ञेयवाद का समर्थन करता है।

किन्तु, ज्ञान एवं चेतना के उक्त आयाम से भिन्न आयामों की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। अन्य आयामों की यह स्वीकृति काँट के लिए भी महत्त्वपूर्ण थी। किन्तु इसकी उपेक्षा करके ही उन्होंने अपने दर्शन को अपूर्ण बना लिया है। इस अपूर्णता को दूर करके भट्टाचार्य अपने को अद्वैतवाद के पर्याप्त निकट ले आये हैं, क्योंकि अद्वैतवाद ने बड़ी स्पष्टता के साथ इन्द्रियानुभूति की सीमाओं को प्रकाशित कर अपरोक्षानुभूति की महत्ता का समर्थन किया है, जिसके माध्यम से सत्ता को उसके यथार्थ रूप में हम ग्रहण कर सकते हैं। अपरोक्षानुभूति के विषय में तो यह भी कहना अनुचित न होगा कि उसके माध्यम से हमें सत् की प्राप्ति हो सकेगी क्योंकि उस स्तर पर सत् और अनुभूति में एक ऐसा अद्वैत होता है कि सामान्य ज्ञान की भाषा में उसे अभिव्यक्त करना कठिन हो जाता है। भट्टाचार्य ने अनुभूति के इस आयाम को स्वीकार ही नहीं किया प्रत्युत् अपने दर्शन में यथासंभव उसके स्वरूप को प्रकाशित करने की भरपूर चेष्टा की है।

निष्कर्षतः वे कहते हैं कि काँट ने उस सत्ता को इसलिए अज्ञेय मान लिया था, क्योंकि वे भी अन्य वास्तुनिष्ठ दार्शनिकों की भांति इन्द्रियानुभविक ज्ञान को ही सही अर्थों में ज्ञान मान लेते हैं। तथा इस संदर्भ में अनुभूति की संभावना को पूर्ण रूप से अस्वीकार कर देते हैं। इसलिए बड़ी सहजता के साथ उन्होंने यह भी स्वीकार कर लिया था कि जो भी सत्ता किन्हीं भी कारणों से इसके माध्यम से अभिगम्य न हो सके, तो वह अज्ञेय ही है।

अतएव काँट के अज्ञेयवाद की पृष्ठभूमि में कार्य करने वाले मूल विश्वास को अनावृत करके, तथा उसके खोखलेपन को सिद्ध करने के पश्चात् वह यह स्थापित करना चाहते हैं कि ज्ञान एवं चेतना के सामान्य से भिन्न आयाम हैं

1. Dimension.

और इन आयामों की स्वीकृति द्वारा ही और इनके माध्यम से ही हम पारमार्थिक सत्ता के अस्तित्व को और उसकी अभिगम्यता को स्थापित कर सकेंगे। अन्य शब्दों में, पारमार्थिक सत्ता को, एक भिन्न प्रकार के आयाम की अपेक्षा है, जिसमें उस सत् की अभिव्यक्ति एवं प्रत्यक्ष हो सकता है। और इसी संभावना को अपने दर्शन के अन्तर्गत वे विकसित करना चाहते हैं।

भट्टाचार्य ने पारमार्थिक सत्ता की अभिव्यक्ति से सम्बद्ध आयामों को केवल सैद्धान्तिक स्तर पर ही स्वीकार नहीं किया बल्कि जीवन के अभिगम्य मनोवैज्ञानिक तथ्यों से उन्हें सम्बद्ध करते हुए उनके आधार पर उनकी उपस्थिति में विश्वसनीयता उत्पन्न करने की चेष्टा की है ताकि वे हमें नितान्त असंभव न प्रतीत हों।

यदि हम ज्ञान के संदर्भ में इन्द्रियानुभविक दृष्टिकोण का अध्ययन करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि ज्ञाता-ज्ञेय का द्वैत इसकी अनिवार्य विशेषता है अनिवार्य इसलिए कि, इसके अभाव में यह ज्ञान संभव ही नहीं है। ज्ञाता एवं ज्ञेय की अपनी विशेषतायें हैं और ये विशेषताएँ परिभाष्य भी हैं।

ज्ञाता चेतना स्वरूप है, चेतना से संयुक्त है और 'ज्ञेय' वह है जिसकी ओर चेतना प्रवाहित है, जिसको ग्रहण करने की चेष्टा में वह सतत् प्रयत्नशील है। संवृत्ति शास्त्र[1], एवं अस्तित्ववादी[2] दृष्टिकोण के अन्तर्गत चेतना की इस विशेषता का पर्याप्त महत्त्व है, इसे 'चेतना की विषयापेक्षा'[3] पद समूह से व्यक्त किया गया है।

ज्ञाता एवं ज्ञेय के मध्य पारदर्शिता जितनी ही बढ़ती जायेगी, उतनी ही इन्द्रियानुभविक ज्ञान की स्पष्टता भी बढ़ती जायेगी। चेतना अपने बोध में जितना निखार लायेगी उतनी ही स्पष्टता के साथ वह वस्तु को, ज्ञान के 'विषय' को स्पष्टता प्रदान करने में सफल हो सकेगी।

आंतरिक अनुभूतियों एवं सुषुप्ति की स्थिति की विशेषज्ञताः निर्विशेष का समर्थन

किन्तु यदि हम इन्द्रियानुभविक दृष्टिकोण का परित्याग कर 'मन' की ओर, आंतरिक अनुभूतियों एवं मनःस्थितियों के अध्ययन की ओर उन्मुख हों, तो हमें उक्त सामान्य विशेषता के साथ एक अन्य विशेषता उभरती हुई दिखाई

1. Phenomenology.
2. Existentialist.
3. Intentionality of consciousness.

देगी। आंतरिक अनुभूतियों के क्षेत्र में, यथा राग, द्वेष, हर्ष, विषाद पीड़ा के क्षेत्र में प्रविष्ट होते हुए हम देखते हैं कि ज्ञाता-ज्ञेय की पारदर्शिता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि हमें उनके बीच सीमा-रेखा बनाये रखना कठिन हो जाता है। विशेष रूप से उन प्रबल अनुभूतियों के सम्बन्ध में जो हमें अन्तस् तक हिला देने वाली होती है ज्ञाता-ज्ञेय की इकाइयों को पृथक् बनाये रखना कठिन हो जाता है। दोनों में एक अपूर्व एक्य स्थापित हो जाता है, और हमारे लिए यह कहना कठिन हो जाता है कि अनुभूति के किस पक्ष को हम ज्ञाता कहें और किसे ज्ञेय।

अतएव मनोवैज्ञानिक जीवन के अनुभूति-प्रधान पक्ष का यदि हम अध्ययन करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि इन्द्रियानुभविक दृष्टिकोण की सामान्य विशेषताओं का यहाँ एक विशेष अर्थ में अभाव है। ज्ञाता-ज्ञेय द्वैत तो किसी रूप में बना रहता है, किन्तु उनके बीच की सीमा-रेखा तिरोहित होती दिखायी देती है।

किन्तु सुषुप्ति की स्थिति का यदि हम अध्ययन करें तो वहाँ सर्वप्रथम हमें चेतना अपने विशुद्धतम रूप में दिखायी देती है। जाग्रत स्थिति में वह सदैव विषयों के सम्पर्क में, विषयों में ही संलग्न दिखाई देती है। हमारी दृष्टि भी चेतना की ओर कम और चेतना जिन विषयों को आलोकित करती है, उनमें अधिक व्यस्त दिखाई देती है। चेतना की ओर तो हमारी दृष्टि बहुत कम जाती है। किन्तु सुषुप्ति की स्थिति में सर्वप्रथम वह विषयों से मुक्त अपने सहज स्वाभाविक रूप में अवस्थित दिखाई देती है। और क्योंकि विषयों का बोध यानी सुनिश्चित तथ्यों का बोध और उस बोध की अभिव्यक्ति भावात्मक अर्थात स्पष्ट निर्णयों के माध्यम से होती है, चेतना की प्रकृति को अभिव्यक्त करते हुए निषेधात्मक रूप में हम यह कह सकते हैं कि न तो वह 'सुनिश्चित' का बोध है और न ही वह भावात्मक निर्णयों के माध्यम से अभिव्यक्त हो सकता है, क्योंकि 'सुनिश्चित' का बोध सीमित तथ्यों का बोध है इसलिए जिस चेतना के माध्यम से वह सम्पन्न होता है उसकी अनुभूति को 'सुनिश्चित के बोध' के रूप में अभिव्यक्त करना उसके स्वरूप के साथ अन्याय करना ही होगा। अन्य शब्दों में, जो विषयों से भिन्न है, उनका आधारभूत अनुभवातीत[1] तत्त्व है, वह स्वयं उसी प्रक्रिया द्वारा, जिसमें एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में वह सम्मिलित होता है, कैसें अभिगम्य हो सकता है। उसको तो एक विशिष्ट प्रकार की निषेधात्मक प्रक्रिया[2]

1. अनुभवातीत (Transcendental) शब्द यहाँ पर इन्द्रियानुभवातीत के अर्थ में प्रयुक्त हो रहा है।

2. इस निषेधात्मक प्रक्रिया पर पर्याप्त प्रकाश भट्टाचार्य ने अपनी पुस्तक एवं लेखों में डाला है।

द्वारा ही जाना जा सकता है और निषेधात्मक निर्णयों के माध्यम से ही उसकी सांकेतिक अभिव्यक्ति संभव है।

पुनः क्योंकि वह अनुभवातीत तत्त्वों अर्थात् विषयों से भिन्न है, उसकी अनुभूति को यदि हम विषयों के बोध से भिन्न बोध के रूप में व्यंजित करें तो संभवतः वह उचित होगा। यही नहीं, क्योंकि विषय-बोध सुनिश्चित-बोध है, और उक्त बोध उससे भिन्न है, अतः उसे 'सुनिश्चित बोध से भिन्न' या फिर निर्विकल्प[1] का बोध कहना ही उचित होगा।

यहाँ पर 'निर्विकल्प बोध' शब्द का स्पष्टीकरण आवश्यक है। सामान्य अनुभव के सन्दर्भ में 'अनिश्चित' का अर्थ है - वह जिसमें सुनिश्चितता आनी है और साथ ही यह आशा भी की जाती है कि विकास की किसी भावी स्थिति में सुनिश्चितता की दिशा में पर्याप्त प्रगति भी की जा सकती है।

किन्तु वर्तमान प्रसंग में 'निर्विकल्प' का एक विशेष अर्थ भी है, जिसमें पूर्व अर्थ का स्पष्ट निषेध है। यहाँ पर इस शब्द द्वारा एक ऐसी अनुभूति को व्यक्त किया जाता है जो विकास की किसी भी अंतिम स्थिति में सुनिश्चितता को नहीं प्राप्त कर सकती। किन्तु केवल इस कारण कि वह सर्वथा 'निर्विकल्प' ही रह जाती है, वह कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं। क्योंकि न उस सत् का जो इस विशेष अर्थ में निर्विकल्प है और न ही उस अनुभूति का जिसमें वह ग्राह्य है, निराकरण संभव है। वह सुनिश्चित बोध का अनुभवातीत निर्धारक है और इसी कारण स्वतः सिद्ध[2] सत्यों में उसकी गणना की जाती है। सामान्य प्रमाणों के आधार पर उसकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं की जा सकती।

अन्य दार्शनिकों का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए भट्टाचार्य कहते हैं कि इन सभी ने किसी न किसी रूप में निर्विकल्प को स्वीकार किया है, किन्तु उसके महत्त्व का अहसास पूर्ण रूप से किसी को भी नहीं हो सका, यही खेद की बात है।

हेगल ने परमतत्त्व के रूप में इसी निर्विकल्प की कल्पना की है, किन्तु उनका परमतत्त्व अंततः 'सविकल्प'[3] का ही प्रारूप है। एक 'मूर्त-सामान्य' के रूप में परमतत्त्व को प्रस्तुत करते हुए उन्होंने 'सर्वाधिक सुनिश्चित' के रूप में ही उसे प्रस्तुत किया है। निर्विकल्प तो उनकी दृष्टि में शून्य ही है।

---

1. Indeterminate; Indefinite.
2. Self-evident facts.
3. Definite; Determinate. Positive.

हेगल को मूल निष्कर्ष कि सत् युक्त ही हैं[1] को कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य स्वीकार नहीं कर पाते। उनकी दृष्टि में जो विचार के माध्यम से, संबंधात्मक चेतना के माध्यम से ज्ञेय है, वह सत् नहीं हो सकता। इस दृष्टि से भट्टाचार्य के निष्कर्ष ब्रैडले के निष्कर्ष के समान ही प्रतीत होते हैं, हालांकि दोनों के निष्कर्षों की पृष्ठभूमि में विद्यमान चिंतन का रूप नितान्त भिन्न है। ब्रैडले की सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक एपीयरेंस एण्ड रियेलटी (आभास और सत्) प्रारंभ से अन्त तक बुद्धि की, उसके विकल्पों की सीमायें प्रस्तुत करती है, साथ ही वह बुद्धि के माध्यम से परम सत् के प्रारूप को भी प्रस्तुत करती है। प्रथम दृष्टि में तो यह असंभव प्रतीत होता है किन्तु ब्रैडले नितान्त सहजता के साथ अपने चिंतन के इन दोनों पक्षों को संबद्ध करते हुए अपने निष्कर्षों को अभिव्यक्त करते हैं।

यथार्थवादी दार्शनिक विषयनिष्ठ दृष्टिकोण की प्राथमिकता के बावजूद चेतना को वस्तु-सत्ताओं से भिन्न मानते हैं। उनके अनुसार ज्ञान की प्रक्रिया (स्वयं) 'ज्ञेय' से भिन्न है, जिसका तात्पर्य यह हुआ कि वह 'अज्ञेय' की भाँति ही ज्ञेय है।[2] और क्योंकि जो 'ज्ञेय' है वह 'सुनिश्चित' है, इसलिए जो 'अज्ञेय की भाँति ज्ञेय है' वह निर्विकल्प है या यूँ कहा जा सकता है कि वह 'अनिश्चित की भाँति ही निश्चित है।[3]

इस प्रकार भट्टाचार्य यह सिद्ध करना चाहते हैं कि यथार्थवादी दृष्टिकोण में भी पृष्ठभूमि में निर्विकल्प का चिंतन उनके विचारों की पृष्ठभूमि में निर्विकल्प का चिंतन बराबर विद्यमान रहता है, किन्तु हमारी दृष्टि क्योंकि प्रमुख रूप से 'विषयों' की ओर ही केन्द्रित रहती है, इसलिए हम व्यावहारिक दृष्टि से उस निर्विकल्प की उपेक्षा करते हैं। अतएव जब हम व्यावहारिक दृष्टि का पूर्णतः परित्याग कर देंगे, तभी हमें उस सत् का एहसास होगा और हम उसके महत्त्व को उचित रूप से समझ सकेंगे। पर यथार्थवाद अपने को व्यावहारिक दृष्टि से

1. 'Real is Rational' सिद्धान्त सामान्यतः दर्शन के इतिहास में और समीक्षकों द्वारा पैनलाज़िस्म (Panlogism) के रूप में ही प्रस्तुत किया गया। किन्तु जिस 'बुद्धि' को पारमार्थिक सत् के रूप में इस सिद्धांत के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है, वह सामान्य 'बुद्धि' नहीं है, जो इन्द्रियों की मध्यस्थता से कार्य करती है। ब्रैडले के विद्यार्थी 'सम्बन्धात्मक चेतना' (relational consciousness) के रूप में उसे जानते हैं, और उसकी पर्याप्त समीक्षा हमें 'आभास और सत् में मिलती है। हेगेल ने भी इसी सम्बन्धात्मक-चेतना को अन्तिम नहीं माना है। जी.आर.जी. मूर में भी इसे (re-immediating thought) के रूप में प्रस्तुत किया गया है।
2. 'Known as unknown'.
3. 'Definite as indefinite' or indefinite.

मुक्त नहीं कर पाता, यहीं उसकी मजबूरी है।

भट्टाचार्य के दर्शन की प्रमुख ध्वनि इसी 'निर्विकल्प' से सम्बद्ध है। यही कारण है कि उनका दृष्टिकोण बहुत से परिचित दार्शनिक विवादों की उलझनों से बच जाता है। तर्कशास्त्रीय संदर्भ में उक्त तत्त्व 'निर्विकल्प' शब्द से अभिव्यक्त होता है और दर्शन के संदर्भ में वह 'परमतत्त्व' या 'परमसत्' शब्दों से व्यंजित होता है। दोनों ही शब्द एक ही सत्ता को प्रस्तुत करते हैं, अन्य शब्दों में, तो हमें इनकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियाँ ही मिलती हैं और कभी-कभी तो इनका प्रयोग भ्रान्तियों को जन्म देता है। इसमें कोई संदेह नहीं।

प्रतीकात्मक विचार

जिस चेतना के माध्यम से उपर्युक्त सत्ता ग्राह्य है, उसे भट्टाचार्य प्रतीकात्मक विचार[1] कहते हैं, और वह सामान्य विचार या चिंतन से भिन्न है। सामान्य विचार में 'ज्ञाता-ज्ञेय' का द्वैत नितान्त अनिवार्य है, किन्तु प्रतीकात्मक विचार में क्रमशः इस द्वैत की विभाजन-रेखा का ह्रास होता जाता है : ज्ञाता और ज्ञेय की सीमायें पारदर्शी होती जाती हैं और अन्त में उनमें एक अपूर्व तादात्म्य स्थापित हो जाता है। वस्तुतः सभी द्वैत उसी मूल अद्वैत से निःसृत तो होते हैं पर उसे किंचित् आवृत भी करते हैं, इसलिए इस द्वैत की उपस्थिति पर अद्वैत की अनुभूति संभव नहीं। पर पृष्ठभूमि के रूप में वह सदैव हमारे साथ, हमारी प्रत्येक गतिविधि में विद्यमान रहता है, इसलिए सामान्यतः हमारी दृष्टि उस ओर नहीं जाती। विशेष प्रयासों द्वारा ही हम उस तक पहुँच पाते हैं, फलस्वरूप सभी संशयों का, सभी समस्याओं का उस परम अनुभूति में समाधान हो जाता है। यह एक ऐसी अनुभूति है जिसमें अवस्थित होने पर सभी जिज्ञासाएँ शांत हो जाती हैं, और उपनिषद् वाक्य 'जिसे जानने के उपरान्त कुछ भी जानने को शेष नहीं रह जाता' – एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में सार्थक हो उठता है। इस प्रतीकात्मक विचार के विषय में किसी प्रकार का संदेह किया ही नहीं जा सकता और न ही इस कारण हम उसे निरर्थक ही मान सकते हैं। वह समस्त आनुभविक चिंतन का आधारभूत सत् है, किन्तु एक ऐसा सत् है जिसकी ओर सामान्यतः हमारी दृष्टि जाती ही नहीं। वर्तमान संदर्भ में भट्टाचार्य एक नवीन तर्कशास्त्र[2] की संभावना को स्वीकार करते हैं। और उनका यह विश्वास है कि तर्कशास्त्रीय जगत् में निश्चित ही यह स्वीकृति क्रान्ति स्वरूप है और पाश्चात्य

1. 'Symbolic thought'.
2. 'Logic of the Indefinite' इसके साथ ही हमें योगी अरविंद की 'Logic of the Inainite' का स्मरण हो आना स्वाभावित है। यह सामान्य तर्क से भिन्न है।

चिंतन में इस प्रकार की संभावना को किसी भी दार्शनिक ने इतनी स्पष्टता के साथ स्वीकार नहीं किया है।

प्रतीकात्मक विचार के क्षेत्र में कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य तीन संभावनाओं को स्वीकार करते हैं। सर्वप्रथम विशुद्ध विचार, जिसमें विचार तथ्यात्मक विषयों की ओर प्रेषित नहीं होता, प्रत्युत् वह संभाव्य विषयों की ओर उन्मुख होता है। जब हम यथार्थ जगत् से सम्बद्ध तथ्यों को विचार का विषय बनाते हैं तब उन तथ्यों से सम्बद्ध निर्णयों का खंडन तथ्यों के आधार पर ही किया जा सकता है। उन तथ्यों के अस्तित्व के विषय में भी हमें संदेह हो सकता है। किन्तु जब उन तथ्यों के अस्तित्व की संभावना के विषय में ही चिंतन होता है, तब इस प्रकार के संशय की तथा खंडन की गुंजाइश ही नहीं रहती।

अतः तथ्यात्क विषयों से सम्बद्ध विचार से निश्चित ही यह विचार भिन्न है। और यह इस बात का प्रमाण है कि हम एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में आनुभविक विचार का अतिक्रमण कर सकते हैं।

पर विषयों की संभावना से विचार में ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत विद्यमान रहता है, किन्तु वह द्वैत स्थूल आनुभविक, इन्द्रियों की मध्यस्थता से किये हुए विचार में उपस्थित द्वैत से भिन्न होता है। विषय के संभाव्य स्वरूप से सम्बद्ध विचार को कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य 'स्ववर्ती विचार'[1] की संज्ञा देते हैं।

विषय के संभाव्य स्वरूप से सम्बद्ध यह विचार जब विषयों से अपने को पूर्णतः मुक्त कर लेता है और अन्तर्मुखी हो जाता है, तब वह 'ज्ञाता' का साक्षात् करता है। विषयों की ओर उन्मुख होना - चाहे वे यथार्थ हों अथवा संभाव्य, विचार की सहज गति है। किन्तु अपने इस नवीन आयाम में विचार विषयों से अपने को पूर्णतः मुक्त कर लेने की सामर्थ्य रखता है। और तभी वह विषयों से मुक्त होकर अपने विशुद्ध 'ज्ञाता' रूप में अवस्थित हो जाता है। देकार्त का चित् तत्त्व इसी सत्ता को व्यक्त करता है। विचार के इसी आयाम को भट्टाचार्य 'मानसिकीय' विषयिनिष्ठता[2] शब्द से अभिव्यक्त करते हैं। विचार के इसी आयाम का एक विशेष महत्त्व है जो भट्टाचार्य के इस निष्कर्ष को बल देता है कि विचार सदैव विषय-केन्द्रित नहीं रहता। वह उसकी सहज, स्वाभाविक, प्राकृतिक स्थिति नहीं है। विषयों से मुक्ति की यह अवस्था इस बात का संकेत है कि पूर्व स्थिति से भिन्न कोई दूसरी स्थिति ही उसकी सहज स्थिति है और विशुद्ध ज्ञाता रूप में उसकी संस्थापना उस दिशा की ओर प्रथम महत्त्वपूर्ण कदम है।

---

1. Self-subsistent-thought.
2. Psychical subjectivity.

पर ज्ञाता रूप में उसकी वर्तमान स्थिति भी सहज नहीं है, क्योंकि अधिक समय तक वह निर्लिप्त नहीं रह पाता, और तुरन्त ही वह किसी न किसी 'विषय' से, चाहे वह सूक्ष्म हो अथवा स्थूल, अपने को सम्बद्ध कर लेता है। किन्तु उसकी यह प्रवृत्ति एक अर्थ में उसके स्वरूप की विकृति ही कही जा सकती है और स्व-प्राप्ति में निश्चित ही बाधक है।

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि ज्ञाता रूप में उसकी यह स्थिति सहज नहीं है। क्योंकि इससे भिन्न रूप में रहने की संभावना उसमें विद्यमान है। उसे अपने ज्ञाता रूप से असम्बद्ध होने के पश्चात् ही अपने यथार्थ, पारमार्थिक तात्त्विक रूप का साक्षात्कार होता है; जिसमें वह केवल विषयों से ही संपूर्णतः मुक्त नहीं होता, अपितु अपने प्रक्षेपित ज्ञाता रूप से भी मुक्त होकर विशुद्ध चेतना के रूप में स्थित हो जाता है। 'ज्ञाता' सीमित तथा सापेक्ष सत्ता है। जो 'ज्ञाता' है, वह ज्ञेय के स्थूल, सूक्ष्म अथवा संभाव्य में से किसी भी एक के साथ अनिवार्यतः सम्बद्ध रहता है। जो 'ज्ञाता' है उसे विषयों से अपने पार्थक्य को सतत् बनाए रखना है। उसके स्वरूप का समर्थन इसी पार्थक्य की मध्यस्थता से होता है। इसलिए वह निर्विशेष नहीं हो सकता।

अतः विषयी जब अपने ज्ञाता रूप से भी विमुक्त हो जाता है तभी वह अपने यथार्थ, तात्त्विक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है जिससे वह अभी तक अनभिज्ञ था। इसी में उसकी स्वतंत्रता है, क्योंकि यही समस्त प्रक्षेपित सत्ताओं से विमुक्ति की स्थिति है। चेतना स्वातंत्र्य-स्वरूप है वही उसका यथार्थ तात्विक रूप है और उसी में स्थायी रूप से अवस्थित होने में जीव का कैवल्य है।

ज्ञाता-ज्ञेय द्वैत के विभिन्न स्तर :
विषयिनिष्ठता के विभिन्न आयामों की प्रस्तुति :

इस प्रकार ज्ञाता-ज्ञेय के विभिन्न स्तरीय द्वैत के माध्यम से भट्टाचार्य परमतत्त्व के यथार्थ स्वरूप को व्यंजित करने का प्रयास करते हैं। जिन विभिन्न रूपों में ज्ञाता-ज्ञेय का द्वैत व्यंजित होता है, उसकी चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि : सर्वप्रथम वह शरीर के स्तर पर और उसमें भी दो रूपों में व्यंजित होता है – सर्वप्रथम विषय-रूप में और तत्पश्चात अनुभूति रूप में। अपने प्रथम रूप में वह अन्य विषयों की भाँति एक विषय मात्र है और अन्य विषयों से अपने पार्थक्य को बनाये रखता है। इस रूप में वह 'ज्ञाता' होकर अन्य विषयों से अपने को पृथक कर लेता है। इस स्तर पर भी ज्ञाता-ज्ञेय का निश्चित द्वैत विद्यमान है। शरीर ज्ञाता रूप में अपने को अन्य वस्तुओं से पृथक कर लेता है। द्वितीय रूप में वह भीतर से ही अपने को अपने से ही पृथक् कर लेता है।

पार्थक्य की यह संभावना भट्टाचार्य के निष्कर्ष की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। ज्ञाता की इस प्रथम अभिव्यक्ति को भट्टाचार्य दैहिक विषयिनिष्ठता[1] कहते है। तत्पश्चात् चेतना मन से, मानसिक वृत्तियों के संघात से, ज्ञाता रूप में एकीकृत हो जाती है और शरीर से उपरोक्त दोनों अर्थों में अपने को पृथक कर लेती है। ज्ञाता के इस स्वरूप को वे मानसिकीय-विषयिनिष्ठता[2] कहते हैं। ह्यूम ने ज्ञाता के इसी रूप को अंतिम माना है और आत्मतत्व को किसी अन्य रूप में स्वीकार करने से स्पष्ट इंकार किया है। वे कहते हैं कि जिसे हम सामान्यतः आत्म-तत्त्व कहते हैं उसका हम जब साक्षात्कार करने का प्रयास करते हैं, तब इन मनःवृत्तियों के अतिरिक्त हमें और कुछ भी नहीं दिखलाई देता। इन मनःस्थितियों की पृष्ठभूमि में उनके लिए, उनके आधार के रूप में किसी स्थायी तत्त्व की कल्पना करना अनुचित है, क्योंकि इन्द्रियानुभव इसका समर्थन नहीं करता। जिन सिद्धांतों ने किसी प्रकार के स्थायी तत्त्व का समर्थन किया है, ह्यूम ने उनकी आलोचना की है।

भट्टाचार्य की दृष्टि ज्ञाता के उक्त रूप को अंतिम नहीं मानती। चेतना का उपरोक्त रूप निश्चित ही महत्त्वपूर्ण है, किन्तु अंतिम नहीं है। क्योंकि 'ज्ञाता' का उपरोक्त रूप ज्ञेय की अपेक्षा करता है। अन्य शब्दों में, इस स्तर पर 'ज्ञाता' और 'ज्ञेय' दो सापेक्ष तत्त्व हैं और इसलिए अपने अस्तित्व और अर्थ दोनों ही दृष्टियों से एक दूसरे की अपेक्षा करते हैं। और इसलिए इनमें से कोई भी एक तत्त्व अंतिम नहीं हो सकता। दोनों ही किसी ऐसे 'सामान्य' की अपेक्षा करते हैं जो पृष्ठभूमि के रूप में इनका अधिष्ठान हो तथा इन्हें संपूर्णता प्रदान करते। अधिष्ठान स्वरूप वह सामान्य न तो 'ज्ञाता' ही हो सकता है और न ही 'ज्ञेय' हो सकता है। और क्योंकि वह दोनों द्वारा समान रूप से अपेक्षित है, इसलिए उसे उसे विषयनिष्ठ तथा विषयि निष्ठ चेतना का अतिक्रमण करने वाली चेतना ही कहना उचित होगा। विषयनिष्ठ तथा विषयनिष्ठ चेतना[3] का अतिक्रमण करने वाली चेतना ही कहना उचित होगा। इसी को आध्यात्मिक-विषयनिष्ठता भी कह सकते हैं।

चेतना का यह रूप महत्त्वपूर्ण भी है और अंतिम भी, क्योंकि इसके लिए किसी भी अधिष्ठान की कल्पना संभव नहीं। यही भट्टाचार्य का परमतत्त्व है, जिसका निषेध किसी भी स्थिति में संभव ही नहीं है।

यहाँ पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि वह क्यों असंदिग्ध है, और

1. Bodily subjectivity.
2. Psychical subjectivity.
3. Trans-subjective-objective or spiritual subjectivity.

उसका निषेध क्यों नहीं हो सकता? प्रत्युत्तर में भट्टाचार्य कहते हैं कि निषेधकर्ता के विलय के पश्चात् कौन संदेह करेगा और किस लिए संदेह करेगा?

उपरोक्त युक्तियों के आधार पर अपने निष्कर्षों को प्रस्तुत करते हुए भट्टाचार्य कहते हैं कि यह 'चेतना' विषयों से और अंततः अपने ज्ञाता स्वरूप से भी अपने को मुक्त कर सकती है, और इस विमुक्ति में ही उसकी परम स्वतंत्रता है। यही नहीं, यह स्वतंत्रता उस चेतना की, आत्मा की कोई स्वतंत्रता 'चेतना' की, आत्मा की आकस्मिक विशेषता नहीं है। प्रत्युत् वह उसी की स्थायी प्रकृति है। जिसमें अवस्थित होकर ही वह स्थायी रूप से संतुष्ट हो सकती है।

विषयी-विषय सापेक्षता का निषेध :

अपनी पुस्तक 'सब्जेक्ट ऐज़ फ्रीडम' में उन्होंने आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप का और अंततः अद्वैत वेदांत के मूल निष्कर्षों का अपनी अपूर्व शैली द्वारा समर्थन किया है।

''एपीयेटन्स एण्ड रियेलटी'' के अंतिम अध्याय ''अलटिमेट डाउट'' में पारमार्थिक सत् के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि उनका दर्शन ''यथार्थवाद एवं प्रत्ययवाद'' दोनों से भिन्न है।[1] जिससे संभवतः उनका मात्र यही तात्पर्य है कि यथार्थवादी और प्रत्ययवादी दोनों ही दृष्टिकोण परम सत् के स्वरूप के साथ न्याय करने में समर्थ नहीं हो सके हैं, क्योंकि उन्होंने 'ज्ञाता-ज्ञेय' द्वैत को ही अंतिम मान लिया है। यथार्थवादी दृष्टिकोण विषयों में ही केन्द्रित मात्र रहता है और प्रत्ययवादी दृष्टिकोण चेतना के ज्ञाता स्वरूप को ही अंतिम और मूल मान लेता है। किन्तु परमसत् इन दोनों रूपों से भिन्न रूप में स्थित है, इसलिए संबंधात्मक चेतना अर्थात् बुद्धि के माध्यम से उसे अभिव्यक्त करने का प्रयास उचित नहीं है।

अपनी पुस्तक में भट्टाचार्य 'विषयी' एवं 'विषय' दोनों की चर्चा करते हुए कहते हैं कि 'विषय' वह है जिसे अर्थ प्रदान किया जा सके जिसकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति अंग्रेजी शब्द 'दिस' (इद्म) द्वारा की जा सकती है। किन्तु इसके विपरीत 'विषयी' एक ऐसी सत्ता है जो अर्थों के जगत् से पृथक् होते हुए भी एक अपूर्व अर्थ में अर्थपूर्ण है।

वह एक 'सार्थक'[2] व्याख्येय है और स-अर्थक सत्ता[3] से भिन्न है।[4]

1. Beyond realism and idealism.
2. Significant speakable.
3. Meanable.
4. "It is the significant speakable other than the meanable".

इसकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति 'मैं' 'तुम' तथा 'वह' सर्वनामों के माध्यम से ही संभव है। इसके अर्थ की सार्थक चर्चा संभव ही नहीं क्योंकि सार्थक सत्ताओं का अंतर्विषय श्रोता एवं वक्ता के लिए समान अर्थ रखता है।[1] किन्तु सर्वनामों की मध्यस्थता से जिस सत्ता को हम अभिव्यक्त करते हैं, वह इस प्रकार श्रोता एवं वक्ता लिए के समान अर्थ रखने वाली नहीं हो सकती। वह एक ऐसी अपूर्व सत्ता है जिसे अर्थों का बाना पहनाया ही नहीं जा सकता। यहाँ एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि तब क्या यह सत्ता अज्ञेय है। प्रत्युत्तर में भट्टाचार्य कहते हैं कि अर्थपूर्ण और सामान्य अर्थों में 'ज्ञेय' न होते हुए भी यह एक अनुभूत सत्ता है अर्थात् अनुभूति का विषय है और निर्णयों में उसकी मात्र एक प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति ही संभव है।[2]

वस्तुतः वह एक ऐसी सत्ता है, जो मूलतः अ-विशिष्ट[3] है। वह इस विशेष अर्थ में अनभिव्यक्त है कि जिन प्रतीकों में अथवा जिन रूपों में वे सामान्यतः अभिव्यक्त होती है, उनसे वह अपना पार्थक्य सदैव बनाये रहती है।

अतएव इस सत्ता का एक दूसरा पक्ष भी है, जिसमें वह विभिन्न स्तरों पर विभिन्न रूपों में अपने को 'प्रक्षेपित' करती है किन्तु प्रक्षेपण[4] द्वारा जिस मूर्तता को वह प्राप्त करती है उसे वह स्वीकार नहीं कर पाती। अन्य शब्दों में, प्रक्षेपण के पश्चात् भी प्रक्षेपित रूप से उसका उससे तादात्म्य स्थापित नहीं होता और उससे पृथक्त्व की अनुभूति ही तात्त्विक दृष्टि से उसके लिए महत्त्वपूर्ण होती है।

इन दोनों सत्ताओं की विशेषताओं की यथासंभव चर्चा करते हुए और उनके पार्थक्य का स्पष्टीकरण करते हुए भट्टाचार्य कहते हैं कि विषय जगत की सत्ताओं को, यानी विषयों को 'विषयी' से पृथक् ही जाना जाता है, किन्तु उसी अर्थ में 'विषयी' को 'विषय' से पृथक् प्रस्तुत करना, उचित नहीं है। दो सापेक्ष सत्ताओं के विषय में कहा जा सकता है कि दोनों एक-दूसरे के संदर्भ में ज्ञेय हैं। किन्तु 'विषयी' और 'विषय' क्योंकि दो समस्तरीय सत्ताएँ नहीं हैं इसलिए इस प्रकार की सापेक्षता की कल्पना उनके विषय में उचित नहीं है। 'विषयी' एक महत्वपूर्ण अर्थ में 'विषयों' का अधिष्ठान है। एक 'विषय' का

1. "Something which is mutally interchangeable between the speaker and the hearer alike".
2. "A felt content is only Symbolized as a judgement".
3. Unspecified.
4. "Projection".

दूसरे 'विषय' से पार्थक्य अर्थपूर्ण है। और इस पार्थक्य की सार्थक चर्चा भी हो सकती है, किन्तु उसी अर्थ में 'विषयी' एवं 'विषय' के पार्थक्य की चर्चा नहीं हो सकती। 'विषयों' को अर्थ से युक्त करने वाला 'तत्त्व' उन विषयों के समकक्ष कैसे हो सकता है?

कांट ने इस अपूर्व तत्त्व को 'अनुभवातीत आधार'[1] शब्द से व्यक्त किया है और स्पिनोजा ने विषय जगत् एवं परमतत्त्व की चर्चा में विकारी सत्ता[2] और द्रव्यात्मक सत्ता[3] की चर्चा की है।

वस्तुतः 'विषयी' स्वयं अपने में ही 'ज्ञेय' है। वर्तमान संदर्भ में 'ज्ञेय' शब्द सामान्य से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वह सामान्य अर्थ में 'ज्ञेय' न होते हुए भी अनुभूत सत्ता है और प्रक्षेपित सत्ताओं से अपने पार्थक्य की – तटस्थता की अनुभूति में ही उसकी तात्विक यथार्थता है।

विषयी के निराकरण की असंभवता :

पुनः दोनों सत्ताओं की चर्चा करते हुए भट्टाचार्य कहते हैं कि ज्ञेय जगत् की सत्ता के विषय में संदेह किया जा सकता है। उसका निराकरण संभव है, किन्तु 'विषयी' की सत्ता का निराकरण किसी भी स्थिति में संभव नहीं है। निराकरण शब्द की सार्थकता भी ज्ञेय-जगत् के अन्तर्गत ही संभव है। एक तथ्य का निराकरण अन्य तथ्यों के आधार पर ही संभव होता है, और एक के निराकरण द्वारा दूसरे की संस्थापना भी होती है, क्योंकि दोनों सत्तायें एक जैसी ही होती हैं। किन्तु वह जो निराकरण की पृष्ठभूमि में विद्यमान है, जो निराकरण को संभव बनाने वाला आधारभूत तत्त्व है, उसका निराकरण किस प्रकार और किसके द्वारा संभव है? पुनः सामान्य विचार की भाषा में उक्त सत्ता अचिन्त्य[4] कही जा सकती है किन्तु क्या वास्तव में वह अचिंत्य है और क्या उसके लिए यह भी कहना उपयुक्त होगा? 'अचिन्त्य' शब्द का प्रयोग तो उस सत्ता के लिए ही किया जा सकता है जिसके निराकरण की कल्पना और प्रयास दोनों ही संभव हों और जो उक्त प्रयास के पश्चात् ही 'अचिंत्य' ठहरायी गयी हो। किन्तु 'विषयी' तो एक ऐसी सत्ता है, जिसके निराकरण की कल्पना और प्रयास दोनों ही असंभव हैं।

---

1. "Transcendental ground".
2. "Modal reality".
3. "Substantive".
4. "Inconceivable".

निष्कर्ष स्वरूप वे कहते हैं कि 'विषयी' एक ऐसी सत्ता है जिसका अन्तर्विषय अपूर्व एवं अविश्लेषणीय है और जो सार्थक विश्व से पृथक् होते हुए भी एक विशेष अर्थ में समझी जाती है और उसमें विश्वास भी किया जाता है।[1]

तत्त्वमीमांसा की असंभवता का समर्थन :
अनुभवातीत मनोविज्ञान के महत्त्व का प्रतिपादन :

पुनः वे कहते हैं कि इस सत्ता की तत्त्व-मीमांसा भी[2] संभव नहीं क्योंकि तत्त्व-मीमांसा में सत्ता के ज्ञेय स्वरूप को स्वीकार करते हुए उसी के स्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाता है। तत्त्व मीमांसा के उद्देश्य को प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि वह एक ऐसी सत्ता के विषय में अनुसंधान है, जिसे अर्थपूर्ण समझा जाता है।[3]

ऊपर के खंडों से पर्याप्त स्पष्ट हो गया होगा कि वह सत्ता ज्ञेय विश्व के अन्तर्गत आने वाली सत्ता नहीं है, इसलिए उसके ज्ञेय स्वरूप को प्रमुखता देने वाला अध्ययन व्यावहारिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हुए भी तात्विक दृष्टि से सर्वथा अनुचित है।

कृष्णचंद्र भट्टाचार्य तत्त्व-मीमांसकों की आलोचना प्रस्तुत करते हैं, क्योंकि उनका दृष्टिकोण मूलतः वस्तुनिष्ठ ही होता है। अतः 'विषयी' के स्वरूप के साथ न्याय करना उनके लिए संभव नहीं है। वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण के परित्याग के उपरांत ही यह आशा की जा सकती है कि हम 'अंतर्निरीक्षण'[4] द्वारा सत् के यथार्थ स्वरूप को प्राप्त कर सकेंगे।

भट्टाचार्य परमसत् के विषय में उपनिषद्-वाक्य 'ज्ञेय एवं अज्ञेय' से परे[5] का समर्थन करते हैं। वह 'ज्ञेय' और 'अज्ञेय' दोनों प्रकार की सत्ताओं का अतिक्रमण करने वाला सत् है। यही कारण है कि जिन बौद्धिक प्रक्रियाओं द्वारा 'ज्ञेय' की विशेषताओं का समर्थन होता है और 'अज्ञेय' की 'अज्ञेयता' सिद्ध की जाती है, उनके माध्यम से इसे जाना भी नहीं जा सकता।

---

1. "It is a unique and an unanalysable content from which all that is meant is distinct and yet is understood and unquestioningly believed".
2. Metaphysics.
3. "It is an enquiry into reality conceived as meanable". सब्जेक्ट ऐज फ्रीडम पृ. 58.
4. "Introspection".
5. "Beyond the known and the unknown".

वर्तमान संदर्भ में प्रश्न स्वाभाविक है कि तब किस प्रकार उसके अस्तित्व का हमें बोध होता है? वह किस विशेष बोध के अंतर्गत अभिगम्य है? प्रत्युत्तर में वे कहते हैं कि अर्थबोध विषयक सामान्य चेतना तथा रहस्यवादियों के अंतर्बोध संबंधी प्रत्यक्ष दोनों से निश्चित ही वह भिन्न है। इन दोनों के बीच आने वाला वह एक विशेष बोध है, जिसे विश्वास[1] शब्द से व्यक्त किया जा सकता है।

सामान्य मनोविज्ञान के अंतर्गत भी 'विश्वास' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस संदर्भ में वह सामान्य बोध से निम्न प्रकार का बोध माना जाता है। अतः इस 'विश्वास' का समर्थन एवं निराकरण भी उक्त बोध के आधार पर ही किया जाता है, किन्तु वर्तमान संदर्भ में 'विश्वास की विश्वसनीयता' सामान्य बोध की विश्वसनीयता से श्रेष्ठ है। वह एक ऐसी विश्वसनीयता को व्यंजित करता है, जिसका खंडन संभव नहीं है, क्योंकि वह तार्किक प्रामाणिकता की परिधि के अंतर्गत आने वाला तथ्य नहीं है।

इस विशेष बोध की चर्चा करते हुए जिसके माध्यम से हम विषयी का साक्षात्कार कर सकते हैं, भट्टाचार्य कहते हैं, "वह एक व्याख्येय अंतर्विषय (speakable content) में विश्वास रखने वाली चेतना है, जिसका निषेध कोई अर्थ नहीं रखता और जो इसी कारण स्वयं भी कोई अर्थ नहीं है।"[2] ऐसे 'विषयी' के बोध की संभावना जिस अध्ययन के अन्तर्गत स्वीकार की जाती है, उसे सही अर्थों में ज्ञान-मीमांसा कहते हैं और अंततः वह अनुभवातीत मनोविज्ञान के अंतर्गत एक खंड विशेष ही है।

निष्कर्षतः वे कहते हैं कि 'तत्त्वमीमांसा' एवं 'ज्ञानमीमांसा' अपनी प्रकृति की दृष्टि से दो विशेष दृष्टिकोणों से नियंत्रित हैं। तत्त्वमीमांसा विषयनिष्ठ है और विषय जगत की प्रकृति का अध्ययन उसकी विशेषता है, किन्तु ज्ञान मीमांसा उस अंतर्मुखी प्रकृति का परिणाम है, जिससे नियंत्रित होकर हम क्रमशः वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण और अंततः उससे संबद्ध पूर्वाग्रहों से सम्पूर्णतः मुक्त हो सकते हैं।

अनुभवातीत मनोविज्ञान इसी विमुक्ति का सूचक एवं परिणाम है। अनुभवातीत मनोविज्ञान सामान्य मनोविज्ञान से भिन्न है, क्योंकि उसकी रुचि मनः वृत्तियों एवं उनसे संबद्ध शारीरिक प्रतिक्रियाओं का विषय रूप में अध्ययन

1. "Belief".
2. "It is the believing awareness of a speakable content, the negation of which is unmeaning and which therefore is not a meaning" — सब्जेक्ट ऐज फ्रीडम, पृ. 18.

करने में है। किन्तु विषयों की पृष्ठभूमि में कार्य करने वाली प्रक्रियाओं से वह अनभिज्ञ रहता है; विषय रूप में प्रस्तुत मनःवृत्तियों के सूक्ष्मतम विश्लेषण में ही उसकी विशेष रुचि रहती है। किन्तु 'विषयों' की अनुमति में ही एक ऐसा पक्ष विद्यमान रहता है जो विषय रूप में ज्ञेय नहीं है। इस पक्ष की ओर ध्यान जाते ही बोध की एक ऐसी संभावना उभरने लगती है, जो इंद्रियानुभविक न होते हुए भी बोध की परिधि में आने वाली संभावना है।

अपने विचारों का स्पष्टीकरण करते हुए भट्टाचार्य कहते हैं कि प्रत्येक विषय-बोध 'विषयी' की अपेक्षा करता है। 'विषयी' से विषय की संबद्धता अन्य ज्ञेय संबद्धताओं से भिन्न होते हुए भी अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण है। इसी तथ्य को यदि ज्ञानमीमांसा की भाषा में व्यक्त करें तो यह कहा जा सकता है कि 'विषयी' के लिए अस्तित्व[1] विषयों की एक सामान्य विशेषता है, किन्तु वह एक ऐसी विशेषता है जिसकी अपनी अनभिज्ञता तथा मूलतः व्यावहारिक रुचि के कारण सामान्यतः उपेक्षा करते है।

इस संबद्धता की पृष्ठभूमि में वे रचनात्मक कार्य हैं[2] जो अनुभवातीत विमर्श के माध्यम से ज्ञेय होते हैं। अनुभवातीत होने के कारण ये सामान्य अर्थ में ज्ञेय नहीं है। इस अनुभवातीत तत्त्वों की स्वीकृति के साथ और इनकी अज्ञेयता के बोध के साथ हम विषयनिष्ठ वृत्ति को अंतिम मानने के पूर्वाग्रह से सरलता से मुक्त हो सकते हैं।

कांट की दार्शनिक दृष्टि की श्रेष्ठता एवं अपर्याप्तता :

इन रचनात्मक कार्यों को कांट ने स्वीकार किया था यही उनके दर्शन उत्कृष्टता थी। इन तीनों[3] की चर्चा उन्होंने क्रम से अपनी तीनों क्रिटिक्स में की है। ज्ञान-मीमांसा का संबंध इन तीनों में से मात्र प्रथम ही से है।

कॉट की अन्तर्दृष्टि सही दिशा में थी। इन रचनात्मक कार्यों की महत्ता को उन्होंने अनुभवातीत विमर्श के माध्यम से व्यक्त करने की चेष्टा की है। अपनी प्रथम क्रिटिक में उन्होंने सर्वप्रथम विषय-जगत् के आधारभूत तत्त्वों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया। यही कारण है कि उनका दर्शन 'अनुभवातीत

1. "Existence for a subject".
2. "Constructive functions" इसके लिए "subjective-functions", शब्द का भी प्रयोग हुआ है।
3. सैद्धांतिक, व्यावहारिक तथा सौंदर्यात्मक बोध विषयक रचनात्मक कार्य।

दर्शन'[1] कहलाया। दर्शन के क्षेत्र में यह एक महत्त्वपूर्ण क्रांति थी। किन्तु इन अनुभवातीत तत्त्वों की ओर उन्मुख होते हुए भी उन तत्त्वों तथा उनसे संबद्ध तथ्यों को उन्होंने उचित रूप में प्रस्तुत नहीं किया। अनुभवातीत तत्त्वों में महत्त्वपूर्ण एवं अन्तिम तत्त्व विषयी है जिसको उन्होंने 'अज्ञेय' घोषित किया। यही उनके दर्शन की सबसे बड़ी भूल थी और यह इस बात की ओर स्पष्ट संकेत करता है कि कांट विषयनिष्ठ दृष्टिकोण का संपूर्णतः परित्याग करने में सफल नहीं हुए। यही कारण है कि कांट के दर्शन में ज्ञान-मीमांसा आध्यात्मिक मनोविज्ञान की एक भूमिका मात्र बनकर रह गयी। वह उसके अन्तर्गत स्वीकृत एवं समन्वित एक महत्त्वपूर्ण पक्ष-विशेष नहीं बन पाया। इस मूल का विश्लेषण करते हुए भट्टाचार्य कहते हैं कि कांट की मूल रुचि क्योंकि विषयनिष्ठ जगत में ही थी, इसलिए उस जगत की अंतिम, अनिवार्य, अनुभवातीत स्थितियों को अनावृत करने में ही वे सफल हो पाये। अन्य शब्दों में, क्योंकि उनकी रुचि मूलतः "नॉलेज ऑफ द आब्जेक्ट" में प्रयुक्त ऑफ शब्द के अर्थ के स्पष्टीकरण में ही केन्द्रित थी।[2] अतएव रचनात्मक कार्यों तथा संबद्ध तथ्यों की स्वीकृति एक संदर्भ विशेष में ही हुई, इस कारण ज्ञेयता के विषय में किसी अन्य संभावना को स्वीकार करना उनके लिए संभव ही न था। यही कारण है कि रचनात्मक कार्यों की स्वीकृति में तथ्यों के जिस महत्त्वपूर्ण पक्ष की चर्चा होनी चाहिए थी, उन्हीं की अवहेलना हुई है अन्य शब्दों में, उन तथ्यों को सामान्य रूप से ज्ञेय न मानते हुए भी उन्हें बोध की किसी असामान्य व्यापक परिधि में लाने का कोई भी प्रयास कांट के दर्शन में देखने को नहीं मिलता।

कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य इन अनुभवातीत तत्त्वों को बोध की व्यापक परिधि में लाते हुए कहते हैं कि वे अज्ञेय होते हुए भी ऐसे तत्त्व हैं जिनमें हम 'विश्वास' करते हैं। कांट ने 'विश्वास' को बोध के एक महत्त्वपूर्ण आयाम के रूप में स्वीकार नहीं किया। एक यथार्थवादी दार्शनिक की भाँति उन्होंने इंद्रियानुभविक ज्ञान को ही बोध के एकमात्र आयाम के रूप में स्वीकार किया। यही कारण है कि जो तथ्य उक्त आयाम के अंतर्गत स्वीकृत न हो सके, उन्हें उन्होंने 'अज्ञेय' ही माना।

---

1. "Transcendental Philosophy".
2. "Epistemology is to Kant not so much a branch of transcendental psychology as a prolegomena to it, concerned not with the presentation of subjective fact but with the meaning of the preposition 'of' in 'knowledge of object', the facthood of which is implicity taken for granted". सब्जेक्ट एज़ फ्रीडम, पृ. 35-36.

भट्टाचार्य कहते हैं कि यदि किसी तथ्य को हम स्वीकार करते हैं और साथ ही यह भी अनुभव करते हैं कि वह सामान्य बोध की दृष्टि से 'अज्ञेय' है तो उसे केवल इस आधार पर 'अज्ञेय' मान लेना पर्याप्त नहीं है। वस्तुतः इस स्थिति को हमें एक चुनौती के रूप में स्वीकार करना चाहिए और इस बात के लिए कटिबद्ध हो जाना चाहिए कि हम बोध के उस आयाम को जान लें जिसके अन्तर्गत वह अभिगम्य होगा। इस चुनौती को दुर्भाग्यवश काँट ने स्वीकार नहीं किया पर इसी चुनौती को स्वीकार करते हुए भट्टाचार्य कांट के दर्शन को एक नवीन मोड़ देना चाहते हैं।

अनुभवातीत तथ्यों की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि वे मात्र विषयिनष्ठ[1] नहीं हैं, क्योंकि उन्हें इस प्रकार विषयिनिष्ठ कहने में यथार्थवादी दृष्टिकोण को और उससे संबद्ध पूर्वाग्रहों को भी मान्यता देनी होगी। यथार्थवादी दृष्टिकोण विषय की ज्ञेयता को ही एकमात्र ज्ञेयता के रूप में स्वीकार करता है। किन्तु अध्यात्मवादी दृष्टिकोण यथार्थवाद के अन्तर्गत स्वीकृत संपूर्ण विषय-जगत् को स्वीकार करता हुआ उसकी पृष्ठभूमि में विद्यमान तथ्यों को अनावृत करता है। इन तथ्यों की स्वीकृति द्वारा यथार्थवादी दृष्टिकोण नवीन अर्थ से अभिरंजित हो उठता है, किन्तु इस विशेष अर्थ एवं ध्वनि को उसकी संपूर्णता में अपने पूर्वाग्रहों के कारण वह ग्रहण नहीं कर पाता।

सामान्य बोध के अर्थ में ये तथ्य ज्ञेय न होते हुए भी बोध के एक भिन्न आयाम में निश्चित ही अनुभूत होते हैं।

भट्टाचार्य विषयनिष्ठ बोध को अंतिम नहीं मानते। इस बोध का अपना स्वभाव है और उससे उद्भूत सीमाएँ भी। इसके अंतर्गत प्रामाणिकता का एक निश्चित अर्थ है। इसी को व्यावहारिक जीवन में हम अंतिम मान लेते हैं, किन्तु जिस प्रकार उक्त बोध की सीमाएँ हैं, उसी प्रकार उस बोध से संबद्ध प्रामाणिकता की भी सीमाएँ हैं। तर्कशास्त्र का इसी प्रामाणिकता से संबंध है। किन्तु तर्कशास्त्रीय प्रामाणिकता[2] से भिन्न प्रामाणिकता का एक अन्य रूप भी है जो स्वतः सिद्ध सत्यों में अभिव्यक्त होता है। प्रामाणिकता का यह स्वतः सिद्ध रूप तार्किक प्रामाणिकता से श्रेष्ठ है क्योंकि जिस सत् प्रामाणिकता को वह अपनी परिधि में लाता है, उसका निराकरण असंभव है।

अतएव यह कहा जा सकता है, कि रचनात्मक प्रक्रिया तथा उससे संबद्ध संपूर्ण विषय-जगत का अज्ञेय पक्ष अंततः विषयी स्वयं है, जो ज्ञेय न

1. Subjective.
2. Logical validity.

होते हुए भी अज्ञेय नहीं है। भट्टाचार्य अपने विचारों को अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं कि जब तक किसी भी वस्तु के बारे में वार्तालाप संभव है, और उसमें विश्वास व्यक्त किया जा सकता है, तब तक उसे केवल इस कारण नितांत अज्ञेय नहीं कहा जा सकता है कि वहाँ पर यथार्थ ज्ञान की किसी अनिवार्य स्थिति का अभाव है।[1] पुनः वे कहते हैं कि यदि अपने स्वरूप में वस्तु या तर्कबुद्धि से किसी प्रत्यय के स्वरूप के बारे में बातचीत की जा सकती हो, तो वह अज्ञेय के रूप में तो ज्ञेय है ही। और क्योंकि यथार्थ ज्ञान को संभव बनाने वाले दो तत्त्वों में से किसी भी एक का यहाँ पर अभाव है, इसलिए जो ज्ञान प्राप्त है, उसमें सन्देह व्यक्त करने का हमें कोई अधिकार नहीं है, यानी अज्ञेय की ज्ञेयता के विषय में संदेह व्यक्त करने का हमें कोई अधिकार नहीं है।[2]

किसी भी वस्तु की ज्ञेयता को स्थापित करने की चुनौती के विषय में वे कहते हैं, किसी भी वस्तु को अज्ञेय मानने के पहले हमें यह जानने का प्रयास करना चाहिए कि उसकी ज्ञेयत की स्थितियाँ क्या हैं? यदि अन्य स्वीकृत ज्ञान की स्थितियों का वहाँ अभाव है तो वह भी वस्तुतः हमारे लिए एक चुनौती है कि हम अपनी ज्ञानमीमांसा को दोहरायें। पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं हैं कि हम अज्ञेय के उस ज्ञान को ही स्वीकार कर लें जिसने उस चुनौती को प्रस्तुत किया है।

अप्रात्यक्षिक ज्ञान की विशिष्टता
विचार के एक नवीन आयाम की ओर संकेत :

इन अनुभवातीत तथ्यों की उपस्थिति का प्रथम संकेत हमें अप्रात्यक्षिक ज्ञान में[3] मिलता है और अप्रात्यक्षिक ज्ञान के भिन्न-भिन्न रूपों में इनका प्रारूप भी भिन्न होता है। अप्रात्यक्षिक ज्ञान के विभिन्न रूपों की चर्चा करते हुए वे शरीर के आंतरिक बोध, वस्तु के अभाव का बोध, स्मृति, कल्पना एवं अनुमान

1. "So long as anything can be "spoken of and believed, it is not to be regarded as totally unknown on the ground of some factor of actual knowledge being wanting". सब्जेक्ट एज़ फ्रीडम पृष्ठ 79.
2. "If the thing-in-itself or an idea of Reason is spoken of and believed, it is already known as unknown, and because of the two factors of actual knowledge-thought and intution, either is wanting in this case, one has no right to doubt such knowledge as is already there or, what amounts to the same thing, to doubt the knowability of the unknown". वही, पृष्ठ 79.
3. Non-perceptual knowledge.

आदि को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इन सभी में हमें 'विषयों' का स्पष्ट बोध होता है किन्तु वह बोध 'प्रत्यक्ष' से निश्चित ही भिन्न होता है। अप्रात्यक्षिक बोध का यदि हम अध्ययन करें तो हमें इसमें दो पक्ष स्पष्ट उभरते हुए दिखायी देंगे। पहला तो वस्तु का ज्ञेय पक्ष है जो सामान्य ज्ञान की प्रक्रिया के माध्यम से जाना जाता है, और दूसरा वह पक्ष है जिसकी वस्तु रूप में प्रस्तुति कभी संभव ही नहीं है। प्रत्येक विषय, अन्य शब्दों में, विषयी से रचनात्मक प्रक्रिया के माध्यम से आंतरिक रूप से संबद्ध रहता है। इस आंतरिक संबद्धता के पक्ष को विषयों की भांति, उनके ज्ञेय पक्ष की भाँति जाना नहीं जा सकता। किन्तु ज्ञेय न होते हुए भी उनकी तथ्यात्मकता के विषय में हमें कोई संदेह नहीं होता। वे अज्ञेय होते हुए भी ज्ञेय है। इस अज्ञेय पक्ष को हम अपने चिंतन में अन्य पक्षों से पृथक् कर सकते हैं और पृथक् किये हुए इस पक्ष को भट्टाचार्य 'मानसिक तथ्य'[1] कहते हैं।

प्रत्येक अप्रात्यक्षिक बोध में उक्त तथ्य की अनुभूति संभव है। वे इसे द्वितीय श्रेणी का प्रवहमान अपकर्षण[2] कहते हैं। वर्तमान संदर्भ में 'प्रवहमान' शब्द से उनका अभिप्राय मात्र इतना है कि यह मानसिक तथ्य 'विषय' की किसी अनिवार्य विशेषता को व्यंजित नहीं करता। अन्य शब्दों में वे यह कहना चाहते हैं कि इसके अभाव से भी विषय की कल्पना संभव है। 'द्वितीय श्रेणी' शब्द से वे मानसिक तथ्यों की स्वपर्याप्तता का निषेध करते विषयों से अनिवार्यतः और आंतरिक रूप से संलग्न होने के कारण उनके स्वतंत्र रूप की कल्पना असंभव है। किन्तु विषयों में ही उनके पृथक रूप की कल्पना कर सकते हैं। और जिस विचार की प्रक्रिया की मध्यस्थता से वे अभिगम्य होते हैं, उन्हें भट्टाचार्य विशुद्ध विचार[3] की संज्ञा देते हैं। इन तथ्यों की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि इनमें विषयों के अस्तित्व में विश्वास निहित रहता है चाहे वह विश्वास ज्ञान अथवा अनुभूति दोनों में से किसी भी एक से क्यों न संबद्ध हो? उक्त विश्वास के साथ विषयनिष्ठ तथ्यों का ज्ञान भी इसमें सम्मिलित रहता है। वस्तुतः विषयनिष्ठ तथ्यों पर किये हुए अंतर्निरीक्षण के आधार पर ही इन आधारभूत तथ्यों के अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है। यह विश्वास ज्ञान की भूमिका है। वह ज्ञान की पूर्व-स्थिति के आगे है। इन दोनों स्थितियों की तुलना करते हुए भट्टाचार्य कहते हैं कि पूर्व-स्थिति में 'विश्वास' और संबद्ध विषय में तीव्र भेद नहीं होता किन्तु जब 'विश्वास' के पश्चात् 'ज्ञान' की स्थिति का

1. Psychical fact.
2. 'Floating abstraction of second-degree'.
3. Pure thought.

अवतरण होता है, तब इन दोनों का विभेद पर्याप्त स्पष्टता के साथ अभिव्यक्त होता है। ज्ञान की स्थिति में उक्त मानसिक तथ्य पुरोधान[1] का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। 'पुरोधान' तथा 'मानसिक तथ्य' दो विभिन्न स्थितियों के द्योतक हैं पर इन दोनों की समान विशेषता यही है कि विषयों से संबंध होने के बावजूद ये विषय रूप में ज्ञेय नहीं हैं। किन्तु इन्हें विषयनिष्ठ प्रतीकों से ही व्यंजित किया जाता है, यही कारण है कि इनकी 'तथ्यता' के विषय में हमें भ्रांति हो सकती है।

अतएव जिन प्रतीकों की मध्यस्थता से इनकी अभिव्यक्ति होती है, उनसे इनके पार्थक्य का सदैव ध्यान रखना चाहिए।

'मानसिक तथ्यों' तथा 'पुरोधान' की प्रस्तुति के साथ यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे भी तथ्य हैं, जिन्हें अभिगम्य बनाने के लिए विचार के एक सामान्य से भिन्न आयाम की संभावना को स्वीकार करना नितान्त आवश्यक है। विशुद्ध विचार के माध्यम से विषयों के इस अज्ञेय, अपरिभाष्य पक्ष का बोध हमारे लिए संभव होता है। और इस पक्ष विशेष की दृष्टि से वस्तु अथवा विषय एक ऐसा अर्थ है जिसका चित्रांकन संभव नहीं।[2] अन्य शब्दों में वह एक ऐसा पक्ष है, जिसे चित्रों अथवा चित्र-प्रतीकों की मध्यस्थता से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता और यदि उसे अभिव्यक्त करने की हम चेष्टा भी करें तो उस अभिव्यक्ति द्वारा उसकी प्रकृति एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में अनभिव्यक्त एवं अपरिभाष्य ही रह जायेगी।

विशुद्ध विचार की प्रकृति की अभिव्यक्ति करते हुए भट्टाचार्य कहते हैं कि उक्त विचार में अंतर्विषय की अकल्पनीयता का और इसी के साथ विषयनिष्ठता की असंभवता का हमें स्पष्ट बोध होता है। विषय से अनिवार्यतः संबद्ध होने के बावजूद उक्त विचार में सर्वप्रथम वस्तुनिष्ठता के निषेध की संभावना व्यंजित होती है।[3]

निम्नस्तरों के बोध में भी यथा, शरीर की आंतरिक अनुभूति की स्थिति में भी 'विषय' के इस 'अन्य' पक्ष का हमें बोध होता है, किन्तु इतनी स्पष्टता के साथ नहीं। पर विशुद्ध विचार के स्तर पर इस बात का हमें स्पष्ट अहसास

1. Presentation.
2. "An unpicturable meaning" — "Picturable metaphors and symbols may be used to fix the identity of such meaning and for purposes of easy communication but they do not help to define or elaborate it" — वही, पृ. 145.
3. It is "the awareness of the unimaginability of its specific content", is the awareness of its objectivity being impossible and thus involves a complete datachment from objectivity. Thought is still about the object but it is of something about the object that is definitely unobjective.

होता है और यदि फिर भी हमें उसे हम विषय के साथ संयुक्त मानते हैं, विषय के ही ज्ञेय पक्ष विशेष से संबद्ध मानते हैं, तो भी इसकी पृष्ठभूमि में यह विश्वास अवश्य सक्रिय रहता है कि विषय से संबद्धता के बावजूद उसका विषय-रूप आभास मात्र ही है।[1]

किन्तु विचार कितना भी विशुद्ध क्यों न हो, कितनी भी स्पष्टता के साथ वह विषयों से अपनी तथा अपने अंतर्विषय की पृथकता को क्यों न स्थापित कर लें, अंततः वह अनुभवातीत अंतर्निरीक्षण से तादात्म्य स्थापित करने में सर्वदा असमर्थ है। अन्य शब्दों में, वह विषयों से संबद्ध होने के कारण 'पुरोधान' मात्र है[2] और विषयी की अपेक्षा करता है।

कांट तथा हेगल के दर्शन की यही मूल भ्रांति थी। उन्होंने विशुद्ध विचार को सत् से एकीकृत कर दिया था। विषयी की तुलना में विशुद्ध विचार भी मूलतः विषयनिष्ठ ही है - चाहे विषयों से वियोजित करके ही वह क्यों न अपने को परिभाषित कर रहा हो?

'अनुभूति' के स्वरूप पर प्रकाश : विषयनिष्ठता का क्रमशः विलय :

विशुद्ध विचार की विषयनिष्ठता को प्रतिपादित करने के पश्चात् भट्टाचार्य 'अनुभूति'[3] की चर्चा करते हैं। 'अनुभूति' शब्द यहाँ पर सामान्य से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अनुभूति की दो स्थितियों की चर्चा की गयी है। किन्तु विशुद्ध विचार की भाँति अनुभूति निषेधात्मक नहीं है। अनुभव में वह सदैव भावात्मक ही रहती है। इसमें विषयनिष्ठता का नितान्त अभाव है। और उसके अंतर्विषय को किसी भी प्रकार से, किसी भी रूप में अर्थ नहीं प्रदान किया जा सकता है। पुनः अनुभूति एवं अंतर्विषय में एक अपूर्व तादात्म्य रहता है। यदि बलात् हम उस अंतर्विषय को पृथक प्रस्तुत करें भी तो वह केवल उसका

---

1. "If it is still said to be something in the object, it is understood to be what appeared as objective, what the object was not distinguished from in the lower stages". वही, पृ. 146.
2. "Much of mysticism in Kantian - Hegelian Philosophy has sprung from the confusion of thought with pure subjective activity, of reason with spirit, Compared with the awareness of 'I' thought is objective and objective in its very dissociation from objectivity. It has still to be characterized in reference to the object as what the object is not". वही, पृ. 149.
3. 'Feeling'. वर्तमान प्रसंग में भावना शब्द का भी प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु सामान्य से भिन्न अर्थ में। सुषुप्ति की स्थिति में चेतना निषेधात्मक रूप में भी विषयों से संबद्ध नहीं रहती जैसा कि विशुद्ध विचार की स्थिति में रहती है।

प्रतीकीकरण ही होगा और इस प्रकार प्रस्तुत अंतर्विषय को अनुभूति अपने अंतर्विषय के रूप में कभी भी स्वीकार न कर सकेगी।[1] अपने विचार व्यक्त करते हुए भट्टाचार्य कहते हैं : 'अभिप्रेत भावना को पृथक करने का अर्थ यही है कि हम अन्तर्विषय को मात्र प्रतीक के रूप में ले रहें।[2] पुनः वे कहते हैं कि 'भावना में स्पष्ट अन्तर्विषय का अन्तर्निरीक्षण का अर्थ है भावना का इस प्रकार अर्थ द्वारा प्रतीकीकृत करने की अनिवार्यता का अतिक्रमण करना। और इस बात को जान लेना कि भावना का अपने अतिरिक्त और दूसरा कोई अर्थ नहीं है।'[3] भावना की द्वितीय स्थिति में तो अंतर्विषय के प्रतीकीकरण की प्रवृत्ति की निरर्थकता एवं असंभवता का उसके भ्रामक स्वरूप का स्पष्ट बोध होता है साथ ही यह भी बोध होता है कि अंतर्विषय किसी अन्य माध्यम से व्यक्त हो ही नहीं सकता। किन्तु उक्त बोध में भी अंतर्विषय को अर्थ प्रदान करने की वृत्ति सूक्ष्मरूप में विद्यमान रहती है। इस वृत्ति का निराकरण अनुभूति की द्वितीय स्थिति की विशेषता है।

इसी संदर्भ में कल्पित तथा काल्पनिक वस्तु की चर्चा करते हुए भट्टाचार्य कहते हैं कि कल्पित विषयों के बोध में वस्तु के अस्तित्व में अविश्वास होता है पर इसके बावजूद उसे बोध का एक विशेष प्रकार तो ही कहा जायेगा। किन्तु इस प्रकार के बोध के अन्तर्गत भ्रामक वस्तु की भ्रामकता का एहसास प्रमुख नहीं है। अर्थात् इस बोध में भ्रामक वस्तु में अविश्वास के अन्तर्गत वस्तु की भ्रामकता प्रमुख नहीं होती प्रत्युत सत् का एहसास ही प्रमुख एवं केन्द्रीय होता है। अन्य शब्दों में, भ्रम के निराकरण के पश्चात् जो सत्ता अवशिष्ट रह जाती है, वह सत्य-असत्य के सामान्य बोध में आने वाली सत्ता नहीं है। भ्रम का निराकरण एक ऐसी सत्ता का एहसास है, उसका साक्षात्कार है जो सत्य-असत्य की परिधि में आ ही नहीं सकती। वह वैधता के सामान्य प्रत्यय का अतिक्रमण करने वाली सत्ता है।[4]

---

1. "The distinction of feeling from its presentative content is appreciated as definitely not known but only felt and symbolized. The content as presented is recognised to be not its content". सब्जेक्ट एज़ फ्रीडम, पृष्ठ 155-56.
2. "To distinguish a feeling from the menat content is to view the content as mere symbolism". वही, पृष्ठ 156.
3. "Explicit introspection into feeling means only outgrowing the necessity of thus, symbolizing feeling by meaning & recognizing that feeling does not mean anything but itself". वही, पृष्ठ 157.
4. "Disbelief in the illusory object is not knowledge of its falsity but the awareness of what cannot be asserted or denied to be true. When this 'indescribable' content is altogether rejected, there is knowledge not of falsity but of self". वही, पृ. 164.

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि भावना (feeling) के ये दो पक्ष वस्तुनिष्ठता से चेतना की क्रमशः विमुक्ति की दो निश्चित स्थितियाँ हैं। प्रथम में वह अपने प्राकृतिक रूप में अवस्थित हो जाती है। द्वितीय में वह अपने इस स्वरूप का भी अतिक्रमण कर देती है।[1] इन दोनों को क्रम से आत्म-अनुभूति की स्थिति तथा आत्म-निषेध की स्थिति कहते हैं।

अंतर्निरीक्षण का स्वरूप एवं उसकी अन्तिमता का समर्थन : अर्थवत्ता का संपूर्ण निषेध :

विचार से अपने को पृथक करने के उपरांत ही वह अपने स्वरूप को एक विशेष प्रकार की सुनिश्चितता प्रदान करती है। किन्तु द्वितीय स्थिति में वह अपने इस स्वरूप का अपने व्यक्तित्व का भी वह विलय कर देती है। व्यक्तित्व के समर्पण की यह स्थिति निषेधात्मक ही है और इसकी पृष्ठभूमि में विद्यमान चेतना विशुद्ध विषयी-स्वरूप है, अर्थात् एक ऐसी सत्ता है जिसके अर्थ के विषय में प्रश्न उठाया ही नहीं जा सकता। इसे अंतर्निरीक्षण[2] कहते हैं और इसका पुनर्निरीक्षण संभव नहीं है।[3] अनुभूति का यह द्वितीय रूप जिसमें वह अपने व्यक्तित्व को समर्पित करती है स्वयं एक अनुभूत सत्ता है। और अंतर्निरीक्षण की अपेक्षा करती है। किन्तु स्वयं किसी अंतर्निरीक्षण का विषय नहीं हो सकता।[4] अंतर्निरीक्षण भावात्मक है। इसमें मात्र अर्थवत्ता का अभाव नहीं है, प्रत्युत अर्थवत्ता की असंभावना को भी स्वीकार करना अनिवार्य है। किन्तु अर्थवत्ता का एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में अतिक्रमण करते हुए वह शून्य नहीं है, प्रत्युत वह एक ऐसी सत्ता है जिसका किसी भी स्थिति में निराकरण संभव नहीं है। उसके विषय में तो निराकरण का प्रयास ही संभव नहीं है।[5]

वह स्वतः सिद्ध सत् है जिसकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति सर्वनामों की मध्यस्थतां से ही संभव है। किन्तु उक्त सर्वनामों की मध्यस्थता से अभिव्यक्त

1. इन दोनों के लिए 'Feeling of self-being' और 'feeling of self-negation' का प्रयोग किया गया है।
2. Introspection.
3. Introspection into this introspection.
4. "Introspection proper is not the object of further introspection" सब्जेक्ट एज़ फ्रीडम, पृ. 167.
5. "Self-negation in feeling, of feeling is still a felt being, existent knowledge rather than the function of knowing. Introspection is complete dissociation from felt being and is the pure knowing function". वही, पृ. 169.

होने के बावजूद उनकी अर्थवत्ता से वह किसी भी प्रकार संबद्ध नहीं होती। यही उसकी अभिव्यक्ति की विशेषता है। अन्य शब्दों में, उसकी अभिव्यक्ति सर्वनामों की अर्थवत्ता से नहीं प्रत्युत स्वयं सर्वनामों के माध्यम से ही संभव है। अपने विचार व्यक्त करते हुए भट्टाचार्य कहते हैं : अपने को 'मैं' कहने वाला वक्ता शब्द के अर्थ से नहीं बल्कि स्वयं उस शब्द से समझा जाता है। 'पुनः वे कहते हैं' यहाँ पर शब्द का कार्य अर्थ व्यंजित करने का है पर यहाँ पर उसका अपना कोई अर्थ नहीं है। यहाँ पर उसका कार्य अंतर्निरीक्षण को अभिव्यक्त करने का या यूँ कहे 'मैं' को व्यंजित करने का कार्य है।[1]

अर्थवत्ता एवं अर्थकार्य शब्दों के दो आयामों के अंतर को स्पष्ट करते हुए भट्टाचार्य कहते हैं कि विषयी रूप चेतना की अभिव्यक्ति का शब्द के द्वितीय पक्ष से संबंध है। और सर्वनाम तो अपनी अर्थवत्ता से मुक्त होकर ही उस सत्ता की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति में सफल हो सकते हैं, अन्यथा नहीं।

सत्ता के इस रूप की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति निश्चित ही शब्दों के एक सामान्य से भिन्न आयाम द्वारा ही संभव है। सामान्यतः भाषा और उसमें आने वाले सभी शब्द अपनी अर्थवत्ता के माध्यम से ही सार्थक होते हैं किन्तु वर्तमान प्रसंग में 'मैं' सर्वनाम अपनी अर्थवत्ता के समर्पण के पश्चात् ही सार्थकता प्राप्त करता है। 'अचिंत्य' को चिंतन के माध्यम से अभिव्यक्त करना संभव नहीं है। अतएव भाषा को अपनी सामान्य ध्वनि का, शब्दों को अपनी अर्थवत्ता का, समर्पण करना ही होगा। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए भट्टाचार्य कहते हैं : कि 'अनमीनेबल' शब्द की भाँति 'मैं' शब्द भी भाषा के एक ऐसे प्रयोग को प्रस्तुत करता है जो चिंतन से भिन्न है। प्रथम में तो वह चिंतन की असमर्थता व्यंजित करता है किन्तु द्वितीय में तो वह निषेधात्मक ध्वनि भी विद्यमान नहीं रहती।[2]

सर्वनाम 'मैं' में अर्थकार्य[3] के दो प्रारूपों की चर्चा करते हुए भट्टाचार्य कहते हैं कि वक्ता के लिए तो वह उसके अंतर्निरीक्षण को सूचित करता है,

---

1. "To mean not merely the conscious absence but the conscious impossibility of meaning is the pure function of subjectivity, the function of introspection that is not objective even in the form of the meant unmeanable. It is the positive of which the negation is not even tried to be meant". वही, पृ. 172.
2. Like the word unmeanable, the word I illustrates a use of language other than for purposes of thinking, the former being still the expression of an inability to think while the latter has not even the negative reference to thought. वही, पृ. 181
3. Meaning function.

किन्तु श्रोता के समक्ष तो वह उक्त अंतर्निरीक्षण की संभावना को प्रस्तुत करने वाला होता है।

पुनः वे कहते हैं कि इन सर्वनामों की मध्यस्थता से सत्ता स्वतः अपने को प्रकाशित करती है। यह कहना ही अधिक उचित होगा कि वह स्वतः प्रकाशमान है।[1] शब्द प्रतीक तथा अभिव्यक्त सत्ता में तादात्म्य स्थापित हो जाता है और उनका द्वैत क्रमशः अपूर्व अद्वैत में परिवर्तित हो जाता है। और ऐसी स्थिति में यह कहना भी अनुचित ही है कि शब्द-प्रतीक सत्ता का सूचक चिह्न है। शब्द में सत्ता स्वतः मूर्तमान हो उठती है और शब्द सत्ता की उपस्थिति से सजीव हो उठता है। ऐसी स्थिति में उसे मात्र शब्द-प्रतीक कहना उचित नहीं है। सत्ता के इस स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए भट्टाचार्य कहते हैं : वर्तमान प्रसंग में 'शब्द किसी ऐसी सत्ता के लिए प्रयुक्त होता है, जो दोनों के लिए समान रूप से सरलता से अभिगम्य है, पर अपने माध्यम से शब्द न तो किसी अर्थ को व्यक्त करता है और न ही, किसी सत्ता को वह प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति ही प्रदान करता है। अंतर्निरीक्षण की संभावना को यथार्थ करने वाले व्यक्तित्व के माध्यम से शब्द एक साथ सत्ता को प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करता है और स्वयं शब्द रूप में सार्थकता प्राप्त करता है। श्रोता उसे मेरे प्रतीक के रूप में लेता है या वक्ता के रूप में 'मैं' उसे प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करता हूँ या यूँ कहूँ कि उसमें अपने को मूर्तमान करता हूँ। ये सभी वस्तुतः सही कथन हैं और क्योंकि वह एक साथ ही दोनों हैं – प्रतीक भी और वह सत्ता भी जो उसके माध्यम से प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति पाती है, यह नहीं कहा जा सकता कि उसका केवल प्रतीकात्मक कार्य ही है।'[2]

अविशिष्ट विशुद्ध परम सत् : अनुभवातीत प्रतिगमन की अंतिम कड़ी :

इस अनुभवातीत प्रतिगमन[3] की अंतिम कड़ी की चर्चा करते हुए भट्टाचार्य कहते हैं कि स्वतः अपने आप को प्रकाशित करने वाली इस सत्ता में पारदर्शिता के बावजूद एक विशिष्ट प्रकार की विशिष्टता भी है। 'मैं' सर्वनाम में व्यंजित सत्ता विशिष्ट होकर ही अपनें को अन्य इकाइयों से पृथक् रूप से व्यंजित करती है।

इस विशिष्टता के अतिक्रमण की संभावना को भी स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि पूर्व कड़ियों के अध्ययन के आधार पर यह स्पष्ट हो चुका है कि अनेक अवसरों पर विषयिनिष्ठ पर्यायों[1] से सायुज्यता स्थापित करने के

1. वही, पृ. 180.
2. वही, पृ. 183-184.
3. Transcendental Regress.

पश्चात विषयी रूप चेतना ने उसकी भ्रामकता का अनुभव करते हुए अपनी मुक्ति का समर्थन किया है।

'मैं' सर्वनाम में भी परमसत् विषयिनिष्ठ पर्याय विशेष से आवृत दिखाई देता है, अतएव इस आवरण से भी उसे मुक्त होना है और 'मैं' रूप इस विषयिनिष्ठ पर्याय विशेष से मुक्ति ही उसकी अर्थात् विषयी रूप चेतना की यथार्थ मुक्ति होगी।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अंतर्निरीक्षण उस परम निर्विशेष सत् को विशिष्टता प्रदान करने वाला है। किन्तु इस विशिष्टता का भी उसे अतिक्रमण करना है तभी विशुद्ध परम स्वातंत्र्य रूप में वह स्थायी रूप से अवस्थित हो सकेगा। अपने इस रूप में वह स्वतः-प्रामाण्य[2] ही नहीं प्रत्युत स्वतः-प्रत्यक्ष भी है।[3] यही उसका अपना तात्त्विक स्वरूप है, जिसे किसी प्रकार की अर्थवत्ता प्रदान करना भ्रामक है।

उसकी इसी विशिष्टता को व्यक्त करते हुए भट्टाचार्य कहते हैं कि 'विषयी एक ऐसी स्वतंत्रता है जो यथार्थ और किसी भी विषयनिष्ठ कोटि के माध्यम से व्यक्त नहीं हो सकती – पृथकत्व की कोटि के माध्यम से भी नहीं।[4]

किन्तु सत्ता के विषय में अर्थवत्ता की असंभवता को स्वीकार करते हुए यह नहीं कहा जा सकता है कि वह नितान्त शून्य है। वह भावात्मक है[5] और साथ ही विशेष अर्थ में सर्वाधिक सार्थक भी।

---

1. Subjective modes. "The possibility of such a silent self enjoying 'I' is intelligible only because we are aware of certain subjective modes previously appropriated but as utterly inappropriable and as accordingly appearing only as though they were distrinct. The absolute intuitable self is only understood if the non-being of distinction is understood". सब्जेक्ट एज़ फ्रीडम, पृष्ठ, 191.
2. Self-evidencing.
3. Self-evident "the 'I' that is evident to itself and not merely to another, that does not like the individual I create a distinct subjective mode by distinguishing, to resume it by identifying and proclaiming this resumption again by speaking in the first person to another possible person". वही, पृष्ठ, 190.
4. "The subject is understood as freedom that is real and is characterized by no objective category, not even the category of distinctness". वही, पृ. 190.
5. "Introspective awareness of oneself is awareness of the subject as not only not ojective in the sense of being or thought or meant but also as what cannot be said to have the being of feeling nor to be contradictory like the feeling of the want of a feeloing nor even to be distinct like the subject to which it reveals itself. At the same time it is not awareness of a mere negation or of an indefinite". वही, पृष्ठ 196-197.

भट्टाचार्य तथा प्रो. ए.सी. मुकर्जी

भट्टाचार्य का दार्शनिक दृष्टिकोण प्रो. मुकर्जी के दृष्टिकोण से पर्याप्त सदृशता रखता है। "कंटेम्पोरेरी इण्डियन फिलासफी" में अपने लेख में प्रो. मुकर्जी भट्टाचार्य के निष्कर्षों का समर्थन करते हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान एवं सत्ता दोनों के संदर्भ में उन तत्त्वों को स्वीकार करना जिनकी विषयरूप में प्रस्तुति न हो सके नितांत आवश्यक है। और इन तत्त्वों की स्वीकृति द्वारा निश्चित ही ज्ञानमीमांसा एवं तत्त्व मीमांसा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाया जा सकता है। वस्तुतः इन क्षेत्रों में उनकी स्वीकृति द्वारा एक नूतन निर्माण होना चाहिए[1], ऐसा उनकी विश्वास है।

वर्तमान प्रश्न पर अपने विचार व्यक्त करते हुए प्रो. मुखर्जी कहते हैं कि अनुभववादी दृष्टिकोण में हमें इन तत्त्वों की स्पष्ट अवहेलना मिलती है। अनुभववादी दृष्टिकोण जिस मूल भ्रान्ति पर आधारित है उसे वे "अनुभवातीत दृष्टिहीनता[2] यही कारण है कि विषयी, जो अनुभवातीत तत्त्वों में अंतिम तत्त्व है, को वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण के माध्यम से अभिव्यक्त करना असंभव है।[3] किन्तु वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण के तहत अभिगम्य न होते हुए भी, वे अज्ञेय नहीं है। प्रो. मुखर्जी अज्ञेयवाद की आलोचना करते हुए कहते हैं कि आत्मा अर्थात् विशुद्ध विषयी विषयनिष्ठ दृष्टिकोण से अग्राह्य होते हुए भी शून्य नहीं है। वह एक भावात्मक सत् है लेकिन उसे निर्विशेष सत् के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए।[4]

---

1. "Epistemology and metaphysics need a fundamental reconstruction on the basis of the important recognition of the unobjectifiable factors in knowledge and reality."
   सजेशन फॉर नएन आइडयलिस्टिक थियरी ऑफ नॉलेज "कंटेम्पोररी इंडियन फिलास्फी", पृ. 451.
2. Transcendental blindness.
3. It is the "centre of an indefinite number of concentric circles, each periphery being occupied by one class of objects" द इगोसेन्ट्रिक पैराडाक्स, द फिलॉसिफिकल क्वाटरली, वोल्यूम VIII, पृ. 24.
4. It may be "negatively defined as that which is diametrically opposed to an object it has none of the characteristics which belong to the objects. But this must not be interpreted as leading to the doctrine that the Absolute is pure nothing a mere thing-in-itself in the Kantian sense. The agnostic's reality is in fact a self-contradictory reality". नेचर ऑफ सेल्फ, पृ. 269.

दोनों दार्शनिकों ने परमसत् को सामान्य ज्ञान की परिधि में न आने वाले सत् के रूप में स्वीकार किया है। ज्ञेय सत् व्यावहारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होते हुए भी, तात्विक दृष्टि से आभास ही है। इस निष्कर्ष का समर्थन ब्रैडले ने भी अपूर्व विश्वास के साथ एपीयरेन्स एण्ड रियेल में व्यक्त किया है।

प्रो. मुकर्जी तथा प्रो. भट्टाचार्य दोनों ने ही कांट के अज्ञेयवाद का विरोध करते हुए कांट के दर्शन को एक नवीन मोड़ देने की चेष्टा की है। साथ ही दोनों ने हेगल के परमसत् की तीव्र आलोचना भी की है। अपने विचारों को व्यक्त करते हुए प्रो. मुकर्जी कहते हैं कि परमसत् 'विशिष्ट'[1] है और इसी कारण वह अपरिभाष्य है, क्योंकि जो परिभाष्य है उसे परिभाषा की न्यूनतम माँग को पूरा करना चाहिए। विपरीततः जो परिभाषा की न्यूनतम माँग को पूरा करने में असमर्थ है वह अनिवार्यतः अपरिभाष्य ही है।[2]

किन्तु अपरिभाष्य होते हुए भी वह स्वतः प्रकाश्य एवं स्वतः प्रत्यक्ष है। अतः सैद्धान्तिक रूप से उसकी अज्ञेयता का समर्थन निश्चित ही भ्रामक[3] है। पुनः वे कहते हैं कि परमसत् के इस स्वरूप का समर्थन अनिवार्यतः अभिव्यक्ति की निषेधात्मक विधि से संबद्ध है। पर इस निषेधात्मक विधि के साथ उपनिषद् में एक दूसरी विधि को भी अपनाया गया है जिसमें क्रम से अध्यारोपण के पश्चात् आरोपित सत्ता का निषेध किया जाता है।[4]

इन विधियों के प्रयोग की अपनी सार्थकता है। क्योंकि इनके द्वारा एक ऐसी सत्ता की अभिव्यक्ति संभव होती है जो अभिव्यक्ति के सामान्य माध्यम यथा शब्द एवं विचार से अभिव्यक्त नहीं हो पाते।

परमसत् की निर्विशेषता के समर्थन के साथ ही हेगल के सिद्धांत की भी इस दार्शनिकों द्वारा तीव्र आलोचना हुई है। हेगल ने 'आत्म-चेतना'[5] को अंतिमता प्रदान की है किन्तु 'आत्म-चेतना' के प्रत्यय में द्वयर्थकता के कारण दर्शन के क्षेत्र

---

1. "Kant could not catch the self and turned round and round it in a perpetual circle, because he wanted to catch it, like the empiricist as a definable object". वही, पृ. 174.
2. "Once, therefore, it is admitted that consciousness is suigeneris, it must also be conceded that it cannot be denied in the same way". वही, पृ. 271 – इसी प्रसंग पर देखिन पृ. 280 और 309 भी।
3. वही, पृ. 311.
4. "A figurative superimposition followed by subsequent negation". देखिये, नेचर ऑफ सेल्फ, पृ. 352.
5. Self-consciousness.

में इससे भ्रांति का आविर्भाव हुआ है। हेगल के अनुसार 'आत्म-चेतना' मूल एवं प्राथमिक है, किन्तु निर्विशेष सत् के समर्थकों के अनुसार 'आत्म चेतना' स्वतः विसंगतियों से युक्त होने के कारण अंतिम नहीं हो सकती।[1]

हेगल की दृष्टि में आत्म-चेतना (Self consciousness) मूल एवं प्राथमिक होते हुए भी निरपेक्ष नहीं है अर्थात् अपनी अर्थवत्ता के लिए उसे विषयों की, संपूर्ण विषय-जगत् (Concrete universal) की अपेक्षा है। यही कारण है कि उनके दर्शन में परमसत् को एक मूर्त-सामान्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है। परमसत् आत्म-चेतना स्वरूप है और विषय जगत् को उसकी संपूर्णता में अपने में आत्मसात् किये हुए है। आत्म तत्त्व अनात्म पर और अनात्म आत्म तत्त्व पर निर्भर हैं और इन दोनों का परमसत् की संपूर्णता में महत्त्वपूर्ण योगदान है। यही हेगल की सापेक्षता का सिद्धान्त है। इसी को विषयी-विषय सोपक्षता का सिद्धान्त भी कहते हैं।

पर दोनों ही दार्शनिक हेगल के इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं। उनकी दृष्टि में जिन तत्त्वों का समर्थन हेगल करते हैं उनमें से किसी भी एक तत्व को दूसरे से पृथक करते हुए उसे अंतिमता नहीं प्रदान की जा सकती है। यदि वे दोनों सापेक्ष हैं तो वे दोनों अधिष्ठान के रूप में किसी व्यापक सत्ता की अपेक्षा करते हैं, जो कम से कम उन दोनों में से कोई भी एक तत्त्व नहीं है। न वह तथाकथित आत्म तत्त्व है और न ही अनात्म तत्त्व। उसे हम अ-विशिष्ट ही कह सकते हैं। और इसी रूप में वह दोनों का अधिष्ठान हो सकता है। परमसत् हो सकता है। इस प्रकार आत्म-तत्त्व की अंतिमता पर प्रश्न चिह्न लगाते हुए प्रो. मुकर्जी निर्विशेष परमसत् को अंतिमता प्रदान करते हैं।

पुनः वे यह भी कहते हैं कि कांट के अध्यात्मवाद में निर्विशेष सत् की सार्थक कल्पना मौजूद थी, किन्तु हेगल और उनके समर्थकों ने कांट में विद्यमान इस द्वितीय कल्पना को ही महत्त्वपूर्ण मानते हुए उसे मूर्त-सामान्य के सिद्धांन्त के रूप में विकसित करने की चेष्टा की जो बहुत युक्ति युक्त नहीं है।

अपने लेख में उक्त विचारों को व्यक्त करते हुए वे कहते हैं : "न तो कांट ने और न ही उनके आलोचकों ने इस बात की ओर ध्यान दिया कि सभी

1. अपनी कृति "एपीयरेन्स एण्ड रियेलटी" में आभास खंड में ब्रैडले ने आत्म-चेतना को 'आभास' सिद्ध किया है। निष्कर्ष स्वरूप वे उसे अंतिमता नहीं प्रदान कर सके। भट्टाचार्य और मुकर्जी दोनों ने समान रूप से ब्रैडले के निष्कर्ष का समर्थन किया, किन्तु उनकी युक्ति भिन्न है।

प्रकार की मध्यस्थता ज्ञान के भीतर ही संभव है और सभी प्रकार के संबंध किसी एकत्व की परिधि में ही संभव होते हैं, अतएव उक्त एकता को इसी कारण स्वयं असंबंधात्मक होना चाहिए। इस दृष्टि से देखने पर 'आई थिंक' उस विषय का समकक्षीय नहीं हो सकता जो अपनी अर्थवत्ता के लिए उसकी अपेक्षा करता है और उसे विषयों के स्तरों पर बरबस लाने की चेष्टा करना कुछ उसी प्रकार का पर उससे कहीं अधिक सूक्ष्म, 'अनुभवातीत विस्थापन' का परिणाम होगा जो ज्ञान विषयक अनुभववादी सिद्धांतों के मूल में है।"[1]

उक्त दृष्टिकोण की परस्पर भ्रांति को अनावृत करते हुए प्रो. मुकर्जी कहते हैं कि उसमें विषयों की परस्पर संबद्धता की अनिवार्य स्थिति को विषयी-विषय संबद्धता पर भी आरोपित कर दिया है। किन्तु विषयी-विषय संबद्धता अपूर्व होने के कारण अन्तर्विषय-संबद्धता के आधार पर उसकी व्याख्या भ्रामक है। इस प्रश्न पर अपने विचार व्यक्त करते हुए प्रो. मुकर्जी कहते हैं : 'अनुभवातीत सिद्धांतों एवं विषयों की समानता उन तथ्यों एवं सिद्धान्तों से करना जिन्हें वे नियंत्रित करते हैं, सर्वथा अनुचित है। इसी प्रकार नियमों को जो विचार को नियंत्रित करते हैं, विचारों के समकक्ष रखना सर्वथा अनुचित है। दार्शनिक चिंतन में इस मूल के नाते काफी भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गयी हैं।[2] हेगल इसी भूल के शिकार हैं। उनकी इस भूल का निराकरण करने के पश्चात प्रो. मुकर्जी निर्विशेष परमसत् का सोत्साह समर्थन करते हैं।

उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि दोनों दार्शनिकों के विचारों में पर्याप्त ऐक्य है। दोनों नें स्वतंत्र अध्ययन एवं चिंतन के आधार पर अद्वैत वेदांत के निष्कर्षों का अपूर्व विश्वास के साथ समर्थन किया है और साथ ही उसकी युक्तियुक्तता को भी प्रतिपादित किया है। प्रश्न है कि क्या इन दोनों के दृष्टिकोणों में पूर्ण मतैक्य है अथवा इनमें अपना दृष्टिकोण विषयक भेद भी है?

कांट एवं स्पेंसर के अज्ञेयवाद की आलोचना के साथ ही दोनों दार्शनिक इस बात को समान रूप से स्वीकार कर लेते हैं कि परम निर्विशेष के समर्थन के साथ उसकी अज्ञेयता का एक विशेष अर्थ में (जो पूर्व खंड में स्पष्ट हो चुका है) समर्थन भी अनिवार्य है। और परम निर्विशेष की अज्ञेयता का यह समर्थन निश्चित ही हास्यास्पद नहीं है, जैसा कि कुछ समीक्षकों ने सिद्ध करने की कोशिश की है। विपरीततः वह नितांत युक्तियुक्त है। अपने विचारों को इस प्रश्न पर प्रस्तुत करते हुए प्रो. मुकर्जी कहते हैं : 'इस अज्ञेयवाद से जो सबक

1. 'द फाउन्डेशन्स ऑफ नालेज' (ए.यू.स्टडीज-1948), पृ. 13
2. सजेशन्स फार एन आयडियेलिस्ट थियरी ऑफ नॉलेज, पृ. 449-50.

हमें मिलता है, वह यह कदापि नहीं है कि हम तर्क का ही समर्पण कर दें, जैसा कि कुछ दार्शनिकों ने कहा है – क्योंकि इस समर्पण का सीधा अर्थ यही होगा कि हम दर्शन के स्थान पर हठवादिता तथा अंध-आस्था को स्थापित करें। पर यहाँ पर बात केवल इतनी ही है कि हम यह जान लें कि आत्म-केन्द्रित विरोधाभास को हम तार्किक विधि से दूर नहीं कर सकते।[1]

प्रो. मुकर्जी अज्ञेयवाद की अयुक्तता को सिद्ध करते हुए शंकराचार्य एवं काँट की दार्शनिक अंतर्दृष्टि की श्रेष्ठता का समर्थन करते हैं। भारतीय दर्शन में अद्वैत वेदांती शंकराचार्य ने और पाश्चात्य दर्शन में कांट ने अपने-अपने दर्शन में 'विषयी' के विशुद्ध निर्विशेष स्वरूप को जिस प्रकार प्रस्तुत किया है। वह प्रशंसनीय है, किन्तु समीक्षकों ने उन दोनों के दृष्टिकोणों के साथ न्याय नहीं किया। पूर्व एवं पश्चिम के दृष्टि-समन्वयन की दृष्टि से वह निश्चित ही एक महत्त्वपूर्ण कदम था। और भावी दर्शन का इतिहास इन दृष्टियों की श्रेष्ठता को निश्चित ही स्वीकार करेगा और विश्व-दार्शनिक-दृष्टि के विकास में उक्त स्वीकृति अवश्य महत्त्वपूर्ण होगी, ऐसा प्रो. मुकर्जी का विश्वास है।

किन्तु भट्टाचार्य अज्ञेयवाद की युक्तियुक्तता के समर्थन मात्र से संतुष्ट नहीं हैं। वे प्रो. मुकर्जी की भाँति विषयी के स्वतःप्रकाश्य एवं स्वतःप्रत्यक्ष स्वरूप का समर्थन करते हुए इससे संबद्ध अनुभूतियों के स्वरूप को भी अनावृत्त करना चाहते हैं। अतएव निश्चित अनुभूतियों के आधार पर विषयी की स्वतंत्रता का समर्थन कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के दर्शन की विशेषता है जिसकी पर्याप्त चर्चा पूर्व पृष्ठों में की जा चुकी है और जिसकी पुनरावृत्ति यहाँ पर आवश्यक नहीं प्रतीत होती है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि प्रो. मुकर्जी और कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के दर्शन में हमें अद्वैत वेदांत के निष्कर्षों का सोत्साह समर्थन तो मिलता ही है साथ ही इनके प्रयासों द्वारा पूर्व एवं पश्चिम की दार्शनिक दृष्टियाँ अपने वर्गीय विरोध के बावजूद एक-दूसरे के पर्याप्त निकट आती दिखायी देती हैं। अतएव दर्शन के इतिहास में इन दोनों का अपूर्व योगदान है।

●●●

1. द ईगो सेन्ट्रिक पैराडाक्स, पृ. 34.

अध्याय 10

प्रो० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे : यौक्तिक रहस्यवाद

स्वर्गीय प्रो. रानडे राधाकृष्णन्-युग के वह महान् रहस्यवादी दार्शनिक थे, जिनके संबंध में स्वयं डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने कहा है कि "उनके लिए यह (दर्शन) आत्मानुचिंतन, एक समर्पित जीवन का मार्ग है।"[1] डॉ. राधाकृष्णन् का कथन प्रो. रानडे के अपने वक्तव्यों से भी समर्थित है। अनेक संदर्भों में, उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि उनके लिये दर्शन साध्य न था। वह साधन था। उनका साध्य ईश्वर-साक्षात्कार था और उसी के बौद्धिक विवेचन के निमित्त वह दर्शन की ओर गये थे।

अपने व्यक्तिगत लेख[2] में उन्होंने बताया है कि 1905 तक दर्शन में उनकी कोई रुचि न थी। इस समय उनकी आयु 19 वर्ष थी[3] और वह बी.ए. के प्रथम वर्ष में प्रवेश लेने जा रहे थे। दर्शन और गणित का विकल्प प्रस्तुत होने पर वह सोच नहीं पा रहे थे कि गणित जैसे निश्चित विषय के रहते हुए किसी अन्य विषय का, जो गणित के समान निश्चित न हो, अध्ययन क्यों किया जाय।[4]

उनके जीवनवृत्त से पता चलता है कि उन्होंने बी.ए. परीक्षा के निमित्त दर्शन नहीं गणित विषय चुना था। किन्तु उक्त समय तक ईश्वर-साक्षात्कार के पथ पर चलते हुए उनके जीवन के चार वर्ष बीत चुके थे। वह ज्ञानदेव, तुकाराम आदि संतों के प्रदेश में पैदा हुए थे। उनकी माता श्रीमती पार्वती देवी ईश्वर परायणा थीं और दीर्घकाल तक पुत्र-सुख से वंचित रहने के कारण उन्होंने संतानोत्पत्ति के निमित्त नियमित रूप से भगवन्नाम का जप किया था। प्रसव बेला में भी उन्हें अपने संकट के निवारण के लिए श्री रामेश्वर की सहायता लेनी पड़ी थी और इसीलिए बालक का नाम रामचन्द्र रखा गया था।

---

1. "It is for him meditation on spirit, a dedicated way of likfe".
— Dr. Radhakrishnan
2. "The evolution of My own Thought". Contemporary Indian Philosophy, The Muirhead Libray of Philosophy Series, p. 540.
3. उनका जन्म 3 जुलाई, 1886 को जमखंडी (मैसूर राज्य) में हुआ था।
4. "Why any science which was not as precise as Mathematics was entitled to any serious study was to me beyond comprehension". — Contemp. Ind. Phil., p. 540.

वे परिस्थितियाँ एवं समस्याएँ जिन्होंने उन्हें दर्शन की ओर मुड़ने के लिए बाध्य किया 1907 से 1913 तक उत्पन्न हुई। 1907 में श्री रामभाऊ – जैसा कि उन्हें उस समय कहा जाता था – ने बी.ए. की परीक्षा में गणित लेकर द्वितीय श्रेणी प्राप्त की, यद्यपि संस्कृत की योग्यता छात्रवृत्ति जो उन्हें पिछली दो परीक्षाओं में मिल चुकी थी, इस बार भी मिली। इसी वर्ष वह डेकन कालेज, पूना में दक्षिणा फेलो नियुक्त हुए थे, किन्तु दूसरे ही वर्ष एक लंबी अवधि के लिए अस्वस्थ हो जाने के कारण स्नातकोत्तर अध्ययन का क्रम टूट गया। पर, अस्वस्थता के कारण उपलब्ध अवकाश को वह अपने गुरु के अनुसार भगवन्नाम जप एवं भगवदाराधन में लगाते रहे।

उक्त बीमारी से पूर्व भी वह नियमित रूप से जप एवं ध्यान करते रहे थे, और अपने गुरु की कृपा तथा उनके द्वारा उपदिष्ट साधन के अतिरिक्त ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग पर चलने के लिए उन्हें किसी ज्ञान की आकांक्षा न थी। पर 1908 के अक्टूबर में अपने शिक्षा-गुरु; प्रिंसिपल बेन के साथ वह वाराणसी गये। वहाँ उन्होंने जगद्गुरु शंकराचार्य के मठ में अद्वैत मतावलंबी संन्यासियों को भक्तिस्तोत्रों का पाठ करते हुए सुना। अब उनके मन में एक जिज्ञासा उद्भुत हुई कि एक अद्वैत दार्शनिक ने अपनी दार्शनिक शिक्षाओं में भक्तिपरक स्तोत्रों को कैसे सम्मिलित कर लिया।[1] उनके लिये यह एक पहेली थी, जिसने उन्हें भारतीय दर्शन का अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया।

अपने इस अध्ययन की चर्चा करते हुए उन्होंने स्वयं बताया है कि उन्होंने 1908 में वेदांत का अध्ययन प्रारंभ किया, विभिन्न दर्शन-संप्रदायों का ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा की, किन्तु मूल पाठ खराब होने से उन्हें बहुत परेशान होना पड़ा और वह ठीक-ठीक समझ न सके। भारतीय दर्शन ग्रंथों की दुरूहता के संबंध में उन्होंने 1914 में एक लेख में बहुत खीझ व्यक्त की है। 'भारतीय दार्शनिक यूनानियों की अपेक्षा जर्मनों से अधिक मिलते-जुलते हैं। भारीपन उनका नारा है, सरलता नहीं।'[2]

भारतीय दर्शनों की जटिल एवं दुरूह विवेचन शैली से खिन्न होकर वह योरोपीय दर्शन की ओर मुड़े, जिसके विषय में उनका कथन है कि "मेरे

1. Contemporary Indian philosophy, p. 543.
2. "The Indian philosophers far more closely resemble the Germans than the Greeks. Their watch-word is combrousness, not simplicity — Essays And Reflections, p. 51.

भारतीय दर्शन के अध्ययन के प्रतिवर्तन से मुझे योरोपीय दर्शन का अध्ययन मिला।"[1] यह अध्ययन उन्होंने 1910 में प्रारंभ किया था।

सन् 1908 और 1912 के बीच कुछ और भी कारण प्रस्तुत हुए जिन्होंने प्रो. रानडे को भारतीय तथा योरोपीय दर्शनों के अध्ययन की प्रेरणा दी। अस्वस्थता के कारण उन्हें जो अवकाश प्राप्त हुआ था उसका उपयोग वह अपनी साधना के लिए कर रहे थे। इसी से वह आरोग्य की कामना करते थे। किसी को भी यह विश्वास न था कि जप और ध्यान औषधि बन सकता है। किन्तु ऐसा ही हो रहा था। यही नहीं, उन्हें कुछ ऐसे अनुभव हो रहे थे जो एकदम अनोखे थे, जैसे 'अनाहत नाद' का श्रवण एवं 'अप्रकाशित प्रकाश का दर्शन'। इन अनुभवों की सत्यता प्रमाणित करने के लिए, उन्हें पौर्वात्य या पाश्चात्य दर्शन नहीं, संपूर्ण दर्शन की आवश्यकता थी। "पौर्वात्य एवं पाश्चात्य दर्शन में अपने आध्यात्मिक जीवन का औचित्य प्राप्त करने के लिए मैंने योरोपीय दर्शन का संयत अध्ययन प्रारंभ किया।"[2]

सन् 1912 और 13 के बीच उनका स्वास्थ्य सुधर गया और वह डेकन कॉलेज (पूना) में संस्कृत के अध्यापक एवं उसी कालेज में स्थित राजकीय पांडुलिपि संग्रहालय के 'क्यूरेटर' नियुक्त हो गये। वहाँ उन्होंने 18,000 पांडुलिपियाँ देखीं और उनकी इच्छा हुई कि कोलब्रुक तथा मैक्समूलर के अध्ययन से जो उन्हें मिला था उसे अपने अध्ययन से पूर्ण एवं पुष्ट करें।[3]

उक्त अध्ययन के संदर्भ में उनके दो लेख बरबस हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं : 1912 में प्रकाशित 'भारतीय दर्शन की प्रतिरक्षा'[4] तथा 1914 में प्रकाशित 'भारतीय दर्शन के अध्ययन'[5]। ये दोनों ही लेख इस बात की सूचना देते हैं कि भारतीय एवं पाश्चात्य लेखकों द्वारा प्रचारित भारतीय दर्शन विषयक

1. "So my study of European Philosophy came to me as a rebound from my study of Indian philosophy". — R.D. Ranade
2. "I began a serious study of European philosophy with the intent of finding in Eastern and Western philosophic thought a justification for the spiritual life." — Contemp. Ind. Phil. p. 543.
3. M.S. Despande : Dr. Ranade's Life of Light में उद्धरण p. 38.
4. Philosophical and other Essays, p. 165-84.
5. Essays and Reflections, p. 1-12.

ांतियों से श्री रामभाऊ का भारतीय मन बहुत उद्विग्न हो उठा था और नके लिए यह आवश्यक हो गया था कि वह अपने दर्शन के सम्मान की तिष्ठा करें। अभी तक उन्होंने किसी विषय में एम.ए. नहीं किया था, किन्तु 914 में दर्शन विषय लेकर वह बंबई विश्वविद्यालय की एम.ए. परीक्षा में म्मिलित हुए। उन्होंने प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त किया और कुलपति ा स्वर्णपदक भी प्राप्त किया। परिणामतः फर्ग्यूसन कालेज, पूना में दर्शन के फेसर पद पर उनकी नियुक्ति हो गई।

इस प्रकार 1914 में जब वह अधिकारिक रूप से दर्शन के क्षेत्र में दार्पण करते हैं तो हम पाते हैं कि बाल्यकाल से ईश्वर-साक्षात्कार के गुरुपदिष्ट र्ग पर चलने वाला साधक, जिसने अपने अनुभवों में अपने मार्ग की वास्तविकता प्रमाण पाना प्रारंभ कर दिया था, दर्शन की ओर इस ध्येय से मुड़ा कि एक ोर तो वह अपने मार्ग तथा उसके गंतव्य का बौद्धिक विवेचन प्राप्त करना ाहता था और दूसरी ओर अन्य संतों एवं दार्शनिकों के समान अनुभवों से पने अनुभवों को तुलनात्मक प्रामाणिकता स्थिर करना चाहता था।

प्रो. रानडे के ग्रंथों को पढ़ने से पता चलता है कि वह आजीवन धनारत रहे और अपने मूल उद्देश्य से कहीं विचलित नहीं हुए। उनकी थम पुस्तक 'कन्स्ट्रक्टिव सर्वे' जिस रहस्यवादी दृष्टिकोण का परिचय देती है, ही उनकी पुस्तकों में आद्योपांत मिलता है। प्रसंगतः, उन्होंने भारतीय दर्शन के ति प्रचलित भ्रांत सम्मतियों का निराकरण कर, उसे योरोपीय दर्शन के समान म्मान दिलाने का सशक्त प्रयास किया।

र्शन में समानांतरता

पहले-पहल यह विचार उनके 'भारतीय दर्शन के अध्ययन पर' लेख 914 में व्यक्त हुआ है। 'भारतीय' तथा 'योरोपीय' दर्शनों में समानांतरता दर्शन के अतिरिक्त यह लेख भारतीय दर्शन के अध्ययन की तत्कालीन स्थिति संबंधित बहुत-सी जानकारी करता है।

संस्कृत भाषा में एक विशाल दर्शन साहित्य उपलब्ध था। किन्तु संस्कृत ारत में ही सामान्य बोध की भाषा न रह गई थी। आधुनिक विश्वविद्यालय क्षा पद्धति का आविष्कार हो चुका था जिनमें अंग्रेजी संप्रेषण की माध्यम थी। ारतीय विश्वविद्यालयों में योरोपीय विद्वान दर्शन के अध्यापक थे। वे योरोपीय र्शन का जिसे वह समझते थे अध्यापन कर रहे थे और चूँकि भारत में दर्शन

के अध्यापक थे, भारतीय दर्शनों के विषय में जानना और अपने मत व्यक्त करना स्वाभाविक था। किन्तु हमारे दर्शन-ग्रंथ इतने सरल और सुबोध न थे कि संस्कृत की साधारण जानकारी से इनका रहस्य समझा जाता है। अतः भारतीय दर्शन के विरुद्ध विविध आक्षेप व्यक्त किये जा रहे थे।

प्रो. रानडे ने इस वस्तु-स्थिति को समझ कर कुछ बहुत ही उपयोगी सुझाव दिये। उन्होंने कहा कि भारतीय दर्शन को समझने के लिए डायसन के दर्शन के सामान्य 'इतिहास'[1] के दो भाग, जो केवल वैदिक तथा उपनिषदिक दर्शन पर हैं, मैक्समूलर की 'षड्दर्शन'[2] पुस्तक, कॉवेल लौर गफ़ का 'सर्वदर्शन-संग्रह' का अंग्रेजी अनुवाद, अथवा गार्बे की सांख्य और उपनिषद् संबंधी पुस्तक राइस डेविड्ज की बौद्ध दर्शन और जैकोबी की जैन दर्शन पर पुस्तकें पर्याप्त नहीं हैं। एक संपूर्ण इतिहास की आवश्यकता है। संभवतः उस समय तक डॉ. थीबो का श्री रामानुजाचार्य के श्रीभाष्य का ही अनुवाद छपा था। इसका उल्लेख करते हुए प्रो. रानडे ने दर्शन का तात्पर्य समझने में अनुवाद की अनुपादेयता[3] पर बल दिया। उन्होंने भारतीय विद्वानों से आग्रह किया कि वे व्याख्या ग्रंथों का प्रणयन करें।

उस समय उक्त व्याख्या ग्रंथों की आवश्यकता योरोपीय विद्वानों को भारतीय दर्शन से अवगत कराने के लिए अधिक थी। अतएव उन्होंने यह भी बताया कि योरोपीय विद्वान की जिज्ञासा का स्वरूप क्या है। वह रामानुज के दर्शन के प्रसंग में यह जानना चाहेगा कि रामानुज निरपेक्ष (एब्सोल्यूट) के विषय में क्या कहते हैं। वह यह जानना चाहेगा कि रामानुज का दर्शन उनके किस बड़े दार्शनिक के मत के समकक्ष है। अतः उन्होंने नवीन व्याख्या पद्धति के निमित्त योरोपीय दर्शन की पदावली के प्रयोग तथा भारतीय दार्शनिकों के मतों को योरोपीय दार्शनिकों के मतों से सह-संबंधित करने की सलाह दी।

प्रो. रानडे का समानांतरता सिद्धांत इस नव-संकेतित व्याख्या पद्धति के लिए एक अनिवार्य तार्किक पूर्वमान्यता है। बिना समानांतरता स्वीकार किए हुए किन्हीं दो दर्शन-संप्रदायों अथवा दो दार्शनिक मतों में सह-संबंध नहीं स्थापित

1. Allgemeine Geschichte der Philosophiec.
2. मैक्समूलर की पुस्तक, Six systems 1912 में प्रकाशित हुई थी, प्रो. रानडे का लेख 1914 का है।
3. "Translations ..... they are like a heavy cart-load which moves showly along : – Essays and Reflections, p. 3."

किये जा सकते है। समानांतरता का विचार उनके दर्शन की व्यापकता के विचार से भी संगत है। वह दार्शनिक चिंतन को एक व्यापक प्रवृत्ति मानते थे। जहाँ कहीं भी मनुष्य ने अपनी ओर जगत तथा इसकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश आदि की समस्याओं पर विचार किया है, वहीं दार्शनिक चिंतन मिलता है। जहाँ तक चिंतन के उपादानों में समानता वहाँ तक साम्य अथवा समानांतरता है।

ऋणन अथवा अंतर्प्रभाव सिद्धांत को वह नहीं मानते। अपने एक अन्य लेख 'अरस्तू द्वारा ईलिया के दार्शनिकों की समीक्षा'[1] में ईलिया के दार्शनिकों पर भारतीय अद्वैतवाद का प्रभाव स्वीकार करने के लिए उन्होंने गार्वे और ग्लैडिस का विरोध किया है। विरोध पक्ष में उनका कथन है कि समानता के आधार पर प्रभाव, अथवा ऋण सिद्ध करना अतार्किक है। फिर सिकन्दर के भारत आगमन से पूर्व यूनानियों पर भारतीय दर्शन का प्रभाव सिद्ध करने के लिए पर्याप्त आधार नहीं है।

प्रस्तुत लेख में उन्होंने पार्मेनिदिस के 'बीइंग' और 'थॉट' को शंकराचार्य के 'सत्-चित्' के समकक्ष, 'नॉट-बीइंग' को 'माया' के समकक्ष तथा उसके 'दोखा और इलीथिया' के भेद को शंकर के 'व्यावहारिक' एवं पारमार्थिक के भेद के समकक्ष रखा है। अपनी 'कंस्ट्रक्टिव सर्वे' तथा 'वेदांत' पुस्तकों में भी उन्होंने अपने समानांतरता सिद्धांत का व्यापक प्रयोग किया है। इस प्रकार भारतीय दर्शन की व्यापकता तथा योरोपीय दर्शन से उसकी समकक्षता दिखाने के साथ ही वह भारतीय दर्शन को एक बहुत बड़े आक्षेप से मुक्त कर सके हैं कि वह एक 'घन-दर्शन' (ब्लॉक फिलॉसफी) है, अर्थात् उसमें विविध प्रवृत्तियाँ नहीं हैं।

प्रो. रानडे का समानांतरता सिद्धांत, जिसे 1914 में उन्होंने सह-सम्बन्धों की तार्किक पूर्वमान्यता के रूप में ग्रहण कर, अपने भारतीय दर्शन के अध्ययन से सम्बन्धित लेख में, अल्प दृष्टांतों से आगमित किया था, उनके भावी अध्ययनों से पूर्णतः प्रमाणित है। इस सिद्धांत ने रहस्यवादी दर्शन के अध्ययन में जो उनका मुख्य विषय है, उक्त दर्शन की सार्वभौमिकता, वास्तविकता तथा अनिवार्यता प्रदर्शित करने में उनकी बहुत सहायता की।

रहस्यवादी दर्शन :

रहस्यवाद का उचित स्थान दर्शन नहीं धर्म है। यह ईश्वर के अपरोक्षानुभव

1. "Aristotle's Criticism of the Eleatics" : Philosophical & other Essays में संग्रहीत लेख, पृ. 41.

का साधन है। इस साधन को अपनाकर रहस्यवादी जीवन पर्यन्त तथा निरंतर अपनी सभी वृत्तियों को ईश्वरोन्मुख करता रहता है और साक्षात्कार अथवा अनुभव विविध सरणियों पर चढ़ता रहता है। इस साधन-पथ के विषय में विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि यह संपूर्ण व्यक्तित्व के प्रयास की अपेक्षा करता है, व्यक्तित्व के किसी एक विभाग के प्रयास की नहीं। दूसरा तथ्य यह है कि यह पथ सीमित नहीं है कि इसे जीवन के किसी अंश में समाप्त कर लिया जाय। रहस्यवादी साधक आजीवन ईश्वर अपरोक्षानुभव करता रहता है, उसके अनुभव उत्तरोत्तर विकसित होते रहते हैं, वह उन अनुभवों में आनंद विभोर हुआ करता है, किन्तु यह कभी नहीं कह पाता कि उसने संपूर्णतः ईश्वर का अनुभव कर लिया है, क्योंकि वह तो असीम का अनुभव है। दर्शन का ध्येय इससे भिन्न है। वह ईश्वर का विवेचन है। उसका कार्य केवल बौद्धिक है। इसे एक ही विषय को लेकर निरंतर एवं चिरकाल तक करते रहने का कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि यह अपरोक्ष न होकर परोक्ष होता है। परोक्ष चिंतन वहीं तक अग्रसर हो सकता है, जहाँ तक उस चिंतन के उपादान या प्रदत्त उसे ले जा सकते हैं। प्रो. रानडे ने अपनी 'वेदांत' पुस्तक में दार्शनिकों के कार्य की चर्चा करते हुए कहा है कि "दार्शनिक हैसियत से हमारा काम दर्शाना, तर्क करना और ऐसी युक्तियाँ देना है, जो बुद्धि को संतोष दे सकें।"[1] किन्तु रहस्यवादी का कार्य युक्तियों से बुद्धि को संतोष देना नहीं, वह तो उस साक्षात् अनुभव की कामना करता है, जिसका युक्तियों द्वारा मात्र अनुमान किया जा सकता है।

रहस्यवादी के लिए दार्शनिक ज्ञान अनिवार्य नहीं है।[2] यदि ऐसा होता, तो बहुत से रहस्यवादी, जो अपढ़ थे अपने उच्च कोटि के अनुभवों की सूचना न दे पाते। किन्तु प्रो. रानडे ने दर्शन और रहस्यवाद के सहयोग की आवश्यकता पर बल दिया है। इसी उद्देश्य से उन्होंने 1924 में, पूना स्थित अपने 'अध्यात्म भवन' में, 'दर्शन और धर्म अकादमी' की स्थापना की थी। अकादमी की नियमावली में, उन्होंने यह विचार व्यक्त किया है कि 'मनुष्य के लिए ईश्वर का अस्तित्व तथा मनुष्य और प्रकृति से उसके संबंध की समस्या अत्यन्त आवश्यक है। दर्शन और धर्म दोनों ही इस समस्या का हल देने का प्रयास करते हैं, किन्तु जहाँ दर्शन इस समस्या के बौद्धिक पक्ष को लेकर अग्रसर होता

1. "Moreover, as philosophers, our business is to philosophies, logicise and give arguments that will satisty reason." — Vedanta, p. 73.
2. "Not all mystics need be philosophers".

है. वही धर्म प्रयोगात्मक पक्ष लेकर ....."।[1] यही वह विचार है, जो रहस्यवादी दर्शन की कल्पना का आधार देता है। दार्शनिक विवेचन अनुभूति नहीं दे सकता, किन्तु ईश्वरानुभव के इच्छुक साधक को अपने मार्ग पर चलने के लिए प्रारंभिक संकेत तो दे ही सकता है। अपनी 'कंस्ट्रेक्टिव सर्वे' पुस्तक में प्रो. रानडे ने निकट भविष्य के दर्शन के लिए रहस्यवाद को एक वास्तविक दार्शनिक आधार देने की समस्या का उद्‌घाटन किया है। उन्होंने आशा प्रकट की है कि 'यौगिक रहस्यवाद' को पद-विरोध न समझ कर एक सत्य समझा जायगा।[2]

उक्त दृष्टि से रहस्यवाद को व्यवस्थित करने के निमित्त प्रो. रानडे ने प्रस्थानत्रयी – उपनिषद्, वेदान्त सूत्र तथा भगवद्‌गीता के अध्ययन प्रस्तुत किये। इन अध्ययनों में रहस्यवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि निर्मित करने के लिए प्रचुर सामग्री मिलती है। साधन-पक्ष का विस्तृत विश्लेषण उनकी हिन्दी एवं कन्नड़ संत-साहित्य पर लिखी हुई पुस्तकों में मिलता है।[4]

रहस्यवाद :

'मिस्टीसिज्म इन महाराष्ट्र' पुस्तक में प्रो. रानडे ने रहस्यवाद को वह मानसवृत्ति कहा है "जिसके अन्तर्गत ईश्वर की सीधी, अपरोक्ष, प्रथम-हस्तक आंतः प्रज्ञ चेतना आती है।"[5] इस अपरोक्ष एवं आंतःप्रज्ञ (इन्ट्वीटिव) चेतना को जो ईश्वर से संबद्ध होती है, उसी संदर्भ में, 'ईश्वर का विश्रामपूर्ण तथा

1. "The problem of supreme importance to mankind is the problem of the existence of God and His relations to Man and Nature. Philosophy and Religion both concern them-selves with the solution of this problem, but while philosophy engages itself in the intellectual side of this solution Religion concerns itself with the practical side." Prospectus, p. 1.
2. "It would be a problem for the philosophy of the Immediate Future to place Mysticism on a truly philosophical basis. Rational Mysticism, which has been hitherto regarded as a contradiction in terms, must now be a truism". Construc. Survey, preface, p. 16.
3. उपनिषदों पर 'Constructive Survey of Upanisadic philosophy; वेदांत-सूत्रों पर 'Vedanta : The Culmination of Indian thought तथा भगवद्‌गीता पर 'Bhagavadgita as philosophy of God-realisation' पुस्तकें हैं।
4. हिन्दी संतों का रहस्यवादी अध्ययन : 'Pathway to God in Hindi Literature' तथा कन्नड़ सन्तों का अध्ययन : 'Pathway to God in Kannada Literature'.
5. "Mysticism denotes that attitude of mind which involves a direct, immediate, first-hand, intuitive apprehension of God." — Mysticism in Maharastra, p. 1.

प्रेय निदिध्यासन'[1] तथा 'मौन आनंद-भोग'[2] कहते हैं। इन कथनों का विश्लेषण करने पर, रहस्यवादी ईश्वरानुभव के विषय में कम से कम चार विचार-सूत्र उपलब्ध होते हैं – (1) वह प्रमाण जिससे उक्त अनुभव की प्राप्ति होती है, अन्तःप्रज्ञा है, (2) यह अनुभव अपरोक्ष है, (3) प्रेय रूप में ईश्वर में निदिध्यासन (कन्टेम्पलेशन) में ईश्वरानुभव करने वाली अन्तःप्रज्ञा प्रस्फुटित होती है, तथा (4) यह अनुभव संतोष (विश्राम) एवं आनन्द की अनुभूतियों से सहचरित होता है।

रहस्यवाद के अध्येता को इस वाद को यौक्तिक समझने में सबसे बड़ी कठिनाई अनुभव के आंतःप्रज्ञ प्रमाण के कारण होती है। पाश्चात्य दर्शन के पाठक जानते हैं कि ब्रैडले को बुद्धि-प्रतिरोधवादी[3] समझे जाने में इसके अतिरिक्त और कोई कारण नहीं था कि उसकी बुद्धि उसके निरपेक्ष (एब्कसोल्यूट) तक नहीं पहुँच पाती, बल्कि इसके लिए अन्तः प्रज्ञा की अपेक्षा होती है। कान्ट के दर्शन में, उसकी अध्यात्मविद्या, बौद्धिक होने के कारण, परमार्थ (नाउमेना) तक नहीं पहुँच सकी और इसीलिए उसे अपनी संपूर्ण नैतिक एवं धार्मिक भाव-सम्पत्ति के बावजूद अज्ञेयवादी (एग्नॉस्टिक) बनना पड़ा। किन्तु प्रो. रानडे महोदय कहते हैं कि रहस्यवाद का सर्वाधिक निश्चयकारक प्रमाण रहस्यवादी के स्वानुभव का औचित्य है।[4] इनता ही नहीं, वह इस अपरोक्षानुभव में बौद्धिक, रागात्मक एवं नैतिक पक्षों का समर्थन करते हुए उसकी सार्वभौमिकता की ओर संकेत करते हैं।[5] अतः हमारे लिये यह आवश्यक हो जाता है कि हम सबसे पहले रहस्यवादी दृष्टिकोण से प्रमाणवाद पर विचार करें और अन्तःप्रज्ञा का ज्ञानमीमांसात्मक मूल्य निर्धारित करें।

रहस्यवादी प्रमाणवाद :

प्रो. रानडे ने अपनी 'वेदांत' पुस्तक में[6] भारतीय दर्शन के अन्तर्गत स्वीकृत सभी प्रमाणों की प्रकृति पर विचार करते हुए उन्हें एक प्रमाण में घटित

1. "A restful and loving contemplation of God" — Mysticism, p. 1.
2. "Mysticism implies a silent enjoyment of God", — Ibid., p. 1.
3. Anti-intellectualist.
4. "Finally, the surest criterion of Mysticism is the validity of the experience as enjoyed by the Mystic himself". — Ibid, p. 29.
5. The universality, the intellectualism, the emotionalism and the moral fervour which we have hitherto talked of are but subservient to this great criterion namely a firsthand intimate intuitive apprehension of God — Mysticism p. 29.
6. "Vedanta p. 36 : Reduction of all Pramans to one."

किया है और वह एक प्रमाण अनुभव है। उक्त दर्शन में, छः प्रमाण स्वीकृत हुए हैं। जिनमें से चार प्रत्यक्ष, उपमान और शब्द : न्याय दर्शन की देन है और शेष दो : अनुपलब्धि एवं अर्थापत्ति : परवर्ती मीमांसा-दर्शन द्वारा पूरित हुए हैं। 'अनुपलब्धि' प्रभाकर को मान्य नहीं है, यद्यपि 'अर्थापत्ति' की स्वीकृति पर प्रभाकर और कुमारिल एकमत हैं।

'अनुपलब्धि' के प्रसंग में प्रो. रानडे कहते हैं कि 'अभाव' के ज्ञान का अर्थ है कि हम वह जानना चाहते हैं जो नहीं है। यह ठीक उसी तरह है, जैसे एक चोर पकड़ने के लिए दूसरा चोर तैनात कर दिया जाय। 'अभाव' को जानने के लिए 'अनुपलब्धि' की नियुक्ति पर यह बहुत ही व्यंग्य है। इसी प्रसंग में उन्होंने एक बड़ा सुन्दर चुटकुला कहा है : किसी राजा ने अपने एक अनुचर को फाटक पर यह देखने के लिए भेजा कि कोई वहाँ उनसे मिलने के लिए प्रतीक्षा तो नहीं कर रहा है। अनुचर ने लौट कर बताया कि वहाँ 'कोई नहीं' था। राजा ने कहा 'कोई नहीं' क्यों नहीं लिवा लाए? अनुचर ने कहा : 'महाराज। वह फौरन ही भाग गया।' संकेत यह है कि 'अनुपलब्धि' के पहुँचते ही 'अभाव' गायब हो जाता है। और यदि वह टिका रहे तो 'अनुपलब्धि' क्या 'प्रत्यक्ष' ही उसे पकड़ लेगा। अतः 'अनुपलब्धि' अनावश्क है।

'अर्थापत्ति' को मीमांसकों ने इसलिए स्वीकार किया था कि उन्हें अर्थापत्ति द्वारा ज्ञेय सत्यों को अनुमान द्वारा जानने के लिए कोई उपयुक्त 'हेतु' अथवा 'मध्य-पद' नहीं मिल रहा था। उनका उदाहरण 'मोटा देवदत्त' है, जो दिन में नहीं खाता। अतः 'अर्थापत्ति' से यह स्थापित किया जा सकता है कि वह रात में खाता है, क्योंकि ऐसा न मानने पर देवदत्त के 'मोटेपन' में अर्थ की आपत्ति होगी। नैयायिक इसे 'अनुमान' का ही संक्षिप्त आकार मानते हैं। उचित भी है, शारीरिक-स्थूलता और नियमित भोजन में किसी व्याप्ति का ज्ञान न होने पर, स्थूलता और अभोजन में अर्थापत्ति की आशंका का प्रश्न ही नहीं उठता। नैयायिकों की सहायता करते हुए प्रो. रानडे प्रथमतः यह सूचित करते हैं कि यह वैकल्पिक युक्ति[1] है – सभी स्थूलकाय व्यक्ति या तो दिन में खाते हैं या रात में। देवदत्त स्थूल-काय है और वह दिन में नहीं खाता, अतः वह रात में खाता होगा। इसे न्यायवाक्यीय युक्ति में भी व्यक्त किया जा सकता है। केवलान्वयी अनुमान द्वारा इसे प्रथम आकार के 'बार्बारा' (आ-आ-आ) में व्यक्त कर सकते हैं –

सभी स्थूलकाय दिवा-अभोजी रात्रि-भोजी होते हैं।
देवदत्त स्थूल-काय दिवा-अभोजी है।

1. Disjunctive Reasoning.

अतः वह रात्रि-भोजी है। अथवा,

केवल-व्यतिरेकि अनुमान का सहारा लेकर, इसे प्रथम आकार के 'केलारेट' (ए-आ-ए) में व्यक्त करें –

कोई स्थूल-काय दिवा-अभोजी रात्रि-अभोजी नहीं है।

देवदत्त स्थूल-काय दिवा-अभोजी है।

अतः वह रात्रि-अभोजी नहीं।

बिना इस प्रक्रिया के भी 'अर्थापत्ति' के साध्य को आपादनात्मक अनुमान[1] द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि यदि मोटे होने के लिए भोजन आवश्यक है, तो दिन में न खाने वाला रात में अवश्य खाता होगा।

'उपमान' के सदंर्भ में प्रो. रानडे का विचार है कि इसे सादृश्यानुमान[2] से अधिक कुछ नहीं माना जा सकता। किन्तु सादृश्यानुमान से केवल प्रायिक[3] निष्कर्ष प्राप्ति होते हैं, अतः यह वैध युक्ति नहीं है। मीमांसक की दृष्टि से भी 'उपमान' निर्दोष प्रमाण सिद्ध नहीं होता। वह 'गो' और 'गवय' के संबंध को 'गवय' और 'गो' के संबंध से भिन्न मानता है। आधुनिक तर्क की दृष्टि से विचार करें तो 'गो-संबंध-गवय' तथा 'गवय-संबंध-गो' में संबंध के दो भिन्न आशय प्राप्त होंगे। प्रो. रानडे कहते हैं कि "इसे अन्योन्याश्रित सादृश्य में सादृश्यों की अनिश्चित एवं अनिर्धारित कोटियाँ अंतर्भूत हैं।"[4]

'अनुमान' की अनुपत्ति दिखाने में प्रो. रानडे ने ब्रैडले, श्री हर्ष तथा डेविड ह्यूम के विचारों का स्मरण किया है। ब्रैडले निर्णय (जज्मेंट) और अनुमान (इन्फरेंस) को प्रतिभास मानते हैं। श्री हर्ष व्याप्तिज्ञान संभव नहीं मानते, क्योंकि उचित व्याप्ति प्राप्त करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति का भूत, वर्तमान और भविष्य में भी ज्ञान होना चाहिए, जो असंभव है। डेविड ह्यूम इसी प्रकार के तर्क के आधार पर आगमन खंडन करते हैं। अतः अनुमान को भी सीमित अर्थ में ही प्रमाण स्वीकार किया जा सकता है। 'प्रत्यक्ष' के खंडन में प्रो. रानडे ने श्री रामानुजाचार्य का तर्क प्रयुक्त किया है। उक्त आचार्य का संकेत है कि 'ज्वालाभेद के अनुमान'[5] से प्रत्यक्ष खंडित होता है। तात्पर्य यह है कि किसी जलने वाली चीज़ से उठने वाली ज्वाला को देखकर हम उसे एक ज्वाला कहते हैं, किन्तु

1. Implicative Inference.
2. Inference by analogy.
3. Probable.
4. "This reciprocal similarity, however, involves an indefinite and infinite series of resemblances". — Vedanta, p. 38.
5. "ज्वालाभेदानुमानेन प्रत्यक्षोपमर्दयोगात्"

ज्वाला ज्वलनशीन वस्तु से पृथक होने वाले क्रमिक स्फुरणों का दृश्य प्रभाव है। श्रीरामानुज का कथन हमें यूनानी दार्शनिक हेराक्लितस की याद दिलाता है, जिसने नदी के उदाहरण से यही बात कहीं थी। अब केवल एक प्रमाण बचता है : शब्द।

'शब्द की प्रमाण-सामर्थ्य पर विचार करते हुए प्रो. रानडे बताते हैं कि वैशेषिकों के यह बिल्कुल मान्य नहीं है। सांख्यवादी इसे इसलिए मानते हैं कि उनके विचार से उपनिषद् में सांख्यमत का ही उपदेश हुआ है। नैयायिक इसे मानते हैं, किन्तु ईश्वर के अधीन रखते हैं। मीमांसक ईश्वर को मानने की कोई आवश्यकता नहीं समझते, किन्तु 'शब्द' को उससे भी ऊँचा स्थान देते हैं। प्रो. रानडे नित्य 'शब्द' को प्रमाण मानने के पक्ष में हैं।[1] नित्य 'शब्द' पाणिनि का 'स्फोट'[2] न्यू टेस्टामेंट का 'लोगस', अरबी दार्शनिकों का 'कुन', ऋग्वेद का 'वाक्' तथा कबीर का 'अनाहत नाद' है।[3] शंकराचार्य ने 'योगतारावली' में 'नादानुसंधान नमोऽस्तु तुभ्यम्' कह कर इसी की वंदना की है। किन्तु इस प्रकार समझने पर 'शब्द' ब्रह्म का स्वरूप ज्ञानमीमांसात्मक हो जाता है। इसे प्रमाण इसलिए कहा जा सकता है कि इसका श्रवण ईश्वर-साक्षात्कार का सूचक होगा। किन्तु यह शब्द सामान्य श्रवण का विषय नहीं बन सकता। यह तो अपरोक्षानुभव में उपलब्ध हो सकता है। प्रो. रानडे का कथनं है कि नित्य शब्द की प्रामाणिकता अनुभव से सिद्ध होती है।[4] निश्चय ही अनुभव से उनका तात्पर्य 'अपरोक्षानुभव' है, क्योंकि वह अनुभव को "परमार्थ का वास्तविक प्रमाण"[5] स्वीकार करते हैं : उन्होंने अनुभव की, अन्य प्रमाणों के प्रति, प्राथमिकता पर अपनी 'कन्ट्रक्टिव सर्वे 'वेदांत' तथा 'द भगवद्गीता पुस्तकों में विविध शीर्षकों के अंतर्गत विचार किया है।

---

1. "Sabdapramana world only be a ritualistic dogma unless we mean by Sabda the eternal sound which can be validated only by "Anubhava" — Vedanta, p. 39.
2. "It was Panini alone who said that Sabda ..... was the primal energy of the world; (Sphutatti iti sphotah), Ind p. 28.
3. "For the doctrine of Sphota we have a number of parallels in the Logos of St, John I. I. the Iet there be light doctrine of the old Testament the Kun (let it be done) in Arabis philosophy the Vak in the Rgved, and the Anahata Nada in Kabir". — Vedanta, p. 30.
4. पाद-टिप्पणी–1, यही पृष्ठ।
5. ".... That Anubhava is the only true criterion of Reality". — Vedanta, p. 39.

अनुभव की प्राथमिकता

'कन्ट्रक्टिव सर्वे' में 'ईश्वरानुभव का विभाग' शीर्षक के अंतर्गत उपनिषदों की जिन श्रुतियों को एकत्र किया है, वे एक स्वर से घोषित करती हैं कि ईश्वर को देखकर, कानों से सुनकर, मुख से बोले हुए वचन से, मन से, तप से, कर्म से, किसी प्रकार नहीं जाना जा सकता –

"न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् (कठ. 2. 6. 9.)" इसे कोई नेत्र से देखता नहीं।

"नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यों न चक्षुणा (कठ. 2. 9. 12)" न कोई वचन से पा सकता है, न मन से और न नेत्र से।

"न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवस्तपसा कर्मणा वा" (मुं. 3. 1. 8.) यहाँ नेत्र और वचन के अतिरिक्त तप और कर्म से भी अग्राह्य कहा गया है।

इन्हीं श्रुतियों में उसके ग्रहण की संभावना भी प्रदर्शित की गई है –

कठोपनिषद् 1. 3. 12 में सूक्ष्मदर्शियों द्वारा सूक्ष्म बुद्धि से देखने का समर्थन किया गया है। (दृश्यते त्वग्रय्या बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः) और मुंडक 3. 1. 8. में[1] ज्ञान के प्रसाद से (ज्ञानप्रसादेन) ध्यान की अवस्था में (ध्यायमानः) विशुद्ध आत्माओं (विशुद्धसत्वः) द्वारा उसके दर्शन की बात कही गई है। प्रो. रानडे ने सूक्ष्म बुद्धि का अर्थ अंतः प्रज्ञा[2] तथा 'ज्ञानप्रसादेन' का अर्थ प्रकाशित अंतर की स्पष्टता से[3] दिया है। स्पष्ट है कि इन श्रुतियों में आये हुए 'दृश्यते' तथा 'पश्यते' का अर्थ व्राह्य दर्शन तो हो नहीं सकता, क्योंकि सूक्ष्म बुद्धि से तथा ध्यान को अवस्था में वाह्य दर्शन की कल्पना अप्रासंगिक है। अतः अंतः प्रज्ञा के अपरोक्षानुभव की ही बात सोची जा सकती है।

प्रो. रानडे ने बादरायण के तीन सूत्रों –

तर्काप्रतिष्ठानात् – 2. 1. 11.

शास्त्रयोनित्वात् – 1. 1. 3. तथा

अपि च संराधने प्रत्याक्षानुमानाभ्याम् 1. 3. 2. 24.

---

1. "ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वः ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः – मुं. 3. 1. 8.
2. But when words fail to exactly describe the nature of the Faculty of God—realisation, it may become serviceable psychologically to "invent" a trem, to call it either Buddhi or Intuition, and then to make it responsible for the vision of God. — Constructive, p. 249.
3. "By the clearness of illumination" — Ibid, p. 250.

के संदर्भ में तर्क, श्रुति और अनुभव की प्रामाणिकता पर तुलनात्मक विचार किया है। जहाँ तक बौद्धिक ज्ञान का संबंध है, वह शंकराचार्य से सहमत हैं। शंकर तर्क के विरुद्ध दो मुख्य आक्षेप करते हैं – एक, यह कि तर्क के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह पुष्ट तथ्यों पर ही आधारित हो, निराधार उत्प्रेक्षाओं को जुटा कर भी तर्क की रचना संभव है (पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबंधनास्तर्का अप्रतिष्ठता भवन्ति उत्प्रेक्षाया निरंकुशत्वात्।)[1] दूसरा, यह कि दो व्यक्तियों के तर्क परस्पर विपरीत हो सकते हैं (तर्कज्ञानानां त्वंयोन्यविरोधात्प्रसिद्धा विप्रतिपत्तिः।) किन्तु इन दोषों के कारण तर्क का सर्वथा तिरस्कार भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि तर्क का खंडन तर्क ही से किया जाता है (तर्काणामप्रतिष्ठितत्वं तर्केणेव प्रतिष्ठाप्यते।) और तर्क का सर्वथा निषेध कर दें, तो लोकव्यवहार ही रुक जायगा। (सर्वतर्काप्रतिष्ठार्या लोकव्यवहारोच्छेद प्रसंगः।) अतः, शंकर उसी तर्क को प्रमाण रूप में स्वीकार करते हैं, जो श्रुति से अनुगृहीत हो।[2] श्रुति के विषय में शंकर का कहना है कि वही श्रुति प्रमाण हो सकती है, जो अनुभव से अनुमोदित हो।

प्रो. रानडे यह मानते हैं कि तर्क श्रुतिसापेक्ष है और श्रुति अनुभवसापेक्ष है, किन्तु ईश्वरानुभव के प्रसंग में न तर्क काम दे सकता है, न श्रुति। तर्क इसलिए नहीं कि वह परमार्थ को द्वैत में विभाजित कर देता है। उन्होंने इस बात को एडवर्ड केएर्ड के शब्दों में कहा है कि 'तर्क बिजली की भाँति है जो ओस के बूँद में सोती और उसके दो टुकड़े कर देती है, अर्थात् तर्क परमार्थ को दो टुकड़ों में बाँट देता है।' श्रुति इसलिए काम नहीं दे सकती कि रहस्यवादी का लक्ष्य केवल बौद्धिक ज्ञान प्राप्त करना तो है नहीं।[3] उसे तो ईश्वर का साक्षात्कार करना है। इस दृष्टि से केवल अनुभव ही प्रमाण हो सकता है। इस अनुभव को प्रो. रानडे, बादरायण सूत्र 'अपि च संराधने' का सहारा लेकर

---

1. "श्रुत्यनुगृहीत एवं ह्यत्र तर्कोऽनुभवाग्डत्वेनाश्रीयते।" – बादरायण सूत्र 2.1.4. के नीचे, शांकरभाष्य।
2. "As Caired says; reasoning is like a lightning which sleeps in a dew-drop and breaks it in twain, i.e. reason breaks reality in twain". — Vedanta, p. 69.
3. "Whether this state of Absolute Monism is to be merely intellectually apprehended, or mystically realised, depends upon whether we are by nature destined to be merely torchbearers of mystics in the spiritual pilgrimage." — Constructive. p. 203.

बताते हैं यह 'भक्ति से प्लावित ईश्वर के निदिध्यासन' में होता है।1 इसे वह 'दार्शनिक ध्यान' भी कहते हैं।[2] पूरे सूत्र का अर्थ करते हुए वह कहते हैं कि संराधन में ईश्वर का अनुभव हो सकता है, जैसा कि श्रुति (प्रत्यक्ष) तथा स्मृति (अनुमान) से प्रमाणित होता है। संराधन के अनुभव को वह तर्क और श्रुति से ऊँचा मानते हैं।[3] यह अनुभव अंतः प्रज्ञा को होता है और बौद्धिक ज्ञान से उच्चस्तरीय है। इसीलिए प्रो. रानडे अंतः प्रज्ञा को अतिबौद्धिक (सुपर इन्टेलेक्चुअल) कहते हैं।

अनुभव के सोपान :

तब क्या अंतःप्रज्ञा का बुद्धि से कोई संबंध नहीं है? है क्यों नहीं। अंतःप्रज्ञा बुद्धि से आगे का स्तर है। रहस्यवादी अनुभव बुद्धि के उच्चतम विकास के बिना नहीं होता। प्रो. रानडे ने पतंजलि का वह योगसूत्र[4] उद्धृत किया है, जिसमें बताया गया है कि 'चिरकाल' तक, 'निरंतर' और 'आदरपूर्वक' अभ्यास करने पर भूमि दृढ़ होती है और तब योग का अनुभव होता है। अतः यह एक क्रमिक विकास का मार्ग है, जिस पर बुद्धि का आश्रय लेकर चलने वाला ही आंतरिक अनुभव तक पहुँच सकता है। 'कंस्ट्रक्टिव सर्वे' में प्रो. रानडे ने, उपनिषद् के वचनों का सहारा लेकर 'आध्यात्मिक जीवन का सोपान' शीर्षक में विकास के स्तरों पर प्रकाश डाला है।

प्रथम सोपान पर साधक को यह जानना पड़ता है कि 'आत्मा देखने के योग्य है' (आत्मा वा अरे द्रष्टव्य)[5] यह जिज्ञासा का स्तर है। 'अरे' का प्रयोग बताता है कि इस अवस्था में कितना विस्मय होता है। बिना इस विस्मयपूर्ण जिज्ञासा का उदय हुए ईश्वर-साक्षात्कार का प्रयत्न नहीं होता। यूनानी दर्शन के पाठक जानते हैं कि प्लेटो और अरस्तू विस्मय से ही दर्शन का प्रारंभ मानते हैं। उपनिषत्कार के अनुसार इस प्रथम जिज्ञासा की दृष्टि आत्मा की ओर होती है। इसीलिए ईसाई धर्मशास्त्र में 'अपने आपको जानो' का उपदेश किया गया। देकार्त ने 'अहं' की प्रतिष्ठा के आधार पर ईश्वर की प्रतिष्ठा की।

---

1. "Worshipful contemplation of God." — Vedanta, p. 70.
2. "Philosophical Meditation." — Ibid., p. 70
3. "Samradhana is higher than reason and revelation." — Vedanta, p. 71.
4. बृहदा. 2. 5.
5. ''स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढ़भूमिः।'' योगसूत्र 1-14.

दूसरे स्तर पर वह उपनिषद् के उस आदेश को रखते हैं, जिसमें अपने आपके यह बोध कराने के लिए कहा गया है कि यह पुरुष (जो मेरे अंतर में अहं प्रतीति उत्पन्न करता है) मैं हूँ 'आत्मानं विजानीयादहमस्मीति पुरुष।[1] पिछले स्तर से यह उन्नत स्तर इस अर्थ में है कि वहाँ आत्मा को 'द्रष्टव्य समझा गया था, यहाँ अहं प्रतीति करने वाले अंतर पुरुष को आत्मा' समझना है। साधक की बाह्य दृष्टि इस स्तर पर अंतर्मुखी होती है।

आध्यात्मिक अनुभव के तीसरे सोपान पर यह जाना जाता है कि 'यह आत्मा ब्रह्म है' (अयमात्मा ब्रह्म)[2]। यहाँ दूसरे स्तर पर खोजी हुई आत्मा के प्रति ब्रह्मभाव उत्पन्न करने का उपदेश किया गया है। अभी तक आत्मा और ब्रह्म की एक दूसरे से पृथक प्रतीति बनी हुई है और यह द्वैत की स्थिति है शंकर के अनुसार जहाँ तक द्वैत की प्रतीति है वहाँ तक प्रमाण प्रमेय व्यवहार का क्षेत्र है। इस प्रकार हम जानते हैं कि इस तीसरे सोपान पर भी बुद्धि साधक का साथ दे रही है।

चौथे स्तर पर 'मैं ही ब्रह्म (अहं ब्रह्मास्मि)[3] का भान होता है। प्रो. रानडे ने इस ज्ञान को न्यायवाक्यीय युक्ति से निष्कर्ष रूप में प्राप्य दिखाया है। उनका कहना है कि यदि 'मैं' की प्रतीति करने वाला अंतरपुरुष आत्मा है (उपर्युक्त दूसरा वाक्य) और यदि वह आत्मा ब्रह्म है (उपर्युक्त तीसरा वाक्य) : तो 'मैं ब्रह्म हूँ' न्यायवाक्यीय निष्कर्ष है।[4] युक्तियुक्त होने से यह प्रतीति सहज रूप में ग्राह्य है। इस प्रक्रिया से यह अच्छी तरह समझ में आ जाता है कि जो व्यक्ति यह निश्चय करेगा कि 'मैं आत्मा हूँ' और 'आत्मा ब्रह्म है', उसके लिए 'मैं ब्रह्म हूँ' एक अनिवार्य यौक्तिक स्थापना होगी। किन्तु इससे यह भी स्पष्ट होता है कि इस चतुर्थ सोपान तक ईश्वर-साक्षात्कार के प्रयत्न में बुद्धि मार्ग दर्शन करती है।

इससे आगे पाँचवे सोपान पर 'सब कुछ ब्रह्म है' (सर्व खल्विदं ब्रह्म)।[5] की प्रतीति को रखा गया है। प्रो. रानडे का कथन है कि यह ज्ञान 'अहं ब्रह्मास्मि' और 'तत्वमसि' (वह तू है) को समन्वित करने से उत्पन्न होता है। यदि 'मैं' ब्रह्म हूँ और 'तू' भी ब्रह्म है, तो 'मैं' और 'तू' अभिन्न है, अर्थात्

1. वही, 4.4.12.
2. वही, 2.5.19.
3. बृहदा. 1.4.10.
4. "If I am the self, and the self is the Absolute; then, it — Constructive, p. 203."
5. छान्दोग्य 3.14.1.

'अस्मद्' और 'युष्मद्' प्रत्ययों में अभेद स्थापित हो जाने से यह बोध होता है कि 'संसार में जो कुछ दिखाई देता है, मन और प्रकृति, आत्म और अनात्म, सभी कुछ ब्रह्म है।'[1] किन्तु इस प्रकार निष्पन्न होने पर तो इस अंतिम सोपान की प्रतीति भी यौक्तिक ही लगती है। वह अनुभव कब होगा, जिसे बादरायण ने संराधन में रखा है और प्रो. रानडे ने भी स्वीकार किया है। और शंकराचार्य भी अपने भाष्य में कहते हैं कि इस आत्मा को संराधन काल में योगीजन देखते हैं।[2]

आत्मानुभव की अर्हताएँ

स्थिति यह है कि ईश्वर-साक्षात्कार केवल बुद्धिजन्य ज्ञान नहीं है। यह संपूर्ण व्यक्तित्व का संघटित अनुभव है। प्रो. रानडे की कृतियों का अध्ययन करने से मालूम होता है कि रहस्यवाद को अदार्शनिक एवं अयौक्तिक समझे जाने से वह बहुत खिन्न थे। इसीलिए हमने रहस्यवादी अनुभव की प्रक्रिया में निहित बुद्धिपक्ष को सामने लाने पर पर्याप्त ध्यान दिया है। किन्तु वह अनुभव आत्मा और ब्रह्म के ऐक्य के दृढ़ निश्चय से ही नहीं उदित हो जाता है। ईश्वर के प्रति अगाध प्रेम एवं भक्ति का योग भी अपेक्षित है। इसीलिए, प्रो. रानडे ने 'सरांधन' को 'भक्तिमय निदिध्यासन' कहा है। उक्त निदिध्यासन की कुछ और भी मांगें हैं।

ऊपर हमने मुंडक की एक श्रुति उद्धृत की है, जिसमें 'ज्ञानप्रसादेन' के साथ-साथ 'विशुद्धसत्वः' पद प्रयुक्त हुआ है। इससे यह मालूम होता है कि ज्ञानलोक के साथ ही नैतिक जीवन भी अनुभव की पीठिका का एक आवश्यक पक्ष है। इसी प्रकार की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर शंकराचार्य ने बादरायण के प्रथम सूत्र के भाष्य में ब्रह्मजिज्ञासा से पूर्व नित्य और अनित्य वस्तु के विवेक के साथ ही इस लोक तथा परलोक की वस्तुओं के भोग से वैराग्य एवं शम, दम आदि नैतिक संपत्ति के अर्जन पर बल दिया है।[3] पतंजलि ने अपने योगसूत्र में 'स्वाध्याय' के साथ 'तप' और 'ईश्वरप्रणिधान' को भी स्थान दिया है।[4]

1. "If now the "I" is the Absolute, and if also the "Thou" is the Absolute, if, in other world, both the subject and the object are the Absolute, then it follows that everything that we see in this world, Mind and Nature, the self and the not-self, equally constitute the Absolute." — Constructive, p. 203.
2. "अपि चैनमात्मानं ..... संराधनकाले पश्यन्ति योगिनः – ब्र.सू. 3.2.24. शांकरभाष्य।
3. "तस्मात् किमपि वक्तव्यं यदनंतरं ब्रह्मजिज्ञासोपदिश्यत इति। उच्यते – नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रार्थभोगविरागः, शमदमादि साधनसंपत्, मुमुक्षुत्वं च।"
4. "तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः" – योगसूत्र : 2.1.

प्रो. रानडे ने भी 'कंस्ट्रक्टिव सर्वे'[1] में उपनिषद् वचनों का अनुसरण करते हुए, अनुभव पथ पर चलने की इच्छा रखने वाले के लिए वांछित, कुछ अर्हताओं का निर्देश किया है। अंतर्मुखता[2] इसमें से प्रथम है। वह कहते हैं कि हमारी इन्द्रियों की रचना कुछ इस प्रकार की है कि वे सदैव बहिर्मुखी होती रहती हैं। ईश्वर का साक्षात्कार चूँकि आत्मा के आलोक में परमात्मा का साक्षात्कार है, उसकी प्राप्ति की इच्छा करने वाले को अंतर्मुखता का अभ्यास करना ही होगा। इसके बाद वह 'रेचन' (कैथार्सिस)[3] का उपदेश करते हैं।' इसके अन्तर्गत दूषित मनोवृत्तियों, अनैतिक कर्मों का त्याग तथा नैतिक अभ्यास आता है। तभी तो साधक 'विशुद्ध सत्व' बनेगा और उसकी अंतः प्रज्ञा आत्मालोक से प्रकाशित होगी। इसी आलोक में परमात्मा प्रतिबिंबित होगा। इसके लिए सर्वात्मबुद्धि का विकास करना होगा और एक शांत, संयमित तथा तपोमय जीवन का उपक्रम करना होगा। पतंजलि[4] की भाँति प्रो. रानडे भी वैराग्य का समर्थन करते हैं। बिना वैराग्य के, संसार से घिरा हुआ मनुष्य न तो आत्माभिमुख हो सकता है और न नैतिक ही। इस योग्यताओं के अतिरिक्त आत्मानुभव के जीवन को श्रेष्ठ समझना उस अनुभव का मार्ग प्रशस्त करने के लिए बहुत आवश्यक है।

आध्यात्मिक गुरु की आवश्यकता

पर, उपर्युक्त सभी योग्यताओं को अर्जित कर लेने पर भी ईश्वर-साक्षात्कार का मार्ग, वाह्य मार्गों की भाँति स्पष्ट और सरल नहीं प्रतीत होता। अतः एक ऐसे गुरु की आवश्यकता युक्तियुक्त है, जिसने स्वयं अनुभव किया हो और शिष्य को स्वानुभव के सहारे उचित दिशा में ले जा सके। प्रो. रानडे ने इस विषय पर 'कंस्ट्रक्टिव सर्वे'[5] में भी विचार किया है और 'पाथवे टु गॉड इन हिन्दी लिटरेचर'[6] में भी, किन्तु इस दूसरी पुस्तक में उन्होंने कबीरदास का एक

---

1. कंस्ट्रक्टिव सर्वे, पृ. 241.
2. "..... To look entirely within himself. This is the stage of introversion," — Survey, p. 241.
3. "Catharsis" ..... unless a man has topped from doing wrong, unless he has entirely composed himself, it may not be possible for him, however, hightly -strung his intellect may be, to reach the self by force of mere intellect". — Constructive, p. 241.
4. "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।" – योगसूत्र 1.12.20.
5. पृ. 242.
6. पृ. 135-144.

वचन उद्धृत किया है, जो गुरू की आवश्यकता का उपनिषदों से भी सुगम बोध कराता है। कबीर कहते हैं कि 'गुरु बिन कौन बतावे बाट' लगता है कोई अंधेरी राहों में भटकता हुआ सही मार्ग बताने वाले की प्रतीक्षा कर रहा है। कबीर दास के माध्यम से प्रो. रानडे ने गुरू शिष्य संबंध पर बहुत से विचार प्रस्तुत किये हैं, किन्तु हम यहाँ तीन ऐसे तथ्य प्रस्तुत करेंगे, जिसमें गुरु की आवश्यकता का बहुत अच्छा बोध होता है –

1. जाके दरसन साहेब दरसै

ईश्वर-साक्षात्कार की उत्कट इच्छा से, संपूर्ण साधन संपत्ति लेकर, साक्षात्कार के मार्ग पर आये हुए पुरुष के लिए यह बहुत बड़ी समस्या है कि वह किस रूप में ईश्वर का भावन करे। किन्तु, यदि ऐसा गुरु मिल जाता है जिसने स्वयं साक्षात्कार किया हो, तो वह ईश्वर का स्वरूप प्रस्तुत कर सकेगा।

2. भोग में जोग जगावे

साधक की दूसरी समस्या यह है कि वह संसार में रहता है और संसार वाह्य होने से तथा जीवन की स्थूल आवश्यकताओं से परिपूर्ण होने से उसे भोग के लिए बाध्य करता है। किन्तु यदि उसे ऐसा गुरु मिल जाय, तो दैहिक कार्य करते हुए उसे योग, अर्थात् आत्मा और परमात्मा के ऐक्य का अनुभव करने का मार्ग सुझा सके, जैसे गीता में निष्काम कर्म या भगवत् अर्पित कर्म का मार्ग सुझाया गया है तो वह उस मार्ग पर चल सकता है।

3. यह मन जाय जहाँ जग जबहीं, परमातम दरसावै।

ईश्वर का स्वरूप जानकार और सांसारिक कार्यों को करते हुए भी, ईश्वरानुभव के मार्ग पर चलने वाले की एक समस्या और रह जाती है। वह है यदा-कदा विचलन की समस्या। किन्तु यदि वह किसी ऐसे गुरु की देख-रेख में है, जो स्वयं इस प्रकार की कठिनाइयों को झेल चुका है, तो वह उसे परमात्मा की महत्ता बता कर मार्ग पर लाता रहेगा।

ये कुछ बहुत आवश्यक बातें हैं वाह्य वस्तु का अनुभव बहुत सुगम प्रतीत होता है, क्योंकि इन्द्रियाँ वाह्य होने से वाह्य वस्तु के समीप हैं। उनका ज्ञान इन्द्रियों के वाह्य संचार द्वारा होता है। किन्तु, ईश्वरानुभव वाह्य संचार द्वारा तो हो नहीं सकता। वह अंतःप्रज्ञा का अनुभव है। अतः उसका संचार आभ्यंतर[1] ही हो सकता है। इस आभ्यंतर संचार की वस्तु को कैसे जानें? जान

1. "It is not something impinging upon our senses from the outside that constitutes beatific experience; it is something which comes from inside."
— The Bhagavadgita, p. 233.

कर ही अनुभव किया जा सकता है। ईश्वर वस्तु सामान्य अनुभव की वस्तु नहीं। अतः इसे जानने के दो ही उपाय हैं – पूर्व अनुभवकर्ताओं के विवरण से, तथा मौखिक कथन से। दूसरा सर्वाधिक उपादेय है, क्योंकि एक तो प्रत्यक्ष दर्शन के बाद श्रवण ही सबसे सशक्त इन्द्रिय है, दूसरे गुरु से सुनकर समझने में शंकाओं का समाधान भी संभव है। इसी आशय से प्रो. रानडे ने गुरु की आवश्यकता पर लगभग अपनी सभी कृतियों में बल दिया है। गुरु ईश्वरानुभव के पोषक ज्ञान की आपूर्ति का एक सक्षम स्रोत है।

अनुभव का स्वरूप

उपर्युक्त विवरण से हमें ज्ञात हुआ कि ईश्वरानुभव का आकांक्षी साधक यदि स्वाध्याय से तथा गुरु मुख से प्राप्त ज्ञान द्वारा आत्मा को जानता है और फिर आत्मज्ञान से प्रारंभ कर शनैः शनैः चिंतन करता हुआ आत्मा तथा परमात्मा के तादात्म्य का ज्ञान प्राप्त कर लेता है; उसमें अनुभव के निमित्त वांछित अर्हताएँ हैं और वह भक्ति-भावना से ओत-प्रोत होकर संराधन में लग जाता है, तो उसे अन्तः प्रज्ञा में, अर्थात् आत्मा के प्रकाश में परमात्मा का साक्षात्कार होता है। अब हमारी जिज्ञासा हमें यह जानने के लिए प्रेरित करती है कि उक्त साक्षात्कार का स्वरूप क्या है।

प्रो. रानडे ने इस विषय पर प्रकाश डालने के लिए छांदोग्य, ईशावास्य, श्वेताश्वतर तथा मैत्री उपनिषदों में वर्णित कुछ अनुभवों को प्रस्तुत किया है, जिनसे हमें आत्मानुभव अथवा ईश्वरानुभव को समझने में सहायता मिल सकती है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में बताया गया है कि जैसे दर्पण पर पड़ी हुई धूल साफ कर दी जाय, तो वह चमकने लगता है और सुन्दर बिम्ब प्रस्तुत करता है। उसी प्रकार आंतर पुरुष अपने आपको देखकर कृतार्थ हो जाता है और 'शोकमुक्त' हो जाता है।[1] उसी उपनिषद् में फिर कहा है कि आत्मत्व के प्रकाश में ब्रह्मतत्व उसी प्रकार दिखाई देता है, जैसे दीपक के प्रकाश में वस्तुएँ।[2]

छांदोग्य का कथन है कि आत्मपुरुष वैसा दिखाई देता है जैसा कि सूर्य

1. यथेव बिंब मृदयोपलिप्तं तजोमयं तत्भाजते सुधौतम्। तद्वात्मतत्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्था भवते वीतशोकः। – श्वेता. 2.14.

2. यदात्मतत्वेन तु ब्रह्मतत्वं दीपोमेनेह युक्तः प्रपश्येत् – वही, 2.15.

के भीतर बैठा हुआ सुनहली मूँछों, सुनहले बालों वाला पुरुष – नख-तक संपूर्ण सुवर्णमय।[1]

इन सभी विवरणों में, समान रूप से प्रकाश दर्शन का साक्ष्य मिलता है – किसी ने आत्मपुरुष को स्वच्छ दर्पण की आभा सदृश, किसी ने दीपक के प्रकाश जैसा और किसी ने सूर्य में बैठे हुए पुरुष के समान शिख से नख तक दैदीप्यमान बताया है। उक्त वचनों में आत्मा का कोई यथावत वर्णन नहीं मिलता। स्थिति अधिक स्पष्ट होगी यदि हम प्रो. रानडे द्वारा संकलित इन्हीं उपनिषद् के ऋषियों के साक्षात्कारोत्तर अनुभवों पर दृष्टिपात करें।

साक्षात्कारोत्तर अनुभव

मुंडकोपनिषद् का ऋषि ध्यान की तल्लीनता भंग होने पर चिल्लाता है – ब्रह्म मेरे आगे था, ब्रह्म मेरे पीछे था, ब्रह्म दाएँ था, ब्रह्म ऊपर और नीचे था, चारों ओर ब्रह्म ही ब्रह्म फैला हुआ था। यह ब्रह्म का संसार कितना बढ़िया है।[2]

तैत्तिरीय का ऋषि, जिसके प्रति प्रो. रानडे ने बहुत प्रशंसात्मक अभिव्यक्ति[3] की है, इस प्रकार गाता है –

हा 3 वु हा 3 वु हा 3 वु। अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्।
अहमन्नादो ^{3}ऽहमन्नादो ^{3}ऽहमन्नादः।।[4]

साक्षात्कार करने वालों के इन उद्गारों में अभिव्यक्त आनंदातिरेक बताता है कि वह अनुभव, जिसके अवशेषों में इतना आनंदप्राचुर्य है, वस्तुतः आत्मानुभव था और चूँकि उस अनुभव की दशा में किसी द्वैत का भान न था, वह ईश्वर का साक्षात्कार था, परमात्मा का साक्षात्कार, ब्रह्म-साक्षात्कार था।

---

1. य् एषोंतरादित्ये हिरण्मयः पुरुषों दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात् एवं सुवर्णः। छा. 1.6.6.
2. ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्व प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।। – मुं. 2.2.11.
3. "Finally, that greatest of the Mystics whose postecstatic monologue is preserved for us in the Taittiriya Upanisad ..... singing the song of universal unity." सर्वे, पृ. 257.
4. हा-वु हा-वु हा-आनंदप्रेरित स्वर हैं। शेष का अर्थ : मैं अन्न हूँ - मैं अन्न हूँ - मैं अन्न हूँ। मैं अन्न खाने वाला हूँ - मैं अन्न खाने वाला हूँ - मैं अन्न खाने वाला हूँ। – तैत्तिरीय 3.10.5.6.

बेचारे ऋषि इस अनुभव के कथन में असमर्थ हैं, क्योंकि यह 'तदाद्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्'[1] (उस समय द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित होता है) की स्थिति है। इसी को लक्ष्य कर बादरायण ऋषि ने कहा – 'प्रकृतैतावत्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः'[2] – अर्थात् हम बार-बार कहते हैं कि वह 'ऐसा है' किन्तु वह इस प्रकार के कथन का विरोध करता है।

यही कारण है कि उपनिषदों के ऋषि भी उस अनिर्वचनीय अनुभव का कथन करने में असमर्थ हैं। केवल प्रकाश-दर्शन की सूचना देते हैं, जो आत्मा के स्व-स्वरूप में स्थित होने का पूर्वाभास है। कुछ साक्षात्कार कर्ता नाद-श्रवण की भी सूचना देते हैं जैसे शंकराचार्य एवं कबीरदास। प्रो. रानडे ने भी इस स्थिति को स्वीकार किया है। उनके विचार से उपनिषद् के ऋषि द्रष्टा थे। वे श्रोता नहीं थे।[3] किन्तु, ये अनुभव निरर्थक नहीं हैं। इन प्रकाशदर्शन एवं नाद-श्रवण के अनुभवों से उस अनिर्वचनीय आत्मानुभव की सूचना मिलती है, जो इन अनुभवों के आगे तथा साक्षात्कारोत्तर आनंदानुभूति के पीछे स्थित होता है।

मुक्ति और आत्म-साक्षात्कार

प्रो. रानडे आत्मानुभूति को ही मुक्ति या मोक्ष मानते हैं,[4] किसी अन्य मोक्ष की कल्पना नहीं करते। उन्होंने अपने प्रमाणों के चिंतन में स्वानुभव को ही अंतिम प्रमाण स्वीकार किया था तथा द्रव्य-संबंधी चिंतन में आत्मा को ही आधारभूत द्रव्य स्वीकार किया था।[5] यदि आत्मा ही एकमात्र द्रव्य है और स्वानुभव उसे जानने का उचित प्रमाण है, तो स्वानुभव ही आत्म-लाभ का साधन भी है और स्वानुभव में ही मोक्ष-प्राप्ति भी है। अतः, हमारा संपूर्ण पुरुषार्थ स्वानुभव में ही केन्द्रीभूत होता है। स्वानुभव ही आध्यात्मिक दर्शन का साध्य बन जाता है। इसकी प्रामाणिकता का भली भाँति निश्चय होना चाहिए।

---

1. पतंजलि : योगसूत्र 1.3.
2. बादरायण : ब्रह्मसूत्र : 3.2.22.
3. "It seems, however, on the whole, that the Upanisadic mystics are either morphists, or photists, rather than audiles." — Survey, p. 251.
4. "In fact there is no difference between realisation and liberation." — Vedanta, p. 170.
5. "In exhaustive investigation * into different Dravyas will give us the conclusion that Atman is the only substance." — Vedanta, p. 31.

   *"The problem of Categories." Ibd., p. 20.

स्वानुभव की प्रामाणिकता

यह अव्यवहित अनुभव है। अतः किसी अन्य प्रमाण से इसकी प्रामाणिकता नहीं निर्धारित की जा सकती। किन्तु इसके ज्ञानमीमांसात्मक औचित्य पर विचार संभव है। इस दृष्टि से यह विचार किया जा सकता है कि संवाद (कारेस्पान्डेन्स), संसक्तता (कोहेरेन्स) तथा अर्थक्रियावादी. संतोष (प्रैग्मेटिक सैटिस्फैक्शन) की आकांक्षाओं की अनुभव में पूर्ति होती है, अथवा नहीं।

प्रो. रानडे का कथन है कि संवाद सिद्धांत की तकनीकी कठिनाइयों के बावजूद अनुभव में इसकी अंशतः पूर्ति होती है। वह कबीरदास का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं जिन्होंने अनुभव में भीतर, बाहर एक समान अनुभूति होने का साक्ष्य प्रस्तुत किया है।[1] वस्तुतः संवाद खोजने का प्रश्न अनुभव के संदर्भ में उठता नहीं, क्योंकि इसमें ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत मिट जाना अभीष्ट है। अतः, संवाद तादात्म्य में परिणत हो जाता है। किन्तु, अन्य दो आदर्शों से अनुभव की प्रामाणिकता स्थापित हो जाती है। अनुभव में सन्निहित 'आनंद' जिसकी साक्षात्कारोत्तर अनुभूति से अनुमित किया जा सकता है, अर्थक्रियावादी संतोष की आकांक्षा को पूर्ण कर देता है।[2] इसे प्रो. रानडे स्वीकार करते हैं। संसक्तता के संदर्भ में वह यह तो स्वीकार करते हैं कि जो सर्वाधिक संसक्त है, वह सर्वाधिक सत्य भी है किन्तु, उनका कथन है कि अनुभवकर्ता स्वयं संसक्तता का भी अनुभव नहीं कर सकता।[3] ठीक है, आनंदानुभूति स्वयं साधक को अपने अनुभव की सार्थकता का बोध कराती है और वह अपने सभी अनुभवों में संसक्तता भी पा सकता है। संसक्तता अनुभवकर्ता से भिन्न अध्येता के अनुभव की प्रामाणिकता का निश्चय कराने के निमित्त बहुत सक्षम साधन है। बादरायण ने बहुत पहले इस तथ्य को समझा और 'तत्तु समन्वयात्'[4] सूत्र द्वारा व्यक्त

---

1. "Still an element of correspondence need not be denied to anubhava if we use the word correspondence in the sense in which Kabir used it ..... there is a perfect parity between internal perception and external percetion. — Vedanta, p. 40.
2. "Even the pragmatists criterion of satisfaction finds a place in Anubhava ..... It is beatification that constitutes the ultimate end ....." — Vedanta, p. 41.
3. "What is most coherent will be most ture. But if coherence rises to the level of transparent coherence, where the knower, knowledge and known become one, then it is nothing else than Anubhava." — Ibid., p. 41.
4. बादरायण सूत्र : 1.1.4.

किया था तथा सभी भाष्यकारों ने सूत्रार्थ निर्धारिण में इसे प्रयुक्त किया था। प्रो. रानडे ने भी इसी पद्धति का प्रयोग किया है। आत्मानुभव संबंधी विचारों की प्रामाणिकता अनुभवकर्ताओं के साक्ष्य की संगति पर निर्भर करती है। यह संगति, अथवा संसक्तता ही सिद्ध करती है कि उपनिषदों तथा संतों के कथन प्रामाणिक हैं। तभी हम लिखित एवं कथित आत्मानुभव के आधार पर आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म सभी को तदात्मक मानकर उनका स्वभाव निर्णीत कर सकते हैं।

आत्म-स्वभाव

प्रो. रानडे इस संदर्भ में बादरायण के तीन सूत्रों से काम लेते हैं। 'ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः'[1] सूत्र जैमिनि का मत प्रस्तुत करता है। इस सूत्र के अनुसार, मुक्तात्मा उस ब्राह्म रूप में स्थित होता है, जिसका उपनिषदों में उपन्यास हुआ है। शांकर भाष्य में इस सूत्र का संबंध छांदोग्य के 'स सत्र पर्येति जक्षन् - क्रीडनर ममाणः'[2] से ज़ोड़ा गया है। 'रममाणः' के आग्रह से प्रो. रानडे जैमिनि का अर्थ 'आनंदानुभव करते हुए ब्रह्म में स्थित होना' समझते हैं। दूसरा सूत्र 'चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोभिः'[3] औडुलोमि का मत व्यक्त करता है। प्रो. रानडे मध्वाचार्य का संशोधन स्वीकार करते हैं, जिन्होंने 'तन्मात्रेण' के स्थान पर 'मात्रेण' इसलिए ग्रहण किया है कि 'तन्मात्र' का अर्थ रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द यहाँ अप्रासंगिक है। अतः इस सूत्र से पता चलता है कि औडुलोमि मुक्तावस्था में आत्मा का 'तदात्मक' होकर 'चिमात्र' रूप में स्थित होना स्वीकार करते हैं। तीसरे सूत्र का मुख्य अंश 'अविरोधं बादरायणः'[4] यह सूचित करता है कि बादरायण जैमिनि तथा औडुलोमि के मतों में अविरोध मानते हैं अर्थात् बादरायण मुक्तावस्था में आत्मा को 'चिदानंद' मानते हैं।[5]

प्रो. रानडे को उपर्युक्त विवाद में 'तदात्मकत्व' की स्थापना मुख्य प्रतीत होती है। रहस्यवादी साधक 'संराधन' में यह स्थिति प्राप्त कर लेता है। अतः संराधन काल का अनुभव मुक्तावस्था का अनुभव है। 'तदात्मकत्व' से यह

1. बा.सू. 4.4.5.
2. छां. 8.12.3.
3. बादरायण सूत्र : 4.4.6.
4. वही : 4.4.7.
5. वेदांत : पृ. 176.

अनुभव परमात्मा के स्वभाव से भी अवगत कराता है। वह 'सच्चिदानंद' है। चिदानंद के अनुभव में 'सत्' की स्वीकृति आधारभूत है।

मरणोपरान्त मुक्ति

प्रो. रानडे इस प्रसंग में रुचि नहीं लेते, क्योंकि वह स्वानुभव का विषय नहीं। रहस्यवादी के लिए उतना ही मानना उचित है, जितना उसके अपने अनुभव से अनुमोदित हो, अथवा दूसरों के संगत स्वानुभवों से ग्रहण किया जा सके। रहस्यवादी अनुभव उत्तरोत्तर सामीप्य का अनुभव है : साधक अपने को निरंतर ईश्वर के समीप पहुँचता हुआ पाता है। अतः प्रो. रानडे ने अपने गणितीय ज्ञान का लाभ उठाकर परमात्मा के समीप होते जाने की प्रक्रिया को 'अनंतस्पर्शी उपगमन'[1] कहा है। भाव यह है कि एक दूसरे के समीप होने की प्रक्रिया में रत, एक आधार रेखा और एक वक्र का किसी अनंत बिन्दु पर स्पर्श अवश्यंभावी है। इस कथन में और कोई बात हो या न हो, एक समर्पित भक्त की भगवान् से मिलने की अनंत आशा अवश्य प्रतिध्वनित है। मिलने की अनंत उत्कंठा ही रहस्यवादी साधना का मूल प्रेरणा-स्रोत है।

●●●

1. "Asymptotic Approximation," — The Bhagavadgita p. 71.

अध्याय 11

मानवेंद्रनाथ राय

जीवन-वृत्त

अपने समकालीनों में मानवेंद्रनाथ राय बेजोड़ थे, प्राची में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो, जिससे उनकी तुलना की जा सके। किन्तु यह अत्यन्त दुःखद है कि राय अपने जीवन की पूरी कहानी बताने के लिए जीवित न रहे। उनके व्यक्तित्व के ऐसे भी पहलू थे जिसे उनके सार्वजनिक जीवन का निकटतम सहयोगी भी न जानता था और स्वयं राय अनेक प्रयासों के बावजूद भी, अपनी आत्मकथा लिखने को तैयार न हो सके। इसीलिए तो उन्हें भारतीय राजनीति के 'रहस्य-पुरुष' की भी संज्ञा दी गयी। एक बार जेल में जब उन्हें आत्मकथा लिखने का एक आकर्षक प्रस्ताव किसी अमरीकी प्रकाशक से मिला तो उस पर उन्होंने टिप्पणी की : "मैं आत्मकथा को वस्तुगत सत्य का अत्यन्त अविश्वसनीय साधन मानता हूँ। अपने सर्वथा निजी एवं अंतरंग अनुभवों के बारे में किसी भी व्यक्ति के लिए केवल सच, और सच के अलावा और कुछ नहीं, लिखना प्रायः असंभव है। मेरी समझ में नहीं आता कि बुद्धिमान पुरुष क्यों आत्मकथा लिखने में प्रवृत्त होते हैं। यह वस्तुतः मनोविश्लेषण का विषय है ..... सर्वाधिक सत्यवादी भी अपनी आत्मकथा को अनजाने ही असत्य बातों से भर देता है।"[1] अपने संबंध में उनके इस प्रकार असाधारण मौन धारण करने की व्याख्या करना बहुत कठिन नहीं है। राय ने अपनें व्यक्तित्व तथा कार्य में पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लिया था। कार्य ही अपने व्यक्तित्व को मुखरित करने के लिए उनका साधन था। उनका व्यक्तित्व इतिहास की धारा में पूर्णतया निमग्न था; उसकी दिशा को प्रभावित करने के लिए प्रयासरत था। ऐसी दशा में आत्मकथा द्वारा आत्माभिव्यक्ति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

अपनी पत्नी एलेन तथा मित्रों के निरंतर आग्रह पर उन्होंने अति संकोच के साथ कुछ लिखना स्वीकार किया। किन्तु उन्होंने इस संबंध में जो कुछ लिखा वह अत्यन्त अपर्याप्त है, राय का जीवन-वृतांत अभी भी लिखा जाना शेष है।

---

1. राय, लेटर्स फ्राम जेल : (इडियन रेनासाँ असोशियेसन, देहरादून, पृ. 201-202) श्री वी.बी. कर्णिक द्वारा एम.एन. राय के मेम्वायर्स में उद्धृत, पृ. सं. 557.

इनका 1889 ई. में बंगाल के चौबीसपरगना जिले में एक ब्राह्मण परिवार में जन्म हुआ था। बचपन का नाम नरेंद्र भट्टाचार्य था। चौदह वर्ष की ही आयु में इन्होंने क्रांतिकारी आंदोलनों में भाग लेना प्रारम्भ कर दिया। प्रथम विश्व-महायुद्ध के छिड़ने पर नरेन्द्र ने विदेशी शासन का उन्मूलन करने के लिए विदेशों से शस्त्र प्राप्त करने के उद्देश्य से छद्मवेश में देश छोड़ दिया। बर्मा, इंडोनेशिया, चीन, जापान तथा फिलीपीन की यात्रा करते हुए वे अमेरिका पहुँचे। अमेरिका में ही वे नरेंद्र भट्टाचार्य से मानवेंद्रनाथ राय हो गये (यही नाम अंत तक बना रहा, यद्यपि बीच-बीच में उन्होंने और भी कई नाम धारण किये)। अमेरिका से भागकर वे मेक्सिको गये। मेक्सिको प्रवास में उन्होंने उग्र राष्ट्रवाद छोड़कर मार्क्सवाद को स्वीकार किया तथा मेक्सिको की साम्यवादी पार्टी की स्थापना की। मेक्सिको से वे रूस गये और वहाँ से कुछ दिनों के लिए चीन। रूस की कम्युनिस्ट पार्टी में उन्हें उच्च पद भी मिला। और अंत में, शस्त्रों की खोज में निकले हुए नरेंद्र भट्टाचार्य मानवेंद्र नाथ राय के रूप में लगभग 14 वर्षों के पश्चात् 1930 ई. में भारत वापस आये।

दीर्घकालीन विदेश-प्रवास तथा यात्रा में उन्हें नयी दृष्टि और नये विचार मिले। मार्क्स के माध्यम से उन्होंने विचार एवं मूल्यों के नवीन जगत् में प्रवेश किया। उन्होंने स्वतंत्रता से प्रेम सीखा और मानव की मानवीयता की नयी पहचान ढूँढ़ी। उनके जीवन का प्रारंभ एक राष्ट्रवादी क्रांतिकारी के रूप में हुआ; वर्षों तक मार्क्सवादी विचारधारा से प्रतिबद्ध एम.एन. राय अंततः मार्क्सवाद का अतिक्रमण करके एक नव मानववादी दार्शनिक के रूप में हमारे सामने आते हैं। और "यह किसी भी व्यक्ति के लिए एक महान् उपलब्धि है, विशेष कर उसके लिए जिसने कभी भी किसी विश्वविद्यालय के प्रांगण में प्रवेश न किया हो। एम.एन. राय को हमारे युग की क्रांति के इतिहास में जो गुण विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करते हैं, वे हैं : स्वातंत्र्य प्रेम, सहजता, दृढ़, निश्चय, सत्यनिष्ठा, सिद्धांतों तथा उनके मानवीय निहितार्थों में प्रगाढ़ रुचि, स्वतंत्रता-संघर्ष से अविचल लगाव ..... आदि का अनूठा मेल।"[1] राय का व्यक्तित्व मानो एक सार्वभौम व्यक्ति का प्रकाशन है जिसके संपर्क में आने पर साधारण से साधारण व्यक्ति को भी जीवन की सार्थकता, उसके मूल्य एवं सौंदर्य का बोध होता है। निराश व्यक्ति भी उनके संपर्क में आकर अनुभव करता है कि जीवन में सुख एवं सौंदर्य है तथा उसका भी इस जीवन गति में महत्त्वपूर्ण योगदान है।

रूस से वापस आने पर राय को गिरफ्तार कर लिया गया; उनके ऊपर पहले से ही कई आरोप थे। जेल के कठिन जीवन में भी उन्होंने लिखने का

1. एम.एन. राय के मेम्वायर्स, भूमिका, पृ. viii

क्रम जारी रखा। श्रीमती एलेन राय के नाम से भेजे गये पत्र उनकी अमूल्य कृति हैं, उनमें राजनीति, दर्शन, साहित्य, कला तथा विज्ञान-सभी विषयों पर राय के विचार संकलित हैं। जेल से निकलने पर उन्होंने कांग्रेस पार्टी की सदस्यता स्वीकार की और उसके विभिन्न क्रियाकलापों में रचनात्मक योगदान दिया। कराँची के प्रसिद्ध अधिवेशन में राय की प्रेरणा से कांग्रेस ने अपने लिए एक सामाजिक एवं आर्थिक कार्यक्रम की योजना स्वीकार की। किन्तु राय वामपंथी थे, उनकी चिंतन प्रणाली तथा संघर्ष की तकनीक गांधीवाद से भिन्न थी; यह कितनी दुःखद बात है कि राय को अपनी क्रांतिकारी योजनाओं के लिए उस युग के माने हुए वामपंथी नेताओं – सुभाषचन्द्र बोस तथा जवाहरलाल नेहरू – से सहयोग न मिला। शीघ्र ही द्वितीय विश्व महायुद्ध को लेकर विपरीत दृष्टिकोणों के नाते उन्होंने कांग्रेस से संबंध विच्छेद कर लिया; परिणामस्वरूप रेडिकल डिमोक्रेटिक पार्टी का अभ्युदय हुआ जिसमें लीग ऑफ रेडिकल कांग्रेसियों के अतिरिक्त अन्य लोग भी शामिल हुए और शीघ्र ही यह पार्टी एक सशक्त, प्रभावशाली पार्टी बन गयी। इसी बीच उन्होंन 'दि मार्क्सियन वे' नामक त्रैमासिक पत्रिका भी निकालना प्रारंभ कर दिया जिसमें दार्शनिक एवं राजनैतिक समस्याओं के विवेचन को प्रमुख स्थान दिया। बाद में इस पत्रिका का नाम परिवर्तन 'दि ह्यूमनिस्ट वे' कर दिया गया।

महायुद्ध की समाप्तिकाल में राय को यह बोध हुआ कि पूँजीवाद और साम्यवाद – दोनों ही अपूर्ण एवं अपर्याप्त सिद्धांत हैं – उन्होंने पहले ही हिटलर की हार की तथा रूस और अमेरिका के दो ध्रुवों के रूप में उभरने की भविष्यवाणी कर दी थी। उन्होंने यह अच्छी तरह समझ लिया था कि विश्व की शांति की स्थापना तथा उसकी प्रगति एवं समृद्धि के लिए इन दो महाशक्तियों के संघर्ष को रोकना परमावश्यक है। इसका उत्तर न तो पूँजीवाद के पास था और न् साम्यवाद के पास। इसके लिए इन दोनों विचारधाराओं का अतिक्रमण करके एक ऐसी विचारधारा, राजनैतिक संरचना तथा सामाजिक परिस्थिति के निर्माण की आवश्यकता थी जिसमें सबकी स्वतंत्रता और समानता सुरक्षित रह सके, जिसमें सबके विकास का उन्मुक्त अवसर हो। राय का नवमानववाद इसी का परिणाम है। इस नवीन दर्शन को उन्होंने 1946 की दिसम्बर में रेडिकल डिमाक्रेटिक पार्टी के अधिवेशन में प्रस्तुत किया। संभवतः यह अपने आप में एक अद्वितीय उदाहरण है कि किसी राजनैतिक पार्टी ने इतने उच्चस्तर के दार्शनिक तथा बौद्धिक विषय की विवेचना की हो। और इससे भी असाधारण एवं अनूठा उदाहरण यह है कि एक स्पष्ट जीवन-दर्शन का निर्धारण करके

रेडिकल डिमाक्रैटिक पार्टी ने अपनी व्यर्थता को स्वीकार करके अपना विघटन भी स्वीकार कर लिया और इस प्रकार एम.एन. राय एक उग्र राजनैतिक क्रांतिकारी से गंभीर सामाजिक और दार्शनिक चिंतक के रूप में हमारे समक्ष आते हैं।

इस महान् क्रांतिकारी योद्धा, स्वतंत्रता के पुजारी, प्रखर चिंतक एवं दार्शनिक का 25 जनवरी, सन् 1954 ई. में देहरादून में देहांत हो गया। उनकी सहधर्मिणी श्रीमती ऐलेन राय उनकी मृत्यु के बाद उनके कार्य को दृढ़निष्ठा के साथ चलाती रही। दुर्भाग्य से सन् 1960 ई. में उनकी हत्या कर दी गयी। किन्तु राय ने मानव स्वातंत्र्य का जो अभियान चलाया था, उसे रोका न जा सका। देश में नव-मानववादी विचारधारा निरंतर विकासशील है तथा चिंतन एवं स्वतंत्र समाज-रचना के क्षेत्र में राय के योगदान के हम सर्वदा ऋणी रहेंगे।

भौतिकवाद

राय भौतिकवादी दार्शनिक हैं। उनका कहना है कि "दर्शन भौतिकवाद है और भौतिकवाद ही एकमात्र संभव दर्शन है। भौतिकवाद प्रकृति की घटनाओं के निरीक्षण, खोज तथा चिंतन के आधार पर उसके वास्तविक रूप का ज्ञान प्रस्तुत करता है। यह उस प्रकार का भयावह दर्शन नहीं है जैसा कि सामान्यतः इसे चित्रित किया जाता है। यह विद्वेषी एवं अज्ञ विरोधियों द्वारा प्रचारित 'खाओ, पियो तथा मौज करो' का दर्शन नहीं है। भौतिकवाद का सीधा-सा अर्थ है कि सभी सत्तावान् वस्तुओं का मूलस्रोत भौतिक द्रव्य या पुद्गल (मैटर) है, और 'भौतिक द्रव्य' का रूपांतरण है और ये रूपांतरण प्रकृति में निहित नियमों से अनिवार्यतः नियंत्रित हैं।"[1] यहाँ यह स्मरणीय है कि राय भौतिक द्रव्य (मैटर) शब्द का प्रयोग इसके प्राचीन अर्थ में नहीं करते। विज्ञान की नवीनतम शोधों ने यह सिद्ध कर दिया है कि प्राचीन अर्थ में प्रयुक्त पुद्गल अंतिम भौतिक तत्त्व नहीं है, किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि अंतिम तत्त्व अभौतिक अथवा आध्यात्मिक अथवा मानसिक हैं। पुद्गल की धारणा में आमूल परिवर्तन हो चुका है तथापि विश्व का मूल तत्त्व भौतिक है, न कि आध्यात्मिक। 'भौतिकवाद' शब्द से अनपेक्षित भ्रांति न हो – इसलिए राय अपने दर्शन को भौतिकवाद की अपेक्षा भौतिक वस्तुवाद (फिजिकल रियलिज्म) कहना अधिक पसंद करते हैं।[2]

1. राय मैटिरियलिज्म, रेनाँसाँ पब्लिशर्स लि., द्वितीय संस्करण, वर्ष 1951 पृ. 5.
2. वहीं, पृ. 184.

भौतिकवाद को वास्तविक दर्शन की प्रतिष्ठा देते हुए एम.एन. राय इसे तत्त्वमीमांसा (मेटाफिजिक्स) से भिन्न करते हैं। उनके अनुसार दर्शन तथा तत्त्वमीमांसा का प्रारंभ बिन्दु तथा मूल लक्ष्य एक है। दोनों वस्तुओं के वास्तविक रूप की प्रकृति की अनेक-विध घटनाओं के मूलस्रोत की खोज करना चाहते हैं। किन्तु तत्त्वमीमांसा संवृतिजगत की अवहेलना कर परमार्थ जगत् की तलाश में शीघ्र ही दर्शन की आधारभूमि का परित्याग कर देती है। तत्त्वमीमांसा जगत् की मूर्त वास्तविकता की व्याख्या प्राक्कल्पित निरपेक्ष[1] के आधार पर करने का प्रयास करती है। किन्तु इससे जो उपलब्धि होती है, वह 'सत्य नहीं बल्कि स्वप्न, ज्ञान नहीं अपितु भ्रांति है।' दृश्य-जगत एक प्रदत्त वास्तविकता है परिकल्पनात्मक दर्शन इसकी व्याख्या न करके इसे नकारता है, इसे मानव-कल्पना से प्रादुर्भूत मानता है। जिज्ञासा के वास्तविक विषय के निषेद पर आधारित जिज्ञासा की परिणति निश्चय ही स्वप्न एवं भ्रांति में होती है। जगत् से परे परमार्थ जगत्, भ्रामक आभासों के पीछे निरपेक्ष सत् की मान्यता तत्त्व-निरूपण का सहज और उचित मार्ग नहीं है। यह वास्तविकता को न स्वीकारने का एक तरीका है। फायरबाख के शब्दों में 'यह उसी प्रकार है जैसे कि कोई भूखा पशु किसी कल्पित दुष्टात्मा के भय से मरुभूमि में इधर-उधर दौड़ रहा हो, जबकि उसके चारों ओर अनंत हरीतिमा के सिवा और कुछ नहीं है।'[2] राय का कहना है कि परिकल्पनात्मक दर्शन के प्रारंभ के साथ सच्चे दर्शन का अंत हो जाता है।[3] एक निरक्षेप सत् की स्वीकृति के साथ मनुष्य को विश्व की समस्याओं के समाधान की आकांक्षा को भी रोक देना चाहिए। जो दर्शन किसी अज्ञेय और अज्ञात सत्ता को अपना निरपेक्ष मानदंड मान लेता है, जो इंद्रिय ज्ञान की सहायता न लेकर उसका तिरस्कार करता है, वह केवल अमूर्त सत्य की ही स्थापना कर सकता है और यह अमूर्त सत्य एक रिक्त स्वप्न तथा व्यर्थ कल्पना के सिवा और कुछ नहीं है। प्रकृति की घटनाओं का ज्ञान किसी कल्पित, अतिप्राकृतिक, परमार्थ जगत् में ढूँढना, तर्कतः असंगत और दार्शनिक दृष्टि से अस्वीकार्य है। जो स्वतः अज्ञात, अनिरूपित, अव्याख्यात तथा अस्पष्ट है वह दूसरी वस्तुओं की व्याख्या अथवा स्पष्टीकरण कैसे कर सकता है? और ऐसी संभव व्याख्या दर्शन नहीं होगी; वह अंध आस्था होगी। वस्तुतः तत्त्वमीमांसा के मूल सिद्धान्त आदिकालीन मनुष्य के जादू-टोने के सिद्धांतों से भिन्न नहीं हैं।

---

1. Hypothetical Absolute.
2. उपर्युक्त, पृ. 5, राय द्वारा उद्धृत।
3. वही, पृ. 5.

दोनों ही किसी अदृश्य, अज्ञेय शक्ति में विश्वास करते हैं। भौतिकवाद और तत्त्वमीमांसा में यही मुख्य भेद है : तत्त्वमीमांसा एक असत्यापित और असत्याप्य प्राक्कल्पना पर आधारित है, भौतिकवाद किसी भी प्राक्कल्पना को तब तक नहीं स्वीकार करता जब तक कि इंद्रियानुभव द्वारा उसका सत्यापन न हो जाय।

भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन के विशद विश्लेषण के आधार पर मानवेंद्र नाथ राय यह स्थापित करते हैं कि भौतिकवादी विचारधारा का सूत्रपात मानवीय चिंतन के साथ ही हुआ है।[1] भौतिकवाद मनुष्य की सहज आध्यात्मिकता का विपर्यास नहीं है, यह मनुष्य की आत्मा अथवा आध्यात्मिकता का सहज विकास है। प्रारंभ में, जब तक अज्ञान और पूर्वाग्रह दर्शन के ऊपर उसके प्रादुर्भाव के साथ से ही हावी रहे, भौतिकवाद का विकास अवरुद्ध रहा, किन्तु विचार धारा के रूप में उसका उन्मूलन न किया जा सका। आधुनिक विज्ञान ने इस "तत्वमीमांसीय राज्यापहारी को दर्शन के राजसिंहासन से च्युत करके भौतिकवाद को उसके सम्मानित स्थान पर प्रतिष्ठित किया है।"[2] राय द्वारा प्रस्तुत दर्शनशास्त्र के ऐतिहासिक विश्लेषण के विस्तार में जाना यहाँ पर संभव नहीं है, अस्तु हम केवल उनके विश्लेषण के मूल मंतव्यों का ही रेखांकन करेंगे।

• भारतीय दर्शन में भौतिकवाद के प्राचीनतम संकेत वेदों से ही उपलब्ध होने लगते हैं। उपनिषदों में जहाँ एक ओर बुद्धिवाद, प्रकृतिवाद और अज्ञेयवाद की विचारधारा मिलती है, वहीं पर दूसरी ओर घोर भौतिकवाद, निरीश्वरवाद और नास्तिकता की भी गूँज विद्यमान है। स्वसंवेद उपनिषद्, सूत्र-2 से उद्धृत करते हुए राय इस विचारधारा का सार प्रस्तुत करते हैं :

'कोई अवतार नहीं होता, न ईश्वर है, न स्वर्ग और न नरक, समस्त पारंपरिक धर्मशास्त्र का साहित्य दंभी मूर्खों की कृति है ..... पुष्पित वाक्यों से भ्रमित जन देव-मंदिरों तथा पुजारियों में आस्था रखते हैं, जबकि वस्तुतः विष्णु और श्वान में कोई भेद नहीं है।'[3]

वेद-मंत्रों में नास्तिकों की स्पष्ट चर्चा की गयी है। ये नास्तिक प्राकृत धर्मशास्त्र के विरोधी और वास्तव में वही भारतीय दर्शन के पूर्वज हैं। उनके अनुसार प्रकृति के ही माध्यम से प्रकृति की व्याख्या करना दर्शन का अभिप्राय होना चाहिए। इससे यह स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन मूलतः भौतिकवादी था।

1. राय : रीजन, रोमांटोसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन, खंड 1, पृ. 5, (रेनाँसाँ पब्लिशर्स लि., 1952)
2. मेटिरियलिज्म, पृ. 15.
3. वही, पृ. 78.

वेदों तथा उपनिषदों में स्वभाववादियों की चर्चा मात्र एक महत्त्वहीन संयोग नहीं है। वह इस बात का प्रमाण है कि भारतीय दर्शन के पूर्वपुरुष इंद्रियानुभव वादी थे, उनके अनुसार प्रत्यक्ष एकमात्र ज्ञान का स्रोत था। चार्वाक अथवा लोकायत दर्शन में भौतिकवाद का रूप सर्वथा स्पष्ट होता है। इस दर्शन के यथार्थ किन्तु विस्मयकारी परिणामों ने अध्यात्मवादी मान्यताओं को इस तरह झकझोरा कि उसने अपनी समूची शक्ति इसके खंडन के लिए लगा दी। और, क्योंकि अध्यात्मवाद का प्रतिनिधित्व समाज के सशक्त वर्ग के हाथ में था, इस लिए लोकायत दर्शन के रूप को इस प्रकार विकृत करके प्रस्तुत किया गया कि आगामी शताब्दियों तक कोई भी दर्शन-परपंरा इसका समर्थन न कर सकी और यदि कुछ समर्थन किया भी तो छद्म रूप से, जो सशक्त न हो सका।

वैशेषिक दर्शन प्राचीनतम भारतीय दर्शन तंत्र है और इसका भौतिकवादी स्वरूप सुस्पष्ट है।[1] अणु संसार के मूल कारण हैं, बिना कारण कार्य की सत्ता नहीं स्वीकारी जा सकती। अणु शाश्वत हैं; एक वर्ग और गुण के अणुओं के संयोग के दो कारण हैं। (क) स्वयं अणुओं में निहित भौतिक कारण और (ख) अलौकिक दैवी इच्छा, जो कि अनिहित कारण है। इस अदृश्य अलौकिक शक्ति की मान्यता सर्वथा अनावश्यक थी और वस्तुतः आज यह कह सकना असंभव है कि स्वयं कणाद ने इस अनावश्यक अभिग्रह को स्वीकार किया था अथवा नहीं। वैशषिक दर्शन ने आध्यात्मिक आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार किया; जगत के कारण रूप में ब्रह्म को अनावश्यक घोषित किया और प्रकृति के गतिशील रूप को स्वीकार किया। यह प्रकृति को स्थिर भाव रूप न मानकर एक संभवनशील प्रक्रिया मानता है।[2] इस दर्शन में पुद्गल की अनश्वरता के भी संकेत विद्यमान हैं और ग्रीक भौतिकवादी दार्शनिक डिमाक्रिट्स की अपेक्षा कणाद का अनुभववादी दर्शन अधिक पूर्ण और व्यवस्थित है। किन्तु भारत और ग्रीस की सामाजिक परिस्थितियाँ भिन्न थीं। अतएव जहाँ ग्रीस में मानव-चिंतन का विकास प्राकृत धर्म[3] से भौतिकवादी दर्शन की ओर बड़ी सुगमता से हो सका, भारत का वैज्ञानिक एवं तार्किक चिंतन पुरोहितीय चिंतन से अभिभूत होने के कारण विकास न कर सका और संभवतः इसी नाते वैशेषिक दर्शन ने अदृश्य

1. इसके तथा आगामी विवरणों के विस्तार के लिए दखिये – मैटिरियलिज्म अध्याय 2, 3 और 4.
2. "It regards nature not as a being but a process of becoming."
3. Natural Religion.

अलौकिक कारण की अनावश्यक धारणा को भी अपने दर्शन में स्थान दिया।

यद्यपि भौतिकवादी दर्शन के मूल सिद्धांतों की स्थापना का श्रेय वैशेषिक दर्शन को है, उस युग के बुद्धिजीवी समाज में प्रभावशाली स्थान सांख्य दर्शन को प्राप्त था। कपिल निरीश्वरवादी थे जिन्होंने यह कहा कि ईश्वर का अस्तित्व तार्किक प्रमाणों के आधार पर स्थापित नहीं किया जा सकता। सांख्य दर्शन का महान् योगदान है – एक वस्तुगत वास्तविकता-प्रकृति-की स्वीकृति, जो कि भौतिक जगत् का आधार है। सांख्य की प्रकृति जगत् का मूल कारण है और इसका स्वरूप 'गतिशील भौतिक द्रव्य' का-सा है।[1] कपिल अणुवाद को अस्वीकार करते हैं किन्तु उनकी प्रकृति वेदांती ब्रह्म अथवा हेगेल की अ-सत्ता का सिद्धान्त नहीं है। प्रकृति की परिभाषा में उसका यांत्रिक स्वरूप स्पष्ट है। 'जिस प्रकार माँ के स्तन से दूध स्वतः प्रवाहित होता है उसी प्रकार अचेतन प्रधान भी अपने स्वभाव से ही प्रेरित होती है।'[2] प्रकृति की यह धारणा इस दर्शन के तत्त्वमीमांसीय तत्त्वों को अनावश्यक सिद्ध कर देती है। जगत् की व्याख्या यांत्रिक भौतिकवादी धारणा के आधार पर की जा सकती है, उसके लिए किसी ब्राह्य अलौकिक सिद्धांत की कोई भी आवश्यकता नहीं। सांख्य पुरुष वस्तुतः एक रिक्त धारणा है, विश्वप्रक्रिया में इसकी कोई भूमिका नहीं है। इसका स्वरूप ही ऐसा है कि वस्तु जगत् से इसका कोई संबंध नहीं हो सकता। सांख्य का द्वैतवाद उसका वास्तविक रूप नहीं है। प्रकृति समस्त जगत का मूल कारण है, पुरुष अनेक कोटियों में से एक कोटि है।[3] ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में संवेदनवादी सिद्धांत का प्रतिपादन करके सांख्य ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

चार्वाक दर्शन प्राचीन भारत की बौद्धिक संस्कृति की भावात्मक उपलब्धि है। इसने श्रुतज्ञान की धारणा का खंडन करके इंद्रियज्ञान के महत्त्व को स्वीकार किया। नैतिक आध्यात्मिक शब्दावली से आच्छादित बौद्ध दर्शन का भौतिकवादी सारतत्त्व असंदिग्ध है। बौद्ध वस्तुवाद के अनुसार अर्थक्रियाकारित्व किसी वस्तु के अस्तित्व का मानदंड है। इस भौतिकवादी मानदंड के आधार पर किसी भी अमूर्त, आध्यात्मिक तत्त्व का अस्तित्व नहीं सिद्ध हो सकता। जगत एक गतिशील तथा आत्मोत्पादक प्रक्रिया है। मानसिक की उत्पत्ति भौतिक से हुई है। आत्मा

1. "Matter in motion."
2. सांख्यकारिका : 57.
3. इसी विषय पर देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय का मत तुलनीय है। जिनके अनुसार सांख्य पुरुष मूल सांख्य का सिद्धांत न होकर एक वेदांती आरोपण है। देखिये उनका ग्रंथ : इण्डियन मैटिरियलिज्म।

कोई स्वतंत्र कोटि नहीं है। यह मानवीय क्रियाओं का प्रेरक नहीं है, अपितु उन्हीं क्रियाओं द्वारा संचित संस्कारों का योग है। किन्तु निर्वाण की धारणा को स्वीकार करके बौद्ध दर्शन अपने आधार वाक्य के निष्कर्ष तक पहुँचने में असफल रहा। निर्वाण का आदर्श बौद्ध दर्शन की भौतिकवादी मान्यताओं के विपरीत है। इस मान्यता का कारण उस युग की सामाजिक परिस्थितियों तथा बौद्ध दर्शन का उच्च वर्ग के प्रश्रय में आना था। क्षणभंगवाद का सिद्धांत, अन्यथा महत्त्वपूर्ण होते हुए भी, बौद्ध दर्शन को आध्यात्मवाद की ओर खींच ले गया। जो क्षणिक है वह असत् है, अतः दुःख आदि प्रत्यय मात्र हैं, वास्तविकता नहीं। वस्तु-जगत् भी एक अवास्तविकता है। इस आध्यात्मिक पथांतरण के नाते बौद्ध दर्शन बड़ी सरलता से 'ब्राह्मण दर्शन' के प्रभाव में आ गया। महायान दर्शन हिन्दू कर्मकांड की प्रतिकृति मात्र रह गया। तथापित बौद्ध अध्यात्मवाद पूर्णतः धर्मशास्त्र में विलीन नहीं हुआ। जगत को क्षणिक कहकर इसने वस्तुतः विषय और विषयी की एकता स्थापित करना चाहा, न कि उसकी अवास्तविकता।

प्रकृति का गतिशील रूप जैन दर्शन में आकर अत्यंत स्पष्ट हो गया। जैनियों के अनुसार भाव और अभाव जैसे विरोधी गुण एक ही वस्तु में रह सकते हैं। उन्होंने स्थिर, निरपेक्ष तथा एक की धारणा का खंडन किया, जिसके फलस्वरूप शंकराचार्य ने उनके 'तर्कना की विस्थापक शैली' की आलोचना की। जैनियों ने आत्मा के अस्तित्व को तो स्वीकार किया असंख्य 'जीवाणुओं'[1] से संरचित यह आत्मा वेदांत के 'सरल और अमर' आत्मा से भिन्न है। जगत अपनी निरंतर परिवर्तनशीलता के साथ एक वास्तविक जगत है।

जीवन की विद्यमान परिस्थितियों से असंतोष मनुष्य को परिवर्तन के लिए प्रेरित करता है। किन्तु यदि असंतोष का स्थान निराशा तथा क्रांति का स्थान उदासीनता ले ले तो सामाजिक प्रगति में गतिरोध आ जाता है। भौतिक प्रगति के सभी प्रयास रुक जाते हैं और वैचारिक प्रगति भी उसी अनुपात में प्रभावित होती है। प्राचीन भारत के वर्ग-संघर्ष में प्रतिक्रियावादी पुरोहितवाद की विजय ने भारतीय परिकल्पनात्मक चिंतन की विशिष्ट दिशा निर्धारित कर दी। जीवन की आवश्यकताओं से प्रेरित होकर मनुष्य प्रकृति के साथ संघर्ष करता है और इसी प्रक्रिया में विज्ञान एवं दर्शन की रचना होती है। किन्तु जब उसके सामाजिक जीवन की परिधि उसके मानवीय अस्तित्व का सीमांकन कर देती है तब मानवीय

1. "Soul-atoms." 21.

चिंतन स्वभावतः विकृत हो जाता है। भारतीय चिंतन में ऐसा ही विकृत चिंतन दिखायी देता है।[1] इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं कि कणाद, कपिल, बृहस्पति, गौतम तथा महावीर का बुद्धिवादी भौतिकवादी तथा प्रकृतिवादी चिंतन अंततः बौद्ध क्रांति के ध्वंसावशेषों के बीच दफना दिया गया तथा शंकराचार्य के पांडित्यवाद ने भारत की आध्यात्मिक प्रगति का गला इतनी सफलतापूर्वक घोंट दिया कि बहुत काल तक उसका पुनरुद्धार संभव न हो सका और हिन्दू शासक वर्ग इस सशक्त क्रांति को दबा देने के उन्माद में इतने शिथिल हो गये थे कि देश बड़ी सरलता से विदेशी आक्रामकों के प्रभाव में आ गया।

शंकराचार्य भारतीय आध्यात्मवाद के सर्वमान्य प्रतिनिधि हैं। वेदांत दर्शन का मुख्य प्रयोजन कणाद तथा कपिल के भौतिकवाद, बौद्ध दर्शन के क्रांतिकारी सिद्धांतों तथा जैनियों के विस्थापक तर्क का खण्डन करना था। इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि बौद्ध दर्शन के पतन के पूर्व भारतीय दर्शन मुख्यतः भौतिकवादी था और इस परम्परा के उन्मूलन के लिए किये गये शंकराचार्य के प्रयास अंततः सफल न हो सके। शंकराचार्य कभी भी भौतिकवादियों की भूमि पर उनका सामना न कर सकें; तर्कों द्वारा उनका खंडन करने में असफल होकर उन्होंने श्रुति और आप्तवाक्य का सहारा लिया। जब भी उन्होंने उनके तर्कों का तर्कों द्वारा खंडन करना चाहा, वे भौतिकवादी दृष्टिकोण को स्वीकार करने के लिए विवश हो गये। उनका मायावाद वाह्य जगत की वास्तविकता की छाद्मिक स्वीकृति है, उनका अद्वैतवाद विपरिवर्तित भौतिकवाद है।[2]

वाह्य जगत् की अवास्तविकता वेदांत दर्शन का सिद्धांत (हठमत) है। किन्तु बौद्ध विज्ञानवाद का खंडन करने के लिये वे इस हठमत को छोड़कर भौतिकवादी आधार स्वीकार कर लेते हैं। विज्ञानवाद के अनुसार ज्ञान अथवा प्रत्यक्ष एक आंतरिक मानसिक प्रक्रिया है, जिसका वस्तु जगत् से कोई संबंध नहीं है। इसके विपरीत शंकराचार्य का कहना है कि ब्राह्य पदार्थों के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता, क्योंकि उनका प्रत्यक्ष होता है। विविध मानसिक संवेदनाओं के कारण विविध वाह्य पदार्थ हैं। ज्ञान के सभी साधनों द्वारा स्थापित जगत की सत्ता संदेह का विषय नहीं है। स्पष्ट है कि इस दार्शनिक संघर्ष में विजय भौतिकवाद की होती है। स्वयं शंकराचार्य भौतिकवादी ज्ञानमीमांसा का सहारा लेकर विज्ञानवाद का खंडन करते हैं। अतएव भौतिकवादी विचारधारा की

1. मैटिरियलिज्म, पृ. 102-103.
2. Inverted materialism.

लोकप्रियता तथा प्रभाव की कल्पना अत्यन्त सहज है। युग की जटिल सामाजिक परिस्थितियों ने इस विचारधारा को दबा दिया। अस्तु, आवश्यकता इस बात की है कि भारत की आध्यात्मिक दाय का उसके सांस्कृतिक ध्वंसावशेषों से उद्धार किया जाय।[1]

पाश्चात्य दर्शन का इतिहास भी भौतिकवाद की सशक्त तथा अटूट परंपरा का साक्षी है। थेलीज से लेकर हेगेल पर्यन्त दर्शन की भौतिकवादी विचारधारा में अनेक चढ़ाव उतार आये, किन्तु उसके प्रवाह को रोका न जा सका। हेगेल के पश्चात् मार्क्स तथा फायरवाख ने भौतिकवाद के वैज्ञानिक स्वरूप की व्याख्या करके इसे प्रतिष्ठित दर्शन का स्थान प्रदान किया।

अध्यात्मवाद भौतिक द्रव्य की अपेक्षा चित् को, अस्तित्व की अपेक्षा विचार को तथा शरीर की अपेक्षा मन को महत्त्वपूर्ण तथा सत् मानता है। विचार अथवा प्रत्यय अमूर्त एवं स्वतंत्र कोटि हैं, वे शरीर से पृथक तथा भौतिक घटनाओं के आध्यात्मिक आकार हैं। यह दर्शन प्लेटों की काव्यात्मक कल्पना का परिणाम है, किन्तु वैज्ञानिक नहीं है। ज्ञान की अपेक्षा इसमें आस्था एवं विश्वास की प्रमुखता है।[2] वस्तुतः यह धार्मिक अध्यात्मवाद है। सत्रहवीं-अठारहवीं शती में प्रचलित भौतिकवाद का खंडन करने का बीड़ा उठाने वाला बर्कले दूसरा प्रमुख अध्यात्मवादी दार्शनिक है, किन्तु बर्कले ने संवेदनवाद का खंडन किया न कि भौतिकवाद का और भौतिकवाद के विरुद्ध संघर्ष में उसने दर्शन को ही समाप्त कर दिया। उसने प्रत्यय और वस्तु को एक समझने की भूल की है। स्पष्ट है कि अदृष्ट प्रत्ययों के खंडन से वस्तु का खंडन नहीं होता।[3] कांट आधुनिक तत्त्वमीमांसा का महान् दार्शनिक है और उसने भौतिकवाद की प्रगति में उल्लेखनीय योगदान दिया है। कांट ने यह सिद्ध कर दिया कि वस्तुजगत् मन की रचना नहीं है। ह्यूम के अज्ञेयवाद से प्रारंभ कांट का दर्शन भौतिकवाद की ओर उन्मुख तो हुआ किन्तु उसका अंत बर्कले के अध्यात्मवाद में हुआ। दोनों में भेद यह है कि जहाँ बर्कले वस्तुओं की वास्तविकता को सर्वथा अस्वीकार कर देता है, कांट उनके पारमार्थिक अस्तित्व को स्वीकार करता है। पारमार्थिक वस्तुगत सत्ता को स्वीकार करके कांट तथा बाद के अन्य दार्शनिकों के लिए वैज्ञानिक ज्ञान को नकारे बिना आध्यात्मिक दृष्टिकोण को भी स्वीकारे रहना

1. वहीं, पृ. 109.
2. मैटिरियलिज्म पृ. 142-143.
3. वहीं, पृ. 149.

आसान हो गया है।[1]

हेगेल ने कांट के पारमार्थिक वास्तविकता की धारणा की आलोचना की, उसने अध्यात्मवादी दर्शन के द्वैतवाद (विचार तथा उसका श्रोत-ईश्वर) का निराकरण करके घोषित किया : सत् चित् है तथा चित् सत् है। हेराक्लाइट्स से प्रेरित हेगेल ने प्रतिपादित किया कि हर सत्तावान् वस्तु सत् है। यह मानव के इतिहास में एक क्रांतिकारी दृष्टिकोण का प्रारम्भ था। इतिहास एक अविच्छिन्न परिवर्तन की प्रक्रिया है। वैचारिक परिवर्तन उतना ही वास्तविक है जितना भौतिक परिवर्तन। इस स्वीकृति से हेगेल का अध्यात्मवाद अथवा विज्ञानवाद निरपेक्ष नहीं रह जाता, हेगेल का ही द्वंद्व न्याय उनके निरपेक्ष विज्ञानवाद को खंडित कर देता है।[2]

मार्क्स तथा ऐंजैल्स ने हेगेल के दर्शन के इसी पक्ष को ग्रहण किया। विज्ञान भौतिकवादी दर्शन को प्रकृति के ज्ञान का सुदृढ़ आधार प्रदान किया। इस प्रकार आधुनिक भौतिकवाद की सम्पूर्ण बौद्धिक विकास की प्रक्रिया का अपरिहार्य परिणाम है। यह मनुष्य की महानतम दाय है।

वर्तमान युग में भौतिक द्रव्य की वस्तुगत वास्तविकता संदेह का विषय नहीं है। हाँ, भौतिक द्रव्य की धारणा एवं उसके संबंध में मतभेद अवश्य है। बीसवीं शती के विज्ञान ने प्राचीन अणुवादी सिद्धांत को अस्वीकार कर दिया है। अणु द्रव्य की अंतिम और अविभाज्य इकाई नहीं है। समकालीन विज्ञान भौतिक द्रव्य और ऊर्जा को एकमानता है। इस सिद्धांत के अनुसार किसी वस्तु की गति और संहित विद्युतीय तरंगों के परिणाम हैं। देश तथा काल की धारणा भी बदल चुकी हैं। देश भाव[3] का परिणाम है और काल संभवन[4] का। किन्तु, क्योंकि संभवन भाव की अपेक्षा रखता है, इसलिए काल का अस्तित्व देश से स्वतंत्र नहीं है। सापेक्षता के सिद्धांत ने द्रव्य की परिभाषा भी बदल दी है। अनिर्धारणवाद[5] की चर्चा करते हुए राय का कहना है कि इससे कारणता का सिद्धांत् खंडित नहीं होता।[6] आज के विज्ञान की समस्याएँ मुख्यतः ज्ञान की समस्याएँ हैं – भौतिकवादी सिद्धांत वस्तु सत्ता का किस सीमा तक वास्तविक और प्रामाणिक ज्ञान प्रस्तुत करते हैं? आज यह प्रश्न का विषय नहीं है कि

1. वहीं, पृ. 154-159.
2. वहीं, पृ. 163.
3. Being.
4. Becoming.
5. Indeterminism.
6. विस्तार के लिए देखिये उनका ग्रंथ मैटिरियलिज्म अध्याय 7 और 8.

भौतिकशास्त्री द्वारा वर्णित घटना वास्तविक जगत् की घटना है या उसके अपने मन की घटना। वास्तविकता भौतिक है, वह परिमाप्य है। वाह्य और अंतर की धारणा अब निरर्थक हो चुकी है। मनुष्य के लिए 'वाह्य प्रकृति' – जैसे कोई चीज नहीं है, वह स्वयं उसी प्रकृति का अंग है जिसको वह जानता तथा जिसमें रहता है। अस्तु, विज्ञान भौतिकवादी दर्शन – जिसकी उपयुक्त संज्ञा भौतिक वस्तुवाद है – का समर्थन करता है।

भौतिकवाद अथवा व्यावहारिक आदर्शवाद

भौतिकवाद क्रांति का दर्शन है। क्रांति मानव-विकास की प्रक्रिया में अंतर्निहित है। अतएव भौतिकवादी दर्शन सभी युगों में एक अनिवार्य दर्शन रहा है। इस दर्शन के अनुसार ज्ञान की उत्पत्ति ध्यान अथवा चिंतन[1] से नहीं अपितु क्रिया से होती है। "दार्शनिकों ने जगत् की विभिन्न विधियों से व्याख्या की है, किन्तु वास्तविक समस्या उसे बदलना है।" जगत्-परिवर्तन की निरंतर प्रक्रिया में ही मानव-ज्ञान की अनंत वृद्धि होती है और प्रत्येक काल का ज्ञान इस नाते मूल्यवान होता है कि उससे मनुष्य को जगत-परिवर्तन की प्रक्रिया में सहायता मिलती है। भौतिकवाद वस्तुओं का चिंतन न करके उनकी खोज करता है। मानवीय ज्ञान को सीमित मानना शर्मनाक अज्ञान का सिद्धांत है। विज्ञान तथा मनुष्य की सच्ची आध्यात्मिक स्वतंत्रता के शत्रुओं ने ईश्वर, आस्था, तत्त्वमीमांसा, धर्म आदि का सहारा लेकर मानवीय ज्ञान की सीमितता को एक सम्मानित सिद्धांत का रूप देना चाहा। भौतिकवादी दर्शन मानवीय अनुभव के समीक्षात्मक परीक्षण पर आधारित है। यह शाश्वत् अज्ञान के सिद्धांत का निराकरण करता है; अतीन्द्रिय कोटियों को मात्र कपोलकल्पना मानता है तथा मानव-बुद्धि की कल्पित सीमाओं को तोड़कर उसकी आत्मा को स्वतंत्र करता है। निरपेक्ष, अपरिवर्तनीय, प्रागनुभविक आदि की तत्त्वमीमांसीय धारणाओं से स्वतंत्र होकर मनुष्य परंपरा की जंजीरों को तोड़ने में समर्थ होता है। कुछ भी अनुल्लंघ्य अथवा शाश्वत् एवं स्थायी नहीं है। परिवर्तनशीलता वस्तुओं का स्वभाव है। हेराक्लाइट्स के शब्दों में "परिवर्तन ही स्थायित्व का अर्थ है।" भौतिकवादी दर्शन मनुष्य को संसार में परिवर्तन लाने के लिए प्रेरित करता है और उसी प्रक्रिया में स्वयं मनुष्य में भी परिवर्तन आते हैं।[2]

भौतिकवाद एक बंद दर्शनतंत्र है। यह हठमत नहीं है। यह प्रकृति,

1. Contemplation.
2. वही, पृ. 233-4.

इतिहास तथा समाज, संक्षेप में, जीवन के सभी पक्षों के अध्ययन की पद्धति है। ज्ञान का अर्जन एक निरंतर प्रक्रिया है, संपूर्ण और अंतिम ज्ञान का कोई दर्शन तंत्र नहीं होता। दर्शन किसी व्यक्ति अथवा समुदाय की देन नहीं है। वह समस्त मानवजाति की उच्चतम आध्यात्मिक सृष्टि है।

सामान्यतः यह माना जाता है कि अध्यात्मवादी दर्शन आदर्शों (आइडियल्स) का दर्शन है। किन्तु अध्यात्मवाद (आइडियलिज्म) और आदर्श (आइडियल्स) के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। प्रथम शब्द प्रत्यय (आइडिया) से बना है और दूसरा आदर्श (आइडियल) से। अध्यात्मवाद का व्यावहारिक अध्यात्मवाद से कोई संबंध नहीं है। दार्शनिक भौतिकवादी सबसे बड़ा व्यावहारिक आदर्शवादी है।[1] ऐसे संसार का निर्माण करना जिसमें मनुष्य स्वतंत्र, सुखी और प्रबुद्ध जीवन व्यतीत कर सके, जिसमें मनुष्य के समक्ष विकास और प्रगति की अनंत संभावनाएँ हों – इससे बढ़कर ऊँचा आदर्श और क्या हो सकता है? और मनुष्य को उस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए भौतिकवादी बड़ा से बड़ा बलिदान करने को तैयार रहता है। एम.एन. राय का प्रश्न बड़ा ही मार्मिक तथा व्यंजनात्मक है : कौन अधिक आध्यात्मिक अथवा आदर्शवादी है – घातक रोगों का निदान ढूँढने के लिए अपने जीवन को खतरे में डालने वाला निरीश्वरवादी वैज्ञानिक अथवा अपनी मूल्यवान आत्मा की रक्षा में अपने आप ही में संकुचित पवित्र संन्यासी तथा धार्मिक अनुभूति में मोक्षकामी आत्म-तुष्ट व्यक्ति? कौन अध्यात्मवाद के प्रति अधिक ईमानदार है – मानव-स्वातंत्र्य के लिए पीड़ा, अभियोग, भूख और मृत्यु का साहसपूर्ण सामना करने वाला क्रांतिकारी नास्तिक अथवा सुखासीन बुर्जुआ और उनके गुर्गे, जो उच्च आदर्शों का कपटपूर्ण नारा लगाते हैं जिनसे दासता, दरिद्रता, अज्ञान, अनैतिकता तथा पतन का सामाजिक तंत्र और मजबूत होता है।[2]

भौतिकवादी दार्शनिक व्यावहारिक आदर्शवाद का विरोधी नहीं है। वस्तुतः वही उसका मनसा और कर्मणा पालन करता है। आदर्श ही भौतिकवादी के जीवन की प्रेरक शक्ति है, व्यवहारिक आदर्शवाद उसके लिए स्वाभाविक है। वह

---

1. The idealist philosophy, however, is quite different from what is called "idealism" ..... The former is derived from the word "idea", whereas the latter from ideal, The so-called "practical idealism" has nothing to do with the idealish philosophy. It is not rejected by materialists. Indeed, the philosophical materialist is the greatest practical idealish. — मैटिरियलिज्म, पृ. 234.

2. वही, पृ. 235.

आदर्शों (आइडिल्स) के लिए ही जीता है। उन आदर्शों को वास्तविक बनाने का प्रयास उसके लिए एक सुखद प्रक्रिया है। उसका आदर्शवाद विवशता का अध्यात्मवाद नहीं है। अध्यात्मवादियों की स्थिति ठीक इसके विपरीत है। वे स्वभावतः आध्यात्मिक नहीं हैं, कोई वाह्य शक्ति, जैसे ईश्वर, उन्हें ऐसा होने के लिए विवश करती है। मनुष्य के आध्यात्मिक स्वरूप के ठेकेदार मनुष्य की आध्यात्मिक और नैतिक महानता में विश्वास नहीं करते। मनुष्य में स्वतः नैतिक बनने की क्षमता नहीं; ईश्वर के निर्देशन और प्रेरणा से ही वह नैतिक उत्कर्ष प्राप्त कर सकता है। राय के अनुसार राधाकृष्णन् के निम्नलिखित वाक्य इसी बात की पुष्टि करते हैं।

"हमारी नैतिक अनुभूति सर्वोच्च अनुभूति नहीं है। धार्मिक अनुभूति उससे परे है ..... धार्मिक आश्वासन के बिना नैतिक जीवन का कोई अर्थ नहीं है और नैतिक संघर्ष प्रेरणाहीन है।"

दर्शनशास्त्र के इतिहास में भौतिकवाद को द्विविध स्तरों पर संघर्ष करना पड़ा। (क) अध्यात्मवाद ने धर्म का सहारा लेकर और (ख) विज्ञानवाद ने ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण से भौतिकवाद का निराकरण करना चाहा। किन्तु दोनों ही प्रयास असफल रहे। अध्यात्मवादी विचारधारा, अंध आस्था पर आधारित थी और विज्ञानवाद अनावश्यक द्वैतवाद पर।[1] ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण से भौतिकवाद जगत की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार करता है। ज्ञान की समस्या का कोई रहस्यात्मक पहलू नहीं है। मनोविज्ञान तथा शरीर विज्ञान की सहायता से ज्ञान की समस्या का समाधान किया जा सकता है। सभी दृष्टियों से भौतिकवाद ही सुसंगत, सुव्यवस्थित और पूर्ण दर्शन है, यही मानवीय मुक्ति का सच्चा मार्ग है। प्रायः सभी महान् दार्शनिकों ने जाने अथवा अनजाने भौतिकवाद को स्वीकार किया है। कांट, अपनी सारी पारमार्थिकता के बावजूद भौतिकवाद के निकट था, स्पिनोजा तथा हेगल का अद्वैत अध्यात्मवाद विपरिवर्तित भौतिकवाद था।[2] किन्तु जैसे साधारणतः भौतिकवाद कहा जाता है तथा जिसकी अध्यात्मवादियों तथा धार्मिकों ने आलोचना की है, वह भौतिकवाद का वास्तविक अर्थ नहीं है। वस्तुतः भौतिकवाद सच्चा अध्यात्मवादी दर्शन है तथा धर्म निकृष्टतम अर्थों में भौतिकवाद है।[3] धर्म का ईश्वर शक्ति का प्रतीक है, उसके शक्ति-प्रयोग का न कोई नियम है और न बंधन। ऐसे सर्वशक्तिमान ईश्वर के जगत में हर व्यक्ति

1. वही, पृ. 184 तथा आगे रीज़न, रोमान्टीसिज़्म एण्ड रिवोल्यूशन, खंड 2, पृ. 11.
2. Inverted materialism.
3. मैटिरिलिज़्म, पृ. 240.

केवल अपने ही अस्तित्व की रक्षा के लिए प्रयत्नशील है, इससे कड़ा कोई दूसरा आदर्श उसके समक्ष हो ही नहीं सकता। धार्मिक दृष्टिकोण मनुष्य को न केवल स्वार्थी बनाता है अपितु उसे उपयोगितावादी भी बनाता है। धर्म मनुष्य को उसके तुच्छ अहं के साथ बाँध देता है, भौतिकवाद मनुष्य की आत्मा को उन्मुक्त अभिव्यक्ति का अवसर प्रदान करता है। अलौकिक सृष्टि और आत्मा को उन्मुक्त अभिव्यक्ति का अवसर प्रदान करता है। अलौकिक सृष्टि और स्रष्टा की धारणा का परित्याग करके ही व्यक्ति अपने संकुचित अहं का परित्याग करके जगत् के निर्माण में योगदान दे सकता है। भौतिक द्रव्य को प्रमुख मानते हुए भी भौतिकवाद चित् अथवा चेतना के रचनात्मक महत्त्व को स्वीकार करता है। भौतिक से प्रादुर्भूत होने के नाते चेतना की क्षमता कम नहीं हो जाती है और न ही ज्ञान के क्षेत्र में इसकी उपलब्धियों को नकारा जा सकता है। इसके विपरीत, चेतना अथवा आत्मा को भौतिक द्रव्य से उत्पन्न मान लेने से उसे धर्मशास्त्र के कल्पित बंधनों से मुक्ति मिल जाती है। धर्म से उन्मुक्त मानव-आत्मा सर्वप्रथम अपने पैरों पर खड़ी होती है। अपने भीतर निहित अनंत संभावनाओं, जिसका स्रोत कोई तत्त्वमीमांसीय रहस्य नहीं है, के बोध से ही मनुष्य अपने भाग्य का निर्माण कर सकता है; एक स्वतंत्र संसार की रचना में योगदान दे सकता है।[1] अस्तु, केवल भौतिकवादी दर्शन – अर्थात् आस्था के स्थान पर ज्ञान, आप्तवाक्य के बजाय तर्क, तत्त्वमीमांसा नहीं अपितु भौतिकी, अलौकिक नहीं अपितु प्राकृतिक, स्वप्न नहीं, बल्कि तथ्य – यही मनुष्य को राजनैतिक स्वतंत्रता, आर्थिक संपन्नता तथा सामाजिक सुख प्रदान कर सकते हैं; यही आध्यात्मिक स्वतंत्रता का एकमात्र मार्ग है।[2]

मनुष्य का स्वरूप, विश्व में उसका स्थान

राय का दर्शन दो मुख्य धारणाओं पर अवलंबित है – प्रकृतिवाद तथा व्यष्टिवाद। वे विश्व की प्राकृतिक व्याख्या करते है। संसार का मूल तत्त्व भौतिक द्रव्य है, भौतिक द्रव्य समस्त अस्तित्व का मूलाधार है। विश्व नियमबद्ध है। ये नियम विश्व के ही तत्त्वों से निकले नियम हैं। विश्व व्यवस्था के पीछे कोई अलौकिक शक्ति नहीं है, जगत् की व्याख्या के लिए ईश्वर जैसी सत्ता के अविष्कार की कोई आवश्यकता नहीं है। विश्व-विकास के नियम विश्व में ही

1. वही, पृ. 115.
2. फ्रैगमेंट्स आफ ए प्रिजनर्स डायरी, खंड-2 – इण्डियाज मेसेज, पृ. 189.

अन्तर्निहित हैं। व्यक्ति विश्व का एक अंग है, उसके स्वरूप की भी व्याख्या प्रकृतिवाद के आधार पर की जा सकती है। मानव-जाति के विकास के नियम आंगिक विकास के सामान्य नियमों से भिन्न नहीं है। विश्व एक भौतिक तन्त्र है, भौतिक पृष्ठभूमि से आविर्भूत मनुष्य स्वयं एक भौतिक तन्त्र है।[1] किन्तु दोनों में महत्त्वपूर्ण भेद है। विश्व नियम-नियन्त्रित है, जबकि मनुष्य में संकल्प शक्ति है, वरण की स्वतंत्रता है। मानव-जगत तथा निर्जीव पुद्गल-जगत के बीच जैविक विकास का जगत आता है। सजीव पुद्गल निर्जीव पुद्गल से उत्पन्न होता है; चेतना का आविर्भाव बहुत बाद में होता है। इसलिए मानव-संकल्प का जड़ भौतिक जगत के नियमों से सीधा सम्बन्ध नहीं है। मानव जगत के नियम मध्यवर्ती जैविक जगत में निहित हैं। मानव जगत के नियम प्राकृतिक जगत के यन्त्रवाद से भिन्न हैं; किन्तु विपरीत नहीं। नियम-नियंत्रित विश्वव्यवस्था का अंग होने के नाते मनुष्य भौतिक जगत से अपना संबंध विच्छेद नहीं कर सकता। तर्कबुद्धि[2] दोनों में सामंजस्य स्थापित करती है ओर तर्कबुद्धि मनुष्य की इस चेतना का परिणाम है कि वह भौतिक जगत का एक अभिन्न अंग है।

मनुष्य का आविर्भाव शून्य से नहीं हुआ है। अपनी बुद्धि इच्छा, संकल्प, संवेग और मन के साथ मनुष्य विश्व का एक अंग है। विवेकशीलता अथवा बुद्धिपरता मनुष्य का सार है। उसका विवेक अथवा तर्कबुद्धि विश्व में विद्यमान सामंजस्य का प्रतिनिधान करती है। इसलिए मनुष्य का भाव और संभवन, उसके विचार और संकल्प, निर्धारित हैं। आधुनिक जीव विज्ञान ने मनुष्य के आविर्भाव का रहस्योद्घाटन कर दिया है। वह जैविक विकास का परिणाम है। मनुष्य की बुद्धिपरता और नैतिकता उसी विश्व-व्यवस्था का प्रकाशन है। एक जैविक प्राणी होने के नाते विवेकी और नैतिक होना मनुष्य का स्वभाव है और इस नाते वह अन्य मनुष्यों के साथ शांति एवं सद्भाव से रह सकने में समर्थ है।

क्योंकि मनुष्य का जीवन जैविक विकास का परिणाम है, इसलिए विश्वास अथवा आस्था उसके स्वभाव के लिए विदेशीय तत्त्व हैं। मनुष्य का स्वभाव स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करना है, सत्य का अन्वेषण करना है। हर मनुष्य में आध्यात्मिक स्वतंत्रता की इच्छा और क्षमता विद्यमान होती है। अपनी स्वतंत्रता के प्रति चेतन होकर व्यक्ति स्वतंत्रता प्राप्त करता है। इस प्रक्रिया में व्यक्ति

1. Physical system, देखिये, रीजन रोमांटीसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन, खण्ड I, अध्याय 2 तथा खण्ड II अध्याय 13.

2. Reason.

प्रकृति के साथ संघर्ष करता है, उसमें परिवर्तन ले आता है, और उसी के साथ वह अपने को भी परिवर्तित करता रहता है। एम.एन. राय का दर्शन मनुष्य तथा प्रकृति में अति निकटता का सम्बन्ध स्थापित करता है। प्रकृति चिंतन का विषय नहीं है, उसके पीछे किसी अलौकिक शक्ति की खोज के व्यर्थ का प्रयास है। प्रकृति की व्याख्या के नियम स्वयं प्रकृति में विद्यमान है। प्रकृति प्रयोग का विषय है। प्रयोग और क्रिया से ही सत्य और ज्ञान का आविर्भाव होता है जिससे मनुष्य स्वतंत्र मानव समाज की रचना कर सकता है।

एम.एन. राय के अनुसार मनुष्य के स्वभाव के संबंध में दो भ्रांत धारणाएँ प्रचलित हैं। प्रथम, वह स्वभावतः स्वार्थी है और द्वितीय, वह किसी अलौकिक दयालु शक्ति (ईश्वर) में विश्वास करता है। दोनों मान्यताओं का सम्मिलित अर्थ यह हुआ कि मनुष्य जन्मना पापी है। किन्तु स्वर्गीय पिता अथवा तात्विक परमशक्ति को आत्म-समर्पण करके वह नैतिक और सद्गुणी हो सकता है।[1] मानव-स्वभाव के प्रति यही मिथ्या अभिग्रह वर्तमान सभ्यता के संकट का कारण है। उपर्युक्त दोनों ही धारणाएँ मनुष्य को असहाय बना देती हैं। सामाजिक संबंधों में वह स्वतंत्र नहीं है, राजनैतिक और आर्थिक विषयों में कोई उपक्रम नहीं कर सकता, क्योंकि स्वार्थी मनुष्य का नियंत्रण, चाहे राज्य द्वारा या ईश्वर द्वारा, आवश्यक है। स्वार्थी मनुष्य की धारणा ने कार्ल मार्क्स के आर्थिक नियन्त्रणवाद को जन्म दिया। किन्तु आर्थिक नियंत्रणवाद का अपेक्षित परिणाम फलीभूत न हो सका। यदि यह मान भी लिया जाय कि इसमें मनुष्य के भौतिक कल्याण में सफलता प्राप्त की है तो यह प्रश्न उठता है कि उस सफलता का मूल क्या है? भौतिक कल्याण के मूल्य में मनुष्य की राजनैतिक और बौद्धिक स्वतंत्रता जाती रही। अतः मनुष्य को केवल "आर्थिक मनुष्य" मानना एक दोषपूर्ण समाज-दर्शन को जन्म देना है।[2] साम्यवादी आर्थिक नियंत्रणवाद में विश्वास न रखने वाले लोग विकल्प के रूप में कल्याणकारी राज्य अथवा प्रजातांत्रिक समाजवाद[3] का सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं, किन्तु यह समाज-व्यवस्था भी वैयक्तिक स्वतंत्रता का अपहरण करती है। वस्तुतः किसी भी सिद्धांत का आचरण (चाहे वह उदारवाद हो अथवा अनुदारवादी, क्रांतिकारी हो या समाजवादी) जो 'आर्थिक मनुष्य' की परिकल्पना पर आधारित है, मनुष्य को परतंत्र और पतनोन्मुख करता है। यदि मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी और अविवेकी है तो उससे

1. न्यू ह्यूमनिज्म, पृ. 94 (रेनाँसाँ पब्लिशर्स लि. कलकत्ता, द्वितीय संस्करण 1953).
2. वही, पृ. 97.
3. Welfare State or Democratic Socialism.

उत्पन्न समाज-व्यवस्था निश्चय ही दमनकारी होगी; वह एक कारागार होगी और उसकी सुरक्षा करेंगे पृथ्वी के पुलिस तथा उनके स्वर्ग के सहयोगी।[1]

वर्तमान सभ्यता के संकट का कारण न तो आर्थिक है औन न राजनैतिक। वस्तुतः समकालीन समस्त बुराइयों – राजनैतिक अस्थिरता, आर्थिक असुरक्षा, दरिद्रता, एकदलीय शासन पद्धति, अधिनायकवाद संभावित विश्वयुद्ध की विभिषिका, आदि – का केवल एक कारण है और वह है मानव-प्रकृति के संबंध में मिथ्या धारणा। विभिन्न धारणाओं पर आधारित सामजिक और राजनैतिक दर्शन मनुष्य की नैसर्गिक क्षमता में अनास्था उत्पन्न करते हैं। अतः इस संकट को आध्यात्मिक संकट कहा जा सकता है। यह संकट मानव जीवन के किसी एक पक्ष को प्रभावित नहीं करता, यह उसके समूचे अस्तित्व को व्याप्त किये हुये है। इसलिए यह मनुष्य की आत्मा का संकट है। मनुष्य यह पहचाने की वह मनुष्य है, किसी अलौकिक अथवा जागतिक स्वामी का दास नहीं।

मनुष्य के स्वरूप के संबंध में प्रचलित दोनों मिथ्या अभिग्रह – उसकी स्वार्थपरता और इश्वरोन्मुखता – उसकी स्वतंत्रता के लिए घातक है। ईश्वरवादी मनुष्य ईश्वर की दुनियाँ में कोई सुधार या परिवर्तन करने की सोच नहीं सकता। वह अपने लिए भी स्वतः कुछ नहीं कर सकता; अतः स्वतंत्रता उसके लिए एक स्वप्न है। और उसी प्रकार, स्वार्थी मनुष्य की धारणा के राज्य नियंत्रण की अनिवार्यता स्वीकार करती है। दोनों ही अवस्थाओं में मानव-स्वतंत्रता असंभव है। मानव-सभ्यता का इतिहास दोनों धारणाओं को मिथ्याकृत करता है। मनुष्य न तो अशोध्य स्वार्थी है और न अंध ईश्वरविश्वासी। आधुनिक विज्ञान भी इस धारणा को पुष्ट करता। मानव आविर्भाव एक भौतिक घटना है। निम्न पशुओं से मनुष्य को पृथक् करने वाला तत्त्व – उसकी – आत्मा – कोई दैवी तत्त्व नहीं हैं। मनुष्य की मानवीयता का कोई अतीन्द्रिय अथवा पारमार्थिक स्रोत नहीं है। मनुष्य के आध्यात्मिक उद्गम की धारणा उसे आध्यात्मिक दास बना देती है, कल्पित ईश्वर के समक्ष वह नित्य हीन भावना से दबा होता है। अपने आध्यात्मिक उद्गम के पूर्वाग्रह से उन्मुक्त होकर ही मनुष्य वास्तवकि रूप में स्वतंत्र होगा तथा वह आत्मविश्वास के साथ स्वतंत्र समाज रचना के सामूहिक प्रयास में स्वेच्छा से भाग ले सकेगा।

---

1. वही, पृ. 98. तथा और भी देखिये न्यू ओरियन्टेशन, पृ. 153-3, (रेनाँसाँ पब्लिशर्स, 1946).

आत्मा की अमरता तथा पुनर्जन्म का खंडन

राय के वैज्ञानिक भौतिकवाद में स्वतंत्र आध्यात्मिक आत्मा का कोई स्थान नहीं है। आत्मा तात्विक कोटि नहीं है, शरीर से पृथक् अथवा परे आत्मा केवल एक कल्पित सत्य है। पुद्गल विश्व का मूल तत्त्व है और चेतना अथवा आत्मा उसका एक गुण है। आधुनिक वैज्ञानिक शोधों से पुद्गल का अविनाशी होना तो सिद्ध है, किन्तु आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व, उसकी अमरता और पुर्नजन्म आस्था के ही विषय हैं और आस्था का आविर्भाव अज्ञान से होता है। पूर्वजन्म का सिद्धांत आत्मा की अमरता के अभिग्रह पर आधारित है और इस अभिग्रह की असत्यता विज्ञान-सिद्ध है। इसलिए पुनर्जन्म का समूचा सिद्धांत आधारहीन हो जाता है।

पुनर्जन्म सिद्धांत के समर्थक कुछ इंन्द्रियानुभविक साक्ष्यों का दावा करके विज्ञान को चुनौती देने का साहस करते हैं। उनका सबसे बड़ा साक्ष्य ऐसे उदाहरण हैं जिनमें कुछ व्यक्ति अपने पूर्वजन्म की कहानी – घर, माता, पिता, मित्र आदि – का वर्णन करते हुए पाये जाते हैं।[1] उनके अनुसार पूर्वजन्म की स्मृति के ऐसे उदाहरण पुनर्जन्म सिद्धांत के वैज्ञानिक प्रमाण हैं। किन्तु राय के अनुसार, पूर्वजन्म की स्मृति अधिक से अधिक इतना सिद्ध करती है कि मृत्यु के बाद भी मनुष्य की स्मृति बनी रहती है, इससे आत्मा की अमरता नहीं सिद्ध होती। बल्कि, इसके विपरीत, स्मृति का साक्ष्य आत्मा की अमरता के लिए घातक है। स्मृति मस्तिष्क का गुण है, वह एक शारीरिक प्रक्रिया है जो शारीरिक है, वह भौतिक है। मस्तिष्क जैविक द्रव्य की संरचना है जिसके रासायनिक घटकों का विश्लेषण किया जा सकता है। अशरीरी मस्तिष्क एक संभावना है। अतः यदि मान लिया जाय कि आत्मा के गुण के रूप में स्मृति मृत्यु के बाद भी कायम रहती है तो यह प्रश्न उठता है कि आत्मा का स्वरूप क्या है? स्मृति का गुण आत्मा को भौतिक या शरीरी बना देता है क्योंकि शरीरधर्म से युक्त आत्मा एक भौतिक सत्ता ही होगी। किन्तु आत्मा का यह स्वरूप तो नहीं है। शरीरी आत्मा आत्मा नहीं है। आत्मा का शरीर से कोई संबंध नहीं होता अथवा आत्मा और शरीर का वही संबंध है जो शरीर और पुराने वस्त्रों का। इसका तात्पर्य हुआ कि आत्मा के पुनर्जन्म का तथाकथित

1. देखिये, इण्डियाज मेसेज, अध्याय 1, यहाँ राय ने एक बालिका शांति देवी के अपने पूर्वजन्म की घटनाओं के स्मरण की चर्चा की है। ऐसी कहानियों के अनेक उदाहरण जन-सामान्य के बीच मिलते हैं।

वैज्ञानिक प्रमाण आत्मा के ही सिद्धांत को खंडित कर देता है। आत्मा को आत्मा, अर्थात् अशरीरी चित्त, बने रहने के लिए स्मृतियुक्त नहीं होना चाहिए। किन्तु स्मृति को ही आत्मा के पुनर्जन्म का वैज्ञानिक प्रमाण माना जाता है। अन्य शब्दों में, आत्मा के पुनर्जन्म का वैज्ञानिक प्रमाण अशरीरी आत्मा को असिद्ध करता है।[1]

सूक्ष्म शरीर की धारणा पुनर्जन्म में विश्वास का एक अन्य आधार है। किन्तु यह सूक्ष्म शरीर क्या है? यह अशरीरी आत्मा नहीं है बल्कि भौतिक शरीर की एक प्रतिकृति है। पुनरागमन इसी सूक्ष्म शरीर का होता है। इससे स्मृति के रहने की व्याख्या तो की जा सकती है किन्तु बदले में अन्य कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। प्रश्न यह उठता है कि सूक्ष्म शरीर जैसा भौतिक तत्त्व मृत्यु पश्चात् भी नष्ट नहीं होता तो अगले जन्म के पूर्व और वर्तमान मृत्यु के पश्चात् उसका क्या होता है? यह एक वैज्ञानिक प्रश्न है और इसका वैज्ञानिक परीक्षण हो सकता है। और इस बात का कोई साक्ष्य नहीं है कि मृत्यु की प्रक्रिया में शरीर की कोई प्रतिकृति उसे छोड़कर कहीं अन्यत्र चली जाती है। वस्तुतः यह समस्त परिकल्पना अवैज्ञानिक है। सूक्ष्म शरीर एक शारीरिक संरचना है जो मृत्यु का विषय है। अतः सूक्ष्म शरीर की धारणा वदतो व्याघात है – जिसकी मृत्यु होनी चाहिए वह नहीं मरता! सूक्ष्म शरीर और पुनर्जन्म का सिद्धांत अयुक्तिपरक है, इसे युक्तिपरक बनाना संभव नहीं। अशरीरी आत्मा में स्मृति नहीं हो सकती और स्मृति धारण करने में सक्षम शरीर संरचना मृत्यु पश्चात् कायम नहीं रह सकतीं। अतः पुनर्जन्म का विश्वास तर्कतः दोषयुक्त है। आत्मा की अमरता स्वतः विवादास्पद है, यदि यह सिद्ध किया जा सके कि मृत्यु पश्चात् भी कुछ शेष रहता है, तब तो आत्मा की अमरता और उसका अस्तित्व सिद्ध होता है। किन्तु पुनर्जन्म का सिद्धांत इसे ही पूर्व स्वीकार करता है। अतएव यह सिद्धांत तथ्यों पर आधारित न होकर भारतीय पुरोहितों परंपरा की अभिप्रेरणा का परिणाम है। इन पुरोहितों का उद्देश्य शासक वर्ग के अनुकूल नियम बनाना था जिसके लिए अलौकिक अनुशास्ति आवश्यक थी। अतएव पुनर्जन्म की कल्पना की गयी जो यथास्थिति को कायम रखने की एक चातुर्यपूर्ण प्रविधि थी।[2]

इने-गिने स्मृति के उदाहरणों पर आधारित पुनर्जन्म का सिद्धांत एक और प्रश्न को जन्म देता है। यदि अतीत की स्मृति पुनर्जन्म का प्रमाण है तो यह एक संगम प्रश्न है कि क्यों हर व्यक्ति अपने अतीत का स्मरण नहीं कर पाता?

1. वही, पृ. 14.
2. वही, पृ. 15.

यह प्रश्न संगत है क्योंकि इसके उत्तर के अभाव में समस्त इंद्रियानुभविक साक्ष्य पुनर्जनम के विपरीत है। यदि स्मृति अतीत जीवन का प्रमाण है तो सामान्य रूप से हमें इस साक्ष्य का अभाव ही दिखायी देता है और जब तक साक्ष्यों की बहुलता न हो, सिद्धांत की इंद्रियानुभविक आधार पर रक्षा करना एक निष्फल प्रयास है। दिव्य दृष्टि की धारणा श्रुति-समर्थकों का एक अन्य अमोध अस्त्र है। वे कहेंगे कि अतीत की स्मृति के लिए दिव्य दृष्टि संपन्न होना चाहिए और यह दिव्य दृष्टि उसी को होती है जिसके पास आध्यात्मिक शक्ति है, जो शरीर बंधनों से उन्मुक्त तथा उसके धर्मों में अनासक्त हो। किन्तु यह तो बड़ा विचित्र तर्क है। स्मृति विराग का नहीं, राग का लक्षण है। इसलिए अतीत जीवन की स्मृति को आध्यात्मिक उत्कर्ष का लक्षण नहीं माना जा सकता। जिसके पास दिव्य दृष्टि होगी निश्चय ही जीवन के प्रति उसका कोई अनुराग नहीं होगा और अनुराग ही पूर्वजन्म की स्मृति का कारण है।

सूक्ष्य शरीर की धारणा पुनर्जन्म सिद्धांत का आवश्यक निहितार्थ है। प्रथम तो यह धारणा अशरीरी आत्मा की धारणा की विरोधी है, इसका यह अर्थ है कि आत्मा शरीर से संबद्ध है। दूसरे, यदि सूक्ष्य शरीर एक वास्तविकता है तो जनन की सारी भौतिक प्रक्रिया अनावश्यक है। राय का प्रश्न बड़ा विनोदपूर्ण है – आखिर ईश्वर ने मनुष्य को वह भौतिक संरचना क्यों प्रदान की जो वस्तुओं के दैवी कार्यक्रम में सर्वथा अनावश्यक है? स्त्री और पुरुष की कोई आवश्यकता नहीं थी। कम से कम पुरुष के बिना तो काम चल ही सकता था। सभी सूक्ष्म शरीर संतों और अवतारों की भाँति स्त्री के गर्भ में प्रविष्ट हो जाते। और अभिमानी मनुष्य का यह कितना दुर्भाग्य होता है स्त्री का अस्तित्व कितना आनंदहीन।[1]

राय के अनुसार, पुनर्जन्म का सिद्धान्त नियतिवाद को जन्म देता है। नियतिवाद मनुष्य को पौरुषहीन बनाता है। अध्यात्मवादी संस्कृति ने भारतीय जनता को आत्मसमर्पण सिखाया, क्रांतिकारी से उनका कोई परिचय नहीं है। किन्तु क्रांति एक आवश्यकता है, भविष्य की विजय के लिए अतीत के आडंबर को छोड़ना आवश्यक है। भारतीय जनों में यह विश्वास जगना चाहिए कि वे अपने भाग्य-विधाता हैं। अब अतीत अतीत ही रहे, जिससे कि भारतीय ऐसे भविष्य में रह सकें जो वर्तमान की अपेक्षा सुंदर, सुखद और प्रकाशमय हो।[2]

मनुष्य के स्वरूप के संबंध में राय की अवधारणा मानववादी है। इसीलिए

1. वही, पृ. 45.
2. वही, पृ. 151.

वे इस विषय पर मार्क्स की अपेक्षा फायरबाख के विचार का अनुमोदन करते हुए प्रतीत होते हैं। उनके अनुसार मार्क्स को मानव-स्वभाव के उस आधारभूत तत्त्व का ज्ञान नहीं है जो सभी सामाजिक संबंधों में निहित होता है तथा जिसके नाते मनुष्य ऐसे संबंध स्थापित करने में समर्थ होता है। मनुष्य के स्वभाव का यह आधारभूत तत्त्व उसके सभी सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक संबंधों का पूर्वगामी है।[1] इस तथ्य का विश्लेषण न कर सकने के नाते मार्क्स का भौतिकवाद हठवादी तथा अवैज्ञानिक रह गया; मानव-स्वभाव के स्थायी तत्त्व की अवहेलना का परिणाम नैतिकता के निषेध में हुआ। इसके विपरीत हेगेल के ही द्वंद्व न्याय के आधार पर फायरबाख ने मानववाद का पुनरुद्धार किया। समुदाय और सामाजिक व्यवस्था की अनिवार्यता को स्वीकार करते हुए उसने मनुष्य की व्यष्टिता और स्वतंत्रता के महत्त्व को भी स्वीकार किया। फायरबाख के प्रति मार्क्स की यह आलोचना सर्वथा अप्रासंगिक है कि उसने मनुष्य को समाज से अलग एक स्वतंत्र इकाई के रूप में स्वीकार किया है। फायरबाख के विचार अत्यन्त स्पष्ट हैं : "मनुष्य का स्वरूप समुदाय में, मनुष्य के साथ मनुष्य की एकता में, निहित होता है। अलगाव का अर्थ है ससीमता और समुदाय का अर्थ है स्वतंत्रता।" मार्क्स ने इस स्वयं-सिद्ध सत्य की अवहेलना की कि सामाजिक संबंध व्यष्टियों के अस्तित्व को पूर्वस्वीकार करता है तथा समाज व्यष्टियों का संघ होता है। सामाजिक सम्बन्ध मनुष्य की क्रियाओं के परिणाम हैं। मनुष्य की रचनाधर्मिता तथा संकल्प की स्वतंत्रता सामाजिक अस्तित्व की पूर्वगामी शर्ते हैं।[2]

ज्ञानमीमांसा

राय अपने दर्शन को भौतिक वस्तुवाद की संज्ञा देते हैं। संज्ञा ही इस दर्शन के ज्ञानमीमांसीय निहितार्थों की व्यंजक है। वास्तविकता का स्वरूप भौतिक है और उसका अस्तित्व स्वतंत्र है। अन्य शब्दों में, अस्तित्व की दृष्टि से भौतिक वास्तविकता ही एकमात्र वास्तविकता है। चेतना, विचार, विश्लेषण तथा संश्लेषण आदि उसी मूल भौतिक द्रव्य में निहित विभिन्न क्षमताएँ एवं प्रक्रियाएँ

1. "Marx entirely ignored that entire process of the becoming of man before he entered into social relations. Consequently, Marx knows nothing of the human nature which underlies the ensemble of social relations, which induces men to enter into those relations ..... The rockbottom of human nature entedates the economic and political organisations of society." रीजन, रोमांटीसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन, खंड 2, पृ. 187.

2. वही, पृ. 182-3.

हैं। यह अवश्य है कि पुद्गल से चेतना की उत्पत्ति की प्रक्रिया सर्वथा ज्ञात नहीं है किन्तु यह प्रश्न ज्ञानमीमांसीय है, न कि सत्तामीमांसीय। सत्तामीमांसीय दृष्टि से अस्तित्व चेतना का पूर्वगामी है।[1] वस्तुओं का अस्तित्व चेतना अथवा ज्ञान से स्वतंत्र है, ज्ञातता वस्तु के अस्तित्व की आवश्यक शर्त नहीं है। 'ज्ञान के विषय' के रूप में वस्तु एक ज्ञानमीमांसीय कोटि है, 'वस्तु' के रूप में वह सत्तामीमांसीय कोटि है। ज्ञान वस्तु ज्ञान का विषय है किन्तु वस्तु के लिए ज्ञात होना आवश्यक नहीं है। वस्तु के प्रकाशन के लिए ज्ञान आवश्यक है। इसलिए यह तो कहा जा सकता है कि ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से वस्तुएँ बुद्धि पर निर्भर करती हैं किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना घातक है कि वस्तुओं की सत्ता ज्ञान पर निर्भर करती हैं। फायरबाख को उद्धृत करते हुए राय अपना दृष्टिकोण प्रतिपादित करते हैं।

"विचार सत्ता पर निर्भर करता है, न कि सत्ता विचार पर। सत्ता स्वतः निर्धारित होती है, यह स्वयं अपना आधार है। भौतिक जगत् इंद्रियों द्वारा ज्ञेय है ..... पुद्गल चित् की सृष्टि नहीं है, स्वतः चित् पुद्गल का सर्वोत्कृष्ट परिणाम है।"[2]

राय के अनुसार इंद्रिय-प्रत्यक्ष ही समस्त ज्ञान का आधार है। वस्तुओं से पृथक् चेतना अथवा ईश्वर जैसी कोई सत्ताएँ नहीं हैं, जो ज्ञान की प्रक्रिया को अतीद्रिंय आधार प्रदान करें। ज्ञान का स्रोत है इंद्रिय-प्रत्यक्ष और इंद्रिय-प्रत्यक्ष भौतिक संपर्कों के प्रति आंगिक प्रतिक्रिया है। इस प्रक्रिया का कोई रहस्यमय पक्ष नहीं है जिसके लिए ईश्वर अथवा आत्मा जैसी कल्पित तथा अवास्तविक सत्ताओं की आवश्यकता हो। शरीर विज्ञान तथा मनोविज्ञान की आधुनिक शोधों ने ज्ञानमीमांसा की समस्या को सरल बना दिया है। हाइकेल के शब्दों में "ज्ञान एक शारीरिक प्रक्रिया है, मस्तिष्क उस प्रक्रिया का सक्रिय अंग है। मस्तिष्क के जिस भाग में ज्ञान का उद्गम होता है, वह पूर्ण डाइनमो मशीन है जो लाखों भौतिक कोशों से निर्मित है।"[3]

राय के अनुसार ज्ञान को आध्यात्मिक प्रक्रिया[4] मानना नितांत अतार्किक एवं अवैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना है। आध्यात्मिक ज्ञानमीमांसा दो अभिग्रहों

---

1. Existence precedes consciousness.
2. मैटिरियलिज़्म, पृ. 197.
3. वही, पृ. 180 (राय द्वारा हाइकेल के दि वंडर आफ लाइफ से उदधृत)
4. Spiritual process.

पर आधारित है – 1. ईश्वर, 2. आत्मा। ईश्वराधारित ज्ञानमीमांसा एक हठमत है, निराधार आस्था है, अज्ञान एवं अंधविश्वास को प्रश्रय देने वाली है तथा मनुष्य की प्रगति के मार्ग में बाधक है। यह सिद्धांत श्रुति को ज्ञान का अभ्रामक स्रोत मानता है, आप्त वाक्यों को असंदिग्ध प्रमाण मानता है। भारतीय दर्शन में वेद एवं उपनिषद् तथा पाश्चात्य दर्शन में चर्च ऐसे श्रुत ज्ञान के उदाहरण हैं। किन्तु ईश्वराधारित ज्ञानमीमांसा वस्तुतः न तो ज्ञान की प्रक्रिया की व्याख्या करती है और न ही उसकी व्याख्या करना उसका उद्देश्य से अभिप्रेरित था। वैज्ञानिक चिंतन की वेदी पर परिकल्पनात्मक चिंतन की स्थापना की गई जिससे कि जन सामान्य कल्पित स्वर्ग सुख के बदले अपने पृथ्वी के प्रभुओं के सुखभोग में किसी प्रकार की बाधा न उपस्थित कर सके। इसीलिए तो, राय का कहना है, डेकार्ट और बेकन की ज्ञानमीमांसा में ईश्वर को केवल ओष्ठ सेवा प्रदान की गई है, "ईश्वर प्रमत्त दार्शनिक" स्पिनोजा ने भौतिकवादी ज्ञानमीमांसा का मार्ग प्रशस्त किया तथा लाइबनिज़ के ईश्वरविहीन दर्शन में ईश्वर का प्रवेश सर्वथा अनुपयोगी और अवांछनीय था।[1] और उसी प्रकार अस्तित्व सांख्य ने जहाँ ईश्वर की धारणा को पूर्णता समाप्त कर दिया, न्याय-वैशेषिक तथा योगदर्शन ने ईश्वर को केवल तटस्थ दर्शक का स्थान प्रदान किया।

आध्यात्मवादी ज्ञानमीमांसा का दूसरा केंद्र बिन्दु है आत्मा। आत्मकेंद्रित ज्ञानमीमांसा के दो रूप हैं। 1. व्यष्टिगत विज्ञानवाद, जिसका प्रतिनिधित्व बर्कले करते हैं और 2. वस्तुगत् विज्ञानवाद, जिसके प्रतिनिधिरूप में कांट तथा हेगेल का उल्लेख किया जा सकता है। राय के अनुसार प्रथम प्रकार का विज्ञानवाद वस्तुओं के स्वतंत्र अस्तित्व के निषेध पर आधारित है और दूसरा वस्तुओं को बुद्धि की सृष्टि न मानते हुए भी चेतना की प्राथमिकता और उस पर वस्तुओं की निर्भरता के सिद्धांत को स्वीकार करता है। किन्तु दोनों ही चित् को पुद्गल का पूर्वगामी मानते हैं, वे प्लेटो का अनुसरण करते हुए प्रत्ययों की अमूर्त कोटि में विश्वास करते हैं। ये प्रत्यय शरीर से स्वतंत्र हैं तथा भौतिक वस्तुओं के आध्यात्मिक आकार हैं। बर्कले एक पादरी होने के नाते भौतिकवाद के निराकरण के लिए प्रतिबद्ध था। इसलिए उसने यह स्थापित किया कि प्रत्ययों का उद्गम स्रोत दैवी इच्छा है। किन्तु मनुष्य के मस्तिष्क में प्रत्ययों का आविर्भाव प्रकृति की क्रियाओं से होता है तथा स्वतः प्रकृति आध्यात्मिक कारण द्वारा नियंत्रित है। अस्तु बर्कले का दर्शन धर्मशास्त्र में विलीन हो जाता है, जिसकी रक्षा केवल अंध आस्था से हो सकती है। बर्कले का 'दृश्यता ही वस्तुता है' का सिद्धांत सत्तामीमांसीय और ज्ञानमीमांसीय प्रश्नों के घपले का

1. देखिये – मैटिरियलिज़्म, पृ. 120-131. 22

परिणाम है। ज्ञानमीमांसा की समस्याएँ तात्विक समस्याएँ नहीं हैं। ज्ञानमीमांसीय समस्याओं का सुनिश्चित समाधान संभव है। किन्तु बर्कले दोनों समस्याओं को अलग कर सकने में असमर्थ रहा। बर्कले का मुख्य लक्ष्य डेकार्ट तथा स्पिनोजा द्वारा स्थापित द्रव्य की सत्ता का निराकरण करना था। इसके लिए उसने सभी वस्तुओं के कारण के रूप में दैवी इच्छा की कल्पना की। अतएव उसने वस्तुओं के अस्तित्व को तो स्वीकार नहीं किया। राय के अनुसार यह तर्क दोषपूर्ण है। वस्तुएँ वास्तविक हैं किन्तु जिस द्रव्य से वे निर्मित हैं, वह अवास्तविक है। वस्तुओं की सत्ता केवल इसलिए है कि ईश्वर ने उन्हें बनाया है। यह कोई दर्शन नहीं है।[1] बर्कले का यह कहना तो ठीक है कि प्रत्यक्ष के अभाव में वाह्य वस्तुओं का अस्तित्व प्रायः नहीं-सा होता है। पत्थर को वृक्ष का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, इसलिए दोनों के लिए एक दूसरे का अस्तित्व कोई अर्थ नहीं रखता। इतना तो ठीक है। किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना भ्रामक है कि सत्ता प्रत्यक्ष पर निर्भर करती है। पत्थर की वृक्ष को न देख सकने की क्षमता वृक्ष के अस्तित्व को मिटा नहीं देती। प्रत्यक्ष इन्द्रियों पर निर्भर करता है, विचार मस्तिष्क का गुण है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि प्रत्यक्ष और विचार मात्र मानसिक घटनाएँ हैं और वस्तु जगत से उनका कोई संबंध नहीं है तथापि बर्कले के कहने का यही आशय था।

कांट का पारमार्थिक विज्ञानवाद वस्तुतः भौतिकवादी आधार से प्रादुर्भूत होता है। कांट के अनुसार ज्ञान अनिवार्यतः इंद्रियानुभव में आधारित होता है, न तो कोई शाश्वत सत्य है और न निरपेक्ष प्रत्यय। बर्कले के विज्ञानवाद से अपने दर्शन को पृथक् करने के प्रति सचेष्ट कांट का कहना है :

"सभी विज्ञानवादियों की यह धारणा रही है कि इंद्रिय तथा अनुभव से प्राप्त ज्ञान केवल आभास है, बोध एवं शुद्ध तर्कबुद्धि से ही सत्य तक पहुँचा जा सकता है। मेरे विज्ञानवाद का सिद्धांत है : शुद्ध बोध एवं शुद्ध तर्कबुद्धि से प्राप्त ज्ञान मात्र आभास है, सत्य केवल इंद्रियानुभवजन्य है।"[2]

ज्ञान के अतींद्रिय आधार का निराकरण करके कांट ने दर्शन को धर्मशास्त्र

1. वही, पृ. 142-150.

2. The proposition of all genuine idealists, from Eleatic school to Bishop Berkeley, is stated in the formula that all cognition through sense and experience is mere appearance, the truth can be reached only through pure understanding and Pure Reason, The principle governing my idealism is all cognition through pure undderst anding and Pure Reason is nothing but appearance, and truth is experience only — काण्टः प्रोलीगोमेना टु एनी फ्यूचर मेटाफिजिक, पृ. 123.

के प्रभाव से मुक्त किया, किन्तु तत्काल ही उसने इतिहास के संग्रहालय से सर्वोच्च सत्ता[1] को निकालकर प्रयोगात्मक तर्कबुद्धि के ऊपर स्थापित कर दिया और फलतः उसने एक नवीन धर्मशास्त्र का शिलान्यास किया।[2] उसने 'आस्था को स्थान प्रदान करने के लिए ज्ञान को नियमित किया।' ह्यूम के संदेहवाद से प्रारंभ होकर कांट का दर्शन भौतिकवाद की ओर उन्मुख तो हुआ किन्तु उसका अंत बर्कले के दर्शन में हुआ। पारमार्थिक वस्तु[3] की स्वीकृति कांट के दर्शन की महानतम उपलब्धि है किन्तु उसका अज्ञेय और अज्ञात घोषित करना उसकी सबसे बड़ी कमजोरी है। और इस कमजोरी के साथ कांट तथा बर्कले के दर्शन का भेद प्रायः समाप्त हो जाता है, अथवा दोनों में केवल मात्रा का भेद रह जाता है। अपनी पादरी प्रतिबद्धता के नाते बर्कले के लिए वस्तुओं की वस्तुगत वास्तविकता को अस्वीकार करना अत्यन्त सहज था, किन्तु प्रकटतः इंद्रियानुभववादी तथा (प्रारंभ में) भौतिकवादी कांट के लिए सीधे-सीधे ऐसा करना संभव न था। अतएव उसने वस्तुओं के पारमार्थिक रूप की कल्पना की जो ज्ञान के भौतिक साधनों का विषय नहीं हो सकता। इस कठिनाई को दूर करने के लिए कांट ने बुद्धि के कुछ आनुभविक आकारों की स्थापना की और परिणामतः ज्ञानमीमांसा में आत्मा को पुनः प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। जब बुद्धि (मन) दैवी आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित होती है तभी ज्ञान का आविर्भाव होता है। इस स्वीकृति के साथ कांट के दर्शन का द्वैतवादी परिणाम उत्पन्न होता है; आभास एवं जगत् ज्ञात एवं ज्ञेय के बीच अभेद्य दीवाल खड़ी हो जाती है। हेगेल ने कांट के अज्ञेयता के सिद्धांत को अस्वीकार किया किन्तु हेगेल का विज्ञानवाद निरपेक्ष विज्ञानवाद नहीं रह जाता, उसका द्वंद्व-न्याय भौतिकवादी ज्ञानमीमांसा का मार्ग प्रशस्त करता है क्योंकि सत्ता एवं बोध के पूर्व तादात्म्य को स्वीकार करके उसने भौतिक द्रव्य की वास्तविकता को भी स्वीकार लिया।[4]

हेगेले के द्वन्द्व-न्याय का उपयोग करते हुए फायरवाख़, मार्क्स तथा ऐंजिल्स ने भौतिकवादी ज्ञानमीमांसा को सुदृढ़ आधार प्रदान किया। ऐंजिल्स के शब्दों में, "सभी दर्शनों का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न है – विचार एवं सत्ता तथा

1. Absolute Reality.
2. मैअिरियलिज़्म, 159.
3. Thing-in-itself.
4. वही, पृ. 163.

चित् एवं प्रकृति का पारस्परिक संबंध क्या है?" और उसका उत्तर है कि प्रकृति प्रधान है, चित् गौण। इस प्रश्न का दूसरा पहलू ज्ञानमीमांसीय है – क्या हमारा ज्ञान वस्तु का वास्तविक ज्ञान होता है? विज्ञानवाद के अनुसार मानवीय बुद्धि केवल आभास को ही जान सकती है। आभास जगत तथा वास्तविक जगत के बीच अनुल्लंघ्य खाई है। भौतिकवादी ज्ञानमीमांसा इस भेद को सर्वथा अस्वीकार करती है तथा प्रयोगात्मक विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि विचार एवं वस्तु का यह रहस्यमय भेद केवल अध्यात्मवादियों की कल्पना में पाया जा सकता है।[1]

राय के अनुसार विज्ञानवादी ज्ञानमीमांसा ने वास्तविक जगत को भ्रांति की संज्ञा देकर मनुष्य को शाश्वत् अज्ञान से अभिशप्त किया। विज्ञान की अद्भुत प्रगति ने इस असंगति को अनावृत कर दिया है। पूर्ण ज्ञान का दावा केवल धर्मानुयायी करते हैं; दर्शन तथा विज्ञान के लिए पूर्ण ज्ञान की धारणा मताग्रह है। इस मताग्रह को त्याग कर ही हम ज्ञान के नैसर्गिक गौरव तथा उदात्तता का बोध कर सकते हैं। और तभी मानवीय चित् अपनी अनंत बोध-क्षमता के साथ प्रकाशित हो सकता है। विज्ञान पूर्ण ज्ञान का असंगत दावा नहीं करता क्योंकि उस दशा में – जब कुछ जानने योग्य न रहेगा तो मनुष्य को कुछ करना भी न होगा – मनुष्य जीवन का ही अंत हो जायगा। धर्म एवं तत्त्वमीमांसा ने आत्मा की सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिशीलता की कल्पना गलत ढंग से की। वास्तविक सर्वज्ञता एक प्रक्रिया है, इसकी धारणा कालिक है, केवल देशीय नहीं। इतना ही नहीं, भौतिक ज्ञानमीमांसा मानवीय चित् को अमरत्व गुण-संपन्न भी करती है : एक युगविशेष के मनुष्य की चेतना अतीत के समस्त संचित ज्ञान का प्रतीक है तथा ज्ञान की अनंत प्रगति के साथ वह भविष्य में भी विद्यमान रहेगी। राय की ज्ञानमीमांसा का सार, उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है :

"हमारी चेतना से बाहर तथा उससे स्वतंत्र वस्तुगत भौतिक जगत में आधारित इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तथा मानवीय अनुभव, जिनकी उत्पत्ति निष्क्रिय अनुचिंतन से नहीं अपितु मानवीय अंगों की सक्रिय क्रियाशीलता से होती है, समस्त ज्ञान का प्रस्थान-बिन्दु है। ऐसे ज्ञानार्जन की प्रक्रिया का कोई अंत नहीं है, जितना ही अधिक हम जानेंगे उतना ही अधिक जानने के लिए होगा, और क्योंकि ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया में पग-पग पर हमारे पूर्वज्ञान में संशोधन तथा विस्तार

1. वही, पृ. 291.

होता रहता है, इसलिए पूर्ण ज्ञान अथवा निरपेक्ष सत्य जैसी कोई चीज़ नहीं है।"[1]

राय के अनुसार विचार-जगत् अथवा चित्-जगत तथा इंद्रिय-जगत् अथवा आभास-जगत् के बीच कोई अभेद्य दीवार नहीं है। आभास की व्याख्या के लिए परमार्थ को ले आने की कोई आवश्यकता नहीं है। जड़-जगत से परे कोई चित् जगत् नहीं है, "इस ओर" के विपरीत कोई "उस ओर" नहीं है, भ्रांत, अर्ध सत्य से परे कोई पूर्ण सत्य का जगत नहीं है। मनुष्य के भौतिक जीवन की क्रियाओं का अमूर्तकरण ही शुद्ध विचार है।[2] ज्ञान एक क्रिया है, निष्क्रिय अनुचिंतन नहीं।

शाश्वत का खंडन करते हुए राय ज्ञान की सापेक्षता में विश्वास करते हैं। विज्ञान में कुछ भी अंतिम नहीं होता। ज्ञान की सापेक्षता का सिद्धांत ज्ञान के अनंत विकास की संभावना को प्रशस्त करता है। निरपेक्ष ज्ञान का सिद्धांत ज्ञान की समाप्ति का सूचक है। वस्तुतः निरपेक्ष ज्ञान का अर्थ है सीमित ज्ञान, क्योंकि इस ज्ञान का स्रोत इंद्रियानुभव नहीं है और इंद्रियातीत ज्ञान सामान्य मनुष्य के लिए संभव नहीं है।

ज्ञान की यथार्थता की जाँच के लिए राय संवादिता[3] के सिद्धांत में विश्वास करते हैं। इंद्रिय प्रत्यक्ष की सत्यता निर्धारित करने के लिए हमें वाह्य पदार्थों तक जाना होगा और अपने प्रत्यक्ष की उनके साथ तुलना करनी होगी। उन्हीं के शब्दों में "जब मनुष्य अपने प्रत्यक्षण के आधार पर किसी धातु को पुनर्व्यक्त करता है और यह पुनरभिव्यक्ति उसके मूल प्रत्यक्ष की संवादी होती है, तब वस्तुओं की वास्तविकता और हमारे प्रत्यक्षणों की प्रामाणिकता में कोई संदेह नहीं रह जाता। स्वाद-विधि से जब एक बार मिठाई का स्वाद निर्धारित

1. Sènse-perceptions, human experience, gained not in passive contemplation, but in the active functioning of the human organism, and having for their source the material world existing objectively outside our consciousness, independent of it, is the point of departure of all knowledge. There is no end to the process of acquiring of such knowledge, the more we know, there will befurther to know; and since every step forward in the process of enlightenment corrects, adds to and amplifies our previous stock of knowledge, there is no such thing as perfect knowledge or absolte truth. — Materialism. p. 204-5.
2. वही, पृ. 205.
3. Correspondence.

कर लिया जाता है तो उसकी सत्यता पर कोई संदेह नहीं किया जा सकता।"[1]

इसी दृष्टिकोण की पुष्टि राय के इन शब्दों में भी होती है : "सत्य वस्तुगत वास्तविकता का संवादी होता है। वैज्ञानिक ज्ञान हमारे अध्ययन वस्तु का निकटतम ज्ञान होता है। अतएव सत्य को ज्ञान का अंतर्वस्तु कहा जा सकता है। हमें यह ज्ञान है कि 2 + 2 = + होता है। यह एक सत्य है। ... यह कहा जाता है कि सत्य गणितीय संप्रत्यय है। किन्तु गणित भी तो वस्तुओं को मापने की एक विधि है। जो प्रत्यक्ष विधि से नहीं जा सकता उसे गणितीय ज्ञान से जाना जा सकता है। इस प्रकार स्वातंत्र्य खोज का परिणाम ज्ञान में होता है, और ज्ञान का अंतवस्तु सत्य होता है तथा ज्ञान सदैव वास्तविकता का परिचायक होता है।"[2]

एम.एन. राय का नीति-दर्शन

राय का क्रांतिकारी दर्शन--नव मानवतावाद--नैतिकता से सुदृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित है। राय की नैतिक निष्ठा ही उन्हें मार्क्सवाद से ऊपर उठाती है। मार्क्सवादी साम्यवाद से असहमति व्यक्त करते हुए राय ने स्टालिन को एक पत्र में लिखा है कि मैं इस विचार के साथ समझौता नहीं कर सकता कि क्रांतिकारी सद्गुणों की सूची में सत्य, ईमानदारी तथा निष्ठा जैसे गुणों का कोई स्थान नहीं है।[3] राय के अनुसार जगत् मूलतः एक नैतिक जगत है किन्तु उसकी नैतिकता का स्रोत कोई अतीन्द्रिय सत्ता नहीं है। नैतिक नियम जगत में ही निहित है। अन्य शब्दों में, राय का नीतिशास्त्र विकासवादी नीतिशास्त्र है। उनके अनुसार क्रांतिकारी समाज-दर्शन के लिए क्रांतिकारी नैतिक दर्शन आवश्यक है। यह क्रांतिकारी दर्शन गतिहीन नहीं होगा, समय-समय पर इसमें परिवर्तन होते रहेंगे। किन्तु परिवर्तन का अर्थ पूर्ण अस्थायित्व नहीं होता। कुछ ऐसे भी मूल्य एवं सिद्धांत हैं जो देश-काल का अतिक्रमण करते हैं। अन्यथा मानवता की प्रगति से हमारी आस्था उठ जायगी। मानवता की प्रगति की जाँच के लिए कोई मानदंड होना आवश्यक है। सभ्यता एवं बर्बरता के बीच कोई सामान्य वस्तु

1. When a thing produced by man, according to his perceptions, corresponds with the original object of his perception, there can no longer be any possible doubt about the objective reality of things and the correctness of our perception of them ..... Once the taste of the pudding has been ascertained by the simple but convincing method of eating it, there can be no longer any doubt it. — वही, पृ. 48.
2. रीजन, रोमांटीसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन, खंड 2, पृ. 290.
3. न्यू ओरियन्टेशन, पृ. 122.

होनी चाहिए जिसके आधार पर हम यह कह सकें कि सभ्यता बर्बरता के ऊपर एक प्रगति है। इस मानदंड के अभाव में हम यह कह सकने में असमर्थ रहेंगे कि सभ्यता बर्बरता से अच्छी वस्तु है। इसलिए हमारा जीवन-दर्शन किन्हीं स्थायी नैतिक मूल्यों पर आधारित होना चाहिए।[1]

नीतिशास्त्र की प्रमुख समस्या नैतिकता के अनुशास्त[2] की समस्या है। नैतिक संप्रत्ययों का स्रोत क्या है? उनकी प्रमाणिकता का आधार क्या है? नीतिशास्त्र के इतिहास में इस प्रश्न का दो प्रकार से उत्तर दिया गया है : (1) विधानवादी सिद्धांत नैतिक नियमों को वाह्य विधान के रूप में स्वीकार करते हैं जिन्हें मनुष्य विवशतः स्वीकार करता है। (2) प्रयोजनवादी सिद्धांत, जिसमें उपयोगितावाद प्रमुख है, नैतिकता का संबंध उपयोगिता से जोड़ता है। राय उपरोक्त दोनों सिद्धांतों को अस्वीकार करते हैं। यह कहना कि मनुष्य अलौकिक अथवा लौकिक नियमों के दबाव में नैतिक होता है, मनुष्य के नैसर्गिक नैतिक अस्तित्व का निषेध करता है। धार्मिक नीतिशास्त्र के अनुसार मनुष्य की आत्मा नैतिक व्यवस्था के दैवी प्रकाश से नित्य प्रकाशित होती रहती है। देखने में यह सिद्धांत भले ही मनुष्य को उदात्त बनाता हो, किन्तु वस्तुतः वह मनुष्य की नैतिक क्षमता को सीमित करता है। अंततः इसका अर्थ यह निकलता है कि स्वयं मनुष्य एक मनुष्य की हैसियत से नैतिक होने में अक्षम है; नैतिक बनने के लिए यह आवश्यक है कि वह अलौकिक सत्ता के प्रति आत्म-समर्पण करें। इस आध्यात्मिक निर्भरता की भावना से युक्त मनुष्य कभी भी सचमुच स्वतंत्र नहीं हो सकता।[3] उपयोगितावादी नीतिशास्त्र भी नैतिकता की व्यवस्था करने में असमर्थ हैं क्योंकि यह भी अंततः नैतिकता का निषेध करता है। अतीन्द्रियवादी नीतिशास्त्र नैतिक मूल्यों की तत्त्वमीमांसीय संप्रत्यय कहकर उन्हें मानवीय अनुभव की पहुँच से बाहर स्थापित करता है, जिसके नाते उनकी विषयनिष्ठा की जाँच नहीं हो सकती। उसी प्रकार उपयोगितावाद भी नैतिकता को सापेक्ष स्वीकार करके उसे विषयनिष्ठता से वंचित करता है।

अतएव राय के अनुसार नैतिकता के अनुशास्ति का वाह्य आधार ढूँढना मनुष्य को नैतिकता से वंचित करना है। नैतिकता की अनुशास्ति स्वतः मनुष्य की युक्तिपरता है।[4] मनुष्य की युक्तिपरता अथवा उसकी तर्कबुद्धि कोई तत्त्वमीमांसीय

---

1. Ibid. 26-7.
2. Moral sanction.
3. न्यू ह्यूमनिज्म, पृ. 84.
4. Rationality, वही, पु. 87 और भी देखिये, रीजन, रोमांटीसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन, खंड 2, पृ. 298-99.

कोटि नहीं है। यह एक जैविक गुण है। मनुष्य की युक्तिपरता प्रकृति की युक्तिपरता की अभिव्यक्ति है। नैतिक मूल्यों का स्रोत न ईश्वर है, न मनुष्य की प्रज्ञा, न समाज और उपयोगिता। नैतिकता के अनुशास्ति की समस्या के समाधान के लिए हमें मानवीय अस्तित्व के अधः स्तर में जाना होगा। इसके पहले नैतिक दार्शनिकों ने इस समाधान की तलाश या तो ऊपर स्थित ईश्वर में अथवा मनुष्य में स्थित ईश्वर में की। किन्तु मनुष्य कोई रहस्यमय सत्ता नहीं है। इसके जैविक इतिहास की मीमांसा में नैतिक अनुशास्ति की समस्या का समाधान निहित है। मनुष्य जैविक विकास का परिणाम है। उसकी युक्तिपरता तथा नैतिक बोध दोनों ही विश्व-सामंजस्य की अभिव्यक्ति हैं। इस प्रकार एक जैविक प्राणी होने के नाते नैतिक तथा युक्तिपरक होना मनुष्य का अपना स्वभाव है।

नैतिक आचरण की क्षमता केवल व्यष्टियों में होती है। नैतिक मनुष्यों के बिना नैतिक समाज का निर्माण संभव नहीं है। अर्थात् आध्यात्मिक रूप से स्वतंत्र मनुष्यों का अस्तित्व किसी भी आदर्श सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था की पहली शर्त है। किन्तु राय का कहना है कि नव मानव-समाज के निर्माण का दावा करने वालों ने इस क्रम को उलट दिया : उन्होंने मानव व्यक्तित्व के स्वच्छंद विकास के लिए एक आदर्श व्यवस्था की आवश्यकता को पहले स्वीकार किया।[1] उदाहरण के लिए, उदारवादियों ने यह माना कि शुभ नियमों से ही शुभ जीवन संभव है। इसके विरुद्ध समाजवादियों तथा साम्यवादियों ने कहा कि सामूहिक स्वामित्व पर आधारित आर्थिक पुनर्रचना मनुष्य के विकास की पहली शर्त है। इस अभिग्रह का परिणाम यह हुआ कि व्यक्ति की व्यष्टिता सामूहिकता द्वारा आच्छादित हो गयी। इसी अभिग्रह ने राजनैतिक व्यवहार में एकदलीय शासन पद्धति तथा अधिनायकवाद को जन्म दिया।

राय का यह विश्वास है कि मानवता के उद्धार के लिए वर्तमान युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है कि नीतिशास्त्र, समाज दर्शन तथा राजनीति में सामंजस्य स्थापित किया जाय।[2] समकालीन सभी सामाजिक एवं राजनैतिक दर्शन 'शक्ति' को सामाजिक परिवर्तन का आधार मानते हैं। परिणामतः उदारवादी और अनुदारवादी, दक्षिणपंथी और वामपंथी, प्रतिक्रियावादी तथा क्रांतिकारी का व्यावहारिक अंतर समाप्त हो जाता है। किन्तु सच्चे समाज दर्शन का केन्द्र

1. न्यू ह्यूमनिज्म, पृ. 83 तथा रीजन, रोमांटीसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन खण्ड 2, पृ. 252-7.

2. न्यू ह्यूमनिज्म, पृ. 87.

बिन्दु 'शक्ति' नहीं 'व्यक्ति' होना चाहिए। मनुष्य की नैतिकता उसकी सहज युक्तिपरता का परिणाम है। तर्क बुद्धि ही नैतिकता की अनुशास्ति है। तर्कबुद्धि अंतरात्मा की आवाज है किन्तु अंतरात्मा कोई रहस्यमय कोटि नहीं है। यह जैविक क्रिया है।

मानवतावादी नीतिशास्त्र के अनुसार स्वतंत्रता सर्वोच्च मूल्य है, वही सभी मूल्यों का स्रोत है।[1] स्वतंत्रता की इच्छा मानव-अस्तित्व का सार है। समस्त जैविक विकास की प्रक्रिया में इसका संकेत खोजा जा सकता है। मनुष्य की जैविक दाय नैतिक मूल्यों का स्रोत है। नैतिक होने के लिए केवल मनुष्य होना ही पर्याप्त है, किसी दैवी अथवा तात्विक अनुशास्ति की तलाश अनावश्यक है। मानवतावादी नीतिशास्त्र विकासवादी है।[2]

मानव जाति को अपने आविर्भाव काल से ही प्रकृति एवं परिवेश से संघर्ष करना पड़ा। अस्तित्व के लिए यह संघर्ष स्वतंत्रता के अनंत संघर्ष का प्रारम्भ था और मनुष्य की सभी उपलब्धियाँ – सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, कलात्मक आदि – उसी स्वतंत्रता की प्रेरणा की परिणाम हैं। मनुष्य का परिवेश समूचा विश्व है और विश्व के अनंत होने के नाते मनुष्य की स्वतंत्रता की खोज भी शाश्वत् एवं अनंत है। स्वतंत्रता की तलाश में व्यक्ति सत्य की खोज करता है, सत्य न तो तात्विक कोटि है और न अमूर्त मूल्य। यह मनुष्य के ज्ञान की अंतर्वस्तु है, इसलिए ज्ञान एक तथ्य है। मूल्य और तथ्य में भी कोई भेद नही हैं। मूल्य स्वतः एक सत्य है।

मानवतावादी नीतिशास्त्र में मूल्य का क्रम इस प्रकार है : स्वतंत्रता, ज्ञान और सत्य। ये मूल्य स्वतंत्र नहीं हैं बल्कि तर्कशास्त्र तथा सत्तामीमांसा दोनों ही दृष्टि से परस्पर संबद्ध हैं। इसलिए अनैतिक साधनों से स्वतंत्रता नहीं प्राप्त हो सकती और न ही प्रबुद्ध व्यक्ति असत्यभाषी हो सकता है।[3]

राय ऐसे नीति-दर्शन के पक्षपाती हैं जो न तो अतीन्द्रियवाद का रेतमहल हो और ही सापेक्षता की अस्थिरता से ग्रस्त हो। अर्थात् उनके अनुसार नीतिशास्त्र को सामान्य दर्शन से समन्वित होना चाहिए। उनका नीतिशास्त्र प्रकृतिवादी वादी

1. रीजन, रीमांटीसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन, खण्ड 2, पृ. 307.
2. To be moral, one needs only be human, it is not necessary to go in search of divine or metaphysical sanction. Humanist morality is evolutionary.
— रीजन, रीमांटीसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन, खण्ड 2, पृ. 307.
3. वही, पृ. 307.

बुद्धिपरक नीतिशास्त्र है जो यांत्रिकवादी विश्वमीमांसा तथा भौतिक वस्तुवादी सत्तामीमांसा की सुदृढ़ नींव पर निर्मित है।[1]

राय का राजनीति-दर्शन : मौलिक परिवर्तनवादी लोकतंत्र[2]

राय का संबंध न केवल भारतीय राजनीति से था, अपितु उनकी रुचि विश्व-राजनीति में भी उतनी ही प्रगाढ़ थी। अपने दीर्घकालीन राजनीतिक जीवन में उन्होंने विश्व राजनीति की कई महत्त्वपूर्ण समस्याओं के संबंध में भविष्यवाणियाँ (ज्योतिषी के रूप में नहीं) की और वे जिस प्रकार सच निकलीं, वह आश्चर्यजनक है। किन्तु इससे भी आश्चर्यजनक यह है कि नायक पूजा की प्रवृत्ति जिस देश में इतनी प्रचलित हो वहीं पर राय एक लोकप्रिय नायक नहीं हो सके। इसके कारण क्या हैं? राय के चिंतन में ईमानदारी और स्पष्टवादिता थी, सत्य और नैतिक मूल्यों के प्रति उनका दृष्टिकोण असमझौतावादी था। सत्य कटु होता है और उसे सहन करना कठिन होता है। यह राय के लोकप्रिय न होने का एक संभव कारण था। दूसरे राय के लिखने की एक विशिष्ट शैली है, जो केवल सीमित वर्ग के लिये अभिप्रेत है। उनके संदेश सबके लिए हैं किन्तु पत्रकारिता-शैली न होने के कारण राय के लेखों को वही समझ सकते थे जिनका उनकी शैली तथा वैचारिक पृष्ठभूमि से पूर्व परिचय था। यहाँ पर यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि राय की दृष्टि में समाज का मध्यवर्गीय बौद्धिक वर्ग बहुत महत्त्वपूर्ण होता है, यही वर्ग नैतिक मूल्यों का रक्षक है, क्रांति का अगुआ तथा समाज को स्वस्थ राजनैतिक व्यवस्था देने में सक्षम है।[3] तीसरे, राय भारतीय चिंतन-परंपरा से कुछ कटे से प्रतीत होते रहे। वह हमेशा समस्त विश्व की दृष्टि से सोचते रहे। उनके चिंतन का स्रोत मानवता है; मानवता अंतर्राष्ट्रीय होती है। मानवतावादी चिंतन राष्ट्रीय सीमाओं में बंधा नहीं होता। राय के अनुसार भारत विश्व का एक अंग है तथा एक अंग के नाते वह भी विश्व क्रांति की प्रक्रिया में साझीदार है। अतएव जो नियम मानवता तथा विश्व क्रांति पर लागू होते हैं,

1. In order to avoid the quick sand of transcendentalism, and the pitfalls of relatity, ethics must be integrated into a general philosophy. No. useful purpose will be served by building yet another castle in the air which will not stand the test of the next storm. A humanist ethics, based naturalist rationalism, can be build only on the rockbottom of mechanistic cosmology and a physical-realist ontology. — वही, पृ. 259.
2. Redical Democracy.
3. न्यू ह्यूमनिज्म, पृ. 27.

वही भारतीय संदर्भ में भी उपयोगी है। यह राष्ट्रवादियों के लिए असह्य है क्योंकि वे भारत को विश्व का अंग नहीं मान सकते, भारत उनके लिए विशिष्ट है। वह विश्व का गुरु है, उसे विश्व से कुछ नहीं लेना है। राय का यह अंतर्राष्ट्रीय और मानवतावादी व्यक्तित्व उनके लोकप्रिय न हो सकने का कारण रहा। जिस व्यक्ति को राष्ट्रीय जनजीवन की अग्रिम पंक्ति में होना चाहिए था, उसकी अवहेलना के राष्ट्रीय षड्यन्त्र की कल्पना सचमुच दुःखद है।

राय का यह दृढ़ विश्वास है कि राजनीति को दर्शन पर आधारित होना चाहिए। दर्शन पर अप्रतिष्ठित राजनीति 'शक्ति-राजनीति'[1] का खेल हो जाती है तथा अर्थशास्त्र स्वार्थवाद में भ्रष्ट हो जाता है। रेडिकल पार्टी का स्वरूप परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा कि हमारी पार्टी वह राजनीतिक मशीन नहीं है जिसमें साध्य साधन को न्याय ठहराता हो। ..... हमारी पार्टी व्यष्टि तथा नैतिक मूल्य को सम्मानित स्थान प्रदान करती है। इसका मूल सिद्धांत यह है कि मनुष्य सभी वस्तुओं का मानदंड है।[2] हम किसी समाज व्यवस्था का मूल्यांकन इस आधार पर करते हैं कि उसमें उसके सदस्यों को कितनी स्वतंत्रता प्राप्त है। यही हमारा 'नवीन दर्शन' है जिसमें हम क्रांति का नया मार्ग ढूँढ सकते हैं।[3]

राय के अनुसार वर्तमान राजनीति दो ध्रुवों पर घूम रही है : राष्ट्रवादी समाजवाद तथा साम्यवादी राष्ट्रवाद।[4] ये दोनों ध्रुव मनोव्याधि के सूचक हैं।[5] दोनों का भेद केवल सतही है। ने केवल जर्मन राष्ट्रवादी समाजवाद का राग अलापते हैं। अपितु साम्यवाद भी उसके संपर्क में आकर संकुचित राष्ट्रवाद में भ्रष्ट हो गया है। वस्तुतः दोनों सिद्धांत एक ही सिक्के के दो पहलू हैं और दोनों सम्मिलित रूप से वर्तमान सभ्यता एवं संस्कृति के लिए गंभीर चुनौती प्रस्तुत करते हैं। रेडिकल मानवतावाद ही इस चुनौती का सामना करने में समर्थ है। मौलिक परिवर्तनवाद (रेडिकलिज्म) न तो संकुचित राष्ट्रवाद है और न छद्म साम्यवाद। राय के ही शब्दों में 'यदि हम यह विश्वास करते हैं कि हमें न केवल अपने देश, बल्कि संपूर्ण संसार की राजनीति को कुछ नया देना है तो हमें राष्ट्रवादी महान् मनोव्याधि तथा साम्यवादी स्वल्प मनोव्याधि से ऊपर उठना होगा।'[6]

---

1. Power-politics.
2. Man is the measure of all things.
3. न्यू ओरियन्टेशन, पृ. 37 (रेनाँसाँ पब्लिशर्स लि. 1946).
4. रीजन, रोमांटीसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन, खंड 2, पृ. 249.
5. दोनों मनोव्याधियों की सविस्तार व्याख्या के लिए देखिए न्यू ओरियन्टेशन, अध्याय 5.
6. वही, पृ. 56.

अपने दृष्टिकोण को समकालीन राजनीतिक सिद्धांतों से पृथक करने के लिए राय युग की दो प्रतिनिधि विचारधाराओं की आलोचना करते हैं। ये दोनों विचारधाराएँ हैं – गांधीवाद तथा मार्क्सवाद। गांधीवाद राष्ट्रवाद हैं तथा मार्क्सवाद साम्यवाद।

गांधीवाद की आलोचना

राय के अनुसार सभी प्रकार के राष्ट्रवादी सिद्धांत प्रच्छन्न रूप से फासिस्टवादी सिद्धांत हैं, इस अर्थ में गांधीवाद भी एक फासिस्टवादी विचारधारा है।[1] प्रारंभ से ही गांधीवाद को इस रूप में ग्रहण करके उसकी तीव्र आलोचना करने वाले राय ने अंत तक अपना विचार नहीं बदला। उनका कहना है कि गांधीवादी दर्शन उसी प्राचीन पुरोहित संस्कृति परंपरा की एक कड़ी है जो अंतर्मुखी तथा परा-जागतिक है, जिसमें शब्द, मंत्र, श्रुति, तथा माया का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह ऐसी समाज-व्यवस्था का पोषक है, जिसमें प्रतिक्रिया को ही प्रगति का पर्यायवाची मान लिया जाता है।

राय के अनुसार गांधीवाद एक सुव्यवस्थित और संगत विचारतंत्र नहीं है। दर्शन के नाम पर तो उसमें कुछ भी नहीं है। अर्थहीन तथा अर्धसत्य कथनों के माध्यम से वह हठवादी आस्था पर नीति को प्रतिस्थापित करना चाहता है।[2] गांधी वस्तुतः धर्म प्रचारक हैं, उसके अनुसार ईश्वर ही मनुष्य के जीवन का विश्वसनीय निदेशक है। उनकी लोकप्रियता भारत के सांस्कृतिक पिछड़ेपन की सूचक है। अधिकांश जनता का जीवन आस्था द्वारा नियमित है, पूर्वाग्रह उनके ज्ञान का स्रोत है तथा अंधविश्वास उनका दर्शन है। ऐसे ही समाज में गांधीवाद की कोई अपील हो सकती है, जिसमें लोगों को दार्शनिक समस्याओं की कोई समझ नहीं होती तथा जिनका समय जीवन की समस्याओं में संघर्ष करने में ही बीतता है। भारतीय जनता गांधी को दार्शनिक और नीतिवादी होने के नाते आराध्यदेवता नहीं मानती है, उसके लिए गांधी श्रुतज्ञान के प्रतीक तथा अलौकिक शक्ति के प्रतिनिधि हैं। सांस्कृतिक पिछड़ापन गांधीवाद का सामाजिक आधार है, अंधविश्वास इसका बौद्धिक संबल है।[3]

---

1. वही, भूमिका : XIV.
2. Gandhism is not a co-ordinated system of thought. There is little philosophy in it. In the midst the platitudes and hopeless self-contradictions, it harps on one contant note-a conception of morality based upon dogmatic faith. — इंडियाज़ मैसेज, पृ. 210.
3. वही, पृ. 211.

गांधी की विस्मयकारी लोकप्रियता का कारण राय के अनुसार, उनका अंधविश्वास का दर्शन है। जन-सामान्य उसे अज्ञान के नाते स्वीकार करता है और पूँजीवादी शासक वर्ग इसलिए कि यह उसके हितों की रक्षा करता है। ईश्वर के प्रति गांधीजी की आस्था कितनी अटूट थी, उसे राय उन्हीं के शब्दों में (उनके द्वारा 1931 में गोलमेज सम्मेलन के पश्चात् दिये गये प्रेस वक्तव्य से) प्रस्तुत करते हैं : "जब तक मैं दयालु ईश्वर में विश्वास करता हूँ तब तक यह अवश्य मानूँगा कि संसार में नित्य सुधार हो रहा है, भले ही प्रमाण इसके विपरीत हो।"[1] गांधी के इसी आस्था दर्शन की प्रतिध्वनि पाश्चात्य जगत में भी गुंजायमान है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि गांधीवाद की अपील जनता से अधिक पूँजीवादी वर्ग में अधिक है क्योंकि यह पतनोन्मुख पूँजीवादी समाज व्यवस्था तथा सामाजिक अन्याय एवं मानव-शोषण को अलौकिक तथा नैतिक औचित्य प्रदान करता है। गांधी का दर्शन प्रेम, त्याग, सादगी तथा सत्य एवं अहिंसा का दर्शन है। यह स्मरणीय है कि गांधी अपने संदेश का प्रचार जनता के बीच करते हैं क्योंकि वे उनके हितैषी हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जनता को उनके द्वारा उपदिष्ट मूल्यों पर आचरण करना चाहिए। परिणामतः जनता के लिए अभिप्रेत प्रत्याख्यान करना इसका लक्ष्य है, यह उसी की स्थापना करता है। जनता द्वारा इन मूल्यों पर आचरण करने का अर्थ है जानबूझ कर अत्याचार, अन्याय, विषमता, दमन तथा शोषण की स्थापित व्यवस्था के प्रति आत्म-समर्पण करना। ईश्वर निर्मित जगतव्यवस्था में सब कुछ शुभ है – यह विश्वास श्रमिकों को, समाज के दलित एवं शोषित वर्ग को दुख एवं दरिद्रता का शूल सहन करने की शक्ति प्रदान करता है तथा इससे ईश्वर की दुनिया की अनीश्वरी परिस्थितियों में स्वार्थरत पूँजीवादी शासक वर्ग का मार्ग भी निरापद बना रहता है।

गांधी ने पूँजीवादी समाज-व्यवस्था की कभी भी गंभीरतापूर्वक आलोचना नहीं की, वस्तुतः पूँजीवाद के बहाने वे आधुनिक सभ्यता की निंदा करते हैं। राय के शब्दों में "चिकित्सक ने जिस रोग को मिटाने का बीड़ा उठाया उसका वह निदान भी न कर सका। रोग को ठीक करने के बजाय वह रोगी को मार डालना चाहता है। पूँजीवाद के चंगुल से आधुनिक सभ्यता का निस्तार करने में असफल गांधी सभ्यता को ही मिटा देने के पक्षपाती हैं।"[2] गांधी ने दरिद्रता,

1. "So long as I believe in a benevolent God, I must believe that the world is getting better, even though I see evidence to the contrary."
2. "The doctor pathetically fail to lay his finger on the disease which he undertakes to cure. Instead of curing the patient, he proposes to kill him. He would not rescuse modern civilization from the paralyzing grip of capitalism, he would wipe out civilization itself." — वही, प- 228.

सादगी, निम्नस्तर, आस्थापूर्ण सहयोग आदि गुणों की प्रशंसा की हैं। किन्तु उनका यह दर्शन केवल निर्धन वर्ग के लिए है, क्योंकि इससे उन्हें अपनी वर्तमान दशा पर संतोष करने का कम से कम कोई आधार, और वह भी अलौकिक आधार, तो मिल जाता है। यह सर्वथा असंगत है कि पूँजीवादी व्यवस्था - पाश्चात्य या भारतीय – गांधी के इस संदेश को स्वीकार करेगी क्योंकि इसको स्वीकारने का अर्थ है उनकी आत्महत्या; और कोई भी स्वस्थमन व्यक्ति आत्महत्या नहीं स्वीकार कर सकता। गांधी अतिरिक्त उत्पादन, वितरण के साधनों के अभाव तथा जीवन के उच्च स्तर की निंदा तो करते हैं किन्तु कोई वैकल्पिक उपाय नहीं प्रस्तुत करते। उनका 'चरखा कातो' आंदोलन औद्योगीकरण का स्थान नहीं ले सकता क्योंकि वह मनुष्य को मध्ययुगीन, नहीं, आदिकालीन, सभ्यता की ओर खींचकर वापस ले जाता है। गांधी का अति-उत्पादन का विरोध उनके अर्थशास्त्र के सिद्धांतों के अज्ञान का सूचक तो है ही, पूँजीवाद के हितों का भी समर्थक है। सीमित उत्पादन गांधी के नीतिवादी समाज दर्शन के अनुकूल है। अधिक वस्तुओं के उत्पादन से सुख भोग की संभावनाएँ बढ़ती हैं और सुख भोग मनुष्य-स्वभाव को दूषित करता है। गांधी का यह अभाव का दर्शन पूँजीवाद के हितों का रक्षक है। समृद्धि का अर्थशास्त्र पूँजीवादी व्यवस्था के लिए विस्फोटक है। इसीलिए पूँजीवादियों का रूढ़िवादी वर्ग आज भी मध्ययुगीन अभाव के अर्थशास्त्र का पक्षधर है। और इस प्रकार गांधीवाद और पूँजीवाद एक विचित्र गठबंधन में बंधे दिखाई देते हैं। किन्तु यह मात्र संयोग नहीं। यह गांधीवाद की तार्किक परिणति है। अध्यात्मवाद का आत्म-संयम, सरलता, अपरिग्रह तथा आत्मारोपित दरिद्रता का सिद्धांत असामाजिक पूँजीवाद के प्रयोजनों के अनुकूल है।[1] अपरिग्रह का सिद्धांत एक विपर्यस्त आदर्श है। यह एक सामाजिक रोग है तथा पराजित मनोदशा का परिचायक है।[2]

गांधी का बहुचर्चित तथा प्रतिष्ठित अहिंसा का सिद्धांत गांधीवाद का मूलाधार है किन्तु इसका वास्तविक अर्थ इसके आभासी रूप के ठीक विपरीत है। व्यावहारिक जीवन में अहिंसा हिंसा को प्रश्रय देती है।[3] हर प्रकार का वर्ग-विभक्त समाज अप्रत्यक्ष हिंसा के बल पर चलता है, इसलिए समाज के

1. वही, पृ. 236.
2. फ्रैगमेन्ट्स आफ ए प्रिजनर्स डायरी, खंड 1, क्राइम एण्ड कर्म : कैट्स एण्ड विमेन, पृ. 253-6. (रेनाँसाँ पब्लिशर्स, 1957).
3. वही, पृ. 214.

शोषित तथा दलित वर्ग को अहिंसा का उपदेश देने वाले हिंसा के समर्थक हैं। शोषित वर्ग द्वारा अहिंसा का आचरण प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष हिंसा पर टिकी हुई समाज-व्यवस्था के लिए सबसे बड़ा आश्वासन है। विरोध के अभाव में पूँजीवाद स्थायी रूप से बना रह सकता है। यह कहा जा सकता है कि पूर्ण अहिंसा अर्थात् जन-सामान्य द्वारा कर्म और वाणी से अहिंसा का पालन करने से हिंसा की आवश्यकता नहीं रह जायगी। वस्तुतः गांधी के अहिंसावाद के पीछे वही उद्देश्य है। इस दृष्टि से पूर्ण अहिंसा का अर्थ है शोषित वर्ग का समाज की स्थापित व्यवस्था के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण। ऐसी दशा में शासकवर्ग निश्चय ही हिंसा का परित्याग कर देगा। किन्तु उनके द्वारा हिंसा का यह परित्याग निश्चय ही महात्मा गांधी के दिव्य अहिंसावाद से प्रेरित न होगा। वस्तुतः यह हिंसा का परित्याग नहीं बल्कि स्थगन होगा। इसलिए गांधी का अहिंसा और उसका प्रतिरूप प्रेम का सिद्धांत केवल वाक्छल है। गांधीवाद यथास्थितिवाद का पोषक है। यथास्थिति में स्वामी तथा दास का भेद अनिवार्य है। दासों को प्रेमपूर्वक अपना बना लेना और स्वामी को प्रेमपूर्वक उनके स्वामित्व से वंचित करने का गांधीवादी अदर्श केवल मन की कल्पना है, वह कभी यथार्थ नहीं हो सकती।[1] गांधी की समाज-कल्पना सर्वथा गतिहीन तथा प्रगति की संभावनाओं से रहित समाज की कल्पना है। गतिहीनता मृत्यु का पर्यायवाची और अहिंसा – अर्थात् स्थापित व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष से विरति – इस मृत्यु की प्रक्रिया का प्रारम्भ है। किन्तु जीवन का प्रवाह है, गतिशील प्रक्रिया है, जिसमें बाधाएँ और कठिनाइयों का अनिवार्य अस्तित्व है। अहिंसा का दर्शन जीवन के नियम के विरुद्ध है। गतिहीन सामाजिक पृष्ठभूमि से निकला हुआ गांधी का यह दर्शन समाज को हठात् गतिरोध की स्थिति बनाये रखने का प्रयास है। किन्तु आधुनिक संस्कृति गतिशीलता की स्थिति में है, वह परिवर्तन की अनंत संभावनाओं से परिपूर्ण है। इसे अधिक काल तक गतिरोध की स्थिति में रखना असंभव है। वह पूँजीवाद की परिधि का अतिक्रमण करने के लिए संनद्ध है। भौतिकवाद मनुष्य के उस भविष्य पर प्रकाश डालने तथा उसका मार्ग प्रशस्त करने में सक्षम है, जबकि गांधी का आध्यात्मिक अहिंसावाद उसे पुनः मध्ययुगीन बर्बरता की ओर पतनोन्मुख करता है।

गांधी का दर्शन अंतर्विरोधों से ग्रस्त है। उनके अनुसार आस्था का मनुष्य के आध्यात्मिक विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान है। आधुनिक सभ्यता तथा वैज्ञानिक ज्ञान का आस्था के साथ समन्वय नहीं हो सकता। आस्था अज्ञान से

1. इण्डियाज मैसेज, पृ. 216-7.

उत्पन्न होती है। गांधी के आस्थाधारित जगत में परिवर्तन की कोई संभावना नहीं है। अपनी आस्था पर अडिग व्यक्ति संसार में किसी भी प्रकार का परिवर्तन उत्पन्न करने का अधिकारी नहीं है क्योंकि उसका कार्य ईश्वरीय व्यवस्था के प्रतिकूल होगा। ईश्वर, दया, न्याय और उदारता का निधान है, इसीलिए संसार में जो कुछ होता है वह शुभ और उचित है। व्यक्ति को उसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। न्यायी ईश्वर के राज्य में शुभ और अशुभ, उचित तथा अनुचित प्यार और घृणा जैसी विषमताओं का कोई स्थान नहीं है। आस्था के इस आध्यात्मिक मूल्य का सामाजिक अर्थ क्या है? क्या शक्ति और अधिकार के स्वामियों के लिए इससे बढ़कर और कोई सुरक्षा हो सकती है? गांधी का अध्यात्मवाद पूँजीवाद को अलौकिक आधार प्रदान करता है। गांधी-दर्शन की यह तार्किक परिणति उसके अंतर्विरोध और अहिंसा सिद्धांत की रिक्तता की परिचायक है। इतना ही नहीं, गांधी आधुनिक सभ्यता की आलोचना करते हैं। किन्तु क्या उनको यह अधिकार है? अपनी ही मान्यताओं के आधार पर वे उसकी आलोचना नहीं कर सकते है। यदि संसार ईश्वर की कृपा से चल रहा है और उसमें को कुछ हो रहा है वह शुभ तथा मानव-कल्याण के लिए है, तो गांधी को आत्म-नियुक्त निर्णायक बनने का अधिकार नहीं मिल सकता। गांधी की आध्यात्मिक आस्था उनके सारे अभियानों पर रोक लगाती है। ईश्वर की जगत्-व्यवस्था में मनुष्य के प्रयासों की कोई आवश्यकता नहीं है। उसकी स्थिति नाटक के मूक द्रष्टा-सी है। इसके प्रत्युत्तर में कहा जा सकता है कि मनुष्य के कार्य भी दैवी विधान की ही अभिव्यक्ति हैं। किन्तु व्यवहार में आने पर यह तर्क भी धराशायी हो जाता है। एक मनुष्य के कार्यों तथा विचारों में विरोध देखा जाता है। यह स्थिति आस्था-दर्शन के अंतर्विरोध की सूचना है। क्योंकि दूसरों के कार्य और विचार भी तो दैवी इच्छा की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। आस्थावादी कभी भी समाज-सुधारक नहीं हो सकता क्योंकि समाज सुधार का संकल्प यह सिद्ध करता है कि वह ईश्वर की सर्वशक्तिमानता, दयालुता और उदारता में आस्था नहीं रखता।

गांधी सत्य, अहिंसा, प्रेम आदि गुणों का प्रचार करते नहीं थकते क्योंकि इन शब्दों की कोई परिभाषा नहीं है, वे अमूर्त प्रत्यय हैं, उनका कुछ भी अर्थ निकाला जा सकता।[1] किसी भी समाज अथवा संस्कृति ने उन्हें नकारा नहीं है। इसलिए प्रश्न केवल उनके तार्किक और व्यावहारिक परिणामों का है, और इस दृष्टिकोण से गांधी दर्शन में हमें केवल निराशा ही होती है। अध्यात्मवाद तथा

1. There are ..... abstract categories which defy definition. They may mean anything or nothing. — वही, पृ. 219.

निकृष्ट भौतिकवाद का सदा से गठबंधन रहा है, आज भी वे अलग नहीं हैं। गांधी पाश्चात्य सभ्यता की इसलिए निंदा करते हैं कि वह अति भौतिकवादी है। किन्तु जनता को दिया गया उनका संदेश भौतिकवादिता को जन्म देने वाली उसी पतनोन्मुख पूँजीवादी व्यवस्था का रक्षक है।[1]

किन्तु गांधीवाद की आलोचना का अर्थ गांधी की आलोचना नहीं है। राय गांधी की ईमानदारी अथवा सत्य एवं अहिंसा के प्रति निष्ठा पर संदेह नहीं करते। लेकिन, उनका कहना है यदि दर्शन अंतर्विरोधों से ग्रस्त है तो व्यक्ति की महानता से उसकी रक्षा अथवा समर्थन नहीं किया जा सकता।

मार्क्सवाद की आलोचना

गांधीवाद के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि आज की संकटग्रस्त मानवता के लिए यह मार्ग आत्मघाती है। यह सिद्धांत इतिहास के नियमों की अवहेलना करके मनुष्य को मध्ययुगीन संस्कृति में वापस ले जाना चाहता है। इसका सिद्धांत रूप जो भी हो, व्यवहार रूप में यह रूढ़िवादी है। यह प्राचीन सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने का पक्षपाती है, जबकि उसकी समाज-व्यवस्था के टूटने की प्रक्रिया ही वर्तमानकालीन संस्कृति के संकट का कारण है। मानवता के समक्ष दूसरा विकल्प मार्क्सवादी साम्यवाद है, जिसमें मनुष्य के भौतिक कल्याण तथा सामाजिक सुरक्षा का तो पूर्ण आश्वासन है किन्तु उसकी स्वतंत्रता तथा नैतिक मूल्यों की अवहेलना है। मार्क्स का मताग्रही तथा अवैज्ञानिक भौतिकवाद उसके लिए उभयत पाश की स्थिति उत्पन्न करता है, या तो वह शाश्वत नैतिक मूल्यों का निषेध करें अथवा धर्मशास्त्र का प्रत्याख्यान करे। सिद्धांततः मार्क्सवाद ने प्रथम विकल्प को स्वीकार किया किन्तु व्यवहारतः उस पर धर्मान्धता की छाप है।[2]

इसमें कोई संदेह नहीं कि राय के चिंतन पर मार्क्स का गहरा प्रभाव है। मार्क्सवादी आधारों पर ही वे अपने स्वतंत्र राजनीति-दर्शन डिमाक्रेसी की स्थापना करते हैं। किन्तु उनका कहना है कि साम्यवाद तथा मार्क्सवाद को एक करना भूल है। साम्यवाद वस्तुतः अ-मार्क्सवाद है; रेडिकल डिमाक्रेसी वास्तविक मार्क्सवाद है। राय के अनुसार मार्क्सवाद एक गतिशील दर्शन है और रेडिकल डिमाक्रेसी तथा मानवाद उसका तार्किक परिणाम है। साम्यवाद एक मनोव्याधि है जिसका

1. वही, पृ. 233.
2. रीजन, रोमांटीसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन खंड 2, पृ. 188.

अंत उग्र राष्ट्रवाद तथा फ़ासिस्टवाद में होता है। इसलिए गांधीवाद तथा साम्यवाद अपने सारे आभासी भेदों के बावजूद एक ही बिन्दु पर आकर मिलते हैं और इस प्रकार किसी में भी मानवता का उद्धार करने की क्षमता नहीं है।[1]

मार्क्सवाद तथा साम्यवाद का अंतर स्पष्ट करते हुए राय कहते हैं कि मार्क्सवाद एक दर्शन है, साम्यवाद केवल एक राजनैतिक पद्धति है – एक साध्य का साधन है। दोनों में किसी को भी अंतिम साध्य नहीं माना जा सकता। किन्तु जहाँ मार्क्सवाद उसके अंधानुयायियों के लिए धर्म बन गया, साम्यवाद के समर्थकों ने साम्यवाद को एक काल्पनिक स्थिति (यूटोपिया) का स्थान प्रदान कर दिया – साम्यवादी समाज में वर्ग-भेद समाप्त हो जायगा, सारे संघर्षों का अंत हो जायगा, वह पूर्ण शांति की अवस्था होगी। राय यह प्रश्न उठाते हैं कि इस पूर्णशान्ति का निहितार्थ क्या होगा? इस यूरोपियन समाज में द्वन्द्व न्याय की प्रक्रिया अवरुद्ध हो जायगी, इतिहास में गतिरोध आ जायगा और मानवता क्रमशः विशीर्ण हो जायगी। साम्यवाद इस प्रकार हमें केवल मृत्यु का आश्वासन देता है।[2] साम्यवादियों के राजनैतिक आचरण में न तो बुद्धिमानी है और न ईमानदारी। रूस का तथाकथित साम्यवाद साम्यवादी आदर्श से सर्वथा भिन्न है। सोवियत रूस को समाजवादी रिपब्लिक की संज्ञा भले दी जाय किन्तु वास्तविकता में वह एक राष्ट्रवादी राज्य है। राष्ट्रवादी आधार पर स्थित साम्यवाद कभी भी अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति नहीं हो सकती। राष्ट्रवादी राज्य होने के नाते 'शक्ति-राजनीति' उसकी नीति का आवश्यक अंग हो जाती है। राष्ट्रवादी राज्य होने के नाते रूस का भी मुख्य लक्ष्य साम्यवाद का विस्तार न होकर अपने राष्ट्रीय प्रभाव का विस्तार हो गया। इस प्रकार साम्यवाद का सर्वत्र राष्ट्रवाद में पतन हो गया।[3]

साम्यवाद तथा फासिस्टवाद – दोनों ही समूहवाद[4] में विश्वास करते हैं साम्यवाद का सामूहिक अहम् सर्वहारा वर्ग है और फासिस्टवाद का सामूहिक अहम् राष्ट्र है। दोनों ही सामूहिक अहं की वेदी पर व्यष्टि ही हत्या करते हैं। सामूहिक अहं वर्ग हो या राष्ट्र, व्यक्ति की स्थिति नगण्य ही रहती है। और जब साम्यवादी राष्ट्रवादी स्वयं राष्ट्र की स्थापना कर लेते हैं तो उनका सामूहिक अहं फासिस्टवादी के अहं से भिन्न नहीं रह जाता। इसलिए अब साम्यवाद का

1. विस्तार के लिए देखिये, न्यू ओरियन्टेशन, अध्याय 5 तथा 6.
2. In a classless society, dialectics will cease to operate; history will come to a standstill and humanity will die out ..... The utopia of communism promises only death. — न्यू ओरियन्टेशन, पृ. 70.
3. वही, पृ. 129.
4. Colectivism.

एक बार राज्य की स्थापना हो जाती है तो वह निहित स्वार्थों से युक्त हो जाता है। स्वेच्छता अधिकार का स्थानांतरण नहीं हो सकता। मार्क्सवादी साम्यवाद की यह कल्पना असंगत है कि राज्य का अस्तित्व क्रमशः समाप्त हो जायगा। राज्य एक राजनैतिक व्यवस्था है, अपने आप इसका विलीनीकरण संभव नहीं है। रूस की चर्चा करते हुए राय कहते हैं कि यह माना जाता है कि वहाँ पर वर्गहीन समाज की स्थापना हो गयी है। किन्तु यदि यह सत्य है तो अधिनायकवाद के बने रहने की क्या आवश्यकता है? तथापि वह है। इसमें दो संभव निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं : या तो वर्गहीन समाज की स्थापना नहीं हुई है तथा सोवियत राज्य अभी भी एक नियंत्रणकारी मशीनरी है?[1] अथवा अधिनायकवाद की अब कोई आवश्यकता नहीं है तथापि वह विद्यमान है क्योंकि वह निहित स्वार्थों से युक्त हो गया है।[2] इसीलिए साम्यवाद इतिहास का अंत नहीं है, उसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता की सुरक्षा नहीं है। साम्यवाद से परे भी मानवता की प्रगति होगी। साम्यवाद एक साधन है, साध्य नहीं। यदि यह स्पष्ट हो जाय कि साम्यवाद के माध्यम से मानव-स्वातंत्र्य की प्राप्ति नहीं हो सकती तो उसका परित्याग कर देना ही वांछनीय है।

साम्यवाद की एक बहुत बड़ी असफलता यह है कि मार्क्सवाद में विचारों अथवा प्रत्ययों (आइडिया) की स्वीकृति महत्त्वपूर्ण भूमिका को समझने में असमर्थ रहा है। मार्क्सवाद को समझने के लिए इस मार्क्सवादी मताग्रह को छोड़ना होगा कि प्रत्ययों का अपना कोई अस्तित्व अथवा स्वतंत्र भूमिका नहीं है और वे सामाजिक संबंधों पर निर्मित अति संरचना[3] मात्र है। भौतिकवादी दर्शन प्रत्ययों तथा उनकी शक्यता को अस्वीकार नहीं करता, वह केवल इतना मानता है कि प्रत्ययों का कोई अतीन्द्रिय स्रोत नहीं है अपितु वे मनुष्य के भौतिक अस्तित्व के ही अंग है। इसका अर्थ कि मानवता भी प्रगति में प्रत्ययों की भूमिका गौण है। वास्तविकता यह है कि हर महान सामाजिक तथा राजनैतिक अभियान कुछ प्रत्ययों द्वारा ही प्रेरित होता है। जब इन प्रत्ययों की शक्यता तथा प्रेरक शक्ति समाप्त हो जाती है तो मनुष्य नये प्रत्ययों, आदर्शों तथा प्रेरणा स्रोतों की तलाश प्रारंभ कर देता है। यह दर्शन का मूलभूत सत्य है, किन्तु मार्क्सवाद का

1. Coercive machinery.
2. वही, पृ. 150.
3. Super structure.

'अति-सरंचना (सुपर स्ट्रक्चर) का सिद्धांत इस सत्य की अवहेलना करता है। परिणामस्वरूप मार्क्सवाद एक जीवन दर्शन न रहकर राजनैतिक आचरण मात्र रह गया और यह निश्चित है कि दार्शनिक आधार से विहीन कोई भी राजनीतिक सिद्धांत अथवा सामाजिक क्रांति अवसरवाद तथा अर्थक्रियावाद में परिभ्रष्ट हो जाती है।[1] मार्क्सवादी यह मानते हैं कि सामाजिक संबंध ही विचारों अथवा सिद्धांतों को जन्म देते हैं। अन्य शब्दों में, मार्क्सवादी सिद्धांत सर्वहारा वर्ग से उत्पन्न है, किन्तु यह सत्य है कि मार्क्स न तो सर्वहारावर्ग से संबंध रखता था और न अपनी दार्शनिक दीक्षा के लिए वह रूस ही गया। इतिहास यह बताता है कि तथाकथित बोर्जुआ विचारधारा बोर्जुआ समाज की तथा मार्क्सवादी विचारध ारा सर्वहारावर्ग की पूर्वगामी है। प्रत्यय अथवा विचार मानवता की सामान्य दाय है। किसी भी नवीन समाज व्यवस्था के निर्माण के विचार पहले उत्पन्न होते हैं और उन विचारों का कार्यान्वयन उस विचारित समाज-व्यवस्था को जन्म देता है। चित्रकार के विचार निर्मित चित्र के पूर्वगामी होते हैं। ठीक उसी प्रकार जैसे वोल्टेयर और बाल्जक बार्जुआ समाज के बहुत पहले उत्पन्न हुए थे, कार्ल मार्क्स सर्वहारा क्रांति के सौ वर्ष पहले उत्पन्न हुआ था।[2]

मार्क्स-दर्शन के मूल सिद्धांत द्वन्द्व-न्याय की भी राय आलोचना करते हैं। राय द्वन्द्व-न्याय को प्रणाली विज्ञान के रूप में स्वीकार करते हैं किन्तु सत्तामीमांसीय अर्थ नहीं देते। किन्तु उनका कहना है कि मार्क्स ने तर्कशास्त्र तथा सत्तामीमांसा में भ्रान्त एकता स्थापित करके द्वन्द्व-न्याय सिद्धांत को प्रभावहीन बना दिया।[3] राय का विश्वास है कि प्रकृति की प्रक्रिया की व्याख्या द्वन्द्व-न्याय के बिना की जा सकती है। आधुनिक भौतिकशास्त्र द्वारा किया गया द्रव्य का विश्लेषण सत्तामीमांसा के क्षेत्र में द्वन्द्व-न्याय के प्रयोग को सर्वथा व्यर्थ सिद्ध कर देता है। समाज-विकास की प्रक्रिया भी द्वन्द्व-न्याय सिद्धांत के बिना समझी

1. वही, पृ. 117.
2. वही, पृ. 119.
3. The basic error in the philosophical thinking of the founders of dialectical materialism was to confound logic with ontology. In the marxist system, dialectic is the fundamental law of thought, and it is also a description of the process of nature, biological as well as inanimate. The subject matter of a branch of metaphysical inquiry is confounded with the instrument for conducting that inquiry.

   — The Marxian Way, Vol. II, No. 4 Is materialism पृ. 200 में उदघृत।

जा सकती है। प्रजातंत्र से समाजवाद की ओर वैचारिक विकास की प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक ने होकर निरंतर है।[1] समाजवाद का आविर्भाव प्रजातंत्र के विरोध के कारण नहीं हुआ। अपितु वह प्रजातंत्र को और व्यापक बनाने के बौद्धिक तथा राजनैतिक प्रयास का परिणाम है।

राय के अनुसार मार्क्स मनुष्य के सारतत्त्व की व्याख्या करने में असफल रहा। उसका द्वन्द्व-न्याय सिद्धांत नाममात्र का भौतिकवादी सिद्धांत है, वह मूलतः एक आध्यात्मिक तंत्र है। द्वन्द्व-न्याय का सिद्धांत मनुष्य की प्राकृतिक रचनाधर्मिता को नकारता है। मार्क्स का आर्थिक नियंत्रणवाद एक प्रकार का नियतिवाद है।[2] मार्क्स की इतिहास की व्याख्या अंतर्विरोधों से ग्रस्त है। यह बुद्धिवाद इतिहास एक निर्धारित प्रक्रिया है – का रोमांटिकवाद इच्छा की स्वतंत्रता मनुष्य का स्वरूप है – से समन्वय करने का असफल प्रयास है।

किन्तु उपरोक्त आलोचनाओं का अर्थ यह नहीं है मार्क्सवाद के अंतर्विरोध अपरिहार्य हैं अथवा उसका पुनरुद्धार नहीं हो सकता। राय का कहना है कि मार्क्सवाद को उसके रूढ़िवाद गर्त से निकालना एक ऐतिहासिक आवश्यकता है। मार्क्सवाद को अंतिम सत्य मानना अथवा मार्क्स की दैवी ज्ञान का प्रतिनिधि मानना अ-मार्क्सवाद है। इससे अलग रहकर ही मार्क्सवाद के सारतत्त्व की सराहना की जा सकती है। मार्क्सवाद का अतीत समृद्धिशील है और इसलिए यह आशाभय भविष्य का भी दर्शन हो सकता है। राय अपने राजनीतिक दर्शन को ऐसे मार्क्सवाद की संज्ञा देते हैं जो रूढ़ियों तथा यथास्थितिवाद के दोष से मुक्त हैं। यह नवीन दर्शन साम्यवाद से सर्वथा भिन्न होगा क्योंकि साम्यवाद मार्क्सवाद नहीं है। मार्क्सवाद दर्शन है, शाश्वत सत्यों की अभिव्यक्ति है। साम्यवाद एक राजनैतिक व्यवहार है। इस नवीन दर्शन की स्थापना के लिए केवल इतना ही करना है कि हम 'आर्थिक मनुष्य' के स्थान पर 'नैतिक मनुष्य' को प्रतिष्ठित करें।[3] रेडिकल डिमाक्रेसी मात्र एक राजनैतिक कार्यक्रम नहीं है; साम्यवाद से उसका विरोध केवल व्यूह-रचना का विरोध नहीं है। यह विरोध दो दार्शनिक दृष्टिकोणों का है। राय मनुष्य को वस्तुओं के केन्द्र में रखने के पक्षपाती हैं, जबकि दूसरे सिद्धांत सामूहिक अहं की वेदी पर व्यष्टि का उत्सर्ग कर देते हैं।[4]

---

1. रीजन, रोमांटीसिज्म एण्ड रिवालेल्यूशन, पृ. 194.
2. वही, पृ. 202.
3. न्यू ओरियन्टेशन, पृ. 158.
4. वही, पृ. 160.

अपनी व्यष्टि केंद्रित राजनीति को राय व्यवस्थित प्रजातंत्र (आर्गनाइज्ड डिमाक्रेसी) की संज्ञा देते हैं। यह संसदीय प्रजातंत्र से भिन्न है, क्योंकि उसमें भी व्यष्टि की स्वतंत्रता एवं रचनात्मकता की अभिव्यक्ति का अवसर नहीं होता। राय ने विस्तारपूर्वक अपनी इस राजनीतिक व्यवस्था की व्याख्या की है। सरकार का चुनाव, उसके विभिन्न अंग और इकाइयाँ और उनके अधिकार क्षेत्र – इन सबकी विस्तृत व्याख्या राय ने की है और उन्होंने स्वतंत्र भारत के लिए एक संविधान की भी रचना की जिसमें अपने सिद्धांतों के आधार पर भारत के नवनिर्माण की कल्पना की है। इस सिद्धांत के विस्तार में जाना हमारे लिए यहाँ संभव नहीं। इतना कहना आवश्यक है कि राय-कल्पित प्रजातंत्र में बुद्धिजीवी वर्ग को शासन-संचालन में प्रमुख भूमिका प्रदान की गयी है। राय इस बात में अत्यंत सचेष्ट हैं कि राज्य-शासन-व्यवस्था कभी भी एक 'फ्रेम वर्क' न हो जाय जिसमें व्यक्ति को घुटन महसूस हो, जिसमें उनकी व्यष्टिता, आध्यात्मिकता तथा रचनात्मकता के विकास एवं अभिव्यक्ति के उन्मुक्त अवसर और अनंत संभावनायें न हों।

रेडिकल डिमाक्रेसी के मूल सिद्धांतों के मूल सिद्धांतों को रेडिकल डिमाक्रेटिक पार्टी के बंबई अधिवेशन (दिसम्बर, 1946) में पार्टी के घोषणा-पत्र में नव-मानवतावाद के नाम से प्रसारित किया गया, जिसके अनुच्छेद 19 तथा 20 को हम यहाँ अनुद्धृत कर रहे हैं :

"रेडिकल डिमाक्रेसी का आदर्श आध्यात्मिक रूप से स्वतंत्र उन मनुष्यों के सामूहिक प्रयास से फलीभूत होगा जो एक स्वतंत्र जगत-रचना के संकल्प से एक पार्टी में संगठित होंगे। पार्टी के सदस्य जनता के पथ प्रदर्शक, मित्र तथा दार्शनिक के रूप में काम करेंगे, न कि भावी शासक के रूप में। स्वतंत्रता के लक्ष्य से प्रेरित पार्टी का राजनीतिक आचरण युक्तिपरक तथा नैतिक होगा। जैसे-जैसे जनसामान्य की स्वतंत्रता की इच्छा विकसित होगी, पार्टी का भी विकास होगा तथा प्रबुद्ध जनमत एवं लोगों के कुशल कार्यों की सहायता से यह सत्ता प्राप्त करेगी। इस पार्टी को यह ज्ञान होगा कि शक्ति का केन्द्रीकरण स्वतंत्रता के लिए घातक है, इसलिए इसका लक्ष्य अधिकार का व्यापकतम विकेन्द्रीकरण होगा। पार्टी का राजनैतिक सत्ता प्राप्त करना भी उसी प्रक्रिया की एक अवस्था होगी और अपने अस्तित्व के तर्कों के आधार पर वह राजनैतिक अधिकार का उपयोग अधिकाधिक विकेन्द्रीकरण के लिए करेगी और अंत में राज्य तथा संपूर्ण समाज एकार्थक हो जायेंगे।"

अंत में, समाज के इस पुनर्निर्माण के लिए नागरिकों को शिक्षित बनना

पहली शर्त होगी; शिक्षा से सामान्य प्रगति तथा समृद्धि को सहायता मिलेगी, साथ ही व्यक्ति की स्वतंत्रता भी अक्षुण्ण बनी रहेगी। रेडिकल डिमोक्रेटिक पार्टी लोगों को राजनैतिक तथा नागरिक शिक्षा देने की पाठशाला होगी। इसकी संरचना तथा क्रियाविधि उदासीन व्यक्तियों को राजनीतिक व्यापारों की अग्रश्रेणी में आने के लिए आकृष्ट करेगी। ऐसे व्यक्तियों द्वारा संचलित शासन-तंत्र किसी वर्ग विशेष के हाथों का साधन न होगा, जिसमें अन्य लोगों का दमन हो। केवल आध्यात्मिक रूप से स्वतंत्र व्यक्ति ही सत्ता में आकर दासता की बेड़ियों को तोड़ सकते हैं तथा सबके लिए स्वतंत्रता उपलब्ध करा सकते हैं।"

समाज-दर्शन : नवमानवतावाद

इस अंतिम खंड में हम राय के दर्शन के जिस पक्ष की व्याख्या प्रस्तुत करेंगे उसकी बहुत-सी बातों की चर्चा पूर्व खंडों में हो चुकी है। तथापि कुछ ऐसी महत्त्वपूर्ण बातें हैं जिनका स्पष्टीकरण वांछनीय है, भले ही इसमें पुनरावृत्ति का भय हो। वस्तुतः रेडिकल डिमाक्रेसी तथा नवमानवतावाद दो भिन्न-भिन्न सिद्धांत नहीं हैं। यह विभाजन हम अपनी सुविधा के लिए कर रहे हैं।

राय का नव-मानववाद मुख्य समाजदर्शन है। वे चिंतनात्मक अथवा परिकल्पनात्मक दर्शन के तीव्र आलोचक हैं, क्योंकि ऐसा दर्शन मनुष्य के वास्तविक जीवन से कोई संबंध नहीं रखता है, और न ही मानव-समाज के पुनर्निर्माण में कोई रचनात्मक योगदान दे सकता है। राय के अनुसार सच्चा दर्शन वही है जो मनुष्य के जीवन की वास्तविकता से संबंध रखता हो, जिसमें मनुष्य की इच्छाएँ और भावनाएँ प्रतिबिम्बित होती हों तथा जिसके माध्यम से नूतन मानव-समाज की रचना संभव हो सके। इसलिए उनके नवमानवतावाद को हम समाज दर्शन के एक अलग खंड में प्रस्तुत कर रहे हैं।

राय अपने दर्शन को 'नवमानवतावाद' अथवा 'वैज्ञानिक' मानवतावाद अथवा 'अविकल मानवतावाद' कहते हैं। मानवतावाद के पहले 'नव', 'वैज्ञानिक' तथा 'अविकल' शब्दों को जोड़ने से उनका अभिप्राय यह है कि मानवतावादी चिंतन सर्वथा नवीन नहीं है। राय कभी भी यह नहीं कहते कि यह उनका मौलिक दर्शन है। उनके अनुसार मानववाद उतना ही प्राचीन है जितना मानव इतिहास। समस्त युगों में मानववादी चिंतन का मुख्य लक्षण यही रहा है कि 'मानव व्यक्तित्व का विकास जीवन का मुख्य लक्ष्य है तथा कुछ ऐसे भी मूल्य हैं जो सभी परिस्थितियों का अतिक्रमण करते हैं।' प्राचीन काल में मनुष्य के

स्वरूप संबंधी मिथ्या अथवा अपर्याप्त धारणाओं ने मानववादी चिंतन को विकसित नहीं होने दिया। आधुनिक काल में विज्ञान ने मनुष्य के स्वरूप संबंधी उन सभी मिथ्या धारणाओं का निराकरण कर दिया है, फलतः मानववादी चिंतन अपने अंतर्विरोधों एवं दोषों से मुक्त होकर वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित हो गया है। इसी विज्ञान प्रतिष्ठित मानवतावादी चिंतन का ही नाम नव-मानववाद है।[1]

सौ वर्षों से ऊपर हो गये जबकि कार्ल मार्क्स ने दार्शनिकों के समक्ष यह प्रस्ताव रखा कि अब तक उन्होंने केवल संसार की व्याख्या की है, अब वह समय आ गया है कि उसका पुनर्निर्माण किया जाय। तब से लेकर आज तक अनेक उपायों तथा सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया किन्तु जगत के पुनर्निर्माण की आशा समाप्त-सी हो गयी है। विनाश के कगार पर है। उसका यह संकट केवल उसके राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक पक्ष को ही नहीं प्रभावित किये हुए है, वह संपूर्ण मानव-अस्तित्व की गहराई में प्रविष्ट हो गया है। इससे समूचा मानव-अस्तित्व – उसका मन, आत्मा तथा चित्, प्रभावित है, यह एक नैतिक संकट है। और यह संकट बड़ा विचित्र है। हर व्यक्ति शांति चाहता है, किन्तु शांति उससे दूर भागती जा रही है, हर व्यक्ति युद्ध की विभीषिका से त्रस्त है और युद्ध निवृत्ति चाहता है, किन्तु युद्ध अनिवार्य-सा प्रतीत होता है। वस्तुतः यह एक विरोधाभास है। आज मनुष्य का ज्ञान अपेक्षाकृत अधिक बढ़ा हुआ है, परिणामतः उसकी कार्यक्षमता भी अधिक है तथापि वह अपने भीतर कुछ रिक्तता, अभाव और खालीपन का अनुभव करता है, वह निराश, कुंठित किंकर्तव्यविमूढ़ है।[2] इस स्थिति से त्राण पाने के लिए विभिन्न राजनैतिक तथा सामाजिक सिद्धांतों का प्रयोग किया जा रहा है, किन्तु उनकी असफलता निराशा तथा असहायता के बिन्दु तक पहुँच चुकी है। ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य की मौलिकता तथा रचनात्मकता का कोष पूर्णतः रिक्त हो गया है। किन्तु राय इस नैराश्यपूर्ण स्थिति से हताश नहीं होते उनका दृढ़ विश्वास है कि सुन्दरतर

---

1. न्यू ह्यूमनिज्म, पृ. 105.
2. It is indeed a paradoxical situation. Man's crative faculties have unfolded themselves in our time to a higher degree than ever before : he knows much more; his ability to do thing is, therefore, correspondingly greater. Never-the less, something seems to be lacking. Human creativeness is inhabited, his eternal urge to go forward, to break down intallectual and spiritual barriers, seems to have lost fore. रीजन, रोमान्टीसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन, खण्ड 2, पृ. 251.

एवं स्वतंत्र समाज का निर्माण अभी भी संभव है। संसार भौतिक एवं बौद्धिक साधनों से भरपूर है, विकास एवं सुधार की अनंत संभावनाएँ उसमें विद्यमान हैं। इसके बावजूद स्थिति में निरंतर गिरते जाने का कारण यह है कि वर्तमान युग की समस्याओं को अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शती के दृष्टिकोण से देखने तथा सुलझाने का प्रयास किया जाता है। जब तक ऐसा होता रहेगा, परिणाम में असफलता ही मिलेगी। हमारे युग के संकट का मूल कारण ही यही है कि जिस स्तर तक हमारी भौतिक प्रगति हो चुकी है, हमारा मानसिक अभिविन्यास तथा नैतिक स्वास्थ्य उस स्तर तक नहीं पहुँच सका है। अतएव विभिन्न सिद्धांत न तो युग की समस्याओं को सही परिप्रेक्ष्य में देख पाते हैं और न ही उसका उचित समाधान ढूँढ पाते हैं।

राय के अनुसार क्रांतिकारी समाज-दर्शन इस मूलभूत तथ्य पर बल देता है कि मनुष्य अपने संसार तथा इतिहास का निर्माण स्वयं करता है। समकालीन सभी राजनैतिक सिद्धांत – वामपंथी अथवा दक्षिणपंथी, उदारवादी अथवा अनुदारवादी, प्रतिक्रियावादी अथवा क्रांतिकारी – जिन समाज-दर्शनों पर आधारित हैं उसमें मनुष्य के रूप का सही मूल्यांकन नहीं किया गया है। परिणामस्वरूप इन सभी राजनैतिक सिद्धांतों के व्यवहार में कोई भेद नहीं रह जाता, क्योंकि उन सबका लक्ष्य सत्ता प्राप्त करना है, उसके निमित्त प्रयुक्त साधनों के भेद का कोई अर्थ नहीं है।" समकालीन राजनीतिशास्त्रियों तथा समाज-निर्माताओं ने मनुष्य को समूह में निमग्न करके उसे ऐसा विरूप बना दिया है कि वह अब केवल घृणा, लोभ, काम तथा शक्ति जैसे विकृतभावों की ही भाषा समझता है। सत्ता राजनीति के उद्देश्यों के लिए मनुष्य को चिंतनहीन पशु के स्तर पर उतार दिया गया है। राजनीतिक पार्टियों को वोट चाहिए। भावुकता तथा पूर्वाग्रहों की अपील से जन-सामान्य को प्रभावित करना अत्यन्त सहज है। अतः लोगों को पिछड़ेपन की अवस्था में बनाये रखना ही आज की प्रजातांत्रिक पार्टियों का लक्ष्य है। कहा जाता है कि सत्ता मनुष्य को भ्रष्ट बनाती है। किन्तु वास्तविकता यह है कि सत्ता भ्रष्ट को ही भ्रष्ट करती है। जो भ्रष्ट नहीं हो सकते, उन्हें सत्ता में आने का कभी अवसर नहीं प्राप्त होता। इस प्रकार प्रजातंत्र प्रजानायकवाद में बदल गया है। हिंसक क्रांति द्वारा सत्ता प्राप्त करने का भी अपेक्षित परिणाम न निकला।[1] मनुष्य ने सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं की रचना की, किन्तु मनुष्य की ही रचनाओं ने रचनाकार मनुष्य को

1. रीजन, रोमांटीसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन, पृ. 274.

महत्त्वहीन बना दिया, रचनाकार अपनी ही रचना का दास हो गया। अतएव इस संकट से निकलने का एकमात्र मार्ग मनुष्य का मानववादी पुनरुद्धार है।

ऊपर[1] हम मनुष्य के स्वरूप के संबंध में दो मिथ्या अभिग्रहों की चर्चा कर चुके हैं, जिनके आधार पर विभिन्न समाज-दर्शनों का प्रतिपादन किया गया : (क) मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी तथा आत्मकेन्द्रित है तथा (ख) किसी पराशक्ति में विश्वास करना मनुष्य का स्वभाव है। दोनों ही अभिग्रहों पर जिस समाज-दर्शन की स्थापना हो सकती है, उसका स्वरूप दमनकारी तथा नियंत्रणकारी होगा। एक में मनुष्य की स्वतंत्रता राज्य को समर्पित होगी और दूसरे में अलौकिक शक्तियों को। मनुष्य के स्वरूप संबंधी इन धारणाओं के रहते हुए ऐसे समाजदर्शन की स्थापना नहीं हो सकती जिससे निकले हुए राजनैतिक तथा आर्थिक सिद्धांत मनुष्य की समानता तथा स्वतंत्रता का आश्वासन दे सकें। कार्ल मार्क्स ने इतिहास की आर्थिक व्याख्या करके उसे एक समाज-दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित किया। 'आर्थिक मनुष्य' की धारणा ने एक नवीन समाज-दर्शन को जन्म दिया जो कि पूँजीवाद के ध्वंसावशेषों पर निर्मित है। अनेक देशों में क्रांति हुई और समाजवादी कार्यक्रमों के आधार पर आर्थिक पुनर्निर्माण का प्रयास किया गया। किन्तु यह पुनर्निर्माण कहाँ तक सफल है? समाजवादी अथवा साम्यवादी समाज-व्यवस्था में मनुष्य ने किस सीमा तक भौतिक समृद्धि प्राप्त की है? क्या उसमें उत्पादन और उपभोग के अनुपात में अनुकूलता है? ये सारे प्रश्न अभी भी अनुत्तरित हैं। और यदि यह मान भी लिया जाय कि साम्यवादी देशों ने इस दिशा में संतोषजनक प्रगति की है, तो यह प्रश्न उठता है कि इस प्रगति का मूल्य क्या है? उत्तर है – मनुष्य की राजनैतिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक स्वतंत्रता। स्पष्ट है कि संदिग्ध भौतिक समृद्धि तथा अनिश्चित आर्थिक सुरक्षा का यह मूल्य मनुष्य के लिए बहुत ही महँगा है। जिस समाज-व्यवस्था में व्यक्ति स्वयं पहल न करके राज्य का मुखापेक्षी होता है, उसमें राज्य भी अपने तरीके से कार्य करने का अधिकार माँगता है। इसका परिणाम राजनैतिक अधिनायकवाद होता है, वह चाहे वास्तविक हो अथवा वैधानिक हो। परिणामस्वरूप समाज शासक और शासित के दो वर्गों में अनिवार्यतः विभक्त हो जाता है और यह शासक चाहे सामंतवादी व्यवस्था हो, चाहे पूँजीवादी अथवा सर्वहारा वर्ग, व्यष्टि के स्वतंत्रता के लिए घातक है।

प्रजातांत्रिकवाद समाजवाद अथवा कल्याणकारी राज्य का सिद्धांत साम्यवाद का एक दूसरा विकल्प है। साम्यवाद की भाँति यह पूँजीवादी व्यवस्था का विरोधी है किन्तु उसके विपरीत आर्थिक नियंत्रणवाद का भी विरोधी है। सबको

1. इसी अध्याय का पृ. 19-21.

स्वतंत्र मतदान का अधिकार देने के नाते यह व्यवस्था अपने को प्रजातांत्रिक कहती है। (राय के अनुसार ब्रिटेन में इसी प्रकार की व्यवस्था का प्रयोग हो रहा है)। किन्तु इस व्यवस्था की आर्थिक उपलब्धियाँ क्या हैं? वस्तुतः कल्याणकारी राज्य की धारणा एक प्रवंचना है। "मजदूर की ही एक जेब से रुपया निकालकर लाभ के रूप में दूसरी जेब में रुपया निकालकर लाभ के रूप में दूसरी जेब में डाल दिया जाता है और इस प्रक्रिया में मुद्रा का मूल्य बीस-पचीस प्रतिशत घट जाता है। यह तथ्य है, सिद्धांत नहीं। पुनः, प्रजातांत्रिक समाजवाद में भी आर्थिक समृद्धि को खरीदना पड़ता है और मूल्य के रूप में व्यष्टिगत स्वतंत्रता तथा सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को खोना पड़ता है।"[1] इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि 'आर्थिक मनुष्य' की धारणा पर आधारित व्यवस्था में मनुष्य के स्वतंत्रता की हानि होती है। अतएव आर्थिक नियंत्रणवाद का समाजदर्शन मनुष्य को उसके वर्तमान संकट से उबारने में अक्षम है। सर्वहारा अधिनायकवाद शुभ लक्ष्य के नाम पर नागरिक स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाता है और संसदीय प्रजातंत्र में नागरिक स्वतंत्रता औपचारिकता मात्र रह जाती है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि पारंपरिक राजनीति अब प्रभावहीन हो चुकी है। पूँजीवादी समाज व्यवस्था पतनोन्मुख है, यह अपनी नैतिक अनुशास्ति खो चुकी है। परिणामस्वरूप एक ओर जन-सामान्य सामाजिक और आर्थिक सुरक्षा के मिथ्या प्रलोभन में अपने को समूह में निमग्न करके व्यष्टि के रूप में अपनी सत्ता तथा स्वतंत्रता का बलिदान करने के लिए तैयार है। दूसरी ओर, समाज का नेतृत्व पूँजीपतियों के हाथ से निकल कर सफल राजनीतिक पार्टियों के हाथ में जा रहा है। इस प्रकार सामाजिक जीवन का हर पहलू सत्ता-राजनीति से आक्रांत है और सत्ता-राजनीति सशक्त अधिनायकवाद की स्थापना करती जा रही है। किन्तु ऐसे प्रयासों का अंतर्विरोध स्पष्ट है। संस्था अथवा व्यवस्था को मनुष्य के ऊपर प्रतिष्ठित करना मनुष्य के स्वरूप को विकृत करना है। आर्थिक हितों तथा राजनैतिक स्वतंत्रता की सुरक्षा हेतु किया गया सामाजिक पुनर्निर्माण का प्रयास 'मनुष्य' से प्रारंभ होना चाहिए। ऊपर से लादी गयी संस्थायें मनुष्यों के प्रबुद्ध संकल्प एवं इच्छा के समर्थन बिना स्थायी नहीं हो सकतीं। किन्तु आज का मनुष्य अतिशय निराशा की स्थिति में है। ऐसे वातावरण में कुछ किया जा सकना संभव नहीं दिखता। इसी नाते आधुनिक सभ्यता का विशाल ढाँचा छिन्न-भिन्न होता जा रहा है।

यह एक दुःखद स्थिति है इससे भी दुःखद यह है कि मनुष्य ईश्वर में आस्था खो चुका है। आज का निराश व्यक्ति पारंपरिक धर्म की शरण में नही

1. न्यू ओरियन्टेशन, पृ. 98.

जाता किन्तु धर्म सर्वथा लुप्त नहीं हुआ है, वह एक नये रूप में हमारे समक्ष उभरा है। निकृष्ट तथा धर्मनिरपेक्ष धर्म की ईश्वर जानता है, राजनीतिक पार्टी पुरोहिततत्व है तथा उस पार्टी का नेता मुख्य पुरोहित है।[1] वे व्यष्टि की क्षमता तथा मौलिकता में तो विश्वास नहीं करते, किन्तु यह विश्वास करते हैं कि जब हजारों लाखों असहाय व्यक्ति एक साथ होकर पार्टी तथा नेता का अनुसरण करेंगे, तो इससे अदम्य शक्ति का आविर्भाव होगा। राय के अनुसार यह 'अंध आस्था है, इतनी अंध कि इसे अपने असंगत गणित का भी ध्यान नहीं : शून्य शून्य होता है, किन्तु सहस्रों शून्यों का समूह सर्वशक्तिमान ईश्वर हो जाता है। यह नया ईश्वर जनता, राष्ट्र अथवा वर्ग के रूप में पूजा जाता है।'

नव मानवतावाद संकट के मूल के उन्मूलन में विश्वास करता है। इस समाजदर्शन का प्रारंभ बिन्दु व्यक्ति है : व्यक्ति समाज का पूर्वगामी है, व्यक्ति की स्वतंत्रता को सामाजिक एवं राजनैतिक संस्थाओं के ऊपर प्राथमिकता मिलनी चाहिए। आवश्यकता एक ऐसे समाज के निर्माण की है, जिसमें रोमांटिकवाद तथा बुद्धिवाद, दोनों का समन्वय हो, अर्थात् व्यष्टिगत स्वतंत्रता के साथ-साथ सामाजिक व्यवस्था का भी अस्तित्व हो। नवमानवता ऐसा ही समन्वयकारी दर्शन है।[2] आधुनिक विज्ञान ने मनुष्य के स्वरूप का रहस्योद्घाटन करके अनेक प्रचलित अंधविश्वासों तथा मताग्रहों का निराकरण कर दिया है। उदाहरण के लिए, आज का समाज विज्ञान संघर्ष तथा प्रतियोगिता की धारणा से त्रस्त है, कुछ अर्थशास्त्री तो प्रतियोगिता को प्रगति की तुला मानते हैं। किन्तु मानव इतिहास का निष्पक्ष अध्ययन यह दर्शाता है कि मनुष्य में संघर्ष एवं प्रतियोगिता की अपेक्षा सहायता एवं सहयोग की इच्छा अधिक प्रधान है। उसी प्रकार मनुष्य को स्वार्थी मानना भी उसके स्वरूप का भ्रांत मूल्यांकन है। इन भ्रांत धारणाओं पर आधारित सिद्धांतों सें प्रभावित मनुष्य अपने मूलस्वरूप को भूल गया है, अपनी नैसर्गिक शुभता में आस्था खो बैठा है। मनुष्य स्वभावतः युक्तिपरक तथा नैतिक है, स्वतंत्रता उसकी मूल इच्छा है। नव-मानवतावाद मनुष्य के स्वरूप के इसी पक्ष पर बल देता है; यह मनुष्य को मूलस्वरूप के प्रति पुर्नजागृत करने का प्रयास है। नव-मानवतावाद एक समाज-दर्शन है, क्योंकि यह आधुनिक संकट से निकलने का मार्ग प्रदर्शित करता है। इसके अनुसार सभी प्रकार के दबावों, नियंत्रणों तथा अंतर्विरोधों से मुक्त समाज का निर्माण संभव है क्योंकि मनुष्य में सहज युक्तिपरता तथा नैतिकता है। सामाजिक विकास की प्रक्रिया

1. न्यू ह्यूमनिज्म, पृ. 101.
2. ..... New Humanism reconciles the romantic doctrine of revolution that man makes history with the rationalist notion of orderly social Progress. — रीजन रोमांटीसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन, खंड 2, पृ. 309.

निर्धारित है किन्तु वह युक्तिपरक है; मनुष्य की इच्छा उसकी प्रेरक शक्ति है वस्तुतः मनुष्य की इच्छा-शक्ति इतिहास की प्रक्रिया को निर्धारित करने क सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। आर्थिक नियंत्रणवाद का सिद्धांत विकास के सभ दरवाजों को बंद कर देता है। नव-मानववाद के अनुसार सामाजिक न्याय तथ स्वतंत्रता के संसार का निर्माण करने के लिए क्रांति का लक्ष्य समाज के आर्थिव पुनर्निर्माण से ऊपर होना चाहिए। स्वतंत्रता की इच्छा जीवन की मुख्य इच्छा है इसलिए समस्त युक्तिपरक मानवीय प्रयासों का लक्ष्य उन सभी सामाजिक बंधनें को तोड़ना होना चाहिए जो मनुष्य की शक्यताओं एवं क्षमताओं की उन्मुक्त अभिव्यक्ति में बाधक होते हैं। स्वतंत्रता की उपलब्धि की मात्रा इस प्रयास क सफलता की सूचक होगी। नव-मानववाद का संक्षिप्त सार राय के ही शब्दों म इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :

"नव-मानववाद इतिहास के इस मूल तथ्य पर बल देता है कि मनुष्य अपने संसार का निर्माता है – यह निर्माता मनुष्य विवेकशील (रेशनल) होता है तथा विवेकशीलता व्यष्टि में ही हो सकती है। मस्तिष्क विचार का साधन है और यह साधन मानवेंद्रनाथ राय के पास होता है। इसका सामूहिक स्वामित्व संभव नहीं है। प्रतिभा संपन्न व्यक्तियों के नास्तिक विचार क्रांति के अग्रदूत होते हैं। विचारों के साहस के युक्त, स्वतंत्रता की इच्छा के प्रति प्रगाढ़ रूप से सचेष्ट, स्वतंत्र मनुष्यों के स्वतंत्र समाज की कल्पना से संदीप्त तथा व्यष्टि को उसकी गरिमा तथा प्रमुखता के स्थान पर पुनर्प्रतिष्ठित करने के संकल्प से जगत् का पुनर्निर्माण करने की इच्छा से युक्त मनुष्यों का समाज आधुनिव सभ्यता के वर्तमान संकट से बाहर निकलने का मार्ग प्रदर्शन कर सकता है।"

अंत में समाज की ऐसी पुनर्रचना नागरिकों की शिक्षा पर निर्भर होगी ऐसे समाज में सामान्य प्रगति और समृद्धि होगी किन्तु उससे व्यष्टि की स्वतंत्रत में कोई हस्तक्षेप अथवा उसका अतिक्रमण न होगा। नव-मानववाद संसार वे ऐसे सामाजिक पुनर्निर्माण का पक्षधर है जो आध्यात्मिक रूप से स्वतंत्र नैतिव मूल्यों से सहकारी प्रयासों से स्वतंत्र मनुष्यों का राष्ट्रकुल बन जाय।

नव-मानववाद विश्वजनीन है। आध्यात्मिक रूप से स्वतंत्र मनुष्यों क विश्वजनीन राष्ट्रकुल राष्ट्रवादी राज्यों – पूँजीवादी, फासिस्टवादी, समाजवादी, साम्यवादी अथवा अन्य किसी प्रकार की सीमाओं से बंधा न होगा। मनुष्य के बीसवीं शताब्दी के पुनर्जागरण के प्रभाव में ये राज्य एवं उनकी सीमाएँ धीरे-धीरे तिरोभूत हो जायेंगी।"[1]

राय के अनुसार यद्यपि मार्क्सवाद एकदलीय शासनवाद का पर्यायवाची

1. रीजन रोमांटीसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन, खंड 2, पृ. 310.

हो गया है किन्तु स्वयं महान् मानवतावादी था; मनुष्य की आध्यात्मिकता में उसकी दृढ़ निष्ठा थी वह व्यक्ति-स्वातंत्र्य का पक्षपाती था। उसने समाजवाद को 'स्वतंत्रता के साम्राज्य' की संज्ञा दी जिसमें मनुष्य अपने सामाजिक परिवेश का स्वामी है।[1] मार्क्स के अनुसार समाजवाद में मनुष्य उन सभी अविवेकी तत्त्वों पर विजय प्राप्त कर लेगा जो आधुनिक जीवन को विषाक्त किये हुए हैं तथा विवेकशील प्राणी के रूप में व्यक्ति अपने भाग्य का निर्धारण स्वयं करेगा। इससे स्पष्ट है कि मार्क्सवाद का आर्थिक नियंत्रणवाद मार्क्सवाद के मानवतावादी स्वरूप, जो कि उसका वास्तविक स्वरूप है, के प्रतिकूल है। इस दोष से मुक्त मानवतावादी, उदारवादी तथा नैतिक मूल्यों से संपन्न मार्क्सवाद हमारे युग को नयी आस्था और नयी दिशा प्रदान कर सकता है।

नव-मानवतावादी समाज-व्यवस्था औपचारिक प्रजातंत्रवाद के दोषों से मुक्त प्रजातांत्रिक व्यवस्था होगी। इसकी शासन-व्यवस्था का आधार बहुमत न होकर उन आध्यात्मिक रूप से स्वतंत्र व्यक्तियों की नैतिक अंतरात्मा होगी जो शासन व्यवस्था के लिए उत्तरदायी होंगे। इस समाज में शासन का नियंत्रण राजनीतिक पार्टी के हाथों में न होकर प्रबुद्ध, स्वतंत्र एवं नैतिक व्यक्तियों के हाथों में होगा। ये व्यक्ति निहित स्वार्थों, प्रजानायकवाद अथवा सामूहिक अहं की कमजोरियों से मुक्त होंगे। स्थानीय गणतंत्रों पर आधारित प्रजातंत्र वास्तविक प्रजातंत्र होगा। इसमें हर व्यक्ति की योग्यता की पहचान हो सकेगी तथा समाज उसकी रचनात्मक प्रतिभा से लाभान्वित हो सकेगा। पार्टी-राजनीति में व्यक्ति की बौद्धिक स्वतंत्रता नैतिक ईमानदारी तथा निष्पक्ष विवेकशीलता आच्छादित हो जाती है और परिणामस्वरूप प्रजातंत्र औपचारिकता मात्र रह जाता है। ''जनता के लिए शासन कभी भी जनता का और जनता द्वारा शासन नहीं हो सकता।'' मानवतावादी आधारों पर निर्मित ''साध्यों के राज्य'' में ही व्यक्ति सच्चे अर्थों में 'स्वराज्य' प्राप्त कर सकता है।

राय के विचारों के विकास में क्रमशः तीन अवस्थाएँ आई थीं। सर्वप्रथम वे राष्ट्रवादी क्रांतिकारी थे, किन्तु इस रूप में वे अपने उद्देश्य में असफल रहे। अमेरिका, मेक्सिको तथा रूस के प्रवासकाल में उन पर मार्क्सवाद का प्रभाव पड़ा किन्तु साम्यवादी विचारों से समझौता न कर सकने के कारण उन्होंने मार्क्सवाद को छोड़कर मौलिक परिवर्तनवादी मानवतावाद को स्वीकार किया।

1. न्यू ह्यूमनिज्म, पृ. 18.

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने मार्क्सवाद के साथ पूर्ण संबंध विच्छेद कर लिया। वस्तुतः वे अपेन को मार्क्सवाद का सच्चा प्रतिनिधि मानते हैं, अपने को सुधारवादी कहने में उन्हें कोई संकोच नहीं। उनके अनुसार मार्क्सवाद संपूर्ण मानवता की अमूल्य निधि है। इसका प्रारंभ मानवता के प्रारम्भ के साथ हुआ है। यह नित्य विकासमान दर्शन है। मार्क्स के शब्द मार्क्सवाद के अंतिम शब्द नहीं है। सुधार, परिवर्तन एवं विकास की अनंत संभावनाएँ इसमें विद्यमान हैं। इसीलिए राय मार्क्स के द्वंद्वन्याय सिद्धांत का प्रत्याख्यान करते हैं। विश्व-प्रक्रिया निरंतर है, वह विश्व की नियम-निबद्धता की अभिव्यक्ति है। विश्व के नियमों का स्रोत विश्व में ही है, किसी अतीन्द्रिय सत्ता में नहीं। मनुष्य अपने इतिहास का निर्माण स्वयं करता है। वह स्वभावतः विवेकशील तथा नैतिक है। जहाँ तक संसार की घटनाओं की वैज्ञानिक व्याख्या का प्रश्न है, राय के विचारों से असहमत होने का प्रश्न नहीं उठता। वर्तमान युग में विज्ञान एवं दर्शन एक दूसरे के अतिनिकट आ गये हैं और विज्ञान की खोजों की अवहेलना करने वाला दर्शन निश्चय ही अवास्तविकतावादी होगा। अतएव दर्शन को विज्ञान-संमत बनाने का राय का प्रयास निश्चय ही श्लाघ्य है। दर्शन को मानवतावादी आधार पर प्रतिष्ठित करना राय का दूसरा महत्त्वपूर्ण योगदान है। निःसंदेह आज का मनुष्य, अपनी सारी उपलब्धियों के बावजूद क्षुब्ध, कुंठित एवं निराश है, वह अपने मूल को खो-सा चुका है। इस परिस्थिति में मानवतावादी आस्था ही मनुष्य को एक सुदृढ़ आधार प्रदान कर सकती है। विवेक तथा नैतिकता पर प्रतिष्ठित मानव समाज पर ही समस्त मानवता का भविष्य निर्भर करता है। राय द्वारा प्रस्तावित समाज व्यवस्था भले ही यूटोपियन प्रतीत हो, उसी में मानवता का कल्याण निहित है। राय धर्म की आलोचना अवश्य करते हैं किन्तु वे मनुष्य को अपने वास्तविक धर्म के प्रति सचेष्ट भी करते हैं। सच्चे मानव-धर्म का कोई अलौकिक आधार नही है, स्वतः मानवता उसका आधार है। पूजा, उपासना जैसी बातें धर्म के आवश्यक तत्त्व नहीं है। सहयोग, सद्भाव, प्रेम – ये धर्म के लक्षण हैं और मनुष्य के स्वाभाविक गुण हैं। संघर्ष, प्रतिस्पर्धा, जैसी बातें मनुष्य के स्वाभाविक गुणों की अभिव्यक्ति नहीं हैं, इसलिए इन पर आधारित दर्शन, जैसे आर्थिक नियंत्रणवाद, संसदीय प्रजातंत्रवाद आदि मनुष्य की समस्याओं का समाधान करने में असमर्थ हैं। वर्तमान युग की सबसे बड़ी आवश्यकता यही है कि मनुष्य को मनुष्य के रूप में, स्वतः में एक मूल्य के रूप में ग्रहण किया जाय। प्रतियोगिता की सभ्यता मूल्यों के विपर्यास

पर आधारित होती है। मूल्यों को सही परिप्रेक्ष्य में देखने की क्षमता मानवता के संकट को दूर करने का एकमात्र समाधान है। राजनीति के क्षेत्र में मानवतावाद का प्रयोग राय के दर्शन का अमूल योगदान है। उसकी अलोकप्रियता अथवा राजनीतिक जगत में राय की असफलता यदि किसी बात का संकेत करती है तो यही कि किस सीमा तक आज का मानव समाज विपर्यस्त मूल्यों से आक्रांत है और अपने उद्धारक मूल्यों की पहचान करने में अक्षम हैं। किन्तु राय मनुष्य की नैसर्गिक शुभता में अटूट विश्वास करते हैं। उनका कहना है कि शिक्षा के माध्यम से मनुष्य की आस्था को जगाया जा सकता है, उसे उसके वास्तविक रूप का स्मरण कराया जा सकता है। मनुष्य में महान बनने की सहज क्षमता विद्यमान है, अपनी स्वार्थमय संकीर्णता का अतिक्रमण करके वह संपूर्ण मानवता के साथ तादात्म्य स्थापित करने में समर्थ है। यहाँ राय का अध्यात्मवादी व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से हमारे सामने आता है। वे अध्यात्मवाद की आलोचना तो करते हैं किन्तु साथ ही यह भी मानते हैं कि आज का संकट एक आध्यात्मिक संकट है और आध्यात्मिक आस्था के पुनर्जागरण से ही यह संकट दूर हो सकता है। यह राय के दर्शन का विरोधाभास नहीं है अपितु मानवतावादी दर्शन की चरम परिणति है, जिसमें मानव भविष्य की सभी आशाएँ निहित हैं।

●●●

अध्याय 12

देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय : मार्क्सवादी दृष्टिकोण

"अब तक दार्शनिकों ने संसार की केवल विभिन्न विधियों से व्याख्या की है, मुख्य कार्य संसार को बदलना है।" मार्क्स के इस बहुचर्चित वाक्य को दार्शनिकता का सार मानकार भारतीय दर्शन का मार्क्सवादी दृष्टि से विश्लेषण और पुनर्निर्माण करने का एक अभियान, वर्तमान भारतीय चिंतन परंपरा में चल पड़ा है। देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, के दामोदरन्, डी.डी. कौशाम्बी का नाम ऐसे विचारकों में प्रमुख है, जिन्होंने भारतीय दर्शन की भौतिकवादी परंपरा का गहन अध्ययन किया और यह प्रमाणित करने का प्रयास किया कि भारतीय दर्शन में भौतिकवाद की एक दीर्घ एवं अविच्छिन परंपरा रही है और उनके अनुसार इस परंपरा में आधुनिक वैज्ञानिक भौतिकवाद (मार्क्सवाद) के बीच विद्यमान हैं। वैज्ञानिक भौतिकवाद आद्य-भौतिकवाद की स्वाभाविक एवं तार्किक परिणति है। प्राचीन भारतीय भौतिकवाद स्वयं अपनी सारी संभावनाओं को क्रियान्वित न कर सकने के कारण अध्यात्मवाद अथवा आदर्शवाद (अंग्रेजी में स्पिरिच्युलिज्म तथा आइलियलिज्म, दोनों शब्दों को एकार्थक मान लिया गया है) को उत्पन्न करने में सहायक हुआ। किन्तु अध्यात्मवाद एक नितांत कृत्रिम वैचारिक अवस्था है, वास्तविकता में इसका कोई आधार नहीं है और कृत्रिम होने के नाते 'इसका पतन उतना ही स्वाभाविक है, जितना इसका उत्पन्न होना।'[1] वैज्ञानिक भौतिकवाद ही सच्चा मानव-दर्शन है, इसके प्रभूत संकेत एवं संभावनाएँ भारतीय दर्शन में हैं। मार्क्सवादी दृष्टिकोण एक साधन है जिसके माध्यम से भारतीय दर्शन का सच्चा रूप तथा सच्ची आत्मा परखी जा सकती है और उसे व्यावहारिक जीवन का अंग बनाया जा सकता है।

1. ....The recognition of this proto-materialism has its importance for the modern materialist and this importance can be compared to that of the recognition of primitive communism by the scientific socialist. He lays stress on it not because he dreams of returning of it; his purpose is to show that the human realtions based on private ownership and class-exploitation are not without a beginning and end. 'They will fall as inevitable as they arose at an earlier stage', Thus also is spiritualism .... we will do without these in the future as we did in the past — चट्टोपाध्याय : लोकायत (पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, जुलाई 1959), पृ. 665 और भी देखिये भूमिका तथा पृ. 678.

समस्त भारतीय चिंतन सामान्य रूप से दो परंपराओं में विभाजित है – आस्तिक एवं नास्तिक। पाश्चात्य दर्शन में 'नास्तिक' शब्द का प्रयोग विभिन्न संदर्भों में विभिन्न अर्थों में किया गया। एक ओर, एनेक्सागोरस, सुकरात तथा अरस्तू पर नास्तिकता का आरोप लगाया तो दूसरी ओर यपीक्यूरस को 'वस्तुतः ईश्वर में विश्वास करने वाला' कहा गया। ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में तत्त्वमीमांसीय तर्क प्रस्तुत करने वाले देकार्त को गासेन्डी तथा हाब्स के साथ नास्तिकों की पंक्ति में खड़ा कर दिया गया, 'ईश्वर प्रमत्त' स्पिनोजा को बहिष्कृत किया गया और फ़िक्टे को जेना विश्वविद्यालय की नौकरी छोड़नी पड़ी।[1] किन्तु भारतीय दर्शन में नास्तिकता की एक निश्चित परिभाषा है। वेदानुयायी आस्तिक हैं और वेद-विरोधी नास्तिक। ईश्वर में विश्वास और अविश्वास का प्रश्न एक पृथक् प्रश्न है, उसका आस्तिक और नास्तिक होने से आवश्यक संबंध नहीं है। आस्तिक होकर भी ईश्वर को अस्वीकारा जा सकता है (जैसा कि शैवों और पाशुपतों ने किया)।

ईश्वर की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति भारतीय दर्शन में दार्शनिकता के दो ध्रुव हैं। इसे ईश्वरवाद और निरीश्वरवाद के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। के. दामोदरन् ने तो इसे अध्यात्मवाद और भौतिकवाद कहना अधिक तर्कसंगत माना है।[2] और इस विभाजन की दृष्टि से भारतीय दार्शनिकों का बहुमत निरीश्वरवाद (भौतिकवाद?) के पक्ष में रहा, जिसके अनुसार "ईश्वर मात्र एक अंधविश्वास है, एक रिक्त मान्यता है।" सभी प्रमुख भारतीय दर्शन निरीश्वरवादी रहे हैं। एक नगण्य अल्पमत को छोड़कर अन्य दार्शनिकों ने ईश्वर की कोई उपयोगिता नहीं देखी और उन्होंने यह दिखाने का प्रयास भी किया कि यह धारणा दार्शनिक रूप से अस्वीकार्य है।[3] स्वयं ईश्वरवादी इस तथ्य से परिचित थे और यह तथ्य उनके लिए संभ्रामक एवं आपत्तिजनक था। किन्तु इस तथ्य को खंडित करने के लिए उनके पास तथ्य न थे, अतएव अपने संभ्रम को दूर करने के लिए उन्होंने शब्दजाल अथवा 'चल' का सहारा लिया। उदयनाचार्य ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि कोई भी दर्शन निरीश्वरवादी नहीं हो सकता। सभी अपने-अपने तरीके से ईश्वर में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार

---

1. चट्टोपाध्याय : इंडियन एथीज्म, पृ. 16.
2. दामोदरन्, भारतीय चिंतन परंपरा, पृ. 90.
3. चट्टोपाध्याय, इंडियन एथीज्म, पृ. 24 तथा आगे।

सांख्य, मीमांसा, बौद्ध, जैन और यहाँ तक कि चार्वाक भी ईश्वर में विश्वास करते थे।[1] वर्तमान काल में राधाकृष्णन् ने भी उदयनाचार्य के ही ढंग से यह दिखाने की चेष्टा की है कि मार्क्स और लेनिन तथा उनका साम्यवाद धर्म से रहित नहीं हो सकता। किन्तु चट्टोपाध्याय के अनुसार ऐसे तर्क निरर्थक वाक्छल हैं। तर्क द्वारा तथ्य को बदलने का प्रयास 'बौद्धिक बेईमानी' के सिवा और कुछ नहीं हो सकता है। फिर भी दार्शनिक विवादों में इस प्रकार की 'बौद्धिक बेईमानी' का प्रयोग प्राचीन काल से चला आ रहा है।

चट्टोपाध्याय की अपनी दार्शनिक प्रतिज्ञा इस मूलाधार पर अवलंबित है कि भारतीय दर्शन प्रारम्भ से और बहुमत से निरीश्वरवादी, भौतिकवादी तथा इहलौकिक रहा है; उसका अध्यात्मवादी रूप से कल्पित कथा है। सभी प्रमुख भारतीय दर्शन – जैन, बौद्ध, चार्वाक, सांख्य और मीमांसा निरीश्वरवादी हैं। केवल दो – वेदांत तथा न्याय-वैशेषिक ईश्वरवादी हैं, किन्तु न्याय-वैशेषिक दर्शन भी अपने मूल रूप में निरीश्वरवादी ही है और योग का ईश्वर दार्शनिक दृष्टि से किसी महत्त्व का नहीं है।[2]

अपने मन्तव्य की पुष्टि में चट्टोपाध्याय भारतीय चिंतन के उद्भव तथा विकास का एक विस्तृत एवं गहन विश्लेषण करते हैं। उनका विचार है कि भारतीय दर्शन में भौतिकवादी परंपरा के पक्ष में दोहरे प्रमाण मिलते हैं – बाह्य एवं आंतरिक। जहाँ तक वैदिक परंपरा का प्रश्न है, उसमें दार्शनिक विचार पूर्व-ईश्वरवाद से प्रारंभ होकर ईश्वरवाद से होते हुए परा-ईश्वरवाद में परिणत हुआ।[3] वेदों के निष्पक्ष अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि प्रारंभिक जीवन में धार्मिक चेतना का पूर्ण अभाव था। मूलग्रंथों का उदाहरण देते हुए चट्टोपाध्याय का कहना है कि ऋग्वेद में ऐसे स्थल हैं जहाँ पर इन्द्र के अस्तित्व पर संदेह अथवा अविश्वास किया गया है। गार्वे (जिसके अनुसार यह अनीश्वरवाद का सूचक है) से अहसमत होते हुए चट्टोपाध्याय का तर्क है कि ऐसे स्थल पूर्व-ईश्वरवाद की अवस्था का संकेत करते हैं, इसी पूर्व-ईश्वरवाद के निषेध से ईश्वरवाद का जन्म हुआ जिसकी तार्किक परिणति वेदांत के परा-ईश्वरवाद में हुई। निरीश्वरवाद पूर्व-ईश्वरवाद तथा परा-ईश्वरवाद दोनों से भिन्न है। ईश्वरवाद

1. वही, पृ. 21.
2. वही, पृ. 29.
3. वही, पृ. 39.

पूर्व-ईश्वरवाद का निषेध है और निरीश्वरवाद ईश्वरवाद का निषेध है।[1] निरीश्वरवाद ईश्वरवाद की पूर्व अवस्था नहीं है, बल्कि इसका प्रादुर्भाव ईश्वरवाद के विरोध में हुआ। इस प्रकार वेदों के ईश्वरवाद के विरुद्ध अनीश्वरवाद की धारा चली; वह धारा मुख्य रूप से अवैदिक थी। अध्यात्मवाद के विरुद्ध यह एक चुनौती थी जो वेदों के बाहर से आयी। साथ ही, वेदों के भीतर भी इस प्रकार की अनीश्वरवादी तथा भौतिकवादी प्रवृत्तियों का अभाव नहीं है। वेद-साहित्य का एक वृहत् अंश ऐसे जीवन का चित्रांकन करता है जिसका स्वरूप 'आदिम-आद्य भौतिकवाद' है, जो निरीश्वरवादी है। अपने विकास के लिए अध्यात्मवाद को इसके विरुद्ध भी संघर्ष करना पड़ा। उन्हीं के शब्दों में : 'आदिम वर्ग पूर्व समाज का जगत-दर्शन पूर्वाध्यात्मवादी और इस अर्थ में आद्य भौतिकवादी था।' जैसे वर्गपूर्व आदिम साम्यवाद के नष्टावशेषों से राज्य शक्ति का उदय हुआ, वैसे ही आदिमकालीन पूर्वाध्यात्मवादी विचारधारा के अवशेषों से मानव-चेतना में अध्यात्मवादी भावों का भी उदय हुआ।[2]

भौतिकवाद तथा अनीश्वरवाद के पक्ष में विद्यमान सशक्त एवं विपुल साक्ष्यों का विवरण देते हुए चट्टोपाध्याय इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतीय दर्शन के मूलस्वरूप को अध्यात्मवादी अथवा ईश्वरवादी कहना एक आत्म-प्रवंचना है।» ऐसे जर्जर एवं पुरातन अंध विश्वासों के दिन अब गिने-चुने रह गये हैं। भारतीय दर्शन को मूलतः अध्यात्मवादी कहने से पूर्व भारतीय दर्शन का एक निष्पक्ष तथा वैज्ञानिक अनुशीलन वांछनीय है। केवल इसी विधि से भारतीय दर्शन के मूल रूप को तथा अध्यात्मवादी प्रवृत्तियों के प्रादुर्भाव को समझा जा सकता है। भारतीय दर्शन का इतिहास असंदिग्ध रूप से इसके भौतिकवादी रूप का संकेत करता है। उसी भौतिकवाद को एक वैज्ञानिक रूप तथा सही दिशा देना समकालीन दार्शनिकों का धर्म है। अध्यात्मवाद का अब केवल प्रचार-मूल्य रह गया है। इस प्रचार को खंडित करके भारतीय भौतिकवाद को उसके वास्तविक लक्ष्य–मार्क्सवाद–तक ले जाना ही युग की माँग है।[3]

---

1. इंडियन एथीज्म, पृ. 41 तथा आगे।
2. लोकायत पृ. 228-29 तथा 127. इंडियन एथीज्म, पृ. 44. तुलना कीजिये – के. दामोदरन्, भारतीय चिंतन परंपरा, पृ. 29 तथा 89 मुख्य मंतव्यों के सहमत होते हुए भी दामोदरन् चट्टोपाध्याय से इस बात पर असहमत हैं कि वर्गपूर्व समाज में अध्यात्मवाद का अभाव था अथवा जादू, टोना, यज्ञ आदि का संबंध भौतिक परंपरा से था।
3. देखिये लोकायत की भूमिका तथा इंडियन एथीज्म का आमुख। तुलना कीजिये – दामोदरन् की भूमिका तथा पृ. 529.

भारत की दार्शनिक विरासत : अनीश्वरवाद

वर्तमान भारत में समाजवाद के लिए चल रहे संघर्ष का सीधा संबंध भारतीय दार्शनिक दाय के संघर्ष से है। अस्तु, आवश्यक यह है कि भारत की 'वास्तविक दार्शनिक सामग्री का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण' करके उसके जीवंत मूल्यों तथा सिद्धांतों की खोज की जाय और उसे उचित दिशा में ले जाया जाय और साथ ही जो मृत एवं जर्जर मूल्य हैं, उन्हें निराकृत कर दिया जाय। भारतीय दर्शन में अध्यात्मवाद और भौतिकवाद का संघर्ष ईश्वरवाद और स्वभाववाद के माध्यम से व्यक्त हुआ है और यही संघर्ष धर्म तथा विज्ञान के संघर्ष का भी संकेत करता है। धर्म इस मूल मान्यता पर आधारित है कि वह संसार एक अगोचर शक्ति ईश्वर की संज्ञा से अभिहित है। ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है, वह चित् स्वरूप है, अतएव संसार का रूप मूलतः आध्यात्मिक है। विज्ञान की मान्यता ठीक विपरीत है। संसार का स्वरूप भौतिक है और सभी घटनायें स्वाभाविक रूप से होती रहती हैं। प्रकृति का नियम, न कि कोई अगोचर ईश्वर, घटनाओं का नियामक है। स्वभाववाद यदृच्छावाद नहीं है। यदृच्छावाद कारणता के नियम का ही निषेध करता है और इस अर्थ में वह अद्वैत अध्यात्मवाद के निकट है। भेद इतना है कि अद्वैत कार्य के निषेध से कारणता का निषेध करता है और यदृच्छावाद कारण के निषेध से। स्वभाववाद कारणता की प्राकृतिक व्याख्या करता है और इसका प्राचीनतम संकेत श्वेताश्वतर उपनिषद् में मिलता है।[1]

प्रायः सभी दार्शनिक परंपराओं में (वेदांत और सीमित अर्थ में न्याय को छोड़कर) स्वभाववाद के पक्ष में प्रमाण विद्यमान हैं। सबसे आश्चर्यजनक बात यह है कि मीमांसा दर्शन भी, जिसके आस्तिक होने में किसी भी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता, स्वभाववाद के पक्ष में ही मत देता है। मीमांसा-निरीश्वरवाद का व्यवस्थित विवेचन एवं मूल्यांकन करते हुए चट्टोपाध्याय यह विश्वास करते हैं कि मीमांसकों के अनुसार वैदिक 'ईश्वर मात्र ध्वनि है। ये ध्वनियाँ महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि उनका जादुई अनुष्ठानों से घनिष्ठ संबंध है। किन्तु इससे आगे ईश्वर अथवा ईश्वरों की सत्ता की कल्पना करना व्यर्थ है। ईश्वर केवल ईश्वर के रूप में अवास्तविक है। उनकी वास्तविकता मात्र शाब्दिक है।'[2] न्याय-दर्शन का भी निरीश्वरवादी होना कम आश्चर्यपूर्ण

1. देखिये इंडियन एथीज्म, पृ. 58.
2. वही, पृ. 253.

और महत्त्वपूर्ण नहीं है क्योंकि न्याय दर्शन का प्रकट और सामान्यतः स्वीकृत रूप ईश्वरवादी है। इसमें ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में विस्तृत तर्क प्रस्तुत किये गये हैं। वाह्य और आंतरिक साक्ष्य यह संकेत करते हैं कि ईश्वरवादी न्याय परवर्ती है और पूर्ववर्ती न्याय निश्चय ही निरीश्वरवादी अर्थात् स्वभाववादी है। ईश्वर की परिकल्पना न्यायदर्शन की आंतरिक संरचना से मेल नहीं खाती। न्यायदर्शन की तत्वमीमांसा अणुवादी है जो निश्चय ही एक वैज्ञानिक अवधारणा है। अणुओं के परस्पर संयोग की समस्या नैयायिकों के समक्ष आयी। अध्यात्मवादियों के अनुसार ऐसा संयोग असंभव है क्योंकि अणु निरवयव और विशिष्ट होते हैं। नैयायिक अणुवाद की वैज्ञानिक व्यवस्था तो प्रस्तुत न कर सके क्योंकि इस समय तक इस सिद्धांत के वैज्ञानिक पक्षों का उतना विकास नहीं हुआ था, किन्तु अपनी इस अणुवादी मूल मान्यता को वे छोड़ना भी नहीं चाहते थे। और इसलिए उस युग की सर्वाधिक स्वीकार्य प्रविधि – ईश्वर का प्रत्यय – का स्वीकार करके उन्होंने अणुवाद की रक्षा करनी चाही। अतएव ईश्वर का प्रत्यय तथा विश्वास मूल न्याय दर्शन पर बाद का एक प्रत्यारोपण है, केवल इसलिए कि यह उनके मूलभूत एवं वैज्ञानिक विश्व-दृष्टिकोण की व्याख्या में सहायक सिद्ध हो सकता है[1]। इतना ही नहीं, गौतम ने तो स्पष्ट रूप से ईश्वर की सत्ता को अनावश्यक माना है और स्वभाववाद को स्वीकार किया है क्योंकि उन्होंने अदृष्ट को, जो कि एक अचेतन सिद्धांत है, निमित्त कारण स्वीकार किया है, न कि ईश्वर को। न्यायदर्शन को स्वभाववाद के समर्थक के रूप में प्रस्तुत करना आधुनिक विद्वानों को एक 'बेहूदी' बात लग सकती है, किन्तु वस्तुस्थिति यही है।[2]

बौद्ध तथा जैन दर्शन का नास्तिकवादी तथा अनीश्वरवादी स्वरूप तो सर्वस्वीकृत है। स्वयं बुद्ध ने कहा कि दुःख और दुःख का निरोध – यही उनका उपदेश है। जिनकी व्याख्या के लिए ईश्वर की अवधारणा न केवल अनावश्यक है अपितु ईश्वर की स्वीकृति से दुःख तथा दुःख निरोध का दर्शन ही समाप्त हो जाता है। वैभाषिकों ने तो स्पष्ट रूप से ईश्वर के विरोध में तर्क प्रस्तुत किया और कहा कि हर घटना की उत्पत्ति अनेक पूर्वगामी एवं पूर्वनिर्धारित कारणों का परिणाम है तथा प्रत्येक परिणाम एक निश्चित देश-कालीन संदर्भ में नियंत्रित होता है।[3] वस्तुओं की उत्पत्ति अथवा संसार क्रम में ईश्वर का कोई

1. वही, अध्याय 16.
2. वही।
3. वही, अध्याय 12.

योगदान नहीं है। महायान बौद्ध में भी ईश्वर की अस्वीकृति स्पष्ट है। नागार्जुन ने ईश्वर को आभास माना है यद्यपि इस आभास के निराकरण में उन्होंने एक अन्य आभास का सहारा लिया है। किन्तु महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने वास्तविकता को एक निरंतर प्रवाह के रूप में स्वीकारा जो भौतिकवादी दृष्टिकोण का केन्द्र बिन्दु है।[1]

लोकायत, तंत्र तथा सांख्य की चर्चा हम कुछ समय पश्चात् करेंगे। संप्रति इतना ही कहना आवश्यक है कि ये परंपरायें (अथवा यह कहा जाय कि लोकायत-तंत्र-सांख्य परंपरा) अनीश्वरवादी तो हैं ही, भौतिकवादी इनमें अपने निखरे रूप में विद्यमान है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतीय दार्शनिकों का बहुमत "प्रतिबद्ध अनीश्वरवादी" है। धर्म मनुष्य की कृति है और ईश्वर मनुष्य की कल्पना है। इसका अर्थ यह नहीं है कि ऐसा करना उसके लिए स्वाभाविक है। वास्तविकता यह है कि "इतिहास-क्रम की एक निश्चित अवस्था में तथा कतिपय भौतिक आवश्यकताओं की काल्पनिक पूर्ति के लिए मनुष्य ने धर्म और ईश्वर, यज्ञ प्रार्थना, पूजा आदि प्रविधियों का आविष्कार किया और परिस्थितियों के बदल जाने पर वह धार्मिक दृष्टिकोण को अतिक्रांत भी कर जायेगा। अन्य शब्दों में, ईश्वर की धारणा न तो दार्शनिकों की स्वर रचना है और न ही मानव-चेतना का एक अपरिहार्य अंग। कुछ स्थूल भौतिक परिस्थितियों में यह उत्पन्न हुई और उनके बदलते ही यह धारणा भी अनिवार्यतः समाप्त हो जायेगी।"[2] अनीश्वरवाद की तार्किक एवं वैज्ञानिक परिणति मार्क्सवाद है। भारतीय परम्परा इसकी दिशा में जाने का प्रयास करती रही। यह बात दूसरी है कि कुछ अपनी ही त्रुटियों के नाते वह वहाँ तक पहुँचने में असफल रही। इस अधूरे कार्य को पूरा करना ही युग की माँग है। इसकी विस्तृत चर्चा हम आगे के लिए स्थगित कर देते हैं।

लोकायत-तंत्र-सांख्य परंपरा : आद्य-भौतिकवाद से आत्म-चेतन भौतिकवाद की ओर

वेदों का सबसे प्रबल विरोध चार्वाकों द्वारा किया गया। चार्वाक लोकायत, अर्थात् जन-सामान्य, दर्शन है। वैदिक दर्शन वर्ग-विशेष का दर्शन है। वैदिक परंपरा ने इसी वर्ग विशेष के हितों का संरक्षण किया। किन्तु वर्ग विशेष

1. देखिये, वही, पृ. 123-24, ऐंजिल्स का उद्धरण।
2. वही, पृ. 306.

संरक्षण का अर्थ है वर्ग-सामान्य का शोषण। वैदिक परंपरा अध्यात्मवादी परंपरा है। अध्यात्मवाद की आड़ में इसने अनेक आध्यात्मिक भ्रांतियों की रचना करके जनसामान्य को उन्हीं भ्रांतियों में उलझा कर उन्हें संसार से परांगमुखी बनाया। लोकायत जन-सामान्य का दर्शन होने के नाते उनके हितों की रक्षा के लिए प्रतिबद्ध था और इसके लिए उसने अध्यात्मवाद (वैदिक दर्शन) का घोर विरोध किया। अतएव जहाँ एक ओर अनीश्वरवाद के माध्यम से वैदिक अध्यात्मवाद का विरोध स्वयं वैदिक परंपरा में हो रहा था, वहीं दूसरी ओर अवैदिक दर्शनों में चार्वाक ने स्पष्ट रूप से अध्यात्मवाद के विरोध में भौतिकवादी दर्शन का प्रतिपादन किया। लोकायत भौतिकवाद का मौलिक लक्षण उसका देहवाद है, जिसका अर्थ है कि आत्मा शरीर से भिन्न नहीं है। लोकायत देहवाद तंत्र के देहवाद से भिन्न नहीं है और देहवाद असुरों का दर्शन है, जिसकी चर्चा छांदोग्य उपनिषद् में स्पष्ट रूप से की गयी है। इस उपनिषद् में विरोचन को आत्मा तथा शरीर को अभिन्न स्वीकार करते हुए दिखाया गया है। चट्टोपाध्याय का अनुमान है कि 'ये असुर ही थे जो लोकायत दर्शन के अनुगामी थे। देह और आत्मा को एक मानने का दृष्टिकोण तंत्र-दर्शन का भी प्रमुख सिद्धांत है। तंत्र देहवाद का अतिवादी रूप है, इसमें भौतिक मानव-शरीर को विश्व का सूक्ष्म रूप माना गया है। तंत्र-दर्शन अपने उद्भव की दृष्टि से वेदों से पूर्व है, अपने मूल-रूप में यह वेद विरोधी दर्शन है और इसमें अनुष्ठानों, मंत्रों, यज्ञों, जादू आदि क्रियाओं की प्रधानता है। सृष्टि के संबंध में जिस असुर-दृष्टि की चर्चा गीता तथा उपनिषदों में मिलती है, वह तंत्र-दर्शन के सृष्टि सिद्धांत से भिन्न नहीं है। यह सिद्धांत है : जिस प्रकार स्त्री-पुरुष संपर्क से अभिनव शिशु का जन्म होता है उसी प्रकार पुरुष और प्रकृति के संपर्क से सृष्टि का आवर्भाव होता है। अतः लोकायत (जो कि असुर दर्शन है) तथा तंत्र का संबंध असंदिग्ध है। यहीं पर इन दोनों का सांख्य दर्शन से संबंध है। सांख्य की प्रकृति न केवल एक अचेतन तत्त्व है अपितु यह स्त्रीत्व का भी द्योतक है और पुरुष पुरुषतत्व का। अतएव गीता में वर्णित असुर सृष्टि-सिद्धांत तंत्र-सिद्धांत से भिन्न नहीं और मूल सांख्य का सृष्टि दर्शन इन दोनों से भिन्न नहीं।[1]

किन्तु तंत्र-दर्शन के जिस रूप से सामान्य लोग परिचित हैं वह उसका मूल एवं वास्तविक रूप नहीं है। तंत्र का वामाचारी रूप, जिसे घृणित एवं असभ्य माना जाता है, वस्तुतः घृणित नहीं है। उसका एक गहरा अर्थ है।

1. वही, अध्याय 5.

वामाचार का अर्थ स्त्री काम संबंधी क्रियाओं से है, जिसका सीधा संबंध तंत्र भौतिकवाद से है। ऋषि स्त्रियों की खोज है, काम-संबंधी क्रियायें उत्पादन की प्रतीक हैं, स्त्री पृथ्वी का रूप है। तंत्र संबंधी सभी क्रियाओं की उत्पत्ति स्थूल भौतिक आवश्यकताओं को संतुष्ट करने के लिए हुई आदिम विश्वास यह था कि प्रकृति की उत्पादन-क्षमता का मानवीय और विशेष रूप से स्त्री की उत्पादन क्षमता पर निर्भर करता है। यह प्राचीन विश्वास तंत्र का स्रोत है। भले ही यह कुछ अटपटा अथवा हास्यास्पद लगे। योग-साधना का लक्ष्य अपने को स्त्री में रूपांतरित करना अपने भीतर निहित स्त्रीत्व की क्षमताओं को उभारना था और इसका प्रत्यक्ष संबंध प्रकृति में उत्पादन-क्षमता की वृद्धि करना था। यद्यपि तंत्र में विद्यमान कृषि संबंध क्रियायें, अनुष्ठान, जादू-टोने आदि अज्ञान पर आधारित हैं, किन्तु उन्हें मात्र अज्ञान अथवा व्यर्थ मानना उचित न होगा। जादू टोने इस मान्यता का संकेत देते हैं कि 'वास्तविकता को नियंत्रित करने का भ्रम पैदा करके उसे वस्तुतः नियंत्रित किया जा सकता है।' यहाँ पर तंत्र का लोकायत और भौतिकवादी स्वरूप स्पष्टतः परिलक्षित होता है। जब वैज्ञानिक साधन अनुपलब्ध थे। उस समय वास्तविकता को नियंत्रित करने की कल्पना का महत्त्व केवल मनोवैज्ञानिक था, यथेष्ट वैज्ञानिक प्रगति हो जाने पर वास्तविकता के वास्तविक नियंत्रण की कल्पना अनावश्यक हो जाती है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तंत्र के आदिम आद्य-भौतिकवाद में वर्तमान वैज्ञानिक भौतिकवाद के बीज विद्यमान हैं।[1] इतना ही नहीं, चट्टोपाध्याय भारतीय तंत्रवाद और चीनी ताओवाद में भी अद्भुत साम्य देखते हैं।[2] ताओवाद में शारीरिक श्रम तथा भौतिक उत्पादन में घनिष्ठ संबंध माना गया। यह उनके (और तंत्र दर्शन के भी) वैज्ञानिक अथवा आद्य-वैज्ञानिक विश्व दृष्टिकोण का सूचक है। शारीरिक श्रम मनुष्य की चेतना को स्थूल भौतिक जगत की वास्तविकता से बाँध कर उसे परा-जगत अथवा अध्यात्मवादी कल्पनाओं में उड़ने से रोकती है। अध्यात्मवाद एक सामाजिक क्रांति का परिणाम है। जबकि शारीरिक श्रम को हेय माना जाने लगा और मानव-चेतना (अन्य शब्दों में शासक वर्ग की चेतना) ने अपने को शरीर श्रम के उत्तदायित्व से मुक्त कर लिया तथा उसकी सर्वशक्ति मानता की भाँति इस सीमा तक बढ़ गई कि वह अपने को वाह्य भौतिक जगत् का कर्ता मान बैठी। यह सत्य है कि ताओवाद अथवा तंत्रवाद

1. तुलना कीजिये, के. दामोदरन् : भारतीय चिंतन परंपरा अध्याय 6.
2. दामोदरन् ने कर्मकांड और जादुई अनुष्ठानों को केवल वैदिक अध्यात्मवाद से संबद्ध माना है और उसे विज्ञान से सर्वथा विपरीत माना है।

के जादुई अनुष्ठान अज्ञान पर आधारित थे, किन्तु अज्ञान एक बात है और धर्म अथवा अध्यात्मवाद अथवा प्रत्ययवाद दूसरी बात। तंत्र की उत्पत्ति कृषि जगत की शारीरिक क्रियाओं से हुई, जादुई विश्वास तथा क्रियायें प्रारंभिक कृषि काल की विशेषताएँ हैं। कृषि संबंधी जादुओं से उत्पन्न होने वाला तंत्र दर्शन मूलतः भौतिकवादी है जैसा कि उसके देहवाद से स्पष्ट है। देहवाद के अनुसर देह के रहस्य को जान कर प्रकृति के रहस्य को जाना जा सकता है और विश्व-सृष्टि का सिद्धात मानव देह की उत्पत्ति से भिन्न नहीं है। परिवर्तित सामाजिक परिस्थितियों में तंत्र दर्शन अपने विरोधियों के हाथों में पड़ गया; परिणामस्वरूप जो दर्शन मूलतः भौतिकवाद था वही आध्यात्मिक विचारों का आधार बना दिया गया। उसमें भक्ति, पूजा, मोक्ष आदि विदेशी विचार प्रत्यारोपित कर दिये गये। किन्तु तंत्र का मूल रूप सर्वथालुप्त नहीं हुआ और कालान्तर में भी उसका प्रचार समाज के निम्न एवं श्रमजीवी वर्गों में बना रहा जो उसके लोकायत स्वरूप को पुष्ट करता है। इसका लोकायत स्वरूप ही इसके आद्य वैज्ञानिक स्वरूप का आधार है। तंत्र ने लोकायत होने के नाते भौतिक शरीर की अमरता – उसका विकास और पूर्णता – को ही मोक्ष माना। उनके इसी विश्वास ने उन्हें चिकित्साशास्त्र के शोध के लिए प्रेरित किया, जबकि अध्यात्मवाद ने शरीर के महत्त्व की अवहेलना की और आत्मा के मोक्ष का स्वप्न देखते रहे।

तंत्र का यह आद्य भौतिकवाद अतिप्राचीन है, इसमें अनेक कर्मकांडों का संमिश्रण हैं जो अविकसित प्रविधि का एक अंग है। तंत्र में विद्यामान यही प्राचीन भौतिकवाद मूल सांख्य में आत्म-चेतना दार्शनिक सिद्धान्त का रूप धारण कर लेता है तथा भारतीय दर्शन के प्रमुख अध्यात्मवादी परंपरा – वेदांत – के प्रबलतम विरोध का प्रतिनिधित्व करता है।

तंत्र और सांख्य के सैद्धांतिक प्रत्ययों में आश्चर्यजनक समता है।[2] सांख्य में प्रकृति मूल तत्त्व है जो विश्व का मूल है। पुरुष सांख्य दर्शन का प्रमुख सिद्धांत नहीं है, पुरुष को विश्व की आत्मा कहना सांख्य में एक विदेशी सिद्धांत को आरोपित करना है। वस्तुतः 'सांख्य दर्शन तंत्र दर्शन में निहित सैद्धांतिक पक्ष का दार्शनिक पुनर्कथन है। 'शंकराचार्य ने भी सांख्य के तंत्र से संबद्ध होने का पर्याप्त संकेत दो प्रकार से दिया है। एक तो वे सांख्य को 'कपिलस्य तंत्र' (कपिल का तंत्र) कहते हैं। दूसरे, उन्होंने तंत्र दर्शन की कहीं

1. लोकायत, पृ. 338 तथा आगे।
2. वही, अध्याय 6.

आलोचना या खंडन नहीं किया है, जिसका यह अर्थ निकाला जा सकता है कि सांख्य का खंडन कर देने के पश्चात् अलग से तंत्र का खंडन करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। इसके अतिरिक्त सांख्यकारिकाकार ने स्वयं षष्टितंत्र की चर्चा की है। अत्यन्त रोचक बात यह है कि सांख्य योग का एक अन्य ग्रंथ भी उपलब्ध है, जिसे पातंजल तंत्र कहा जाता है। 'तंत्र' शब्द के ये सब प्रयोग यही संकेत देते हैं कि सांख्य दर्शन में इस शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ में (जिससे किसी भी दार्शनिक परंपरा का बोध होता है) न होकर एक विशेष अर्थ में किया गया है और इस अर्थ में सांख्य दर्शन में लोकायत परंपरा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विकास है। जैन भाष्यकार सोलंक ने उचित ही सांख्य और लोकायत में भेद मानने से इन्कार किया है और शंकराचार्य ने सांख्य दार्शनिकों को चार्वाक को प्रमाण के रूप में उद्धृत करते हुए दिखाया है। यह सब तथ्य सिद्ध करते हैं कि 'मूल सांख्य' निश्चित रूप से भौतिकवादी तथा निरीश्वरवादी था। प्राचीन दार्शनिकों ने इसे इसी रूप में देखा। इसे निरीश्वर प्रधान कारणवाद कहा जाता था। पुनः इस मूल रूप में सांख्य दर्शन आस्तिक अथवा वैदिक परंपरा का विरोधी था। याकोबी महोदय का भी मत है कि सांख्यकारिका में प्रस्तुत सांख्य दर्शन पर अद्वैत वेदांत का प्रभाव है। कारिकाकार ने कतिपय अध्यात्मवादी धारणाओं को वेदांत से उधार लेकर सांख्य पर आरोपित किया। और इस प्रयास के नाते, जैसा कि शंकराचार्य ने दिखाया है, सांख्य दर्शन में भी विसंगतियाँ आ गयी हैं। ऐतिहासिक प्रमाण भी सांख्य दर्शन को अवैदिक दर्शन तथा तंत्र के साथ उसके असंदिग्ध संबंध को सिद्ध करते हैं।[1] इतिहास के अनुसार मूल सांख्य का उद्भव उत्तरपूर्वी प्रदेश से हुआ जो कि तांत्रिकों तथा मातृ प्रधान समाज का प्रदेश रहा है। महाभारत में भी एक बड़ा महत्त्वपूर्ण संकेत मिलता है जिसके अनुसार सांख्य का प्रतिपादन पुरुष कपिल द्वारा नहीं बल्कि स्त्री कपिला द्वारा किया गया। इससे भी तंत्र एवं सांख्य का संबंध सिद्ध होता है।

रामानुज तथा शंकर ने सांख्य की चर्चा प्रधानवाद के रूप में की है। प्रधान और प्रकृति सांख्य में एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं। इसके अतिरिक्त पुरुष और विशेषतः अनेक पुरुषों को भी स्वीकार किया गया है। किन्तु सांख्य दर्शन में पुरुष की जो तार्किक स्थिति है उससे उसका महत्त्व 'अप्रधान' मालूम पड़ता है और सांख्य का प्रधानवाद एक भौतिकवादी सिद्धान्त प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त सांख्य में पुरुष का मूल अर्थ वह नहीं है जैसा कि अद्वैत प्रभावित सांख्य में प्रस्तुत किया गया है।

---

1. वही, पृ. 381 तथा आगे।

सांख्य दर्शन में प्रकृति को विश्व का मूल कारण स्वीकार किया गया है। विश्व इसी प्रधान का परिणाम है। विश्वोत्पत्ति की प्रक्रिया में पुरुष किसी भी रूप में साझीदार नहीं है। अद्वैत वेदांत का आत्मा भी इसी प्रकार का है। किन्तु दोनों दर्शनों का भेद मौलिक है। सांख्य में दृश्य जगत वास्तविक है। वह प्रधान में निहित है और 'स्वभाव' कारण से उसकी उत्पत्ति होती है, पुरुष का इस प्रक्रिया में कोई योगदान नहीं है, वह तो द्रष्टा तथा उदासीन है। लेकिन वेदांत का पुरुष एक दूसरे ही कारण से सृष्टि-प्रक्रिया में साझीदार नहीं है। इसका कारण यह है कि समूची सृष्टि और उसकी प्रक्रिया मात्र आभास है।[1] अतएव सांख्य का पुरुष एक व्यर्थ का सिद्धांत है। और पुरुष की अनेकता तो एकदम यह सिद्ध कर देती है कि अद्वैत पुरुष, नित्य, शुद्ध, मुक्त, बुद्ध स्वरूप है इसका सांख्य दर्शन से कोई मेल नहीं बैठता। स्वयं शंकराचार्य ने इस प्रश्न पर सांख्य की आलोचना करके उसकी असंगति को स्पष्ट कर दिया है। सांख्य प्रधानवाद तथा परिणामवाद तर्कतः स्वभाववाद की ओर ले जाते हैं। स्वयं गौड़पाद ने अपनी सारी अध्यात्मवादी तथा विज्ञानवादी प्रतिबद्धता के बावजूद यह स्वीकार किया है कि सांख्य के अनुसार 'स्वभाव' जैसा कोई कारण है। स्वभाववाद प्राकृतिक कारणवाद है और सांख्य का स्वभाववाद निश्चय ही उसको लोकायत भौतिकवाद के साथ जोड़ देता है। यद्यपि सांख्यकारिकाकार ने सभी परिवर्तनों तथा प्रकृति के विकार के लिए पुरुष को उत्तरदायी बनाने का प्रयास किया है। किन्तु यह प्रयास एक असफल प्रयास रहा है। शंकराचार्य ने यह स्पष्ट कर दिया कि अध्यात्मवाद के मूलभूत सिद्धांतों को भौतिकवाद के साथ समन्वित नहीं किया जा सकता। अतएव दो ही विकल्प हैं : 'या तो मूल सांख्य प्रधानवाद नहीं है। अथवा उसमें पुरुष का वह अर्थ और भूमिका नहीं है जो कारिका में है। ब्रह्मसूत्र में प्रथम विकल्प की संभावना को अस्वीकार किया है। अतः यही विकल्प शेष बचता है कि सांख्य को मूलरूप में भौतिकवादी स्वीकार लिया जाय। जैन भाष्यकार सीलंक ने सांख्य और लोकायत को एकीकृत कर दिया, शंकराचार्य ने सांख्य का खंडन करने का दावा किया। गार्वे का भी यही मत है। दासगुप्त के अनुसार चरकसंहिता सांख्य दर्शन का प्राचीनतम व्यवस्थित लेख प्रमाण है। चरक में सांख्य-पुरुष को एक स्वतंत्र कोटि न मानकर या तो उसे पंचभूतों की भाँति एक धातु या भूत माना गया है अथवा

1. When the basic reality of the visible world is categorically asserted, as in the Samkhya, and the purusas are said to have nothing to do towards the causation of it, the whole philosophy amount to the assertion that the place of the purusas is utterly unimportant and even redundant or superfluous. — वही, पृ. 385 तथा आगे।

उसका प्रकृति में अंतर्भाव कर लिया गया है। दोनों ही दशाओं में पुरुष या चैतन्य मूलभूत पदार्थ प्रकृति से उत्पन्न माना गया है। भारत में भी दो सांख्य दर्शनों की चर्चा की गयी है, जिसमें एक के अनुसार केवल चौबीस कोटियाँ मानी गयी हैं।[1] यह सब पुरुष के जड़स्वरूप होने का संकेत करते हैं। पुरुषों की अनेकता, जिसे शुद्ध पुरुष की धारणा के बाद भी कारिका में स्थान दिया गया है, इसी मत को पुष्ट करती है। जन्म, मरण, इंद्रियभेद, गुणभेद और क्रियाभेद पर आधारित पुरुषभेद इंद्रियानुभाविक आत्मा का ही भेद हो सकता है, न कि नित्य आत्मा का, जो कि सभी भेदों से रहित, त्रिगुणातीत और निष्क्रिय है। निष्कर्ष यह है कि 'कारिका की पुरुष की अवधारणा सांख्य के मूलभूत सिद्धांत के प्रतिकूल है ईश्वरकृष्ण ने पुरुष की अवधारणा के औचित्य को सिद्ध करने के लिए सांख्य को वेदांत में तथा परिणामवाद को विवर्तवाद में बदल दिया।'[2] तथापि सांख्य में पुरुष की स्वीकृति को निरर्थक नहीं माना जा सकता। सांख्य दर्शन के प्रत्येक रूप में पुरुष के अस्तित्व को स्वीकारा गया है। सांख्य ने विश्वोत्पत्ति की प्रक्रिया को मनावोत्पत्ति के सादृश्य से समझने का प्रयास किया। प्रकृति स्त्रीत्व का और पुरुष-पुरुषत्व का सिद्धांत है। यहाँ भी सांख्य और तंत्र का संबंध ध्वनित होता है। सांख्य में प्रकृति को प्रसवधर्मा कहा गया है और तंत्र में संसार को वामोद्भूत कहा गया है। सांख्य की महानता इस बात में है कि उसने तंत्र के आदिम स्थूल सिद्धांत को एक नया रूप दिया, उसे सूक्ष्म तथा वस्तुनिष्ठ सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत किया।[3] इसका स्पष्ट लाभ यह हुआ कि प्रकृति का मूल अचेतन रूप भी बना रहा और सृष्टिकर्ता के रूप में ईश्वर या किसी अन्य कारण स्वीकारने की आवश्यकता भी समाप्त हो गयी।

सांख्य की प्रधानवाद की धारणा आधुनिक विज्ञान के सन्निकट है। प्रकृति अपने अव्यक्त रूप में तीन गुणों की साम्यावस्था है। साम्यावस्था के भंग होने से सृष्टि का विकास होता है। कारिकाधारित सांख्य में पुरुष को साम्यावस्था के भंग होने का कारण बताया गया। किन्तु पुरुष के इस रूप को मानना नितांत अतार्किक है। वस्तुतः प्रकृति के अंतराल में विद्यमान गुणों में परस्पर तनाव ही साम्यावस्था के भंग होने का कारण है। चैतन्य भी प्रकृति से उत्पन्न माना जा सकता है। सत्व-गुण की प्रधानता ही चैतन्य का कारण है।

1. वही, पृ. 418.
2. वही, पृ. 420.
3. वही, पृ. 404.

और यहाँ पर 'यह कहने का प्रलोभन होता है कि विचार अथवा चेतना ऐसे अव्यक्त प्रमस्तिष्कीय अनुक्रिया से विहीन नहीं होता।'[1] यह मान्यता भौतिकवादी ज्ञानमीमांसा का आधार है। यद्यपि सांख्य दार्शनिक चेतना और प्रमस्तिष्कीय प्रक्रिया के संबंध से परिचित नहीं दिखायी देते, तथापि उन्होंने बुद्धि, आत्म-चेतना, मन तथा इंद्रियों को जड़द्रव्य से प्रादुर्भूत होते दिखाने की चेष्टा की है। वह उनके विकास के सिद्धांत से स्पष्ट है। सांख्य विकासवाद से हम आधुनिक भौतिकवाद की आशा नहीं कर सकते। परन्तु यह महत्त्वपूर्ण है कि उसने चैत्तिक पदार्थों का स्रोत अचेतन पदार्थ माना है।

सांख्य दर्शन का मूलरूप इस प्रकार है :-

1. मूल सांख्य प्रधानवाद अथवा प्रकृतिवाद है क्योंकि पूर्व वेदांतियों ने इसका इसी रूप में खंडन किया है।
2. तथापि सांख्य में पुरुष किसी न किसी रूप में बना रहा, भले ही वह असंगत रहा हो। पुरुष की इस स्थिति का संबंध पुरुष की उस असंगत स्थिति से स्थापित किया जा सकता है, जो कि मातृप्रधान समाज में थे। यह धारणा इस दृष्टिकोण से और दृढ़ हो जाती है कि मूल सांख्य तंत्र में निहित सैद्धांतिक मान्यताओं का स्पष्टतर दार्शनिक कथन है। इस मान्यता से यह मत खंडित हो जाता है कि सांख्य में पुरुष का स्वरूप शुद्ध चैतन्य अथवा वेदांत के आत्मा-सा है।
3. शुद्ध चेतना के रूप में पुरुष की अवधारणा सांख्य परंपरा के बाहर (वेदांत) से आयी।
4. मूल सांख्य में पुरुष का जो भी अर्थ रहा हो, यह सिद्धात सांख्य का 'आकिलीज-हील' बना रहा। शंकराचार्य ने अपनी आलोचना से सांख्य के अंतर्विरोध को स्पष्ट कर दिया। शुद्ध पुरुष तथा प्रधान की मान्यतायें साथ-साथ नहीं जा सकती। एक का परित्याग आवश्यक है और ईश्वरकृष्ण ने वस्तुतः वेदांत आत्मा के पक्ष में प्रधानवाद और परिणामवाद का परित्याग कर दिया। शंकराचार्य की सांख्य के विरुद्ध आलोचनायें उसके प्रधानवाद के विरुद्ध हैं।

---

1. Even the states of consciousness are not strictly so, the characteristics of crude matter must be latently present in these too. It is tempting to comment here that if we agree to integrate later scientific knowledge with this stand point, we have to re-state it as the view that thought or consciouness is not without a latent cerebral process; It will be the fundamental premise of a materialistic theory of knowledge. — वही, पृ. 455-6.

किन्तु सांख्य का प्रधानवाद उसे भारतीय दर्शन के इतिहास में विशिष्ट स्थान प्रदान करता है। इसमें हमें सुव्यवस्थित भौतिकवाद की प्राचीनतम झलक मिलती है जो अध्यात्मवाद का घोर विरोध करता रहा। सांख्य दर्शन ने भारतीय दार्शनिक परंपरा को प्रत्याधारित विज्ञानों के मूलभूत विचारों से परिचित कराया। यह एक सशक्त आधार है जिस पर लोकायत तथा वैज्ञानिक दर्शन का निर्माण किया जा सकता है। ऐसा दर्शन, जिसमें सिद्धांत एवं व्यवहार, चेतना तथा भौतिकता, आदर्श एवं तथ्य के बीच कोई-कोई तीक्ष्ण विभाजक रेखा न हों। सांख्य एवं योग का घनिष्ट संबंध इसी तथ्य का संकेत करता है। योग का ईश्वरवादी स्वरूप निश्चय ही बाद की अवधारणा है जो अध्यात्मवाद के प्रभाव से उसमें आयी। 'मूल सांख्य न तो मात्र सैद्धांतिक था और न ही मूल योग मात्र व्यावहारिक। प्रारंभ में सिद्धांत तथा व्यवहार का एक आद्य संमिश्रण था जो आदिम मनुष्यों के कृषि संबंधी कर्मकांड में पाया जाता है।'[1]

लोकायत भौतिकवाद

भारतीय दर्शन के अध्ययन में अध्यात्मवाद के प्रति पूर्वाग्रह इस सीमा तक हावी रहा कि उसका मूल भौतिकवादी स्वरूप अपने सही रूप में उभरने नहीं पाया। कर्मकांड, जादुई अनुष्ठानों, तांत्रिक क्रियाओं तथा वामाचार के भ्रष्ट रूप से तंत्र दर्शन को मुख्य दार्शनिक धारा से अलग-अलग कर दिया, सांख्य दर्शन पर अद्वैतवाद का आवरण चढ़ा दिया गया और चार्वाक दर्शन लुप्तसाहित्य होकर अपने विरोधियों के हाथ पड़ जाने के नाते एक दार्शनिक मजाक से अधिक कोई ऊँचा स्थान न प्राप्त कर सका। किन्तु यह सब कुछ व्यक्तियों या वर्ग विशेष के न्यस्त स्वार्थों के कारण हुआ। आइये, चट्टोपाध्याय के अनुसार हम लोकायत दर्शन के सही रूप को अनावृत करने का प्रयास करें।

वेदांती माधवाचार्य कृत सर्वदर्शन संग्रह में चार्वाक का एक विवरण उपलब्ध है और उसको इस दर्शन का प्रामाणिक लेख प्रमाण मानकर सारे दार्शनिकों ने चार्वाक दर्शन का मूल्यांकन एक स्थूल भौतिकवादी, सुखवादी तथा नीति-विपरीत आचरण को प्रश्रय देने वाले सिद्धांत के रूप में किया। किन्तु चट्टोपाध्याय के अनुसार माधवाचार्य द्वारा प्रस्तुत लोकायत का रूप प्रमाणित नहीं माना जा सकता। कारण कई हैं। सबसे प्रमुख कारण लोकायत के प्रति स्वयं उनका दृष्टिकोण है और आधुनिक आलोचना भी इसी दृष्टिकोण के प्रभाव में लोकायत का निष्पक्ष मूल्यांकन कर सकने में असमर्थ है। इनके

1. वही, पृ. 445.

अनुसार भौतिकवाद एक मानसिक विपर्यास के सिवा और कुछ नहीं है।[1] ऐसे अनुरंजित दृष्टिकोण से लोकायत को अविकृत रूप में प्रस्तुत करने की आशा माधवाचार्य जैसे प्रतिबद्ध वेदांती से करना व्यर्थ है। अतएव अन्य उपायों के आधार पर ही इस दर्शन के मूल स्वरूप का समझने का प्रयास समीचीन होगा।

माधवाचार्य के अनुसार लोकायत ज्ञानमीमांसा अनुमान को प्रमाण नहीं मानती। व्याप्ति अनुमान का आधार है और व्याप्ति की प्रामाणिकता कभी भी असंदिग्ध नहीं हो सकती। यदि लोकायत वस्तुतः अनुमान का निषेध करता है तो इसमें कोई भी संदेह नहीं कि यह हमारे दैनिक व्यवहार और सामान्य विचार को ही असंभव बना देगा। किन्तु, क्या लोकायत सचमुच अनुमान को स्वीकार नहीं करते? चट्टोपाध्याय के अनुसार अप्रत्यक्ष साक्ष्य इसका नकारात्मक उत्तर देते हैं। 'अनुमान के प्रति निषेधात्मक दृष्टिकोण रखने के बजाय लोकायत संभवतः भारत के प्राचीनतम तर्कशास्त्री हैं, और यह कहना गलत होगा कि तर्क का प्रयोग केवल खंडनात्मक प्रयोजनों के लिए कर रहे थे।'[2] इसके पर्याप्त संकेत भी उपलब्ध हैं। बुद्धघोष ने लोकायत का वर्णन 'वितंडावाद शास्त्र' के रूप में किया है। 'वितंडा' का अर्थ है जल्प, कूटतर्क अथवा छलतर्क, जिसका प्रयोग केवल विपक्षों की स्थापना का खंडन करने के लिए किया जाता है। 'बाद' का अर्थ है स्वस्थ न्याय, जिसका एक रचनात्मक प्रयोजन होता है। डॉ. दासगुप्त यह प्रश्न उठाते हैं कि यह कैसे संभव है कि लोकायत एक ही साथ 'वितंडा' और 'वाद' दोनों का शास्त्र था? और उनका समाधान है कि, जैसा कि नैयायिक जयंत का कहना था, बौद्ध दर्शन में 'वाद' और 'वितंडा' में कोई भेद नहीं किया जाता था। अतएव लोकायात दर्शन में 'वाद' भी 'वितंडा' ही रह गया। किन्तु चट्टोपाध्याय इससे असहमत होते हुए शुक्रनीतिसार का प्रामाण्य प्रस्तुत करते हैं जिसमें विज्ञानों तथा कलाओं की सूची में नास्तिकों को प्रभावशाली तार्किक माना गया है।[3] यहाँ पर नास्तिकों से स्पष्ट तात्पर्य लोकायत से है। जिसकी स्थापना थी : सर्व स्वाभाविक महत्, अर्थात् हर वस्तु प्राकृतिक नियम से नियंत्रित है। इसके अतिरिक्त कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में सांख्य तथा योग के साथ लोकायत की चर्चा करते हुए उसे तर्क का विज्ञान कहा हैं मनु ने स्वयं 'हेतुशास्त्र' तथा 'हेतुओं' की चर्चा की है जिसका अर्थ लोकायत से है।

---

1. लोकायत, पृ. 10.
2. देखिये वही, पृ. 24-25.
3. वही, पृ. 25.
4. वही, पृ. 26. 25

भागवत-पुराण में भी बौद्धों तथा जैनियों के साथ 'हेतुकों' की चर्चा है।[4] हैतुक मानते हुए भी मनु ने इन्हें 'विकर्मस्थ' तथा 'वेदात्त वार्तिक' कहकर उनसे दूर ही रहने की सलाह दी क्योंकि वे वेदों का विरोध करते थे। कुल्लुभट्ट ने भी हेतुकों को 'वेद विरोधी तर्क व्यवहारिणः' कहकर उनकी उपेक्षा करनी चाही। किन्तु इससे लोकायत का तर्क संबंधी दृष्टिकोण निषेधात्मक नहीं सिद्ध होता। उनका दृष्टिकोण तभी निषेधात्मक कहा जा सकता है कि यदि विधानात्मक दृष्टिकोण का केवल यही अर्थ लगाया जाय कि श्रुतिप्रमाण को रूढ़िवादी आस्था से स्वीकार कर लिया जाय।[1]

चट्टोपाध्याय का कहना है कि लोकायत का दृष्टिकोण तो खंडनात्मक अथवा निषेधात्मक तो सिद्ध नहीं होता। पर सबसे रोचक बात यह है कि वेदांत दर्शन, जिसके अनुयायी स्वयं माधवाचार्य थे, ही तर्क के प्रति निषेधात्मक दृष्टिकोण रखता है। केवल वेदांत के ही अनुसार तर्क स्वतः अप्रमाणित है।[2] और लोकायत के नाते ही वे ऐसा करने के लिए बाध्य हुए। लोकायत-तर्क लोगों को स्वर्ग तथा मोक्ष के मार्ग से दूर खींच रहा था। अतः आस्तिकों ने 'आस्था को स्थान देने के लिए तर्क का निषेध करना आवश्यक समझा है।'[3] इतना समझ लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वतः माधवाचार्य का, न कि लोकायत का, तर्क के प्रति निषेधात्मक दृष्टिकोण था। यद्यपि सामान्य रूप से यह प्रतीत होता है कि चार्वाक दर्शन का अधिकांश खंडन में ही प्रयुक्त है, अपनी स्थापना के रूप के रूप में उसके पास कुछ नहीं है। किन्तु चट्टोपाध्याय के अनुसार, यह हमारे सीमित ज्ञान का परिणाम है। डॉ. दासगुप्त के शोध ने लोकायत ज्ञान मीमांसा पर एक नया प्रकाश डाला है। उनके अनुसार पुरंदर नामक व्यक्ति लोकायतिक था, जिसने लोकायत तर्क का स्वरूप तथा प्रयोजन विधानात्मक तथा रचनात्मक माना है। उसके अनुसार 'लोक प्रसिद्ध अनुमान तो चार्वाकों को भी स्वीकार्य है, किन्तु यदि लौकिक मार्ग का अतिक्रमण करके अनुमान का प्रयोग किया जाय तो यहाँ पर अनुमान निषिद्ध है[4] लोकायत ज्ञानमीमांसा में प्रत्यक्ष को प्रधान तथा अनुमान को गौण स्थान प्रदान किया गया है। इसके कारण सामाजिक तथा राजनैतिक थे। लोकायत दर्शन जन-सामान्य का दर्शन था। धर्म की आड़

1. According to the Vedant alone reasoning in intrinsically invalid ..... Pesatered by the Lokayata arguments, which Iured men away from the path of heaven and liberation, orthodoxy found if necessary, as it were, to deny logic in order to make room for faith.
2. वही, पृ. 26.
3. वही, पृ. 26.
4. वही, पृ. 26.

में, अनुमान तथा श्रुति जैसे व्यर्थ प्रमाणों का सहारा लेकर एक वर्ग-विशेष जन-सामान्य में स्वर्ग का प्रलोभन, नरक का भय आदि भ्रांतियाँ फैलाकर उनका शोषण कर रहा था। चार्वाक की प्रत्यक्ष-प्रधान ज्ञान मीमांसा इसी शोषण तथा भ्रम का विरोध कर रही थी। मोक्ष तथा स्वर्ग का व्यामोह जन-सामान्य को यथार्थ के ठोस धरातल से विमुख बनाकर उन्हें एक कल्पित लोक के कल्पित सुख की आशा पर जीवित कर रहा था और वे इस सूक्ष्म विधि से किये जाने वाले अपने शोषण से परिचित भी न थे। अतः 'यदि आस्तिक धर्म के रक्षकों ने आस्था को स्नान देने के लिए तर्क का निषेध करना आवश्यक समझा तो चार्वाकों ने भी जन-सामान्य के हितों की रक्षा के लिए प्रवंचकों के मिथ्या प्रतिपादनों के विरुद्ध तर्क देना आवश्यक समझा।'[1]

वस्तुतः वेदांत और लोकायत का विरोध दो संस्कृतियों, दो परम्पराओं और दो जीवन-दृष्टियों का संघर्ष है। एक धर्म, ईश्वर, अमरता तथा वैदिक यज्ञों और अनुष्ठानों की मान्यता पर आधारित है, इसका स्वरूप मूलतः पारलौकिक है। दूसरा जन-सामान्य के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है, उनके भौतिक हितों की रक्षा करता है, यह मूलतः इहलौकिक है। इस तथ्य की स्वीकृति से यह स्पष्ट हो जायेगा कि चार्वाक वस्तुतः भारत वर्ष के प्रथम तर्कशास्त्री थे तथा उनके तर्क का मुख्य लक्ष्य 'धार्मिक प्रवंचनाओं से जनहित की रक्षा करना था।'[2] अतः चार्वाक का तर्क निषेधात्मक स्वरूप केवल कल्पना है और इसका आधार वस्तुगत न होकर स्वयं माधवाचार्य का पूर्वाग्रह है।

यदि चार्वाक की ज्ञान मीमांसा शुद्ध निषेधात्मक न होकर प्रत्यक्षाधारित, विधानात्मक तथा प्रयोजनात्मक है, तो चार्वाक नीतिशास्त्र का चित्रण माधवाचार्य ने स्थूल तथा अतिवादी सुखवाद के रूप में ही किया है। किन्तु वस्तुतः यह चार्वाक नीतिशास्त्र का वास्तविक रूप नहीं है। यह निःसंदेह है कि चार्वाक दर्शन का जनजीवन पर बहुत ही व्यापक तथा गहरा प्रभाव था। स्वयं चार्वाक विरोधियों का दृष्टिकोण इस बात का एक संकेत है कि चार्वाक दर्शन कितना सम्मानित तथा प्रचलित स्वीकार्य तथा व्यापक रहा होगा। इसके अतिरिक्त महाभारत में उपलब्ध साक्ष्यों से भी यह सिद्ध होता है कि चार्वाक दर्शन एक सम्मानित दर्शन था, इसका ज्ञान संस्कृति तथा ज्ञान का प्रतीक माना जाता था। द्रुपद जैसे राजा के दरबार में चार्वाक दर्शन का सन्मान यह दर्शाता है कि यह दर्शन

1. वही, पृ. 28. डॉ. दासगुप्त का उद्धरण।
2. वही।
3. देखिये, वही, पृ. 32-33.

'सुखाकांक्षी जनों की वासनात्मक स्थूलताओं की अभिव्यक्ति मात्र नहीं रहा होगा।'[3] तो प्रश्न यह उठता है कि चार्वाक दर्शन में किन नैतिक मूल्यों की मान्यता थी? इस संबंध में महाभारत में एक महत्त्वपूर्ण संकेत मिलता है। विजयी पांडवों के अभिनंदन के अवसर पर चार्वाक नामक व्यक्ति युधिष्ठिर पर अपने बंधुओं की हत्या का आरोप लगाकर उनकी निंदा करता है और उनको मर जाने का अभिशाप देता है। इसके परिणामस्वरूप चार्वाक को जला दिया जाता है। चट्टोपाध्याय इससे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि महाभारत काल में पुरानी मान्यताएँ टूट रही थीं। चार्वाक पुरानी मान्यताओं का समर्थक था, जिसमें बंधु हत्या निषिद्ध थी। इसके विपरीत गीता में एक नयी मान्यता जन्म लेती है जो सुखवाद पर आधारित है। 'हतो या प्राप्यसि स्वर्गम् जित्वा या मोक्ष्यसे महीम्' में अर्जुन के समक्ष विकल्प स्पष्ट है। दोनों ही अवस्थाओं में सुख ही सुख है, मृत्यु में स्वर्ग का सुख और विजय में राज्य का सुख। चट्टोपाध्याय का प्रश्न है : कहीं ऐसा तो नहीं है कि जो चार्वाक की स्थूल सुखवाद कहकर आलोचना कर रहे थे स्वयं वही कपट रूप से सुखवाद का समर्थन कर रहे थे?

अतः यह मानना निराधार है कि चार्वाक दर्शन में नैतिकता का कोई ध्यान नहीं है। चार्वाक उन नैतिक मूल्यों का विरोध करता है जो स्वर्ग और परलोक में प्राप्य मोक्ष की धारणाओं पर आधारित है। नैतिक मूल्यों का आश्रय भौतिक जीवन है। वैदिक नैतिकता कल्पित स्वर्ग एवं मोक्ष का प्रलोभन देकर सामान्य जनों को भौतिक रूप से विपन्न बना रही थी और पुरोहितों तथा शासक वर्ग के हितों की रक्षा कर रही थी। वैदिक नैतिकता कृत्रिम वर्ग-विभाजन पर आधारित थी और सारे नैतिक विधान इस प्रकार आयोजित थे जिसमें वर्ग-विशेष को प्रश्रय प्राप्त था, उसे उन नैतिक विधानों से भी ऊपर रखा गया था। मार्क्सवादी शब्दावली में वैदिक नैतिकता शोषक वर्ग की नैतिकता थी। चार्वाक नीतिशास्त्र में ऐसी नैतिकता का, न कि नैतिकता स्वतः का, विरोध किया गया।

लोकायत तत्त्वमीमांसा की मूलभूत मान्यतायें तंत्र एवं लोकायत के विश्लेषण में स्पष्ट हो चुकी हैं। यह दर्शन परलोक और परलोकाधारित समस्त प्रत्ययों – ईश्वर, आत्मा, अमरता, मोक्ष आदि को कल्पना से अधिक सम्मान देने से इन्कार करता है। इहलोक ही वास्तविकता है, प्रकृति की क्रियाशीलता में किसी रहस्यमय अगोचर सत्ता की तलाश अनावश्यक है, प्रकृतिवाद अथवा स्वभाववाद

1. वही, पृ. 35.

ही प्रकृति की व्याख्या है। चेतना की व्याख्या देहवाद द्वारा जा सकती है। न तो सृष्टि के लिए ईश्वर की और न ज्ञान के लिए नित्य चेतन आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करने की आवश्यकता है। ब्राह्मण कर्मकांड का विरोध करते हुए भी लोकायत दर्शन स्वयं कर्मकांडों से भरा हुआ है। इसके कर्मकांड का संबंध असुर संस्कृति से है। हिन्दुघाटी की सभ्यता का संबंध असुर सभ्यता से ही है, तंत्र और सांख्य इसी संस्कृति के विस्तार हैं। अतः जहाँ पर ब्राह्मण कर्मकांड का आधार धार्मिक है, लोकायत कर्मकांड में सृष्टि के वैज्ञानिक सिद्धान्तों के बीज विद्यमान हैं। कोई भी तत्त्वमीमांसा जो मनुष्य को भौतिक जगत से परांगमुखी बनाती हो, अथवा जिसमें उसकी काम तथा अर्थ की आवश्यकताओं की संतुष्टि न होती हो, चार्वाक को स्वीकार्य न हो।

वेद-मंत्रों का अर्थ : भौतिकवाद पर आरोपित अध्यात्मवादी अति संरचना

किन्तु सहज भौतिकवाद केवल लोकायत परंपरा का ही लक्षण नहीं है, प्रारंभिक वैदिक जीवन भी मूलतः सहज भौतिकवादी था। इसकी एक झलक छांदोग्य उपनिषद् के उस स्थल पर मिलती है। जहाँ एक-दूसरे के पूछों को मुँह से पकड़े हुए कुत्तों की एक पंक्ति 'ॐ हम खाये ॐ हम खाये' का मंत्र उच्चारण कर रही है। चट्टोपाध्याय इससे तथा अन्य उपलब्ध संकेतों से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि प्रारंभिक वैदिक सभ्यता भी भौतिकवादी थी, जिसमें भोजन जैसे इहलौकिक मूल्यों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।[1] उक्त कुत्ते न तो वस्तुतः कुत्ते थे और न ईश्वर, वे प्रारंभिक युग के मनुष्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनके जीवन में जादू, मंत्र तथा जादुई कृत्यों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। जादुई नृत्य और गान धार्मिक प्रार्थनाएँ नहीं थे। वे उनसे मूलतः भिन्न थे, उनकी मान्यताएँ धर्म से सर्वथा विपरीत थीं। 'प्रारंभिक मनुष्य क्रियाशील मनुष्य था। ईश्वर से माँगने के बजाय वह स्वयं अपने इच्छित को प्राप्त करने का प्रयास करता है, प्रार्थना न करके वह जादुई मंत्र पढ़ता है। धूप, हवा अथवा दृष्टि की आवश्यकता होने पर वह चर्च में जाकर झूठे ईश्वर के समक्ष आराधना नहीं करता अपितु अपने गणजनों को एकत्र करके सूर्य नृत्य, वायु-नृत्य अथवा वर्षा नृत्य करता है।[2] वैदिक युगीन मनुष्यों के पूर्वतिहासिक जीवन में

---

1. देखिये लोकायत अध्याय 2, तुलना कीजिये के. दामोदरन् अध्याय 7, जिन्हें चट्टोपाध्याय की यह तुलना स्वीकार नहीं, यद्यपि उनके अनुसार भी उपनिषदों में भौतिकवाद के पर्याप्त संकेत हैं।

2. लोकायत, पृ. 94, चट्टोपाध्याय द्वारा हैरिसन के एंशियंट आई तथा रिचुअल्स पृ. 30 से उद्धृत।

प्रवेश करने पर हम उस स्तर पर पहुँचते हैं। जहाँ केवल जादू और मंत्र थे, धर्म नहीं था। जादू इस सिद्धांत पर आधारित है कि 'वास्तविकता को नियंत्रित करने की भ्रांति द्वारा आप वस्तुतः उसे नियंत्रित कर सकते हैं।' वैदिक साहित्य जादुई विश्वासों से परिपूर्ण है। इस पर संदेह नहीं किया जा सकता। समूचा अथर्ववेद जादू के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

औपनिषद दर्शन सुसंगत एवं सुव्यवस्थित अध्यात्मवाद है – यह स्पष्टतः एक भ्रांत धारणा है। उपनिषदों में अध्यात्मवादी संकेत है जिनके आधार पर वेदांत अध्यात्मवाद का प्रतिपादन हुआ। किन्तु अध्यात्मवादी निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए औपनिषद् चिंतकों को दोहरा संघर्ष करना पड़ा। प्रथम तो वाह्य, अर्थात उन भौतिकवादी सिद्धांतों से जो वेद-विरोधी थे, जिसकी संक्षिप्त चर्चा हमने तंत्र और सांख्य में की। दूसरे, अतिरिक्त, उन्हें अपनी ही पारंपरिक आद्य भौतिकवादी **प्रवृत्ति** से उन्मुक्त होने के लिए भी संघर्ष करना पड़ा। प्राचीन वैदिक चेतना भौतिकवादी थी, उसकी जीवन-पद्धति सामूहिक थी। सामूहिक जीवन-पद्धति के टूटने पर ही अध्यात्मवादी विचारधारा आयी। इस नवीन जीवन पद्धति में नये सामाजिक संबंध उत्पन्न हुए जिनका आधार वर्ग-भेद तथा वर्ग-संघर्ष था। उदाहरणार्थ वेदों में वर्णित देवताओं का मूलतः कोई रहस्यमय अर्थ नहीं है, न ही वे कोई मानवेतर लोक की सत्तायें हैं। वैदिक देवों को 'कामरेड' के अर्थ में प्रस्तुत किया गया है। ऋग्वेद में 'कामरेड' शब्द के लिये 'जमिः' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसकी व्याख्या इस प्रकार है : 'जमंति एक एकस्मिन् पात्रे अर्दान्तीति जमयः बांधवाः।' अर्थात् जो साथ-साथ एक ही पात्र में भोजन करते हैं वे जमि अथवा बन्धु (कामरेड) हैं। अतः वैदिक देवता का वह अर्थ नहीं है जो आज हम समझने लगे हैं और उनको संबोधित मंत्रों का अर्थ भी कुछ दूसरा ही है।[1] वेदों में हम मुश्किल से किसी ऐसे देव की चर्चा पाते हैं जिसका संबंध भोजन, पशु, धन-धान्य अथवा संतति वृद्धि से न हो। इससे यही सिद्ध होता है वैदिक ऋषि भौतिक संपत्ति और मूल्यों में कितनी रुचि रखते थे। किन्तु यदि वेदों को अध्यात्मवादी मूल्यों का निधान माना जाता है तो उसका कारण कुछ दूसरा ही है। 'शब्दों के अर्थ धीरे-धीरे बदलते रहते हैं और प्रायः एक नयी परिस्थिति में एक शब्द का प्रयोग एक नयी घटना का वर्णन करने के लिए किया जाता है। और इस धारणा का कि वैदिक शब्द आध्यात्मिक अर्थ रखते हैं, यही कारण है। ऋग्वेद के मूलतः भौतिकवादी अर्थ रखने वाले शब्द बाद के संस्कृत साहित्य में अध्यात्मवादी अर्थों में प्रयुक्त होने लगे। संक्षेप में, उन शब्दों का अर्थ उनके विरोधी अर्थ में बदल गया।'[2]

1. वही, पृ. 534 तथा आगे।
2. वही, पृ. 553.

यह कहा जा सकता है कि वैदिक मंत्र साधारण भौतिक इच्छाओं के प्रतीक नहीं हैं। वे वैदिक यज्ञों में उपयोग के लिए हैं। किन्तु, क्या वैदिक यज्ञों का विषय कोई इंद्रियातीत है? पशु धन प्रधान वैदिक जीवन का अध्ययन इसका निषेधात्मक उत्तर देता है। वस्तुतः ऋग्वेद एक दीर्घ जीवन-परंपरा का साहित्य है जिसमें वर्गपूर्व समाज के संकेत तथा स्मृतियाँ हैं तथा साथ ही जो आने वाले वर्ग विभाजित समाज का भी पूर्व संकेत करता है।[1] वैदिक देवों, विशेषतः वरुण तथा इंद्र तथा दो प्रमुख वैदिक सिद्धांत ऋत तथा माया का ऐतिहासिक अध्ययन भी वेदों के आद्य भौतिकवादी स्वरूप की पुष्टि करता है। ऋत की मान्यता वर्ग पूर्व समाज की मान्यता है, क्रमशः ऋत का अर्थ बदलता गया और वरुण का भी पतन हो गया। ऋत का स्थान रहस्यमय कर्म के सिद्धांत ने ले लिया और वरुण का स्थान इंद्र ने। लुप्त होती हुई प्राचीन नैतिकता के प्रति क्षोभ भी व्यक्त किया गया, उसके वापस आने की कामना की गयी। किन्तु तब तक नयी मान्यता नयी सामाजिक व्यवस्था स्थापित हो चुकी थी और प्राचीन के प्रत्यागमन की कामना एक व्यर्थ की पुकार थी।[2] माया का सिद्धांत मूलतः भ्रम अथवा अध्यास का सिद्धांत नहीं था। वह कर्म एवं ज्ञान का संमिश्र था, उस जीवन-चेतना का प्रतीक था जिसमें कर्म एवं ज्ञान का विभाजन नहीं हुआ था। अध्यात्म के अर्थ में माया का विकृत रूप औपनिषद अध्यात्मवाद का प्रवर्तक है, किन्तु वहीं पर माया का मूल एवं प्राचीन गौरव लोकायत और प्राचीन वैदिक विश्व-दृष्टि में एक अपूर्व समता का भी संकेत देता है। औपनिषद् अध्यात्मवाद के ध्वंसावशेष तथा लोकायत दोनों आद्य भौतिकवादी हैं। दोनों उस सामाजिक अवस्था का प्रतिनिधान करते हैं जिसमें मानव-चेतना का शारीरिक श्रम की प्रक्रिया से संबंध-विच्छेद नहीं हुआ था और अध्यात्म-प्रधान विश्व-दृष्टि का विकास नहीं हुआ था। शनैः-शनैः परवर्ती वैदिक काल में एक नवीन वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ। यह वर्ग बुद्धिवादी वर्ग था। शारीरिक श्रम शूद्रों का कार्य माना जाने लगा। शरीर श्रम को हेय दृष्टि से देखना अध्यात्मवाद की नींव था। वेद अथवा लोकायत का प्रारंभिक आद्य भौतिकवाद स्थूल था, उसकी तुलना आधुनिक वैज्ञानिक भौतिकवाद से नहीं की जा सकती। किन्तु यह आद्य भौतिकवाद आधुनिक वैज्ञानिक भौतिकवाद के प्रयोजनों से महत्त्वपूर्ण है, इसकी तुलना

1. वही, पृ. 556.
2. विस्तृत वर्णन के लिए देखिये वही, अध्याय 8.

प्रवेश करने पर हम उस स्तर पर पहुँचते हैं। जहाँ केवल जादू और मंत्र थे, धर्म नहीं था। जादू इस सिद्धांत पर आधारित है कि 'वास्तविकता को नियंत्रित करने की भ्रांति द्वारा आप वस्तुतः उसे नियंत्रित कर सकते हैं।' वैदिक साहित्य जादुई विश्वासों से परिपूर्ण है। इस पर संदेह नहीं किया जा सकता। समूचा अथर्ववेद जादू के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

औपनिषद दर्शन सुसंगत एवं सुव्यवस्थित अध्यात्मवाद है – यह स्पष्टतः एक भ्रांत धारणा है। उपनिषदों में अध्यात्मवादी संकेत है जिनके आधार पर वेदांत अध्यात्मवाद का प्रतिपादन हुआ। किन्तु अध्यात्मवादी निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए औपनिषद् चिंतकों को दोहरा संघर्ष करना पड़ा। प्रथम तो वाह्य, अर्थात उन भौतिकवादी सिद्धांतों से जो वेद-विरोधी थे, जिसकी संक्षिप्त चर्चा हमने तंत्र और सांख्य में की। दूसरे, अतिरिक्त, उन्हें अपनी ही पारंपरिक आद्य भौतिकवादी **प्रवृत्ति** से उन्मुक्त होने के लिए भी संघर्ष करना पड़ा। प्राचीन वैदिक चेतना भौतिकवादी थी, उसकी जीवन-पद्धति सामूहिक थी। सामूहिक जीवन-पद्धति के टूटने पर ही अध्यात्मवादी विचारधारा आयी। इस नवीन जीवन पद्धति में नये सामाजिक संबंध उत्पन्न हुए जिनका आधार वर्ग-भेद तथा वर्ग-संघर्ष था। उदाहरणार्थ वेदों में वर्णित देवताओं का मूलतः कोई रहस्यमय अर्थ नहीं है, न ही वे कोई मानवेतर लोक की सत्तायें हैं। वैदिक देवों को 'कामरेड' के अर्थ में प्रस्तुत किया गया है। ऋग्वेद में 'कामरेड' शब्द के लिये 'जमिः' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसकी व्याख्या इस प्रकार है : 'जमंति एक एकस्मिन् पात्रे अर्दान्तीति जमयः बांधवाः।' अर्थात् जो साथ-साथ एक ही पात्र में भोजन करते हैं वे जमि अथवा बन्धु (कामरेड) हैं। अतः वैदिक देवता का वह अर्थ नहीं है जो आज हम समझने लगे हैं और उनको संबोधित मंत्रों का अर्थ भी कुछ दूसरा ही है।[1] वेदों में हम मुश्किल से किसी ऐसे देव की चर्चा पाते हैं जिसका संबंध भोजन, पशु, धन-धान्य अथवा संतति वृद्धि से न हो। इससे यही सिद्ध होता है वैदिक ऋषि भौतिक संपत्ति और मूल्यों में कितनी रुचि रखते थे। किन्तु यदि वेदों को अध्यात्मवादी मूल्यों का निधान माना जाता है तो उसका कारण कुछ दूसरा ही है। 'शब्दों के अर्थ धीरे-धीरे बदलते रहते हैं और प्रायः एक नयी परिस्थिति में एक शब्द का प्रयोग एक नयी घटना का वर्णन करने के लिए किया जाता है। और इस धारणा का कि वैदिक शब्द आध्यात्मिक अर्थ रखते हैं, यही कारण है। ऋग्वेद के मूलतः भौतिकवादी अर्थ रखने वाले शब्द बाद के संस्कृत साहित्य में अध्यात्मवादी अर्थों में प्रयुक्त होने लगे। संक्षेप में, उन शब्दों का अर्थ उनके विरोधी अर्थ में बदल गया।'[2]

1. वही, पृ. 534 तथा आगे।
2. वही, पृ. 553.

यह कहा जा सकता है कि वैदिक मंत्र साधारण भौतिक इच्छाओं के प्रतीक नहीं हैं। वे वैदिक यज्ञों में उपयोग के लिए हैं। किन्तु, क्या वैदिक यज्ञों का विषय कोई इंद्रियातीत है? पशु धन प्रधान वैदिक जीवन का अध्ययन इसका निषेधात्मक उत्तर देता है। वस्तुतः ऋग्वेद एक दीर्घ जीवन-परंपरा का साहित्य है जिसमें वर्गपूर्व समाज के संकेत तथा स्मृतियाँ हैं तथा साथ ही जो आने वाले वर्ग विभाजित समाज का भी पूर्व संकेत करता है।[1] वैदिक देवों, विशेषतः वरुण तथा इंद्र तथा दो प्रमुख वैदिक सिद्धांत ऋत तथा माया का ऐतिहासिक अध्ययन भी वेदों के आद्य भौतिकवादी स्वरूप की पुष्टि करता है। ऋत की मान्यता वर्ग पूर्व समाज की मान्यता है, क्रमशः ऋत का अर्थ बदलता गया और वरुण का भी पतन हो गया। ऋत का स्थान रहस्यमय कर्म के सिद्धांत ने ले लिया और वरुण का स्थान इंद्र ने। लुप्त होती हुई प्राचीन नैतिकता के प्रति क्षोभ भी व्यक्त किया गया, उसके वापस आने की कामना की गयी। किन्तु तब तक नयी मान्यता नयी सामाजिक व्यवस्था स्थापित हो चुकी थी और प्राचीन के प्रत्यागमन की कामना एक व्यर्थ की पुकार थी।[2] माया का सिद्धांत मूलतः भ्रम अथवा अध्यास का सिद्धांत नहीं था। वह कर्म एवं ज्ञान का संमिश्र था, उस जीवन-चेतना का प्रतीक था जिसमें कर्म एवं ज्ञान का विभाजन नहीं हुआ था। अध्यात्म के अर्थ में माया का विकृत रूप औपनिषद अध्यात्मवाद का प्रवर्तक है, किन्तु वहीं पर माया का मूल एवं प्राचीन गौरव लोकायत और प्राचीन वैदिक विश्व-दृष्टि में एक अपूर्व समता का भी संकेत देता है। औपनिषद् अध्यात्मवाद के ध्वंसावशेष तथा लोकायत दोनों आद्य भौतिकवादी हैं। दोनों उस सामाजिक अवस्था का प्रतिनिधान करते हैं जिसमें मानव-चेतना का शारीरिक श्रम की प्रक्रिया से संबंध-विच्छेद नहीं हुआ था और अध्यात्म-प्रधान विश्व-दृष्टि का विकास नहीं हुआ था। शनैः-शनैः परवर्ती वैदिक काल में एक नवीन वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ। यह वर्ग बुद्धिवादी वर्ग था। शारीरिक श्रम शूद्रों का कार्य माना जाने लगा। शरीर श्रम को हेय दृष्टि से देखना अध्यात्मवाद की नींव था। वेद अथवा लोकायत का प्रारंभिक आद्य भौतिकवाद स्थूल था, उसकी तुलना आधुनिक वैज्ञानिक भौतिकवाद से नहीं की जा सकती। किन्तु यह आद्य भौतिकवाद आधुनिक वैज्ञानिक भौतिकवाद के प्रयोजनों से महत्त्वपूर्ण है, इसकी तुलना

1. वही, पृ. 556.
2. विस्तृत वर्णन के लिए देखिये वही, अध्याय 8.

प्रारंभिक साम्यवाद (वर्गहीन समाज) से की जा सकती है। वैज्ञानिक समाजवादी इस प्रारंभिक भौतिकवाद का ऐतिहासिक महत्त्व समझता है। अध्यात्मवाद और प्रत्ययवाद भारतीय विचारधारा के स्वाभाविक लक्षण नहीं है। एक सामाजिक संरचना और भौतिक परिस्थिति ने उसे जन्म दिया है और क्योंकि उसका प्रारंभ है, इसलिए उसका अंत भी अनिवार्य है।[1]

चट्टोपाध्याय का यह निष्कर्ष है कि अध्यात्मवाद एक अतिरचना है जिसका आधार भौतिकवाद है। अध्यात्मवाद की दृष्टि से यह मान्यता निरर्थक है क्योंकि यह आत्मा के प्रभुत्व को नकारती है किन्तु भौतिकवाद की दृष्टि से अध्यात्मवाद के प्रादुर्भाव का प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। मार्क्स तथा ऐंजिल के प्रामाण्य के आधार पर चट्टोपाध्याय यह मानते हैं कि अध्यात्मवाद वर्ग समाज की विशेषता है। वर्ग समाज के हर युग में कुछ सामान्य प्रत्यय अथवा सामाजिक चेतना सामान्य रूप से विद्यमान रही जो मुख्य रूप से वर्ग-संघर्ष और वर्गशोषण के माध्यम से व्यक्त होती रही। इस सामान्य चेतना अथवा प्रत्यय को मार्क्स ने 'रहस्यमय आवरण' और एंजिल्स ने 'मिथ्या चेतना' की संज्ञा दी। यह मिथ्या चेतना सामाजिक एवं भौतिक परिस्थितियों के परिवर्तन एवं विकास का परिणाम थी। भौतिक उपलब्धियों तथा सभ्यता के विकास न इस भ्रांत धारणा को जन्म दिया कि यह सब कुछ मन अथवा बुद्धि कि नाते हुआ है। कार्यों और उपलब्धियों की व्याख्या कार्य के आधार पर न होकर विचार के माध्यम से की जाने लगी। यही युग की मिथ्या चेतना थी जो वर्ग-समाज की विभिन्न अवस्थाओं में किसी न किसी रूप में बनी रही।

इसी मिथ्या चेतना ने अध्यात्मवाद को जन्म दिया। बौद्धिक श्रम शासक वर्ग का कार्य हो गया और बौद्धिकता ने आत्मा के प्रभुत्व की स्थापना की। शासक वर्ग के विचारों ने भौतिकता के नियंत्रण की भूमिका प्रारंभ कर दी। श्रमिक वर्ग की चेतना समाज में कभी भी प्रभावशाली भूमिका न अदा कर सकी क्योंकि शासक वर्ग अपने को शरीर श्रम से अलग करके उत्पत्ति की प्रक्रिया को नियंत्रित करने की भूमिका स्वीकार किये रहा। मार्क्स और एंजिल्स के शब्दों में 'श्रम-विभाजन का वास्तविक रूप शारीरिक और मानसिक श्रम के विभाजन में व्यक्त होता है। इस क्षण से चेतना यह गर्व कर सकती है कि वह

1. वही, पृ. 665.

वर्तमान व्यवहार से पृथक् कोई अन्य वस्तु है, कि वह कुछ वास्तविक का चिंतन न करते हुए भी वस्तुतः चिंतन कर रही है, इसी से चेतना इस स्थिति में आ जाती है कि वह अपने को जगत से अलग करके 'शुद्ध' सिद्धांत धर्म, दर्शन तथा नीतिशास्त्र का निर्माण करने लगती है[1] इस प्रकार अध्यात्मवादी दृष्टि की स्थापना के लिए चेतना को जगत से पृथक होना पड़ा और चेतना के जगत से अपकर्षित होने की पूर्व शर्त यह है कि विचारक वर्ग अपने को शरीर शुभ के उत्तरदायित्व से उन्मुक्त कर ले। सारांश यह है कि अध्यात्मवाद की जड़ें सामाजिक व्यवस्था में हैं। समाज व्यवस्था के परिवर्तन से ही अध्यात्मवाद से छुटकारा मिल सकता है। मात्र दार्शनिक तर्कों द्वारा अध्यात्मवाद का खंडन संभव नहीं। तर्क ही तो अध्यात्मवादियों का सबसे बड़े शस्त्र है क्योंकि हर तर्क विचार अथवा चेतना की प्रमुखता को स्वीकार करता है अस्तु, तर्कों द्वारा नहीं, बल्कि अध्यात्मवादी प्रवंचना को जन्म देने वाले वास्तविक सामाजिक संबंधों को समाप्त करके' ही अध्यात्मवाद की निःसारता सिद्ध की जा सकती है। आवश्यकता तर्क की नहीं, क्रांति की है।[2]

भारतीय दर्शन में भी इसी क्रांति की आवश्यकता है। इस क्रांति का आधार मार्क्सवाद में उपलब्ध है और मार्क्सवाद भारतीय दर्शन के लिए कोई विदेशीय सिद्धांत नहीं है : इसकी जड़ें प्राचीन और गहरी है। अब वह समय आ गया है जबकि दर्शन को आत्मा और ईश्वर, परलोक और अमरता की चर्चा छोड़कर इहलौकिक बन जाना चाहिये। भारतीय चिंतन शक्ति का परलोक-चिंतन में बहुत अपव्यय हो चुका है। अब हमें आत्मा और ब्रह्म के

---

1. "Division of labour only becomes truly such from the moment when a division of material and mental labour appears. From this moment onwards consciousness can really flatter itself that it is something other than consciousness of existing practice, that it is really conceiving something wi;thout conceiving something real. from now on consciousness is in a position to emancipate itself from the world and to proceed to the formation of "pure" theory, theology, peilosophy, ethics, etc." — वही, पृ. 671, मार्क्स तथा एंजिल्स के जर्मन आइडिलाजी, पृ. 19-20 से उद्घृत।
2. ".... All forms and products of consciousness cannot be dissloved by mental criticism .... but only by the practical overthrow of the actual social relations which gave rise to this Idealistic humbug, that not criticism but revolution is the driving force of history, also of religion, of philosophy and all other types of theory." — वही, पृ. 678, मार्क्स तथा एंजिल्स के सेलेक्टेड वर्क्स से उद्घृत।

कल्पित, अगोचर तथा रहस्यमय स्वरूप के संबंध में कल्पनाएँ करना बंद कर देना चाहिये क्योंकि अब तो आत्मा को मुट्ठी में पकड़ा जा सकता है, प्रयोगशाला में उसकी जाँच की जा सकती है और यह सिद्ध किया जा सकता है कि चेतना मात्र एक मस्तिष्कीय प्रक्रिया है। भारतीय दार्शनिकों का यह धर्म है कि अब वे परलोक जगत में ईश्वर की खोज की व्यर्थता को अनुभव करें पृथ्वी पर वापस आयें, जो वास्तविक है तथा जिसमें प्रयोग, परिवर्तन तथा क्रांति द्वारा मनुष्य को सुखी बनाया जा सकता है। ऐंजिल्स के शब्दों में 'जब एक बार सत्यातीत जगत असिद्ध हो जायगा तब इतिहास का कार्य इस जगत के सत्य को स्थापित करना होगा। जब मानवीय आत्म-अन्यताभाव का पवित्र रूप अनावृत्त हो जायगा तब दर्शन, जो कि इतिहास का परिचायक है, का कार्य आत्म-अन्यताभाव (सेल्फ-एलियनेशन) को उसके अपवित्र रूप में अनावृत्त करना होगा। इस प्रकार स्वर्ग की आलोचना का स्थान पृथ्वी की आलोचना ले लेगी, धर्म की आलोचना अधिकार की आलोचना में बदल जायगी और ईश्वरमीमांसा का स्थान राजनीति मीमांसा ग्रहण कर लेगी।

निष्कर्ष

चट्टोपाध्याय ने अपने पक्ष को बड़े ही सशक्त ढंग से प्रस्तुत किया है। उनकी हर प्रस्तावना मूल प्रमाणों द्वारा समर्थित है। जिस ढंग से उन्होंने भारतीय दर्शन की व्यवस्था की है और उसे जो एक दिशा और लक्ष्य प्रदान किया है वह सर्वथा नवीन न होते हुए भी एक मौलिक सूझबूझ का परिचायक है। यह निःसंदेह है कि चट्टोपाध्याय की भारतीय दर्शन के इतिहास में गहरी पैठ है और सबसे सराहनीय बात यह है कि अपनी दार्शनिक प्रतिबद्धता के बावजूद भी उन्होंनें विभिन्न दार्शनिक तंत्रों को प्रस्तुत करते समय निष्पक्ष बने रहने का परिचय दिया है। तथापि चट्टोपाध्याय की व्याख्या में कुछ प्रश्न अनुत्तरित रह जाते हैं, कुछ शंकायें और समस्यायें उत्पन्न होती हैं। उनमें से कुछ की हम संक्षेप में चर्चा करना चाहेंगे।

सर्वप्रथम हम कुछ ज्ञान मीमांसीय प्रश्नों को लें। लोकायत ज्ञान मीमांसा तर्क अथवा अनुमान को गौण स्थान प्रदान करती है, तर्क का कार्य प्रत्यक्ष की प्रमुखता सिद्ध करना है। किन्तु यह प्रश्न उठता है कि तर्क का स्वरूप क्या है? वह प्रमाणित है अथवा अप्रमाणित? तर्क की जो भूमिका लोकायत में स्वीकृत है उसके अनुसार तर्क को स्वतः प्रमाणित होना चाहिये। अन्यथा स्वतः अप्रमाणित तर्क प्रत्यक्ष की प्रमुखता नहीं स्थापित कर सकता। और यदि तर्क

स्वतः प्रमाणित है तो वह अप्रत्यक्ष संबंधी प्रश्नों को क्यों उठाती है? चट्टोपाध्याय ने इस समस्या की कहीं कोई चर्चा नहीं की है। लोकायत दर्शन का मार्क्सवादी रूप भी इस प्रश्न को गंभीरता से नहीं लेता। संभवतः उसका उत्तर यह हो कि यह सब सामाजिक अनुबंधन का परिणाम है। किन्तु क्या मानव-जिज्ञासा के सभी अभौतिक प्रश्नों का ऐसा साधारणीकरण किया जा सकता है? यह सुधीजनों के विचार का विषय है। जिसकी तलाश में ह्यूम 'एक संप्रत्यय से दूसरे संप्रत्यय तक' टकराकर ही संतुष्ट हो गया, जिसकी व्याख्या लोकायत ने चूने और कत्थे से उत्पन्न लाल रंग के सादृश्य से करके संतोष लेकर लिया, वही इन दार्शनिक के बाद शताब्दियों तक और आज भी दार्शनिक जिज्ञासा का केंद्र बना रहा। क्या यह सब मात्र इसलिये है कि सभी दार्शनिक किसी ऐसे अक्षुण्ण भोज के सहभागी हैं जिसमें किसी अदृश्य हाथों ने अत्यंत चतुराई से अफीम का घोल मिला दिया है।

भौतिकवाद और अध्यात्मवाद को दो संस्कृतियों का संघर्ष कहते हुए चट्टोपाध्याय अध्यात्मवाद को शोषक वर्ग की नैतिकता मानते हैं। अध्यात्मवाद से उनका तात्पर्य मुख्यतः अद्वैत वेदांत से है। महाभारत की चार्वाक के जलाने की घटना[1] का उल्लेख करते हुए उन्होंने भगवद्गीता को ही सुखवादी दर्शन सिद्ध करने का प्रयास किया है और चार्वाक के सुखवादी रूप को वेदांती आरोपण माना है। इस संबंध में हम दो बातें कहना चाहेंगे : (1) स्वयं चट्टोपाध्याय से ही तर्कों के अनुसार लोकायत दर्शन का सुखवादी रूप हो जाता है। लोकायत जन-सामान्य का दर्शन है जिसमें उनकी इहलौकिक आकांक्षाओं को प्रमुख स्थान प्राप्त है। सुख निश्चय ही एक इहलौकिक कामना है और यह जनसामान्य की भी कामना है। यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं कि सुख की इच्छा जन-सामान्य की सहज प्रवृत्ति है, अर्थ और धर्म संबंधी मूल्यों का पूर्वगामी मूल्य है। (2) चट्टोपाध्याय की विद्वत्ता का समुचित आदर करते हुए हम यह कल्पना चाहेंगे कि हैतो वा प्राप्यसि स्वर्गम्' के आधार पर उन्होंने जिस ढंग से गीता की सुखवादी व्याख्या की है, उसमें गीता का मूल सार प्रतिध्वनित भी नहीं होगा। भारतीय अध्यात्मवाद में वर्ग-भेद अथवा शोषण की कोई प्रकृति नहीं खोजी जा सकती। विश्व बंधुत्व और आत्मोपग्यवाद का प्रचार करने वाले दर्शन को शोषक दर्शन कहना उसके स्वरूप को विकृत करना है। 'अध्यात्मवाद ज्ञान और कर्म के भेद पर आधारित है' – चट्टोपाध्याय की यह मान्यता भगवद्गीता द्वारा मिथ्याकृत हो जाती है जो सामान्यमत से ज्ञान और

1. देखिये, ऊपर; पृ. 17.

कर्म का अद्भुत सामंजस्य माना जाता है। कर्म का सिद्धांत गीता का आदि और अंत है तथा ज्ञान कर्म का आधार है।

अद्वैत वेदांत के जिस रूप के विरुद्ध श्री चट्टोपाध्याय संघर्षरत हैं उसके ऊपर भी गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है। उनके अनुसार अद्वैत अध्यात्मवाद भी ईश्वरवाद का ही एक रूप है, उसमें व्यवहार और परमार्थ का तीक्ष्ण विभाजन है तथा इस लोक से परे वस्तुतः किसी लोक का वास्तविक अस्तित्व है। यह कहना कि श्री चट्टोपाध्याय अद्वैत वेदांत के वास्तविक रूप से अपरिचित हैं सत्य से बहुत दूर होगा। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे अधिकांशतः वास्तविक वेदांत से नहीं, बल्कि उसके प्रतिच्छाया के विरुद्ध संघर्ष करते हैं। अद्वैत वेदांत स्वतः ईश्वरवाद का विरोधी है यद्यपि वह इसके लिए एक प्रयोजनात्मक छूट भी देता है। अद्वैत मोक्ष 'उस लोक' की वास्तविकता हो या न हो, वह इस लोक की वास्तविकता तो बन ही सकता है। स्वयं मार्क्सवादी जाने या अनजाने उस धारणा को स्वीकार करते हैं। यहाँ विस्तार में जाना संभव नहीं, किन्तु आलोचना के पहले किसी भी दर्शन के मूल मंतव्यों की तदाशयता के साथ स्वीकार करना वांछनीय होता है।

ऊपर हमने भारतीय दर्शन की मार्क्सवादी व्याख्या की कुछ समस्याओं की चर्चा की है। इसका आशय ऐसे प्रयासों के महत्त्व को कम करना नहीं है। चट्टोपाध्याय की दर्शन के लोकायतीकृत रूप की धारणा से हम पूर्णतया सहमत हैं। बुद्ध ने बहुत समय पूर्व 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' द्वारा दर्शन का प्रयोजन निर्धारित कर दिया था। दर्शन को जन-सामान्य की आकांक्षाओं का प्रतीक होना चाहिये और साथ ही उन आकांक्षाओं को समुचित दशा भी देनी चाहिये। इस अर्थ में दर्शन का कार्य संसार को बदलना भी है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि दार्शनिक समस्याओं का समाधान जनमत के आधार पर किया जा सकता है। तत्त्व-निरूपण की प्रक्रिया में अतियों से बचना अत्यन्त आवश्यक है। यह माना जा सकता है कि धार्मिक कर्मकांड भारतीय दार्शनिक परंपरा की एक अति रहा है, किन्तु यह अध्यात्मवाद नहीं है। संभवतः धर्म में कुछ अतिवादिता की प्रवृत्ति पायी ही जाती है। धर्म के रूप में मार्क्सवाद भी एक अतिवाद बन जाता है। अतएव आवश्यकता एक समन्वयात्मक दृष्टि की है। संसार की सांस्कृतिक और भौतिक प्रगति ने इस आवश्यकता को स्पष्टतः सिद्ध कर दिया है। यदि अध्यात्मवाद का अब केवल प्रचार मूल्य रह गया है तो वर्ग-भेद और वर्ग-संघर्ष के उच्चघोष की भी वही गति है।

●●●

अध्याय 13

जे. कृष्णमूर्ति

पिछली सदी के अन्त और औद्योगीकरण के प्रारम्भ में, जबकि एक ओर परम्परागत धर्म की पकड़ ढीली पड़ रही थी और दूसरी ओर विभिन्न धर्म-सम्प्रदाय अस्तित्व में आने लगे थे, औद्योगीकरण के विरुद्ध प्रतिक्रिया सबसे ज्यादा अमेरिका में हुई। प्रचलित सभी धर्मों से नियम कानून ग्रहण कर, कुछ अपने नियम बनाकर, इनके अपने समाज अस्तित्व में आए, नयी धाराएँ बनीं। मसीही धर्म का प्रचलित रूप खोखला लगने लगा, तो पूर्व की रहस्यवादी धारा की ओर चिन्तकों का ध्यान गया, आत्मा, पुनर्जन्म जैसे विषयों में उनकी रुचि जाग्रत हुई। धार्मिक विचारकों व नेताओं ने यह कहना शुरू किया कि मसीहा इस बार पूर्व में नहीं वरन् पश्चिम में अवतरित होगा और उसके स्वागत के लिए हमें अभी से तैयारी शुरू कर देनी चाहिए। यहीं से प्रारम्भ होती है – मसीहा की अन्वेषण यात्रा, जो उन अनेक यात्राओं में से एक है, जो आज हमारे चारों ओर 'शक्ति' 'गॉडमैन' या अन्य सम्प्रदायों के रूप में बिखरे हैं और बढ़ते जा रहे हैं।

कर्नल आल्काट एवं मादाम हेलेना पेट्रोव्ना ब्लाट्वस्की ने अमेरिका में 1875 में एक सोसाइटी की स्थापना की, जिसमें सभी धर्मों के लोग सम्मिलित हो सकते थे, इसको नाम दिया गया 'थियोसॉफिकल सोसाइटी' कर्नल आल्काट इसके प्रथम अध्यक्ष बने। मादाम ब्लाट्वस्की ने घोषणा की कि मसीहा जल्दी ही जन्म लेने वाला है। उनकी मृत्यु के पश्चात् कुछ ऐसा ही प्रचार डॉ. ऐनी बेसेन्ट ने भी किया।[1]

पहला मसीहा डॉ. बेसेन्ट के निकटतम सहयोगी सी. डब्ल्यू. लेड्बीटर द्वारा चुना गया – थियोसॉफिकल सोसाइटी के जनरल सेक्रेटरी का बेटा राबर्ट बैनदुक, लेकिन अन्वेषणकर्ताओं की यात्रा यहीं समाप्त नहीं हुई। लेड्बीटर को बालक 'जिद्दू' के गिर्द 'तेजस्' दिखाई पड़ा और मसीहा पद के लिए यह बालक चुन लिया गया; साथ ही इसका भाई नित्या भी सहायक के रूप में

1. Lutyens Mary, Krishnamurti : the years of Awakening, Krishnamurti foundation India 1975, p. 12.

चुना गया। आगे चलकर यही जिद्दू 'जे. कृष्णमूर्ति' बने। अडयार आश्रम में जब इन बच्चों का चुनाव हुआ, डॉ. बेसेन्ट अपनी इग्लैण्ड यात्रा पर थीं। जब वह वापस आयीं, 'मास्टर्स' ने उन्हें स्वीकार कर लिया था। तथा उनकी शिक्षा-दीक्षा भी आरम्भ हो चुकी थी।

भगवान् बनने से इन्कार करने वाले मसीहा कृष्णमूर्ति के जीवन के प्रारम्भिक अड़तीस वर्ष बड़े ही उतार-चढ़ाव एवं कुण्ठाग्रस्त वर्ष थे। अतिरिक्त कठिनाईयाँ, सन्देह, दुःख व्यक्तिगत सम्बन्धों का टूटना-जुड़ना, आध्यात्मिक जागृति इन सबसे पीछे वर्षों की पीड़ा, युगों की यन्त्रणा छिपी है, जिसे झेलकर आज वह स्वयं को मुक्त घोषित कर रहे हैं, या कि जिसे झेलकर वह इतना साहस जुटा पाये कि जो लोग मसीहा बना देना चाहते थे, उनसे कटकर अलग हो सके।

प्रश्न उठता है कि यह मसीहा अपने तथाकथित परिवेश से ऊबा क्यों? कृष्णमूर्ति को ईश्वर के एक नवीन अवतार, जगद्गुरु व विश्वरक्षक मान कर डॉ. बेसेन्ट एवं उनके सहयोगियों ने विश्व के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहा। वैसे तो प्रत्येक दार्शनिक जगद्गुरु माना जा सकता है, पर कृष्णमूर्ति न तो जगद्गुरु बनने का दावा करते हैं और न तो साधारण गुरु का ही। वे तो गुरु की सहायता ही साधक के लिए हानिकारक समझते हैं। उनका विश्वास तो स्वतंत्र विचार, स्वतंत्र तर्क, स्वतंत्र अनुभव की क्रियाओं में है।

❑ ❑ ❑

आज का मानव इतिहास के एक बहुत ही उत्तेजनापूर्ण युग के द्वार पर खड़ा है। भौतिक उपलब्धियों के बावजूद मनुष्य मन से अशान्त है। हम ऐसे संसार में जी रहे हैं, जिसमें विषाद सर्वव्यापी है। सम्पूर्ण वातावरण सन्देह, कटुता व अविश्वास से परिपूर्ण है। मूल्यों का कोई सर्वस्वीकृत सिद्धान्त नहीं रहा, जो क्षण-क्षण परिवर्तित परिवेश में मनुष्य का दिशा-निर्देश करे। नैतिक मूल्यों के अवसान ने मानवता की अर्थवत्ता के सम्मुख एक प्रश्नचिन्ह उपस्थित कर दिया है; ऐसी स्थिति में मनुष्य व उसके अस्तित्व सम्बन्धी प्रश्नों पर पुनर्विचार अत्यन्त आवश्यक है।

मानवीय स्थिति से उत्पन्न समस्याओं को ही जे. कृष्णमूर्ति ने अपने तरीके से सुलझाने का प्रयत्न किया है। एक तरफ स्वयं को परम्परागत वेदान्त-दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए भी कृष्णमूर्ति हमारी संस्कृति के मूलाधारों पर ही संदेह प्रगट करते हैं।

मानवीय प्रकृति में अपार सम्भावनाएँ निहित हैं, हम संसार की पुर्नरचना कर सकते हैं, अपने चरित्र या मानव में जो त्रुटियाँ हैं उन्हें दूर कर सकते हैं। प्रकृति मानव इकाई में ही अपनी पूर्णता प्राप्त करती है, क्योंकि उसमें ही प्रकृति की सर्जनात्मक प्रक्रिया का सर्वोत्तम रूप हमें देखने को मिलता है, उसकी सर्जनात्मक सामर्थ्य द्वारा ही प्रकृति की अचेतन सर्जना, चेतन सर्जना में रूपान्तरित हो जाती है; किन्तु यह एक अत्यन्त ही विडम्बनापूर्ण स्थिति है कि अपनी इस सहज स्थिति की उपेक्षा करते हुए हममें से प्रत्येक महान् बनने की, अपने आदर्शों के अनुरूप अपने को ढालने की अभिलाषा रखता है। महानता की यह अदम्य आकांक्षा मनुष्य को उसके विचार एवं कल्पनाओं की सीमा में बांध देती है। अतः आदर्शों को लक्ष्य कर, उनको प्राप्त करने की दिशा में आगे बढ़ना तो निश्चित रूप से जीवन के प्रति पलायनवादी रुख को अपनाना है, यथार्थ का सामना करने से कतराना है। कृष्णमूर्ति किसी भी प्रकार की प्रतिबद्धता के विरोधी हैं। प्रतिबद्धताविहीन सक्रियता के वे समर्थक हैं। मनुष्य का सच्चा पथप्रदर्शक तो उसकी आत्मा ही है : सच्ची स्वतंत्रता मनुष्य अपनी ही अन्तरात्मा से प्राप्त करता है।[1]

सच्ची स्वतंत्रता से तात्पर्य किसी नवीन वस्तु की प्राप्ति नहीं है, वरन् अज्ञान की पर्तों को हटाकर अपने ही स्वरूप की प्राप्ति है। मनुष्य को अपने से कहीं दूर नहीं जाना है। मनुष्य के अन्दर सद्य सृजनात्मक चेतना का अनन्य स्रोत है, पर दिशा विभ्रम के कारण उसे भटकना पड़ता है। जीवन के तल में प्रविष्ट होकर उस सत्य का साक्षात्कार करने की जगह मानव मन विविध प्रकार की, विविध स्तरीय उपलब्धियों के द्वारा अपने को सन्तुष्ट करने की चेष्टा करता है : एक आन्तरिक द्वन्द्व-न्याय के माध्यम से – यदि वर्तमान संदर्भ में, हेगेल की भाषा का प्रयोग किया जाय, व्यक्ति को जब इन उपलब्धियों की सन्तुष्टि के अस्थायित्व का बोध होता है, तब उसकी सद्यः, सजग एवं अतिक्रामी चेतना अर्न्तवर्ती होकर – भीतर, व्यक्तित्व के तल में सभी क्रिया, अनुभूति एवं बोध के स्रोत का साक्षात्कार करती है या यूँ कहा जाए कि उसी रूप में अपनी यथार्थता का उसे एहसास होता है और तभी से उसके 'यथार्थ' अस्तित्ववादी पदावली में आन्थेटिक (authentic) अस्तित्व का प्रारम्भ होता है, जो उसकी आन्तरिक अनुभूति से सद्यः आलोकित एवं रंजित होता है।

---

1. ".... Ideals mean nothing. You are not really idealists, you are verbalists. An ideal is merely an escape from doing something doing" J. Krishnamurti, Talks by Krishnamurti in India, 1958, Krishnamurti writing Ine. 1960, p. 18.

यहाँ कृष्णमूर्ति के विचारों में हमें वेदान्त विचारों की स्पष्ट गूँज सुनने को मिलती है : स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि मनुष्य जब माया के पार यानी उसकी चेतना जब देश-काल के अतिक्रमण की सामर्थ्य अपने में विकसित कर लेती है, तब सहज ही तत्काल, उसकी दृष्टि विश्व के अधिष्ठान का साक्षात्कार करती है, पर वेदान्त के अनुसार यही मनुष्य की अन्तिम उपलब्धि नहीं है। अन्य शब्दों में, माया के अतिक्रमण के बाद जब मनुष्य अपने तथा जगत् के अधिष्ठान के रूप में ईश्वर की सत्ता की प्रतीति करता है, तो वह उसकी यात्रा की इति नहीं है प्रारम्भ ही है : कालान्तर में वह अनुभव करता है कि जो सत्ता उसके बाहर थी और अपने वैभव एवं शक्ति में अपार श्रद्धा एवं उपासना योग्य थी, वही वस्तुतः उसके भीतर भी है और यथार्थ में उसमें और ईश्वर में तात्विक दृष्टि से पूर्ण अभेद है। स्पष्ट है कि शुद्ध एवं उच्चकोटि की आध्यात्मिकता का मूलाधार एकता की यही प्रतीति है, जिसका अनुभव मनुष्य अपनी आत्मा की गहराई से करता है।[1]

कृष्णमूर्ति अन्तःकरण सर्जनात्मक बुद्धि के विकास हेतु बोध की समग्रता पर विशेष बल देते हैं। विश्व जो अनेकानेक समस्याओं एवं भग्नाशाओं के दौर से गुजर रहा है, को एक सर्वथा नवीन नैतिक मानदण्ड की आवश्यकता है। मनुष्य को आन्तरिक परिवर्तन की आवश्यकता है, विश्व में व्यापत कुण्ठा, हताशा, संत्रास को सिद्धान्तों एवं आदर्शों के माध्यम से नहीं पकड़ा जा सकता इसके लिए नवीन उत्क्रानित का आविर्भाव अपेक्षित है; यह उचित शिक्षा के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। प्रबुद्ध मस्तिष्क ही समाज में व्याप्त विसंगतियों एवं अराजकता को अपनी समग्र दृष्टि के माध्मय से समाप्त कर सकता है। क्योंकि सतही तौर पर आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तन के बाद भी मनुष्य को रूपान्तरित करने की आवश्यकता का प्रश्न ज्यों का त्यों बना रहता है। अन्य शब्दों में, तंत्र एवं सामाजिक ढाँचा अगर बदल भी जाए, लेकिन मन में विषमतावादी जीवन मूल्य एवं लिप्साएँ बनी रहें, तो मानव का स्वतंत्र वर्चस्व

1. "We try to impose the one on the many, but the one soon becomes the many. The voice of the many is the voice of the one and the one voice assumes authority; but it is still the chattering of a voice. We are the voices of the many, and we try to catch the still voice of the one. The one is the many if the many are silent to hear the voice of the one. The many can never find the one."

   J. Krishnamurti's commentaries on living; edited by D. Rajgopal, Victor Gollancz Ltd. London 1st Series, 1967, p. 37.

खतरे में पड़ सकता है।[1] अतः बिना समुचित आत्मबोध के कुछ भी संभव नहीं है। अतः यदि वास्तविक क्रांति लानी है तो विशुद्ध धार्मिक चेतना को पुनः जगाना होगा।[2]

अब प्रश्न उठता है कि व्यक्ति अपनी जीवन दृष्टि को कैसे बदले। एक सम्पूर्णतः नवीन समाज की सर्जना हेतु जीवन मूल्यों के प्रति कैसा रुख हो? मनुष्य को विभिन्न समुदायों की संकुचितता से निकालकर, उन्हें सामाजिक एकसूत्रता में बाँधने का दावा विभिन्न धर्मों व उनके आचार्यों ने किया है। सभी ने अपने तरीके से मानो एक ही सत्य को दुहराया है, किन्तु शायद मनुष्य अभी तक इस सत्य को हृदयंगम नहीं कर सका है कि सच्चाई कोई एक ऐसी स्थायी जमीन नहीं है, जिस तक जाने का कोई सुनिश्चित रास्ता है और इसी में सत्य की सुन्दरता है। सत्य गत्यात्मक है, जीवन्त है, सद्यः प्रवाहमान है तथा नित्य नये रूपों में अपने को स्थापित करता है। ऐसे सत्य की स्थापना जीवन में ही होनी है और वह भी व्यक्ति के अपने ही प्रयासों द्वारा। कोई भी गुरु व्यक्ति को कुछ दिला नहीं सकता, उसका मार्गदर्शन नहीं कर सकता। उसे तो जीवन में ही व्यक्त होना है, उसे तो अपने जीवन में क्रियाओं में ही उतारना होगा।[3] उसका रूप उसकी ही – व्यक्ति की गहनतम विभिन्न स्तरीय प्रतिक्रियाओं एवं संवेगात्मक अनुभूतियों द्वारा अभिव्यक्त होता है।

जे. कृष्णमूर्ति के इन विचारों में हमें स्पष्ट रूप से स्वामी विवेकानन्द के विचारों की प्रतिध्वनि मिलती है : अनेक सन्दर्भों में उन्होंने भी धर्म की आन्तरिकता पर जोर देते हुए उसे धर्म की बाध्यता – उसके आडम्बरों से, मुक्त करने का आह्वान किया है और विवेकानन्द की जीवन दृष्टि का यह मूल स्वर युग के सभी प्रमुख सन्त एवं दार्शनिकों की जीवन-दृष्टि का मूलस्वर बन गया था।

---

1. "All this is a part of self-knowledge, and without self-knowledge do what you will, reform, have every kind opf revolution, super-leaders, super-politicians, you will never create a world in which the individual becomes a total being, and so can influence Society" J. Krishnamurti's Talks by J. Krishnamurti in India, 1958, p. 50.

2. Krishnamurti J. Freedom from the known. B.I. Publications, Madras, 1979, p. 15.

3. "Truth has no path, and that is the beauty of Truth, it is liveing. A dead thing has a path to it because it is static, but when you see that truth is something living, moving which has no resting place, which is no temple, mosque & Church, has no resting place, which is no philosophe, nobody can lead you to-then you will also see that this lisving thing is what you actually are – your anger, your brutality, your violence, your despair, The agony and sorrow you live in." Ibid, p. 18. 26

इसी संदर्भ में यह प्रश्न उठता है कि क्या बिना किसी बाह्य प्रभाव के हम अपने अन्तरतम की गहराइयों में समग्र परिवर्तन की अनुभूति उत्पन्न कर सकते हैं? इसके लिए हमें शुरू से ही प्रयास करना होगा। जीवन-दर्शन केवल सिद्धान्तों के वाग्जाल में निहित नहीं है, वरन् वह है, जो हमारे कार्य व व्यवहार में निरन्तर अनुदित होता है। सिद्धान्त बुद्धि पर ही आधारित होते हैं, पर कोरी बुद्धि ही अन्ततः सम्पूर्ण मानवीय अस्तित्व का आधार नहीं है। बुद्धि तो जीवन का एकभाग है, जिसके द्वारा हम सम्पूर्ण जीवन को परिभाषित करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु बौद्धिक स्तर पर निरूपित कोई भी सिद्धान्त हमें सर्वांगीण जीवन-दृष्टि नहीं दे सकता। इसके लिए हमें स्वयं प्रयास करना होगा।[1]

जीवन को उसकी सम्पूर्णता में ग्रहण करने हेतु सर्वप्रथम हमें उन जीवन-मूल्यों से मुक्त होना होगा, जिन्हें इस समाज ने परम्पराओं के रूप में हमारे ऊपर थोप रखा है। परम्पराओं ने गरीबी व शोषण को कर्मों का फल या पापों का दण्ड बताकर ईश्वरीय कृपा को उच्चवर्ग तक सीमित कर रखा है। अतः सर्वप्रथम आवश्यकता है, इस संस्कार रूप में अर्जित भय से मुक्ति की; मानवीय शक्ति अनन्त सम्भावनाओं से युक्त है, किन्तु उसकी इस सम्भावना के आगे परम्पराओं ने प्रश्नचिन्ह खड़े कर रखे हैं।

भय एक ऐसा भीषण रोग है, जिसके होते जीवन-वृक्ष हरा-भरा रह ही नहीं सकता। भय समस्त मानवीय सम्भावनाओं को क्षीण कर देता है और जीवन एक बोझ बनकर रह जाता है। यदि जीवन को सार्थक बनाना है तो भय का निदान एवं निराकरण आवश्यक है। भय मिथ्या कल्पना है भय कोई विवशता नहीं, अबोधता है।[2] जीवन के हर क्षण को मनुष्य स्वयं अपने प्रयासों से सुन्दर बना सकता है। आत्म-विश्वास से धैर्य उत्पन्न होता है, जो मनुष्य का सच्चा साथी है।

कृष्णमूर्ति का दर्शन मनुष्य में एक ऐसे अडिग विश्वास को जाग्रत करना चाहता है, जो उसे गहरे जीवन मूल्यों के प्रति उन्मुख कर सके। वे निःसंदेह सामाजिक क्रांति की भूमिका प्रस्तुत करना चाहते हैं। वे स्वयं को किसी विचारधारा के प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत नहीं करते। सत्य के अतिरिक्त परमसत् तक पहुँचने का कोई अन्य मार्ग नहीं है। व्यक्ति की प्रबुद्धता ही उसका वास्तविक निर्देशक है।[3] व्यक्ति को संघर्षों का स्वयं ही सामना करना

1. Krishnamurti J., freedom from the Known, p. 47.
2. Krishnamurti J., Star Bulletin May-June. 1933, p. 115.
3. Kirshnamurti J. Freedom from the known, p. 21.

होगा, सभी प्रकार के परम्पराओं, आदर्शों से मुक्त होकर व्यक्ति को स्वयं ही जागृत होना होगा। मनुष्य की चेतना ही वह स्थल है, जहाँ विचार जन्म लेते हैं और सभी सम्बन्ध अस्तित्ववान् होते हैं।[1]

सत्य विचारों, क्रियाओं एवं अनुभवों की परिपूर्णता है; उसे किसी समुदाय अथवा संगठन के माध्यम से प्राप्त नहीं किया जा सकता।[2] सजग चिन्तक के सामने बड़ी चुनौती सिद्धान्तों व संगठनों भ्रमजाल को काटने की है।

किन्तु हमारे वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की मूल समस्या तो यही है : हम पाते हैं कि कोई भी समाज संगठन के बिना जी ही नहीं सकता उसी से शक्ति पाता है और संगठन को और अधिक बलशाली बनाकर ही अपने अस्तित्व को सुरक्षित समझता है। आज का मानव इतना अधिक लिप्साग्रस्त है कि उसे इसके विपरीत कोई भी स्थिति असुरक्षा की भावना के कारण अत्यन्त भयभीत कर देती है। अतः जिस समग्र-बोध के आविर्भाव की बात कृष्णमूर्ति करते हैं, उसकी इस स्तर पर गुंजाइश ही नहीं बचती फलस्वरूप उसके वर्ग की धुरी अहं बोध ही है, जो पार्थक्य बोध को जन्म देता है और असुरक्षा की प्रतीति के कारण निरन्तर व्यक्ति को भयभीत करता रहता है। यही अन्ततः समाज में शोषण को जन्म देता है। समाज में पनपीं विकृतियाँ ऐसी नहीं कि अपने आप आ गयी हों। दरअसल, ये विकृतियाँ जानबूझकर, सुनियोजित तरीके से समाज का शोषण करने वाले वर्ग ने पैदा की हैं। यह वर्ग बिल्कुल नहीं चाहता कि विवेक सम्मत समाज का निर्माण हो, क्योंकि यदि ऐसा हो गया तो फिर शोषक वर्ग की सुविधाएँ समाप्त हो जाएँगी। शोषक वर्ग धार्मिकता की रामनामी ओढ़े रहता है, जबकि वास्तव में सच्ची धार्मिकता का विरोधी वही होता है।.

वेदान्त के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए कृष्णमूर्ति कहते हैं कि एक ही परमसत् सभी में विद्यमान है, किन्तु उसे किसी सम्प्रदाय विशेष के माध्यम से प्राप्त नहीं किया जा सकता। गुरु अथवा संगठन का निर्देशन अनावश्यक है, क्योंकि एक दिव्य उपस्थिति हम सबमें विद्यमान है। पवित्र हृदय की गहराइयों

1. Ibid, p. 29.
2. Krishnamurti J., Star Bulletin July-August 1933, p. 130.

में ही वह अनुभूत हो सकता है। सम्पूर्ण में समाहित उस दिव्य-सत्ता का अनुभव एक शुद्ध व सरल जीवन के माध्यम से ही हो सकता है।[1]

वर्तमान समाज-व्यवस्था की विसंगतियों की ओर संकेत करते हुए वे कहते हैं कि वे किसी नवीन समाज की परिकल्पना प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं, क्योंकि मात्र परिकल्पित होने से नवीन शब्द की नूतनता समाप्त हो जाएगी। भ्रान्तियों से मुक्त मस्तिष्क ही वस्तुतः नूतन के बोध एवं सृजन में समर्थ है। आवश्यकता है मनुष्य के आन्तरिक रूपान्तर की, जो मनुष्य की आत्मा को आध्यात्मिक अनुभूति से आलोकित करने में समर्थ हो, तभी समाज में समता, स्वतंत्रता एवं न्याय की भावना से आलोकित हो सकेगी। इसके लिए मनुष्य को उसकी समग्रता में समझना होगा।

❑ ❑ ❑

अस्तित्वपरक चिंतन की अपेक्षायें :

पलायनवादी वृत्ति का निषेध :

जगत् की व्याख्या के दौरान प्रायः दार्शनिकों ने, जगत् के आधार के रूप में एक परमसत् को स्वीकार किया है। वस्तुतः यही परमतत्त्व संसार का अधिष्ठान होते हुए, जगत का विशेष अर्थ में अतिक्रमण करने वाला सत् है, जो जगत् का अतिवर्ती एवं अन्तर्वर्ती दोनों ही है।

अतः किसी भी दर्शन की प्रस्तुति के लिए जगत् व ईश्वर के सम्बन्ध को निरूपित करना अति आवश्यक है। जे. कृष्णमूर्ति के लिए भी इस प्रश्न पर प्रकाश डालना अनिवार्य है, पर वे एक जीवन्त दार्शनिक दृष्टि के लिए इस प्रकार के प्रश्न तथा उसके समाधान को निरर्थक मानते हैं, जो केवल वैचारिक

1. "I have always in this life and perhaps in Past lives, desired one things : to escape, to be beyond sorrow, beyond limitations, to discover my Beloved — which is your Guru and your Beloved, the Guru, the Beloved who exists in every body, who exists under every common-stone in every blade of grass, that is trodden upon. It has been my desire, my longing to become united with Him so that I should no longer feel that I was separate self, when I was able to destroy that self utterly, I was able to unite myself with my Beloved. Hence, because I have found my Beloved, my Truth, I want to give it to you." J.K. Krishnamurti, who Brings the Truth? p. 11.

स्तर पर प्रश्नों को निरूपित करता है और उनके समाधान में रुचि रखता है, वह व्यक्ति वस्तुतः जीवन की मूलधारा से अपने को पूर्णतः विमुक्त कर लेता है तथा अपने सीमित चिन्तन के आधार पर जीवन के उद्देश्यों को निरूपित करता हुआ, उनके अनुरूप जीवन व्यतीत करने की चेष्टा करता है, पर जीवन की अप्रतिम सर्जना शक्ति इस प्रकार अमूर्त फार्मूलों में बंध कर पूर्णतः कुण्ठित हो जाती है और एक कृत्रिम विरोधपरक जीवन-शैली को जन्म देती है, विपरीततः एक अस्तित्वपरक चिन्तन की जीवन से कुछ भिन्न प्रकार की अपेक्षाएँ हैं; कृष्णमूर्ति उन्हीं अपेक्षाओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं

अपनी बात को तथा परिकल्पनात्मक चिन्तन की विसंगतियों को स्पष्ट करने की दृष्टि से वे कहते हैं कि यदि ईश्वर को पूर्णतः निरपेक्ष मान लिया जाता है, तो वह जगत् से पूर्णतः असम्बद्ध हो जाता है, इसके विपरीत यदि ईश्वर को जगत् में अन्तर्व्याप्त माना जाता है, तो जगत् के समस्त गुणदोष ईश्वर के बन जाते हैं : दोनों ही समाधानों के आपसी विरोध के फलस्वरूप एक ऐसे समन्वित विचार का दार्शनिक जगत् में आविर्भाव हुआ, जिसके आधार पर ईश्वर जगत् में व्याप्त होते हुए, उसका एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में अतिक्रमण करता है। भारत के अस्तित्वपरक चिन्तन तथा पाश्चात्य अस्तित्ववादी दृष्टि में अनेक बिन्दुओं पर समानता है।

मनुष्य के अज्ञान ने उसे यह मान लेने पर विवश कर दिया है कि जीवन का कुछ विशेष प्रयोजन है उसे जानना है, जिससे उसे अपने को नियंत्रित करना है। पर जीवन को विशेष अर्थ देते हुए, जीवन गन्तव्य को परिभाषित करना तथा उस तक पहुँचने का प्रयास करना ही वास्तविक जीवन नहीं है।

मनुष्य जो जीवन को एक अर्थ प्रदान करने के लिए लक्ष्य का निर्माण कर लेते हैं, किन्तु ऐसा करना स्वयं को जीवन से वंचित करना है। अस्तित्व व जीवन के परे एक ऐसी सार्थकता भी विद्यमान है, जो उसका परम लक्ष्य है, यही सोचकर मनुष्य कल्पनाओं के जाल बुनने लगता है, अन्ततः वही जाल उसके जीवन-निर्देशक भी बन जाते हैं।[1]

1. "The man who gives a meaning to life who seeks what he calls the goal of life, is Obviously not living. He wants to find something of greater significance than the very face of existing and living, so he creates a utopia, a speculative formulation of what life should be and according to this he guides his life." J. Krishnamurti, Talks by Krishnamurti in India 1959. K.W. Tne. 1961, p. 26.

आमतौर पर मुक्ति का अर्थ दूसरे लोक में जाने से लिया जाता है, जबकि सच्चाई यह है कि मनुष्य इस पृथ्वी पर, ईश्वर के राज्य का निर्माण कर सकता है। मुक्ति का अर्थ संसार त्याग नहीं, वरन् जीवन संघर्षों से जूझना तथा अन्ततः संसार को सही अर्थों में जान लेना है। अपनी लड़ाई में हर कोई अकेला है, किन्तु इस अकेलेपन से तात्पर्य संसार से पूर्ण बिलगाव नहीं है। इस संघर्ष में मनुष्य को अपने चारों ओर दीवार नहीं खड़ी करनी है, वरन् उसे अपनी एकान्तिकता को खत्म कर अपनी ही सत्ता का सर्वत्र, सभी में, प्रत्यक्षीकरण करना है।

कृष्णमूर्ति प्रश्न उठाते हैं कि क्या आप सोच सकते हैं कि एक सर्वथा लक्ष्यहीन, भविष्यहीन जीवन की अपने में कोई अर्थवत्ता है? वस्तुतः मानव जीवन की सोद्देश्यता का प्रश्न असंगत है। प्रश्न उठता है कि मानव-जीवन उद्देश्यपरक क्यों है? जन्म लेना, मर जाना और फिर नये सिरे से पैदा होना; यह प्रक्रिया तो युगों-युगों से चलती आयी है और चलती रहेगी, किन्तु इस नियतिवादी दृष्टिकोण को स्वीकार कर लेने पर मानव की स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है मानवीय व्यक्तित्व को अपनी गरिमा को पुनर्प्रतिष्ठित करने के लिए इस सच्चाई का सामना साहस के साथ करना होगा।[1] जीवन की जड़ें स्वयं जीवन में ही अन्तर्निहित हैं।

जीवन एक जटिल व विशाल पहेली है, जिसमें सुख एवं दुःख की विपरीत अनुभूतियाँ, विचारों एवं आदर्शों का अन्तर्द्वन्द्व, मनुष्य को सोचने को विवश करते रहते हैं। वह क्या है? कहाँ से आया है? और उसकी नियति क्या है? समस्या जितनी बड़ी है, उतनी ही व्यक्ति को ऊपर उठने की चुनौती है और आगे बढ़ने का उतना ही बड़ा अवसर।

इस प्रकार निरन्तर चुनौतियों से आक्रान्त मन, वर्तमान अनिश्चय की स्थिति से निकलने के लिए ईश्वर की शरण खोजता है, किन्तु कोई भी ऐसी परमशक्ति नहीं, जहाँ पहुँच कर दुःख का विनाश समूल रूप से हो जाए। दुःख का अन्त दुःख को समझने की प्रक्रिया के साथ ही होता है।[2]

1. Krishnamurti J. : Wholeness of Life, K.F.I. 1978, p. 145.

2. "I do Feel That sorrow can be ended. There can be ending to all sorrow; but the ending of sorrow begins with the under standing of sorrow. In the beginning is the end, not in thinking it over and then having sorrow come to an end eventually."

   J. Krishnamurti, Talks by Krishnamurti in India, 1959, p. 68.

जीवन अच्छे व बुरे, यथार्थ व आदर्श के बीच लगातार एक संघर्ष है। हम आदर्शों के अनुरूप अपने को ढालना चाहते हैं और बाधक वृत्तियों से बचना चाहते हैं। मानव मन को आमूल रूपान्तरण की आवश्यकता है और उसे यह कोशिश करनी चाहिए कि वह पुराने सोचने के तरीकों व व्यवस्था को ही उतार फेकें।[1] किन्तु मनुष्य के इतिहास की यह अजीब विशेषता है कि जो भी मुक्ति का संदेश लेकर आता है, मनुष्य उसको ही अपना कारागृह बना लेता है। मनुष्य तथ्यों का सामना करने से घबराता है और शब्दों के जाल में बंध जाता है। परमसत् जिसकी प्राप्ति हेतु वर्तमान चेतना अग्रसारित है, प्रत्यय मात्र नहीं, वरन् स्वयं जीवन ही है। पीड़ा का अनुभव प्राप्त करने के लिए मनुष्य को उस दौर से गुजरना ही होगा, किन्तु परिस्थिति का सामना न कर हममें से अधिकांश लोग घबराकर, पलायनवादी हो स्वयं को आत्म-वंचना में रखते हैं।

आमतौर पर मनुष्य संकीर्ण सीमित 'स्व' को ही अपनी आत्मा समझते हैं और आध्यात्मिक अनुभव को ऐसा समझते हैं, मानों वह हमसे बाहर की कोई वस्तु है; किन्तु एक जीवन्त आत्मा ही ईश्वर है, वही हमारी प्रकृति का मूलस्रोत व आत्मा की पूर्णता की चरम स्थिति है।[2]

मुक्ति ईश्वर की आराधना से नहीं मिलती और न ही स्वयं को दुनिया से अलग रखने से मिलती है। मनुष्य जीवन में जो पा सकता है, जिसे पाने के लिए वह पैदा होता है, वही उससे छूट जाता है। जिसे हम आज तक जीवन समझते आये हैं, वह जीवन नहीं है। हमारा जीवन अज्ञान के अन्धकार से परिपूर्ण है।

प्रश्न स्वाभाविक है कि तब जीवन क्या है? और उस जीवन को जानने व समझने का द्वार क्या है।?

ध्यान आत्म-ज्ञान का सशक्त उपाय है ध्यान कोई बौद्धिक वस्तु नहीं, किन्तु जब यह सम्पन्न होता है तो मन का स्वरूप ही भिन्न हो जाता है।[3] ध्यान की प्रक्रिया द्वारा अपने मन को जो स्वभावतः इन्द्रिय विषयों से जुड़कर चंचल रहता है अन्तर्मुखी करते हैं और अपने में स्थित मूल-चेतना के साथ सम्पर्क साधते हैं। सत्य को जानने के लिए हमें केवल अपने सतह को ही नहीं विस्तृत चौड़ा करना है, वरन् उसे गहराई भी प्रदान करनी है।

---

1. Ibid, p. 78.
2. Ibid, p. 18.
3. कृष्णमूर्ति जे.; ध्यान : कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इण्डिया, राजघाट फोर्ट : वाराणसी 1979, पृ. 4.

भीतर की गहरी अनुभूति – जिसमें समग्रता का बोध वर्तमान है और जो सम्पूर्ण विश्व को अपने में समाहित करने की शक्ति रखती है, ही प्रेम है। किन्तु दुःख की बात है कि हम जिस जीवन से परिचित हैं, वह अर्थहीन खालीपन के अलावा और कुछ नहीं है। जीवन बाहर से भीतर की ओर आता है। बाहर जीवन का विस्तार है, केन्द्र नहीं। हम सब जीवन को बाहर खोजते हैं, फलतः जीवन से वंचित रह जाते हैं। अध्यात्म के नाम पर बाहर का आरोपण चल रहा है, किन्तु अन्तरात्मा को जगाने की चिन्ता किसी में नहीं है। दुनिया या तो भौतिकवादी है या झूठे अध्यात्मवादी। कृष्णमूर्ति ने अध्यात्मवाद को प्रत्ययवाद के रूप में लेते हुए उसका खण्डन किया है। आन्तरिक अनुभूति प्राप्त करना एवं अपनी समस्त इच्छाओं का निराकरण करना ही उनके दर्शन का प्रमुख उद्देश्य है। अच्छे जीवन का सार है : अपने आपको जानना और अपने प्रति सत्य होना। हमें संघर्षों पर विजय शक्ति से नहीं वरन् प्रेम से पानी है। ऐसे विश्वासों को चुपचाप मान लेने से जिन्हें हमारी आत्मा स्वीकार नहीं करती, बौद्धिक ईमानदारी का हनन होता है। जगत् के मूल सत्य को जान लेना, जीवन का अनुभव कर लेना है और जिसे जान लेने पर सम्पूर्ण जगत् परमात्मा में रूपान्तरित हो जाता है।

मानव समाज मानवीय सम्बन्धों के जाल से निर्मित है। मनुष्य के पास चेतना होती है और साथ ही चुनाव करने की क्षमता भी। आत्म चेतना स्वतंत्रता से युक्त होती है। मानव प्राणी अप्रतिम सृजनात्मक आत्मा है जो जगत् की आवश्यकताओं से बंधा नहीं है। मनुष्य स्वतंत्र है – इससे सिद्ध है कि उसमें एक ऐसा तत्त्व है, जो अनिवार्यतः पराधीन नहीं है। मनुष्य अपने कर्मों के लिए स्वतः उत्तरदायी है।

मानवीय प्रकृति अनन्त सम्भावनाओं से युक्त सत्ता है। स्वतंत्र चुनाव की शक्ति ही मनुष्य को भविष्य के लिए आशावान बनाती है। वैयक्तिकता रहित जीवन विश्व को नहीं बदल सकता इससे कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता। जो कुछ व्यक्ति के अन्दर निहित है, वही विश्व की समस्याओं के रूप में बाहर भी प्रक्षेपित होता हैं। अतः व्यक्ति की निजी समस्याएँ ही विश्वजनीन-विश्वव्यापी समस्याओं का रूप धारण कर लेती हैं।[1] क्योंकि मनुष्य के एक सामाजिक प्राणी होने के नाते उसे गैर मानवीय परिवेश व साथी मनुष्यों के

1. "The world Problem is our Problem, because we are the world what the think does affect the world; what we do affects Society the individual Problem is directly related to the world Problem and I don't think we are giving sufficient importance to the Power of individual thinking and action." J.K.; Talks by Krishnamurti in India 1956-57, p. 84.

साथ समझौता करना पड़ जाता है। सम्बन्ध ही अस्तित्व है और सम्बन्धों का ही दूसरा नाम समाज है, परन्तु हमारी वर्तमान सामाजिक संरचना विकृत ढाँचे अन्ततः विकृत मानसिकता पर निर्मित है। सम्बन्ध सह-अस्तित्व पर आधारित होते हैं; किन्तु शोषण युक्त समाज में सह-अस्तित्व का कोई स्थान नहीं शोषण भय का जन्म देता है जो अन्ततः सभी प्रकार के कुण्ठाओं का जन्मदात है।[1] हम केवल शान्ति के क्षणों में ही अपनी स्वतंत्रता की सच्चाई को पहचान पाते हैं, बोध प्राप्ति व महान् क्रान्तियों, सबका जन्म शान्ति के क्षणों में होता है। ऐसे क्षणों में ही मन बन्धनहीनता का अनुभव करता है तथा अस्तित्व के संसार में मौलिक अस्तित्व उतर आता है – प्रेम का मानवीय चेतना में अवतरण होता है और तब आत्महित की स्वीकृति जीवन की गुणात्मकता को बढ़ा देती है।[2] मनुष्य में ईश्वर का ज्ञान तभी सम्भव है जब वह वाह्य अनुभव के संसार से परे हटकर भीतरी यथार्थ में इन शक्तियों का अनुभव करें। मनुष्य अपनी यथार्थ प्रकृति को आन्तरिक पैठ द्वारा ही जानता है। जब व्यक्ति अपनी आत्मा का ज्ञान पा लेता है, वह प्रबुद्ध हो जाता है, हृदय के बन्धन टूट जाते हैं और उसकी परिमितता पीछे रह जाती है।

मनुष्य संघर्षशील होकर ही अस्तित्ववान् होता है। कृष्णमूर्ति दर्शन सतत् संघर्षशील होने की प्रेरणा देता है। हेगेल की ही भाँति कृष्णमूर्ति ने भी चेतना के उच्चतम आयामों के आविर्भाव के लिए संघर्ष की अनिवार्यता पर बल दिया है और अस्तित्ववादी दार्शनिकों ने तो मानव के आन्तरिक प्रदेश की गहन यातनाओं को उन्मुक्त जीवन का प्रवेश द्वारा माना है। एकाकीपन की गहरी अनुभूति के बिना अजनबीपन की गहराती कालिमा से अपनी विमुक्ति को मानव सम्पन्न कर ही नहीं सकता। वह इस जगत् में बिना उन गहराइयों में उतरे, बिना तलीय अनुभूति के वापस भी लौट सकता है – ऐसा क्रिर्केगार्ड ने भी स्पष्ट स्वीकार किया है।

वास्तव में मनुष्य अपने जीवन को स्वयं ही दिशा दे सकता है। हम अपनें रचयिता स्वयं हैं। पीड़ा इसी परिस्थितिजन्य अन्तर्द्वन्द्व का फल है।[3] अतीत वर्तमान में प्रवाहित है और भविष्य वैसा ही बनता है, जैसा कि हम उसे बनाना चाहते हैं। यही हमें बाँधता भी है – अतीत के अतिक्रमण में

1. Krishnamurti J. Commentaries on Living IInd series P. 31.
2. Ibid, P. 31.
3. "Karma is action and action is the outcome of the past. Action cannot be without the conditioning of the background ..... Karma binds the mind the 'me', what I have done in my past life, or only yesterday, holds and shapes me, giving pain or pleasure in the present." Ibid p. 79.

अक्षम बनाता है, फलस्वरूप सुख-दुख के बीच उसका जीवन हिचकौले लेता है।

अस्तित्वादी दार्शनिक सार्त्र की भाँति कृष्णमूर्ति के विचारों के केन्द्र में भी मनुष्य ही स्थापित है, जो अपनी संचेतना के माध्यम से सम्पूर्ण विश्व को अर्थ प्रदान करता है। मनुष्य की संचेतना ही वह मूलबिन्दु है, जिसमें स्थायी स्थिति संभव होती है। विश्व के प्रति सही दृष्टिकोण विकसित करने में अन्ततः उसे आश्वस्त करती है। अनुभूति की इस सम्भावना की व्याख्या हम महर्षि रमण के दर्शन में भी पाते हैं। महर्षि के अनुसार भी विश्व मूलतः मानव केन्द्रित है। अतः किसी भी रूप में मनुष्य में परिवर्तन अन्ततः विश्व को प्रभावित करता है। अतः ऊपर से नितान्त व्यक्तिगत प्रतीत होने वाला संकट भी गहराई में कहीं-न-कहीं से समस्त मानवता से जुड़ा होता है। इसलिए समर्थ बौद्धिक व्यक्तित्व की पहचान इसी बात में है कि वह नितान्त सामान्य सी घटना को किसी प्रकार वृहत्तर मूल्यों के साथ जोड़ता है। मनुष्य की चेतना जितनी अधिक विकसित होगी – यानी संवेदनशील होगी – संकट का बोध उसके लिए उतना ही तीव्र होगा। संकट का यही भाव उसे जीवन के प्रति उत्तरदायी बनाता है। उसके संकट का कोई अनुभवातीत समाधान नहीं हो सकता।[1]

मनुष्य स्वतंत्र है और अपने कार्यों के लिए स्वयं ही उत्तरदायी है, किन्तु उन्मुक्त स्वतंत्रता का दर्शन भी अनेक भ्रान्तियों से युक्त है। उन्मुक्त स्वतंत्रता का दर्शन अपनी मूल-प्रवृत्ति में सत्ता के प्रति व्यक्ति का रूमानी विद्रोह ही होता है, विशेष रूप से उस स्थिति में जब इकहरी व क्रूर व्यवस्था में व्यक्ति स्वयं को अजनबी समझने लगता है और अपने 'विलक्षण' होने की चेतना पर अंकुश महसूस करता है, तो सपनों व कल्पना-चित्रों के माध्यम से स्वयं को सम्पूर्ण व्यवस्था व उसकी अपेक्षाओं से मुक्त कर लेता है।[2]

कल्पनाओं के जगत् में मुक्त महसूस करने वाले व्यक्ति के व्यवहार व समझ, आम लोगों से इतनी दूर व अपरिचित हो जाते हैं कि कालान्तर में वह स्वयं इस स्थिति को सहन नहीं कर पाता। अन्ततः विद्रोह के सारे औचित्य के

---

1. "Fear and reality cannot exist together. One destroys the other. But it is one of the illusions of the mind that creates the hope of something beyond its darkness. This something, this hoped for reality, is another from of refuge, another escape from sorrow. The mind perpetuates its own conditioned state through fear."

   Revised Report of 14 Talks by Krishnamuri, Omman Camps, 1937, S.P.T. 1938, P. 20.

2. Krishnamurti J. Freedom from the known, p. 68.

बाद भी व्यवस्था की इस लड़ाई में हारता व टूटता मनुष्य ही है, पर कुछ स्थायी रूप से बदलता नहीं। साथ ही इस तरह अलग अथवा असामान्य होते चले जाने का अपराध-बोध आगे चलकर आभिशप्त नियति से मुक्ति की आकांक्षा में बदलने लगता है और अवचेतन का दबाव, संस्कारों की यह प्रवृत्ति व्यक्ति को आध्यात्मिक लोक में अवस्थित करती है। कर्म से बचकर व्यक्ति की इच्छा होने लगती है कि कोई दिव्य-शक्ति तथा अदृश्य-व्यवस्था उसे आभिशप्त नियति से मुक्ति दिलाये।

फलस्वरूप आज का मनुष्य अपने को परम्परा से कटा हुआ, भविष्य के प्रति निराश और वर्तमान में विसंगतियों से घिरा पाता है। समूची अस्तित्ववादी दृष्टि, जिसका जे. कृष्णमूर्ति प्रतिनिधित्व करते हैं और जो भारतीय परम्परा के अनुरूप है, भीड़ के विरुद्ध, जीवन की उस प्रवृत्ति के विरुद्ध, जो जीवन को व्यक्ति स्तर से हटाकर, उसे एक वस्तु के स्तर पर ले आना चाहती है, के विरोध में है। इस वृत्ति पर विजय केवल मनुष्य में निहित गरिमा को पहचान कर ही की जा सकती है।

आध्यात्मिक व नैतिक जीवन-मूल्यों के ह्रास के इस दौर में जे. कृष्णमूर्ति एक ऐसी ही दृष्टि लेकर उपस्थित होते हैं, जो युगीय चिन्तन की माँग है, कृष्णमूर्ति समग्र क्रान्ति के समर्थक हैं और अपने वेदान्ती दृष्टिकोण से उन्होंने जीवन व जीवन की समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया है। साथ ही उन्होंने स्वामी विवेकानन्द की भाँति धर्म तथा अध्यात्म सम्बन्धी पूर्व विश्वासों एवं परम्पराओं की कटु आलोचना भी की है।

मानवीय दृष्टि की अपूर्णता ही उससे एक सतही जीवन क्रान्ति की अपेक्षा करती है। हम सभी आध्यात्मिक क्रान्ति की आवश्यकता से परिचित तो हैं किन्तु उसके प्रति जागरुक नहीं।[1] कृष्णमूर्ति मनुष्य में अपनी समस्याओं के प्रति जागरुकता उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं, न कि उनका समाधान स्वयं देते हैं। इस क्रम में वे परम्परा का स्पष्ट विरोध भी करते हैं, किन्तु ऊपर से देखने पर उनके विचार नितान्त परम्परा-विरोधी होते हुए भी परम्परा के ही मूल स्वर को स्वयं में छिपाए हैं। भारतीय संस्कृति की महानता को स्वयं कृष्णमूर्ति ने स्वीकार किया है। कृष्णमूर्ति भारतीय दर्शन धार्मिक दृष्टि की तुलना उस विशाल वृक्ष से करते हैं, जो तपते सूर्य की किरणों से रक्षा कर

1. Krishnamurti J.; Talks by J.K. Jan. June 1960 K.W. Ine. 1961, P. 82.

पथिकों को विश्राम देता आया है, किन्तु परिवर्तन की माँग उस वट वृक्ष को भी अपेक्षित है। सदियों से प्रश्रय देता आया धर्म अब अपनी विशालता को खोने लगा है। समय के निरन्तर आघात सहन करते-करते वृक्ष अब जर्जर हो चला है। उसकी पत्तियाँ झर चुकी हैं और अब वह सूर्य के ताप से पथिक की रक्षा करने में असमर्थ है। ऐसी अवस्था में उसे नवीन जीवन प्रदान करना ही होगा।[1]

किन्तु समस्या धर्म अथवा धार्मिक जीवन की वास्तविक परिभाषा को लेकर है। व्यक्ति के दृष्टिकोण के नितान्त भौतिकीकरण ने धर्म को व्यावहारिकता के स्तर पर एक जीवन्त जीवन-शैली के रूप में नहीं लिया जाएगा, तब तक कोई भी व्यक्ति अथवा समुदाय धर्मिक होने का दम्भ नहीं भर सकता।[2]

कृष्णमूर्ति धार्मिक सुधार की बात व्यष्टि के स्तर से करते हैं, क्योंकि मनुष्य सृजनात्मक क्षमता से सम्पन्न है। मनुष्य जीवन के शाश्वत् मूल्यों के संदर्भ में समाज की नयी दिशाएँ निर्धारित कर सकता है। स्पष्ट है कि वह दिशा परम्परा के विपरीत न होगी, उसे समृद्ध करने वाली तथा आगे बढ़ाने वाली होगी।[3]

निष्कर्षतः, यह कहा जा सकता है कि क्रान्ति एवं विद्रोह से आक्रान्त इस युग में मनुष्य परायेपन के दुःख बोध से पीड़ित है। वह व्यक्ति से, समाज से, स्वयं को जोड़ सकने में सर्वथा अक्षम महसूस कर रहा है। इसी को आज की पदावली में 'एलियेनेशन' कहते हैं। वस्तुतः जीवन की सुव्यवस्था के लिए जीवन व मानस की समन्वित अभिव्यंजना आवश्यक है। सन्तुलित आध्यात्मिक प्रगति तभी संभव है, जब व्यक्ति जीवन की सामान्य इच्छाओं से ऊपर उठते हुए, अन्तस की गहराईयों में उतरते हुए, समग्र बोध को प्राप्त करें, क्योंकि वही उसके जीवन के अंधेरे को आलोकित करने की शक्ति रखता है। इसी में उसकी विमुक्ति भी है।

---

1. In India religion is like a vast tree with its roots and branches spreading all over, giving protection from the burning sun, giving shade and shelter and comfort. But that great tree has begun to shed its leaves and it no longer affords us the same protection; the rays of the sun penetrate through the branches and scorch us. The tree of life no longerti gives us the same shade as of old; the fruits of religion no longer satisty the intelligence or the emotions." J. Krishnamurti Temple Talks, S.P.T. 1927, P. 7.
2. Ibid, P. 16.
3. Ibid, P. 24.

निसंदेह युगीय विशेषता के रूप में मनुष्य की स्वतंत्रता केन्द्रीय है। मनुष्य सुरक्षा स्थायित्व भी करता है, किन्तु अस्थायित्व की सीमा में उलझ कर रह जाता है। जीवन की सभी उपलब्धियाँ अशाश्वत् हैं। फिर उस शाश्वत् के माध्यम से शाश्वत्, कालहीन सत्य को कैसे प्राप्त किया जा सकता है। जे. कृष्णमूर्ति कहते हैं कि अशाश्वत् का ठहराव या विराम ही शाश्वत् है और यही शाश्वत् आत्मा है। अन्य भारतीय दृष्टियों में भी आत्मा के सम्बन्ध में इसी प्रकार की युक्ति प्रस्तुत की गयी है योगवशिष्ठ में कहा गया है : अशाश्वत् चित्तवृत्तियों का निरोध ही शाश्वत् आत्मा का बोध है।

पाश्चात्य दर्शन में एक विभिन्न युक्ति के द्वारा आत्मा के सम्बन्ध में आश्वस्त हुआ गया है : वह संदेहातीत है, क्योंकि समूची सन्देह की प्रक्रिया इसकी स्वीकृति पर आधारित है। डेकार्ट का यही कहना था। वह सम्पूर्ण ज्ञान की प्रक्रिया का अधिष्ठान है : यह काण्ट की विशिष्ट दृष्टि भी है और दोनों ही दार्शनिकों ने इन विचारों द्वारा दार्शनिक जगत् में क्रान्ति का सूत्रपात किया था। चिन्तन व तर्कना के स्तर पर आत्मा के सम्बन्ध में हमें पूर्णतः आश्वस्त करने के ये प्रयास सराहनीय है, पर भारतीय दृष्टि तो इससे भी आगे जाकर अनुभूति के साक्ष्य के आधार पर इसके सम्बन्ध में हमें आश्वस्त करती है।

अस्तु, आत्म-साक्षात्कार ही जीवन की अन्तिम नियति है। भारतीय दर्शन में मानव को आत्मा के रूप में स्वीकार किया गया है, जो अपनी संभावनाओं की दृष्टि में अपरिमित व सर्वोच्च है और इसी सम्भावना को ईश्वर, सत्य, दिव्यता आदि नामों से अभिहित किया गया है। यहाँ कृष्णमूर्ति भारतीय दर्शन के अत्यन्त निकट आते प्रतीत होते हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य के अतिरिक्त ईश्वर कहीं नहीं है। मानव के अस्तित्व का सर्वोच्च रूप उसकी दिव्यता में है और इसकी प्राप्ति उसे तब होती है जब उसकी चेतना वैयक्तिकता को विलीन कर सार्वभौम चेतना में परिणत हो जाती है। यही जीवन का पूर्णत्व है। आत्मज्ञान ही अन्ततः पूर्णत्व है, विशुद्ध बोध है, जिसके लिए हमें सभी प्रकार की पूर्व मान्यताओं एवं पूर्वाग्रहों से मुक्त होना होगा। जे. कृष्णमूर्ति का प्रखर चिन्तन पूर्वाग्रहों अथवा युग-मूल्यों पर तीखा प्रहार करता है। उनकी दृष्टि में आदर्श एक छद्म है। वे मुक्त मन पर अत्यन्त बल देते हैं तथा नित्य परिवर्तनशील जगत् में सत्य की खोज को ही मानव जीवन की चरम आकांक्षा स्वीकार करते हैं।

संवाद के झरोके से : दार्शनिक निष्कर्षों को प्रस्तुत करने का अन्यतम प्रयास

– डॉ. (श्रीमती) लक्ष्मी सक्सेना

एक अत्यन्त ही रोचक बातचीत के दौरान कृष्णमूर्ति जीवन के एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर प्रकाश डालने की चेष्टा करते हैं : वे ईसाई धर्म के परिप्रेक्ष्य में प्रश्न करते हुए कहते हैं : क्या शुभ एक निरपेक्ष सत्ता है? और इसी प्रकार की, जैसी एक निरपेक्ष सत्ता है? क्या 'पाप' नाम की कोई ठोस वस्तुगत सत्ता है? और यदि है तो इन सभी का स्वरूप क्या है? या फिर ये दोनों शुभ तथा अशुभ सापेक्ष सत्तायें हैं? ठीक उसी प्रकार जैसे हम किसी छड़ी के मध्यम बिन्दु से चलना आरंभ करें और उसके किसी एक छोर तक धीरे-धीरे पहुँच जायं, तो हमें उस बिन्दु पर "शुभ" अथवा "अशुभ" का स्पष्ट एहसास होगा। कहने का आशय यह है कि यदि एक छोर के अंतिम बिन्दु पर शुभ स्थित होगा तो दूसरी ओर अशुभ। दोनों संबंद्ध सत्तायें हैं और जिस अनुपात में उनमें किसी भी एक मूल स्वर का दूसरे की तुलना में प्राधान्य होगा वे शुभ अथवा अशुभ कहलायेंगी। आंतरिक संरचना की दृष्टि से वे सभी दोनों स्वरों की मिश्रित अभिव्यंजनायें हैं।[1] इसीलिए उन्हें सापेक्ष सत्तायें ही कहा जाता है। पर ईसाई धर्म के अनुयायी दोनों को ही निरपेक्ष सत्ताओं के रूप में प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि जिन्होंने उसकी सच्चाइयों को, उसके विश्वास को नकारने की कोशिश की, उन्हें जिंदा जला दिया गया। शुभ के निरपेक्ष रूप में उनकी इतनी जबरदस्त आस्था थी कि इस प्रकार की हिंसा भी उन्हें अनुचित नहीं लगी। धार्मिक उन्माद का इससे बेहतर रूप हमें और कहाँ मिलेगा?

ईसाई धर्म में निरपेक्ष सत्ता के रूप में शैतान (Satan) को स्वीकार किया गया है जो बुरे कार्यों को करने के लिए हमें बराबर प्रेरित करता रहता है। वह हमारे सभी पापों के मूल में हैं और वह निरंतर ईश्वरीय आदेशों के विपरीत कार्य करने के लिए हमें प्रेरित करता है। ईसाई धर्म का विश्वास है कि हमारे वर्तमान अभिशप्त जीवन के मूल में इसी का हाथ है और दयालु परम पिता ने पापों से मुक्त करने के लिए ईसा-मसीह को, अपने प्रिय पुत्र को इस धरती पर भेजा था। उनके त्याग एवं कष्टों की कहानी हमें सदैव याद रखनी चाहिए। उनके पथ पर चलने की हमें बराबर कोशिश करनी चाहिए, ताकि कालान्तर में हम परमेश्वर की असीम कृपा पाकर अपने जीवन को सार्थक बना सकें। इसी के साथ हमारे पूर्वाग्रहों तथा विश्वासों के एक अन्य रूप की ओर हमारा ध्यान

1. "Two ends of the same stick or are they wholly separate things? The Christian world, the Inquisition used to burn people for heresy considering that was good" J. Krishnamurti. The awakening of Intelligence, Avon books 1973. P. 107.

आकर्षित करते हुए कृष्णमूर्ति कहते हैं कि धर्म की ही बंदिशे हमारे जीवन की बंदिशें नहीं होती। बहुत सारी और प्रकार की बंदिशें भी होती हैं "जिनसे हमारा चिंतन और जीवन दोनों ही प्रभावित होते हैं। हमें इन सभी से ऊपर उठते हुए जीवन की सच्चाइयों को देखना चाहिए, तभी हम सही मायने में हम कल्याण-पथ पर अग्रसर हो सकेंगे अन्यथा इनसे सृजित-मिथक हमें बराबर गुमराह करते रहेंगे।

ये बंदिशें देश की संस्कृति की हैं, परिवेश की हैं और उन आर्थिक परिस्थितियों की हैं, जिनमें रहकर ही हम बड़े होते हैं। अतः इन बंदिशों से ऊपर उठे बिना हम कैसे चीजों को सही प्रकार से देख और समझ सकते हैं?"[1] इसलिए जे. कृष्णमूर्ति संवाद-शैली के माध्यम से अपने विचारों को प्रस्तुत करना चाहते हैं, जिनमें वे स्वयं तो शामिल हैं ही एक अमरीकी जिज्ञासु को भी शामिल कर लेते हैं जो न केवल मौन रूप से उनके प्रयास में शामिल हैं, बल्कि उनके प्रश्न तथा उसके उत्तर को ठीक प्रकार से रूपायित करने की कोशिश कर रहे हैं। ये हैं एलेन नॉडी। शुभ के प्रश्न को पुनः सजीव करते हुए कृष्णमूर्ति कहते हैं : क्या अंततः शुभ ईश्वर से जुड़ा हुआ तो नहीं है? क्या वह ईश्वरीय गुणों को प्रकाशित करने वाली सच्चाई तो नहीं है? और फिर एकाएक वे सतर्क होकर कहते हैं : क्या इन प्रश्नों के साथ, जीवन की जीवंत सच्चाई से हम दूर तो नहीं होते जा रहे हैं? क्या हम कोरी बौद्धिक कल्पनाओं में तो नहीं भटक रहे हैं?

बुद्धि की अपनी सुनिश्चित सीमायें हैं? और अपना एक प्रयोजन भी। विज्ञान तथा तकनीकी की उपलब्धियाँ हमारे सामने इसका अद्‌भुत साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं। हम चाँद तक हो आये हैं और हृदय में बहुत कुछ पाने की आस लगाये बैठे हैं। हम इस सब की महत्ता को नकार नहीं सकते। पर जिन प्रश्नों का हल हम यहाँ ढूँढ रहे हैं यह सही है कि सामान्यतः हम बुद्धि के द्वारा ही वस्तुओं को जानने की चेष्टा करते हैं। पर क्या इससे बेहतर कोई और तरीका नहीं है जिससे हम चीजों को सही प्रकार से समझ सकें? स्पष्ट है, कि तब हमें प्रश्नों को नए ढंग से प्रस्तुत करना होगा ताकि उत्तर की प्राप्ति हमें नितांत सहजता के साथ मिल सके। प्रश्नों को नए प्रकार से पेश

1. "Is goodness dependent on the environment, on the culture, on economic conditions? And if it is, is it good? Can goodness hower as an environmental, cultural conditioning? And is evil also the result of environmental culture? Does it function within that framework or does it function outside it." Ibid, p. 108.

करते हुए कृष्णमूर्ति कहते हैं क्या हमारे भीतर कोई ऐसी अंतरंग व्यवस्था (order) नहीं है कोई जो संपूर्ण भी है और निरपेक्ष भी? और क्या इसी नाते इस संसार की भी कोई ऐसी अंतरंग व्यवस्था नहीं है जो संपूर्ण भी हो और निरपेक्ष भी। वे हमें इस बात का भी स्मरण कराते हैं कि मुझमें और मेरे संसार में एक प्रकार की तद्‌ता स्थापित है और इस नाते मैं ही यह संपूर्ण संसार हूँ और अंततः यह संसार भी 'मैं' ही हूँ।' और इस तद्‌ता से इसलिए भी इंकार नहीं किया जा सकता है, क्योंकि मेरे व्यवहार द्वारा ही इस संसार की रचना होती है। कहने का आशय यह है कि जब मुझमें विद्यमान यह व्यवस्था, यह अनुपम संगति, (harmony) मेरे ही व्यवहार द्वारा इस संसार को भीतर से रूपांतरित कर देती है, तो यह संसार जिस प्रकार रंजित हो जाता है, वह शब्दों में व्यक्त नहीं हो सकता। अतः यह व्यवस्था, यह अंतरंग संगति तब कैसे अपूर्ण हो सकती है? और यह सम्पूर्ण इसलिए भी है कि उसमें जीवन के सभी तत्त्वों, यथा, शरीर, प्राण, मन तथा बुद्धि का सहर्ष योगदान होता है; सभी तत्त्वों की वह समन्वित अभिव्यंजना है जैसे संगीत में हमें सभी सात स्वरों की समन्वित अभिव्यक्ति मिलती है।

पुनः प्रश्न करते हुए कृष्णमूर्ति कहते हैं : क्या यह व्यवस्था निरपेक्ष है? और यदि है तो किस प्रकार की वह निरपेक्षता है? और क्या वह व्यवस्था अनुकरणीय है?

इस दूसरे प्रश्न को पहले लेते हुए वे कहते हैं कि वह अनुकरणीय नहीं है।[1] उसे किसी 'प्लान' के अनुसार प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है जैसे कि हम किसी पुल, भवन आदि वस्तुओं का पहले एक प्लान बनाते हैं, फिर उसी के हिसाब से ब्रिज या भवन का निर्माण करते हैं। ऐसा यहाँ इसलिए संभव नहीं है, क्योंकि इस 'व्यवस्था' का संबंध बुद्धि से नहीं होता। क्षणों में ही हम तलीय-अनुभूति[2] के रूप में इसका अनुभव करते हैं। अनुभूति के कुछ क्षणों में ही हम यह जान लेते है कि हमें कुछ अनमोल की प्राप्ति हो गई है। कृष्णमूर्ति कहते हैं आप यहाँ एक प्रश्न कर सकते हैं कि इसका प्रमाण क्या है?

1. Is goodness which is order and virtue, is it the product of thought? Which means can it be cultivated by thought. Can virtue ever be cultivated?...." Ibid, p. 110.

   "Order is not a thing put together in thought; if it is, then it is according to a blue-print, but if it is imitated then the imitation leads to disorder or to conformity – Conformity, imitation and the denial of what is, is the beginning of disorder leading ultimately to what may be called evil.

2. Fontal consciousness or consciousness of the depths.

उत्तर में वे कहते हैं कुछ भी नहीं? क्योंकि यह अनुभूति स्वतः सिद्ध अनुभूति है। सूर्य के प्रकाश की तरह वह अपनी उपस्थिति को स्वतः व्यक्त कर देती है। उसके लिए किसी युक्ति की आवश्यकता महसूस करना बेमानी है, पूर्णतः निरर्थक है।

और यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि यह किसी 'प्लान' के अनुसार योजना-बद्ध तरीके से ही प्राप्त होने वाली चीज़ है, तो इस स्वीकृति के परिणाम अप्रिय ही होंगे। हमें न जाने कितनी विसंगतियों का सामना करना पड़ेगा। क्योंकि या तो वह अभिव्यंजना 'प्लान' के अनुरूप है या फिर नहीं है। यदि वह सही अनुकृति होती है, तब तो हमें अपनी उपलब्धि पर प्रसन्नता होगी। पर यह संभावना शायद ही कभी यथार्थ होती है। प्रायः अनुकृति तो अनुकृति ही होती है और इस नाते उसमें हमें कमियाँ ही नजर आयेंगी। और उन कमियों का एहसास सदैव अप्रिय ही होगा,[1] और हृदय को वह बराबर कचोटता ही रहता है। अपने विचारों को स्पष्ट करते हुए कृष्णमूर्ति कहते हैं : यह 'व्यवस्था' जिसे हम शुभ कहते हैं किसी कालाधीन प्रक्रिया द्वारा उपलब्ध होने वाली चीज नहीं है, न ही वह कोई "अमूर्त" प्रत्यय ही है, जो बुद्धि के प्रयासों द्वारा यथार्थ होता है और न ही वह किसी कालातीत संसार का ही निवासी है। वह तो एक ऐसी अनमोल 'अनुभूति' है जिसे मानवीय व्यवहार में साकार होना है, और यह अनुभूति हमें उस समय होती है जब हम अपनी तलीय चेतना के स्तर पर स्थित होकर दूसरे का आह्वान करते हैं, और वह भी उसी स्तर पर स्थित होकर हमें मौन तथा निःशब्द होकर स्वीकार करता है। इस तलीय-स्तर के भावनात्मक आदान-प्रदान में हमें सच्चे जीवन का एहसास होता है और हमारी व्यावसायिक बुद्धि का सर्वथा लोप हो जाता है, और सभी को अपने में समाहित करने वाली चेतना का जन्म। अपने विचारों को गति देते हुए कृष्णमूर्ति कहते हैं कि दोनों प्रकार की संगतियों में स्पष्ट अंतर है। एक में हम जो कुछ भी करते हैं उसमें केवल अपनी ही सुरक्षा का ध्यान रखते हैं। और दूसरे में इसका प्रश्न ही नहीं उठता। सहजता के साथ व्यतीत किया हुआ जीवन तथा योजनाबद्ध-जीवन में आमूल अंतर है। जीवन स्वतः स्फूर्त होता है। उसमें बुद्धि का प्रवेश ही नहीं होता, क्योंकि जहाँ भी

1. "So is order something put together according to a design drawn by knowledge by thought? Or is order something outside the field of thought and knowledge? One feels there is absolute goodness not as an emotional concept, but one knows if one has gone into oneself deeply, that there is such a thing, complete, as a absolute, irrevocable goodness or order." Ibid, p. 110.

बुद्धि का किसी प्रकार का नियंत्रण होता है, वहाँ हममें किसी न किसी रूप में कुछ पाने तथा कुछ बनने की चाह अवश्य नजर आती है। हमारे जीवन में कुछ आदर्श होते हैं जो अपने तरीके से हमें ढालते हैं। इनके तहत व्यतीत किया हुआ जीवन हमें अनमोल दिखाई देता है। यदि इनके पालन में कुछ कमी रह जाती है, तो पश्चाताप की अग्नि में हृदय बराबर झुलसता रहता है, क्योंकि अपनी भूल से उबरने का संभवतः यही एकमात्र उपाय प्रतीत होता है। आदर्शों की स्वीकृति और उनके अनुरूप जीवन ढालने का प्रयास एक संघर्षरत चेतना का लक्षण है। ऐसी स्थिति में मनुष्य के लिए स्थिरता, शांति एवं संगति की स्थापना की संभावना दूर-दूर तक नज़र नहीं आती।

पर-करणीय-अकरणीय के बीच भटकता या झूलता हुआ जीवन वस्तुतः जीवन नहीं है। इस बात को अनेक प्रसंगों में कृष्णमूर्ति ने स्पष्ट करने की चेष्टा की है। एक संघर्षरत चेतना विसंगतियों का सृजन करती है, संगति का नहीं।[1]

हम मन से पवित्र हों। दूसरों के प्रति आत्मीयता का सहज भाव हो, दया एवं करुणा हो, यही काफी है दूसरो को कुछ देने के लिए। इसी को आप्त-जीवन कहा जा सकता है, और संभवतः इसी दृष्टि से कृष्णमूर्ति कहते हैं कि आदर्शों के अनुरूप जीवन व्यतीत करने की आकांक्षा महत्त्वपूर्ण नहीं है। क्योंकि ये आदर्श भले ही हममें सुरक्षा की भावना का सृजन करने में सफल हो जांय, हममें सहज प्रीति, सहज करुणा एवं सहानुभूति विकसित करने में निश्चित ही सक्षम नहीं हैं। और सुरक्षा की स्थिति बौद्धिक स्तर पर भले ही हमें संतुष्ट करे, वह जीवन को उसका पूर्ण संतोष देने में सर्वथा अक्षम है।

एक पूर्णतः स्वतंत्र, बंदिशों से मुक्त प्राणी के रूप में जीवन जीने का एहसास तभी संभव है जब हम उन सभी प्रभावों से अपने आपको एकबारगी मुक्त कर लें, उन सभी प्रभावों की गिरिफ्त से अपने को बाहर कर लें, जिनका पहले ही जिक्र किया गया है। पर क्या यह संभव है? क्या यह संभव नहीं कि इन प्रभावों से ऊपर उठने की हमारी सारी कोशिशें नाकामयाब हो जांय? या फिर हमें अंशतः ही सफलता मिले और वह भी एक भ्रांत-स्वतंत्रता की।

---

1. "The moment your life is planned according to a pattern, then you are not living, you are merely conforming to a certain standard and therefore that conformity leads to contradiction in oneself. So order I, virtue, goodness, is in the moment of the now. And therefore it is free of the past." Ibid, p. 112.

जिन बंदिशों एवं नियंत्रणों से हमें बाहर आना है उनमें महत्त्वपूर्ण हैं – माता-पिता तथा गुरु-वृन्दों का शिशु-मन पर प्रभाव, उस देश की संस्कृति एवं परिवेश का प्रभाव जो बराबर हमें अपने रूप में ढालता रहता है, और वे आर्थिक स्थितियाँ जिनमें हम जीवनयापन कर रहे हैं, जिनमें हमने सांस लेना सीखा है। ये सभी प्रभाव हमें सूक्ष्म रूप से प्रभावित करते रहते हैं; ये हमारे शरीर, प्राण, मन तथा बुद्धि को इस प्रकार प्रभावित करते रहते हैं कि इनसे बाहर आना अंसभव दीखता है। संभावना तो इस बात की ही होती है कि इनसे उबरने के बजाय कहीं हम बहुत गहरे इनसे जुड़ न जाये।

कृष्णमूर्ति में विद्यमान इस स्वर को पकड़ते हुए नॉडी कहते हैं कि कहीं आप यह तो नहीं कहना चाह रहे हैं कि स्वतंत्रता की प्राप्ति किसी योजना-बद्ध कार्य-शैली से नहीं हो सकती?[1] और इसके अतिरिक्त संभवतः आय यह भी कहना चाह रहे हैं कि 'स्वतंत्रता' में ही जीवन का आरंभ होता है, क्योंकि वह वर्तमान की ही, यही नहीं, अभी, इसी समय (now) की अनुभूति है।

विचारों को गति देते हुए वे कहते है कि इसी कारण वह भविष्य में होने वाली कोई घटना विशेष नहीं है। वह एक आह्लादकारी, आनंद-रूप अनुभूति है जो मानवीय व्यवहार में ही अभिव्यक्त होती है, मानव का मानव से तलीय स्तर पर का यह आदान-प्रदान जिसका दायरा परिचित और प्रिय ही नहीं बनाते, बल्कि जो अपनी परिधि में 'अनजान' को भी ले आते हैं। अन्य शब्दों में, वह व्यवहार सभी के लिए एक जैसा ही होना चाहिए – स्नेहिल और आत्मीय। नॉडी के प्रश्न के उत्तर में कृष्णमूर्ति कहते हैं : कि "यह अनुभूति इसलिए संभव है क्योंकि हम भीतर से एक हैं; क्योंकि मैं ही यह संसार हूँ और यह संसार ही मैं हूँ तथा मेरी चेतना ही विश्व की चेतना है।" इस प्रकार की एकता के बिना यह तलीय अनुभूति असंभव होती, पर यह तो हमारे जीवन की एक जीवंत सच्चाई है। नॉडी जिस अनुभूति को तरल एवं अग्राहय मानते हैं, वस्तुतः वह न तो तरल है और न ही अग्राह्य : वह तो मानव जीवन की अन्यतम सच्चाई है जिससे जीवन पूर्णतः बदल जाता है। करुणा, सच्चाई, संगीत, व्यवस्था और स्वतंत्रता, ये सभी उसी सच्चाई को व्यक्त करने वाले शब्द हैं। ये शब्द जिस अनुभूति को शब्दबद्ध करते हैं – वह जीवन की कोई तरल और अग्राह्य अनुभूति नहीं है, वरन् उसकी एक ऐसी जीवंत वास्तविकता है जिसे नकारा नहीं जा सकता

1. So that "Slow discarding may appear orderly, but it is not : because the slow peeling off of conditioning may temporarily give the appearance of freedom but is not absolute freedom" Again, "Freedom, order or goodness is now which expresses itself in behaviour." Ibid, 113.

है, क्योंकि उसे नकारने का अर्थ स्वयं अपने को नकारना होगा।[1] अतः जीवन की वह एक निरपेक्ष सच्चाई है, इसमें संदेह नहीं।

प्रश्न यह है कि तब अशुभ से उसका क्या संबंध है? स्पष्टतः कोई भी भावात्मक संबंध नहीं है। किसी से हमारा झगड़ा हो गया है। हमने उससे बदला लेने की ठानी है। मन में गांठ सी बन गई है। इंतकाम की आग में हम जल रहे हैं। भावी संघर्ष की संभावना स्पष्ट दिखलाई दे रही है।

पर यदि हम सब कुछ भूलने के लिए तैयार हो जाये, तो माहौल ठीक हो सकता है : एक शब्द "माफ कीजिए" काफी है इसके लिए। दूसरा व्यक्ति भी सभी कुछ भूल सकता है, संभवतः भूलने को तैयार बैठा है। और केवल अपना रुख बदलने से स्थिति सुधर सकती है; तनाव समाप्त हो सकता है।

इंतकाम की चाह स्पष्टतः एक हिंसात्मक (Violent) वृत्ति है और वह एक उदार वृत्ति द्वारा शांत हो सकती है। इन दोनों में अर्थात् उदारता एवं हिंसात्मक वृत्ति में तब किस प्रकार का संबंध हो सकता है?[2] स्पष्टतः कोई भी नही। पर यदि संबंध है भी तो वह शुद्ध निषेधात्मक संबंध ही है - ठीक उसी प्रकार का जैसे जब भ्रांति का निराकरण होता है तो भीतर से प्रकाश स्वतः फूट पड़ता है। तब क्या अशुभ किसी भी अर्थ में निरपेक्ष नहीं हो सकता है? ईसाई-धर्म ने शैतान के रूप में और सभ्य समाज ने युद्ध के रूप में, अर्थात् "व्यवस्थित-अव्यवस्था" (organized disorder) के रूप में इसके अस्तित्व को स्वीकार किया है। और इसी के साथ इसके सभी रूपों को अमंगलकारी कहा है, क्योंकि इससे समाज के अस्तित्व को ही अंततः बनाए रखना असंभव हो जाता है।

---

1. "When one realizes that it is vital, in that realization for every body, for everything Freedom is this compassion, which is not disincarnate as the idea....." Ibid. p. 113.

   "My relationship is only in the now, not in the past, because if my relationship is rooted in the past, I am not related now. So freedom is compassion and that comes when there is the real, deep realization that I am the world." Ibid, p. 113-114.

2. "Yes, put it round the other way : The negation of the grudge, the negation of violence, and the negation of the continuity of violence — that negation is good." Ibid, p. 115.

   "The good is always intact, the emptying of violence is the negation of the good. So what is the relation between violence and goodness? Obviously none at all." Ibdi, p. 117.

यही नहीं, कृष्णामूर्ति कहते हैं अशुभ को जन्म देने वाला तथा उसे पोषित करने वाला संकल्प, जो इस प्रकार के सभी व्यवहार के मूल में हैं, वस्तुतः परम अशुभ है। तभी नॉडी एक चुनौती भरे स्वर में उनसे प्रश्न करते हैं : तब क्या "शुभ" को व्यक्त करने वाला संकल्प भी उतना ही अमंगलकारी नहीं है जितना कि अशुभ को व्यक्त करने वाला संकल्प? क्योंकि संकल्प तो संकल्प ही है, चाहें वह अमंगल के मूल में हो अथवा मंगल के?[1] (The will to do good, the will to be good) यह हम सभी को चौकाने वाला स्वर है, पर कृष्णमूर्ति के लिए नहीं है। इस अप्रत्याशित प्रश्न का उत्तर देते हुए कृष्णमूर्ति कहते हैं, कि यह सही नहीं है क्योंकि शुभ की प्राप्ति किसी संकल्प के अधीन नहीं होती। व्यक्ति अपने स्वभाव से ही अच्छा या बुरा होता है। अतः यह कहना कि व्यक्ति अपने प्रयासों से, अंततः अपने संकल्प से अच्छा या बुरा होता है सर्वथा अनुचित है, बेमानी है।

संकल्प वस्तुतः बुद्धि की ही प्रतिरोधक शक्ति है। हम संकल्प का प्रयोग उन चीजों को हासिल करने के लिए करते हैं, जो हमें प्राप्त करनी हैं। "शुभ" तो हमारा अपना स्वरूप ही है, जिसे व्यक्त होना है, और जिसकी अभिव्यक्ति में बुद्धि का लेशमात्र भी योगदान नहीं है।[2]

अपने विचारों को गति देते हुए कृष्णमूर्ति कहते हैं कि संसार का सबसे बड़ा पाप, सबसे बड़ा अशुभ तो यह विश्वास है कि 'अशुभ' ईश्वर के समकक्ष एक उतनी ही शक्तिशाली सत्ता है। ईसाई धर्म के इसी केन्द्रीय - विश्वास से इस संवाद का आरंभ हुआ था। यह विश्वास निराधार है। वह हमारे पूर्वाग्रहों पर आधारित है जिनसे हमें जल्दी ही मुक्त हो जाना चाहिए, क्योंकि ये हमें गुमराह करने वाले हैं। एक और बात की ओर कृष्णमूर्ति हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए कहते हैं कि इस संसार का सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि कालान्तर में अशुभ पराभूत हो जाता है। तब किस प्रकार वह स्वतंत्र एवं निरपेक्ष हो सकता है?

इसी के साथ प्रकृति के ऐसे अनेक रूप हैं जो देखने में भयंकर दिखाई देते हैं। भारतवर्ष में ही बड़े-बड़े कांटों वाली झड़ियाँ हैं और जहरीले सांप।

1. Organised disorder which is the organized disorder of a society that rejects the good. Because the Society is me, I am the society, if I do not change society cannot change. And here is the deliberate intention to hurt another, whether it is organized or not." Ibid p. 116.
2. "You cannot will to do good Either you are good or not good you cant will goodness, will being the concentration of thought as resistance." Ibid, p. 117.

पर यदि इन्हें हम गौर से देखें तो स्पष्ट हो जायेगा कि ये प्रकृति द्वारा प्रदत्त सुरक्षाचक्र हैं। प्रकृति ने इन्हें हमें डराने के लिए नहीं, बल्कि हमारी सुरक्षा के लिए ही इन चीजों को हमें दिया है। फिर कैसे हम प्रकृति की योजना को अमंगलकारी कह सकते हैं? ये सुरक्षाचक्र तो प्रकृति के वरदान हैं, उसके मंगलमय विधान का एक अनूठा पक्ष है, और अंततः उस विधान का अटूट साक्ष्य भी। साक्षात अशिवरूप यदि कोई सत्ता होती और वह इतनी बलशाली होती कि उसका पराभव असंभव होता, तभी उसे निरपेक्ष कहने का हमें अधिकार था। वर्तमान में सबसे अधिक अशिव तो हमारा यह कथन प्रतीत होता है कि संसार में पाप की, अशिव की कोई निरपेक्ष सत्ता है। इसके अतिरिक्त और दूसरा कोई अशिव (evil) नहीं है। कृष्णमूर्ति के ही शब्दों में : "to say that there is an absolute sin, absolute evil is the most terrible thing to say and that is evil."[1] और नॉडी का यह कहना कि क्या प्रकृति के अन्य उपायों की तरह युद्ध भी हमारे लिए एक प्रकार का सुरक्षा-चक्र नहीं है के प्रत्युत्तर में कृष्णमूर्ति कहते हैं - ''नहीं, कदापि नहीं। यह कहना भी पाशविक है। इससे अधिक अमानवीय और घातक 'सोंच' और क्या हो सकती है? क्योंकि 'युद्ध' की विध्वंसकारी वृत्ति तो हमारे भीतर विद्यमान है ही : हम जब कभी 'मैं और मेरे', की बात करते हैं, अपने और दूसरे के बीच सीमा-रेखायें अंकित करते हैं अपने और दूसरों के पृथक हितों की बात करते हैं, तो उसी क्षण हमारे बीच शीत-युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह अपने और पराये को अलग-अलग रखने की वृत्ति ही संसार की सबसे घातक वृत्ति है और इसे ही पराभूत होना है। कैसे?''

अपने विचारों को गति देते हुए कृष्णमूर्ति कहते हैं : इस तथाकथित अशिव को, इस अमंगलकारी घातक वृत्ति को पराभूत होना ही है। हृदय की स्वतः प्रेरित उदारता से ही संसार की इस वृत्ति को पराभूत होना है। एक आप्त संप्रेषण ही इस संसार के यातनामय पक्ष को पराभूत कर सकता है। एक स्पर्श, एक दृष्टि, एक तलीय, निःशब्द, मौन आदान-प्रदान, इंसान को

---

1. "So the moment we assert that there is absolute evil, that very assertion is the denial of the good. Goodness implies total abnegation of the self. Because the 'me' is always separative ..... it is the centre of disorder because it is a divisive factor" ..... And "to move completely away from it is complete order, freedom, goodness And to remain in the order of self centred - movement breeds disorder, there is always conflict there. And we attribute the conflict to evil, to the devil, to bad Karma, to environment." Ibid, p. 119.

बहुत कुछ दे देता है, दे सकता है; उसके कष्टों को हर सकता है और उसमें संजीवनी शक्ति का संचार कर सकता है।

इसी बात की ओर कृष्णमूर्ति संकेत कर रहे हैं। उनका कहना है कि यह भावनात्मक आदान प्रदान, या यदि अस्तित्ववादी पदावली में कहा जाय तो इसे आप्त आदान-प्रदान कहेंगे, जहाँ दो अनजान व्यक्ति तत्काल, अकारण ही एक दूसरे के हो जाते है अनमोल है, और जीवन के उस भावात्मक पक्ष को प्रस्तुत करता है, जिसमें, जिसके द्वारा जीवन के इस यातनामय पक्ष को पराभूत होना है। और हृदय अपने से ही पूछता है कि अचानक, उस पल-विशेष में, कहाँ गायब हो गयी थी वह महापातकी, घातक-वृत्ति जिसकी अभी-अभी पिछले पृष्ठों में चर्चा हुई थी और जो हमारे जीवन में बराबर वैमनस्य की दीवारें खड़ी करने में व्यस्त रहती है? कहाँ गायब हो गई थी वह निरंतर गुमराह करने वाली अप्रिय वृत्ति जो अपनों को भी पराया बनाने में निरंतर सक्रिय रहती है? और क्या सचमुच में उसे निरपेक्ष यानी कभी न पराभूत होने वाली वृत्ति या फिर निरपेक्ष अशिव, की संज्ञा दी जा सकती है? जिस प्रकार कृष्णमूर्ति शिव तथा अशिव की चर्चा करते हैं वह दर्शन के विद्यार्थियों के लिए कुछ नयी नहीं है। अस्तित्ववादी दार्शनिकों ने इसी प्रकार आप्त-जीवन की बात की है। मार्टिन-ब्यूवर ने संलाप की बात की है और इसे मानवीय व्यवहार तक ही सीमित नहीं रखा है, बल्कि उसकी परिधि में वे पशुओं को भी ले आयें हैं।

और ज्यो पॉल सार्त्र ने इस संभावना की चर्चा करते हुए एक अनजान व्यक्ति से भी इस संभावना के यथार्थ होने की बात की है। सड़क पर भीड़ है और कैफे के दरवाजे पर खड़ा व्यक्ति उसे देख रहा है। तभी एक व्यक्ति की ओर उसकी नज़र जाती है - और कुछ ऐसा अपूर्व घटित होता है उन दोनों के बीच कि दोनों दो न रहकर अकारण एक हो जाते हैं।

अनमोल है यह अनुभूति और यह सभी के द्वारा अनुभव की जा सकती है। साथ ही वह हमें एक अनूठे संसार में प्रवेश भी दिला देती है। और भारतीय दर्शन के कर्म-सिद्धान्त को निरपेक्ष-अशिव के रूप में प्रस्तुत करते हुए भी वे उसके मूल स्वर की ओर और उसमें निहित इस प्रश्न के समाधान को नजरअंदाज नहीं होने देते।

अद्वैत-दर्शन तो यह स्पष्ट कहता है कि जब हमें इस संसार के 'मिथ्यात्व' का बोध होता है, तो तत्काल उसकी सच्चाई का, संसार की वास्तविकता का भी बोध हो जाता है। यही संसार तब 'शिवस्थली', 'राम की कुटिया' प्रतीत होने

लगती है। अतएव अशिव के स्वरूप का वास्तविक बोध ही शिवत्व का मंगलमय एहसास है। ये दोनों एक ही अनुभूति के दो अनिवार्य पक्ष हैं; क्योंकि एक का "निषेध" वस्तुतः दूसरे की भाव-भूमि पर ही संभव है। और वह भावभूमि चिंतन एवं वाणी-दोनों की परिधि से बाहर है; वह अंततः अनुभूति की भाव-भूमि ही है। ऐसी बात अद्वैत में ब्रह्म अथवा परम निरपेक्ष सत् के बारे में कहीं गयी है, और वही यहाँ परम निरपेक्ष शुभ के संदर्भ में कहीं गई है। क्या यह साम्य क्या चौंकाने वाला नहीं है? कदापि नहीं क्योंकि कृष्णमूर्ति अंततः भारतीय ही तो हैं और स्वामी विवेकानन्द की तरह भारतवासियों के चिंतन को बाहर के लोगों के बीच रखने की कोशिश कर रहे हैं। उनका प्रयास अपूर्व है और इसलिए सराहनीय भी।

●●●

अध्याय 14

आकलन : एक विशिष्ट काल-खण्ड का

एक लंबे अंतराल के बाद परमहंस रामकृष्ण के आगमन के साथ भारतवर्ष में दर्शन के क्षेत्र में एक नए युग का अर्विभाव हुआ। परमहंस ने अद्वैत दर्शन तथा उससे संबद्ध ज्ञान योग की अपर्याप्तता पर अपने संवादों में प्रकाश डाला और एक उच्चतर भाव-भूमि की ओर संकेत किया, जहाँ पर स्थित चेतना को यह संपूर्ण संसार शिव-स्थली दिखाई देती है।

परमहंस के ही शब्दों में : 'देखो अष्टावक्र संहिता में आत्मज्ञान की बातें हैं। आत्मज्ञानी कहते हैं सोऽहम् अर्थात ''मैं ही परमात्मा हूँ।' यह वेदान्तवादी संन्यासियों का मत है। सांसारिक व्यक्तियों के लिए यह मत ठीक नहीं है। ... वेदान्तवादी कहते हैं कि आत्मा निर्लिप्त है। सुख-दुख, पाप-पुण्य ये सब आत्मा का कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते, परन्तु देहाभिमानी व्यक्ति कष्ट दे सकते हैं।

पुनः प्रश्न करते हुए वे कहते हैं : 'और माया किसे कहते हैं, पता है? माता-पिता, भाई बहन, स्त्री-पुरुष, भानजे-भांजी, भतीजे-भतीजी आदि आत्मीय जनों के प्रति प्रेम, यही माया है।'[1] इसलिए इससे ऊपर उठना अत्यधिक कठिन है। अद्वैत के त्रिगुणातीत भाव में स्थित होना, ईश्वर को बिना पाये हुए असंभव है। और उसे प्राप्त करने के उपरांत जीवन में अहंकार के लिए कोई स्थान रहता ही नहीं। पर रामकृष्ण देव कच्चा-अहं और पक्का अहं का अंतर बताते हुए कहते हैं : ''मैंने केशव सेन से कहा, 'मैं सम्प्रदाय का नेता हूँ, मैंने सम्प्रदाय बनाया है, मैं लोगों को शिक्षा दे रहा हूँ' – इस तरह का अभिमान 'कच्चा अहं' है। किसी मत का प्रचार करना बड़ा कठिन काम है। वह ईश्वर की आज्ञा बिना नहीं हो सकता। ईश्वर का आदेश होना चाहिए। शुकदेव को भगवान की कथा सुनाने के लिए आदेश मिला था। यदि ईश्वर का साक्षात्कार होने के बाद किसी को आदेश मिले, और तब यदि वह प्रचार का बीड़ा उठाये – लोगों को शिक्षा दें तो कोई हानि नहीं। उसका वह 'कच्चा अहं' नहीं 'पक्का अहं' है।''[2]

---

1. श्री रामकृष्ण वचनामृत - भाग 1 श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, पृ. संस्करण 1972 पृ. 375-6.

2. वही, पृ. 365.

ईश्वर के कराये, तो कुछ होने वाला ही नहीं। वे अगर ध्यान करायें तो ध्यान होगा।"[1]

परमहंस का हृदय पूर्णतः निर्मल था। वहाँ तो भगवान का चिर-वास था। फिर उनके लिए अपने को उनसे अलग करके कुछ सोचना या करना कैसे संभव था? पर यदि शरीर को बना रहना है तो उन्हीं के लिए, उन्हीं की अर्चना के रूप में ही बना रहना है। इसी बात को वे इस प्रकार व्यक्त करते हैं : "जहाँ यह बोध बना रहता है कि मैं ही सब कुछ कर रहा हूँ, वहाँ मैं दास हूँ और तुम प्रभु हो" - यह भाव बहुत अच्छा है। जब सभी कुछ किया जा रहा है, तो सेव्य-सेवक भाव से रहना अच्छा है।"

एक बहुत ही सरल उदाहरण द्वारा वे इस बात को अपने भक्तों के सामने रखते हैं। पहले वे ब्रह्म एवं आद्या-शक्ति के स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं, फिर उसके निराकार एवं अनभिव्यक्त रूप को उसके द्वारा स्पष्ट करते हैं। उन्हीं के शब्दों में, क्योंकि उनका अपना ही एक विशेष प्रभाव है : "ब्रह्म आकाश की तरह है। उसमें कोई विकार नहीं है। जैसे आग का कोई रंग नहीं। पर हाँ, आद्या-शक्ति द्वारा वे विविध आकार के हुए हैं। सत् रजस, तमस्– ये तीन गुण शक्ति ही के गुण हैं। आग में यदि सफेद रंग डाल दो, तो वह सफेद दिखेगी। यदि लाल रंग डाल दो तो वह लाल दिखेगी। यदि काला रंग डाल दो तो काला दिखेगी। ब्रह्म सत, रज और तम – इन तीनों गुणों से परे हैं। वे यथार्थ में क्या हैं यह मुँह से नहीं कहा जा सकता है। 'नेति-नेति' (ब्रह्म वह नहीं, वह नहीं) करके विचार करते हुए, जो बाकी रह जाता है, और जहाँ आनंद है, वहीं ब्रह्म हैं।"[2]

एक लड़की का पति आया है। वह अपने बराबर के लड़कों के साथ बाहर वाले कमरे में बैठा है। इधर वह लड़की और उसकी सहेलियाँ खिड़की से उसे देख रही हैं। सहेलियाँ उसके पति को नहीं पहचानतीं। वे उस लड़की से पूँछ रही हैं : क्या यह तेरा पति है? लड़की मुस्करा कर कहती है – नहीं। एक दूसरे नवयुवक को दिखा कर पूँछती हैं : क्या यह तेरा पति है? वह फिर कहती हैं – नहीं। एक तीसरे लड़के को दिखाकर वे फिर पूछती हैं क्या वह तेरा पति है? वह फिर कहती है – नहीं। अंत में उसके पति की ओर इशारा करके उन्होंने पूछा – क्या वह तेरा पति है? तब उसने 'हा' या 'नहीं' कुछ नहीं कहा, केवल मुस्कराई और चुप्पी साध ली। तब सहेलियों ने समझा कि यही उसका पति है। जहाँ ठीक ब्रह्म-ज्ञान होता है, वहाँ सब चुप हो जाते हैं।

1. वही, पृ. 385-86.
2. वही, पृ. 386-87.

इन पंक्तियों में नितांत सहजता के साथ वह सभी कुछ व्यक्त हो गया है, जो ब्रह्म के संबंध में हम कहना चाह रहे हैं। ब्रह्म की अनिर्वचनीयता, अर्थात् उसके विषय में कुछ न कह सकने की असंभावना, तथा वर्तमान संदर्भ में अनुभूति की महत्ता एवं प्रासंगिकता। जो शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं हो सकती जिसके बारे में कुछ कहने में वाणी ले जाती है, अनुभूति के क्षणों में वह स्वतः स्पष्ट हो जाता है। अनुभूति में डूबी हुई चेतना, वह सभी कुछ जान लेती है जो उसके बारे में जानने योग्य है। वह स्वर आनंद का, उल्लास की प्रत्यक्ष अनुभूति का स्वर है, क्योंकि तलीयः आत्मा आनंद रूप ही तो है। इसीलिए तो उसे शाश्वत आनंद कहा गया है। परम हँस शुकदेव तथा नारद की बात करते हैं। वे स्वयं भी तो इसी कोटि में आते हैं। उन्होंने स्वयं नरेन्द्र, को जो बाद में स्वामी विवेकानन्द के नाम से जाने गए, को शिकागो में आहुत धर्म सभा (पार्लियामेन्ट ऑफ रिलीजन) में भारतीय धर्म का प्रतिनिधित्व करने के लिए सूक्ष्म में, आदेश दिया था। उस धर्म-सभा में सम्मिलित होने के लिए बड़े-बड़े धर्माचार्य आमंत्रित थे। स्वामी विवेकानन्द को हिन्दू-धर्म का प्रतिनिधित्व करना था। उनके लिए वह परीक्षा की घड़ी थी। पर स्वामी विवेकानन्द ने जिस प्रतिबद्धता के साथ विश्वमंच पर हिन्दू-धर्म की आत्मा को, उसके मूल स्वर को प्रस्तुत किया, वह प्रशंसनीय तो था ही, निःसंदेह वह एक यह प्रयास था। और निश्चय ही विश्व-संस्कृति के आर्विभाव की दिशा में बढ़ता हुआ एक महत्वपूर्ण कदम था। और इस सबकी पृष्ठभूमि में कार्य करने वाले गुरू को, परमहँस को कैसे भुलाया जा सकता है? निश्चित ही इतिहास में इन दोनों का नाम स्वर्णिम अक्षरों में दर्ज रहेगा।[1] इसी के साथ हमें यह भी न भूलना चाहिए कि धर्म सभा का आयोजन उस समय हुआ था, जब भारतवर्ष परतंत्र था। और यह आयोजन अमरीका के शिकागो शहर में हुआ था। कार्य निश्चित ही कठिन था। पर जिस सरलता के साथ यह सम्पन्न हुआ, वह विस्मयकारी था। स्वामी विवेकानन्दे के हृदय में देश-प्रेम की भावना अत्यंत सबल थी। उनका हृदय अपने देशवासियों के कष्टों से दुखी था। एक बुद्ध की करूणा उनमें दिखलाई देती थी। उन्हीं की तरह वे भी तो एक महामानव थे, इसमें कोई संदेह नहीं।

1. पार्लियमेन्ट आप रिलीजन की सफलता के बाद स्वामी विवेकानन्द के हृदय में जो असीम पीड़ा थी, वह अश्रुओं में प्रवाहित हो गई। होटल के कमरे में वापस ओने पर वे इस बात पर दुखी थे कि अब उन्हें वे 'क्षण' नहीं मिलेंगे जिनमें वे माँ से आद्या-शक्ति से एकांत में अपनी बात कह सकेंगे। यही नहीं अपने देशवासियों की दयनीय स्थिति पर भी दुख हो रहा है, और लौटते हुए माँ से अपनी पीड़ा इन शब्दों में व्यक्त करने लगे।

पार्लियामेन्ट आफ रिलीजन की सफलता के बाद स्वामी विवेकानन्द के हृदय में जो असीम पीड़ा थी, वह अश्रुओं में प्रवाहित हो गयी। होटल के कमरे में वापस आने पर इस बात के लिए दुखी थे कि अब उन्हें वे क्षण नहीं मिलेंगे जिनमें वे माँ से, आद्या शक्ति से एकांत में अपने मन की बात कह सकेंगे। यही नहीं, अपने देशवासियों की दयनीय स्थिति पर भी उनका हृदय दुखी हो रहा था। उनकी यह पीड़ा इन शब्दों में व्यक्त होने लगी।[1] दरिद्र-सेवा, दरिद्रों एवं दलितों में नारायण की स्थापना और उनकी सेवा - यह तो उन्हीं का दिया हुआ मंत्र है। स्वतंत्रता के बाद के 50 वर्षों की इस छोटी-सी अवधि में आज जब हम भारतवर्ष में दलितों को ऊपर उठाने का, उनके हितों की रक्षा करने का संकल्प शब्द-बद्ध होते हुए देखते हैं, तो हमें अपने आप ही स्वामी विवेकानन्द याद आ जाते हैं और हम मन ही मन यह कामना करते हैं कि काश इसी के साथ हममें थोड़ी-सी हृदय की सच्चाई और प्रतिबद्धता होती, तो आज भारतवर्ष का रूप ही कुछ और होता, क्योंकि दलितों का हित केवल मंचों पर दिए हुए व्याख्यानों से नहीं होना है। यह कार्य सिद्ध तो तभी होना है जब हम भीतर से इतने अधिक संवेदनशील हो जाय कि हम उनकी पीड़ा को, उनकी शब्दों में न व्यक्त होने वाली यातनाओं को अपने भीतर जीएँ। तभी हम उनके कल्याणार्थ कुछ कर सकेंगे, और तभी हमारे संकल्पों की भी सार्थकता होगी। अन्य शब्दों में, एक विवेकानन्द एक बुद्ध, एक समर्पित संन्यासी ही इस कार्य को कर सकता है।[2] सत्ता के प्रलोभन से दूषित मानसिकता वाले लोग क्या इस प्रकार की प्रतिबद्धता अपने में जुटा सकते हैं? यदि यह हो पाता तो भारतवर्ष और अंततः विश्व का रूप ही कुछ और होता।

आज हम मानवाधिकार की बात कर रहे हैं, पर इन बातों के बावजूद और मानववादी दर्शन के बावजूद हमारी वृत्तियों में कोई संशोधन नहीं हो सका

1. "O ! Mother, what do I care for name and fame when my mother land remains sink in utmost poverty?

2. धर्म-सभा के अन्तिम सत्र में बोले हुए उनके शब्द हमें हमेशा याद रखना चाहिए और किसी प्रकार के धर्म-परिवर्तन के प्रयास को अपना अनुमोदन नहीं देना चाहिए। स्वामी जी के शब्दों में : "The Christian is not to become a Hindu or a Buddhist, nor is a Hindu or a Buddhist. To become a Christian. But each mustassimilate the spirt of the others and yet preserve his individuality and grow according to his own law of growth. If the Parliament of Religion has shown anything to the world, it is this : It has proved to the world that holiness, purity, and charity are not the. A biography, Advaita Ashrama, Calcutta 3rd Indian Edition, 1975 p. 121.

है। हम स्वार्थपरक वृत्तियों के अधीन होकर किस प्रकार मानव की सेवा कर सकते हैं? उसके अधिकारों की रक्षा कर सकते हैं? परमहंस श्री रामकृष्ण आज नहीं हैं, स्वामी विवेकानन्द भी नहीं हैं, पर उनकी स्थापित संस्थायें आज भी सक्रिय हैं और उनके स्वप्नों को साकार करने की दिशा में निरंतर कार्यरत हैं। सुना जाता है कि जिस भाव-भूमि की उन्हें प्राप्ति हुई थी उसमें इतनी सृजनशील सामर्थ्य होती है कि वह अदृश्य रूप से भी अपने संकल्प, अपने स्वप्न को पूरा करने में समर्थ होती हैं। इन व्यक्तियों को, इन अति-मानवों को हमें हृदय से प्रणाम करना चाहिए और इनसे प्रेरणा लेते हुए अपने जीवन को ही नहीं, बल्कि अपने राष्ट्र को अंततः सम्पूर्ण विश्व को संवारने का प्रयास करना चाहिए। अपनी निहित सामर्थ्य के अनुरूप परमहंस की प्रेरणा तथा स्वामी विवेकानन्द के प्रयासों से जिस प्रकार एक नए युग का सूत्रपात हुआ, उससे इस देश को जो गति मिली थी, वह तो एक महती उपलब्धि थी ही, पर उसके बाद इस देश की पावन भूमि पर कुछ ऐसे महापुरुषों ने जन्म लिया जो उनके ही पथ का अनुसरण करने के लिए कृत-संकल्प थे। स्वामी रामतीर्थ, महर्षि रमण, श्री अरविंद तथा स्वामी रामानन्द इनमें प्रमुख थे। ऐसा लगता है कि इस युग का सृजन इनके पावन स्पंदनों तथा सृजनशील सामर्थ्य से ही होना था। ये सभी सन्यासी थे। इसलिए वे अपने संकल्प को पूरा करने के लिए पूर्णतः प्रतिबद्ध थे।

स्वामी रामानन्द तथा श्री अरविंद

श्री अरविंद तथा स्वामी रामानन्द ने विकासवादी दृष्टि के तहत एक समूचा जीवन-दर्शन ही प्रस्तुत किया है : शरीर की जटिलताओं का विकास प्राकृतिक-प्रयोजनों के लिए हुआ है; अन्य शब्दों में उच्च से उच्चतर यंत्रों का विकास जीवन के सफल निर्वाह के लिए हुआ है, इस बात को तो वैज्ञानिक भी मानते हैं, पर इन यंत्रों के निर्माण की इस समूची प्रक्रिया का क्या कोई और भी प्रयोजन है? इस प्रश्न पर प्रकाश डालने की चेष्टा इन दोनों ने ही की है। उनका कहना है कि ये यंत्रगत जटिलतायें प्रकृति में निहित दिव्य चेतना की अपरिमित सामर्थ्य को क्रमशः प्रकट कर रही हैं। जो संभावनायें पशु-शरीर के माध्यम से ही व्यक्त हो सकती थीं, उनके लिए और भी अधिक उन्नतशील यंत्र का निर्माण हुआ और जो इससे भी अधिक उन्नत संभावनायें हैं और जो मानव-यंत्र द्वारा भी व्यक्त नहीं हो सकती हैं, उनके लिए और भी अधिक संवेदनशील एवं पारदर्शी यंत्र बनाना होगा। प्रकृति उसी दिशा में प्रयत्नशील है :

एक अति-मानसिकीय, अति-बौद्धिक चेतना की अभिव्यक्ति के लिए उसके अनुकूल यंत्र बनाने की दिशा में प्रकृति स्वतः क्रियाशील है। हमें इस तथ्य को स्वीकार करते हुए अपने प्रयासों से उसकी गति को तीव्र करना होगा और प्रकृति में निहित और उत्तरोत्तर सक्रिय होते हुए प्रयोजन को साकार करना होगा। श्री अरविंद ने अपनी कृति 'लाइफ-डिवाइन' में तथा स्वामी रामानन्द ने अपनी पुस्तक 'अध्यात्म-विकास'[1] में प्रकृति की इसी सृजनशीलता की विस्तृत चर्चा की है और आगे जो उपलब्धियाँ होनी हैं, उनकी भी चर्चा की है। यही नहीं, उन्होंने हमें आश्वस्त भी किया है कि हम पार्थिव अमरत्व की ओर बढ़ रहे हैं। और यह भी कि, कालान्तर में, अति-मानवों की एक नई जाति की उत्पत्ति होगी जिनमें हमारे वे सपने साकार होंगे जिनकी आज हम एक धुंधली-सी कल्पना भर कर सकते हैं; और तभी, सही अर्थों में, एक आदर्श मानव-समाज की भी स्थापना हो सकेगी। यही नहीं तब हम प्राकृतिक-अनिवार्यता के कारण इस शरीर का त्याग नहीं करेंगे, अपितु अपनी इच्छा से ही उसका परित्याग करेंगे। स्वामी जी के ही शब्दों में :

"मैं तो ऐसा ही समझता हूँ कि जीव आत्म-निहित पुरुषोत्तम है। प्रकृति उसी की शक्ति है। वह जो प्रकृति-पार था, पार रहता हुआ भी अपने आपको इसलिए प्रकृति में छिपा लेता है कि वह प्रकृति में भी पूर्णतया प्रकट हो। यही एक तरह से भगवान की सगुण लीला है। यही भागवती लीला है। यही उसकी माया है। वह पूर्णरूपेण यहाँ अभिव्यक्त होना चाहता है। जड़-जगत, वनस्पति-लोक, पशु समुदाय और मनुष्य, यह सभी उसी की अभिव्यक्ति के पूर्व-रूप हैं। यह क्रम यहीं पर समाप्त नहीं हो सकता। वह आगे बढ़ेगा, बढ़ भी रहा है, तब तक जब तक हमें पार्थिव अमृतत्व की प्राप्ति नहीं हो जाती। और तब हमारी मृत्यु हमारी बेबसी न होकर हमारी इच्छा के अधीन होगी।"[2] विचारों की श्रंखला को बढ़ाते हुए वे कहते हैं :

"विकास की वेगवती धारा, जो रोकने से नहीं रुकती, विश्व को बहाए

---

1. अंग्रेजी में उन्होंने 'एवोल्यूशनरी आउटलुक ऑन लाइफ' शीर्षक से पुस्तक लिखी है। इन पुस्तकों का प्रकाशन बीसलपुर से हुआ है तथा स्वामी रामानन्द साधना-धाम, कंरवल, हरिद्वार से प्राप्त हो सकती हैं।

2. स्वामी रामानन्द, "अध्यात्म-विकास" पुणे, 1946, पृष्ठ 16-17 (प्रथम संस्करण) 2 वही, पृ. 18.

लिए जा रही है। मनुष्य की कोटि तक जाने में सब कार्य उसी ने किया है। अब मनुष्य में बुद्धि प्रकट हो गई है। इस बुद्धि के सहारे वह अपनी नौका का कर्णधार बन सकता है। अब वह चाहे तो अपनी नौका को विकास के प्रवाह की ओर साथ-साथ तेजी से बढ़ाए और प्रवाह से भी तीव्र चले, और ना चाहे तो नौका का मुँह मोड़ कर उल्टा चलने का यत्न करने लगे। प्रायः उस वेग का मुकाबला करना असंभव है, अधिक से अधिक हम अपने को कुछ समय के लिए शायद स्थिर ही कर पायें।" और पार्थिव अमरत्व की बात करते हुए वे कहते हैं : "सत् अमर है। उस अमृतत्व का हमें लाभ करना है। अमर हम हैं ही। इस अमृतत्व की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। शरीर का परित्याग एक आवश्यकता न रहे, हमारे संकल्प के अधीन बात हो, ऐसी अवस्था का लाभ करना होगा। हम शरीर के, प्रकृति के स्वामी हों – वह हमारी स्वामिनी न हो। यह आदर्श हमारे सामने हो।"[1]

निश्चित ही यह हमारे परंपरागत विश्वास से भिन्न प्रकार की आस्था है। अभी तक साधना की दृष्टि से पार्थिव शरीर को त्याज्य माना गया है। पर श्री अरविंद तथा स्वामी जी दोनों ही ने इस विश्वास पर भरपूर प्रहार करते हुए हमें आश्वस्त किया है कि विश्व में कुछ भी त्याज्य नही है। यह संसार अपनी संपूर्ण अभिव्यंजना में माँ, महाशक्ति की लीला-स्थली है, इसे इसी रूप ही हमें देखना और स्वीकार करना है। जो सतही तौर से अशिव एवं अमंगलकारी प्रतीत होता है वह भी अंततः एक व्यापक, परिपक्व दृष्टि से मंगलकारी प्रतीत होने लगेगा।

इस समग्र दृष्टिकोण को अत्यधिक सरल एवं प्रभावी दृष्टि से स्वामी जी ने अपनी पुस्तक "अध्यात्म-विकास" में प्रस्तुत किया है। शिव का "तांडव नृत्य" प्रथम दृष्टि में विध्वंसकारी और दिल दहलाने वाला प्रतीत होता है। पर है तो वह शिव की ही लीला। इसलिए उसमें भी आनंद की ही अभिव्यक्ति है, और इसलिए वह अंततः मंगलकारी ही है। हमें इसी नाते इस संसार को उसकी संपूर्णता में समझना होगा, और स्वीकार भी करना होगा।

जगत जननी माँ के प्रति श्री रामकृष्ण देव तथा उनके प्रिय शिष्य नरेन्द्र की जो आस्था थी, उसे इन दो महामानवों ने अपनी भरपूर निष्ठा से जिया। ऐसा लगता है कि परमहंस स्वयं इनके माध्यम से हम सभी के हृदयों में

---

1. वही पृ. 21.

आस्था एवं निःशेष समर्पण के भावों को स्थापित कर रहे हैं, और भारतीय दर्शन को एक ऐसा स्वर प्रदान कर रहे हैं जो उसके लिए आगे 'संजीवनी' सिद्ध होगा। निःसंदेह, भारतीय दर्शन की शाश्वतता, उसकी उदारता एवं व्यापकता का यही एकमात्र रहस्य है कि वह जीवन से जुड़ा हुआ, आस्था पर पूर्णतः आधारित दर्शन है, और जीवन को भीतर से रूपांतरित करने की सामर्थ्य रखता है। यही कारण है कि इसमें सम्मिलित प्रत्येक दर्शन का अपना एक योग-पक्ष भी होता है, जो यह बतलाता है कि हम किस प्रकार साधना द्वारा सत्य का साक्षात्कार कर सकते हैं।

स्वामी रामतीर्थ तथा महर्षि रमण

पूर्णाद्वैत का स्वर श्री अरविंद तथा स्वामी रामानंद द्वारा प्रसारित हुआ, इसी काल में अद्वैत-दर्शन का भी स्वर प्रसारित हुआ जिसमें स्वामी रामतीर्थ तथा महर्षि रमण के नाम प्रमुख हैं। स्वामी रामतीर्थ की एक और विशेषता थी। उनकी भाषा इतनी सरल तथा सशक्त थी कि एक दसवीं कक्षा का विद्यार्थी भी उनके भावों को सरलता से ग्रहण कर सकता था। स्वामी रामतीर्थ के प्रवचनों का संग्रह "इन वुड्स ऑफ गॉड रियलाइजेशन" शीर्षक से आठ खंडों में प्रकाशित हुआ। यह स्वयं एक उपलब्धि है। और इस बात का साक्ष्य प्रस्तुत करता है कि जब हृदय में ज्ञान की सरिता प्रवहमान होती है तो वह सभी के हृदयों को आप्लावित करने की सामर्थ्य रखती है।

महर्षि रमण : महर्षि रमण ने स्वयं कुछ नहीं लिखा पर उनकी दृष्टि से फूटता प्रकाश ही लोगों को कृतार्थ करता रहा। उन्होंने वेदांत के शुद्ध निर्विकार भाव को जिया था। और लोक-कल्याणार्थ ही अपना जीवन भी व्यतीत किया, जिस प्रकार परमहंस श्री रामकृष्ण देव ने जिया था। वे देह-बोध से पूर्णतः ऊपर उठ चुके थे। इसलिए शुद्ध-चैतन्य के साक्षी-भाव को उन्होंने अंत तक निर्विकार भाव से जिया और उनके नेत्रों से आत्मा का जो निर्मल प्रकाश बराबर व्यक्त होता रहा और लोगों को आश्रम आने का निमंत्रण देता रहा, उसमें हमें एक ऐसे तथागत के दर्शन होते हैं, जिन्हें अपनी ख्याति की कोई कामना न थी। उन्होंने, आश्रम में रहते हुए, मात्र अपनी उपस्थिति से लोगों के जीवन को आलोकित किया और उन्हें जीवन दान दिया।

महात्मा गांधी तथा टैगोर

महात्मा गांधी और रवीन्द्र नाथ टैगोर का भी इस युग के सृजन में

अपना विशिष्ट योगदान रहा है। गांधी जी अंत तक ईश्वर एवं सत्य के प्रति पूर्णतः समर्पित रहे। यद्यपि उन्होंने भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम का बड़ी निष्ठा एवं प्रतिबद्धता के साथ संचालन किया, तथापि उनके जीवन से हम सभी को उसी प्रकार की प्रेरणा मिलती है, जो हमें सामान्यतः किसी संत के जीवन से मिलती है। आज भी जब हम उनका स्मरण करते हैं तो यह भूल नहीं पाते कि अभी हमें उनका राम-राज्य का सपना पूरा करना है, जिसमें सुख-समृद्धि तो होगी ही, सभी का आचरण अनुशासित होगा और पूर्णतः मर्यादाओं के भीतर होगा।

रवीन्द्र नाथ टैगोर की गीतांजलि एक कवि-हृदय की सहज अभिव्यक्ति है। उसमें आराधना का स्वर प्रमुख है, जो हमें कहीं बहुत गहराई से छूता है। परमसत्ता सगुण है अथवा निर्गुण? इस प्रश्न को न तो वे इसमें उठाते हैं और न ही इसका हमें कहीं, किसी प्रकार का उत्तर ही मिलता है। यहाँ तो हृदय की गहराइयों से उत्पन्न भावों तथा अनुभूतियों का सहज अंकन मिलता है। यही कारण है कि देश-काल के बंधनों से ऊपर उठते हुए, वह हम सभी के लिए ग्राह्य हो सकी है। गीतांजलि के अतिरिक्त उन्होंने "साधना" और "पर्सनेलिटी" शीर्षकों से दो पुस्तकें भी लिखीं, जो दर्शन के विद्यार्थियों के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। सत्ता के निर्विकार एवं साकार दोनों ही रूपों की आँख मिचौली से कवि हृदय प्रभावित है, और क्यों न हो? यह संसार तो शिव-स्थली ही है। यहाँ आनंद की शाश्वत वर्षा हो रही है। शिव का तांडव भी तो अंततः शिव ही है, अतः मंगलमय है।

वह अशिव कैसे हो सकता है? उनकी जटाओं में पतित-पावनी गंगा विद्यमान हैं और अपनी पावन धारा से संसार का कल्याण कर रही हैं। कवि हृदय इसी भाव को जीता है और उसे लोगों तक पहुँचाने की कोशिश करता है। इसी में कवि और उसके काव्य की सार्थकता है।

परंपरागत विश्वास और जे. कृष्णमूर्ति : कोटिबद्ध चिंतन को चुनौती

जे. कृष्णमूर्ति का स्वर इन सभी से पृथक प्रतीत होता है। महात्मा गांधी ने भारतवासियों को परतंत्रता की बेड़ियाँ काट फेकने के लिए प्रेरित किया था। पर कृष्णमूर्ति ने तो परंपराओं एवं आस्थाओं के समक्ष ही एक सशक्त चुनौती प्रस्तुत की थी। प्रथम दृष्टि में तो उनका स्वर चौंकाने वाला लगता है और

अव्यवहारिक भी। पर यदि हम उनके विचारों को गहराई से समझने की कोशिश करें तो हमें ये इतने विचित्र नहीं लगेंगे। कृष्णमूर्ति जिस चेतना का विरोध कर रहें हैं, वह हमारी सामान्य बौद्धिक चेतना है, जिसका एकमात्र लक्ष्य सहजवृत्तियों की भाँति जीवन को सुरक्षा प्रदान करना है। पर क्या एक पूर्णतः सुरक्षित जीवन ही मानव जीवन का एकमात्र लक्ष्य है? हमें तो अपने में निहित सृजनशीलता (creativity) को भी व्यक्त करना है। एक कलाकार भी सृजनशील है, पर जिस सृजनशीलता की बात कृष्णमूर्ति करते हैं उसका संबंध हमारे व्यवहारिक सृजनशीलता अर्थात् हमारी संप्रेषणीयता से है, हमारी संवेदनशीलता से है, और अंततः हम किस प्रकार सहज रूप से लोगों से जुड़ जाते हैं – इस एक बात से है। प्रश्न उठता है फिर यह अनमोल वृत्ति है क्या? ऐसी बात नहीं है कि हमें इसका कुछ अनुभव ही नहीं है। कुछ अभागे ही होंगे जो तृष्णा की अंधी दौड़ में इतनें अधिक मगन हो जाते हैं, लौकिक उपलब्धियों के लिए इतने अधिक व्यग्र रहते हैं कि उससे बाहर आने की वे सोच ही नहीं पाते। वे सचमुच अभागे हैं। क्योंकि दया एवं सहृदयता का जो अमृत कलश उनके भीतर छिपा हुआ है उससे जिससे वे पूर्णतः बेखबर चिंता एवं उद्विग्नता का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। नाटकीय है उनका यह जीवन। और यदि समय रहते इस वृत्ति को नियंत्रित न किया गया तो उनमें विद्यमान स्नेह, सहानुभूति एवं करुणा की यह अनमोल, पूँजी, प्रकृति द्वारा स्थापित यह अनमोल धरोहर लुप्त हो जायेगी। सहृदय होना, दूसरों के कष्टों को जीने का प्रयास करना – एक ऐसा पावन कार्य है, जो उन्हें तो सुख पहुँचाता है जिनके कष्टों के निवारणार्थ हम कार्य कर रहें, पर उन्हें भी सुख देता है जो निःस्वार्थ भाव से यह कार्य कर रहे हैं। कालान्तर में, ऐसा सहृदय व्यक्ति तथागत में रूपांतरित होने की संभावना अपने में साकार करता है। उसकी सहज दानशीलता एवं स्नेहिल व्यवहार अंततः सभी के लिए आदर्श हो सकता है, और इसका उस पर तथा अन्य लोगों पर प्रभाव निश्चित ही मंगलकारी होगा। इस सहज, स्नेहिल वृत्ति को हमें पोषित करना चाहिए सभी के हित में, अन्यथा अवहेलना से कालान्तर इसके नष्ट होने की संभावना सुनिश्चित है।

इसी दृष्टि से कृष्णमूर्ति परंपराओं से बंधे जीवन को कल्याणकारी नहीं मानते। उनके संवादों में बगावत का स्वर स्पष्ट लक्षित होता है। वे मानव-समाज को अन्ध-विश्वासों से ऊपर उठाना चाहते हैं। पर उनकी बगावत विध्वंसात्मक नहीं है। वे उसके माध्यम से मनुष्य को, उसके समाज को, कृत्रिम, स्व-रचित बंदिशों से मुक्त कराना चाहते हैं, ताकि जीवन-उन्मुक्त होकर अपनी सहज गति से आगे बढ़ सके। बुद्धि सुरक्षा चाहती है। सुरक्षित जीवन देना उसका सहज लक्ष्य है। पर यदि सुरक्षा हममें निहित संवेदनशीलता ही को नष्ट कर

दे, तब उससे लाभ कैसा? पोखरे के जल और नदी के जल में अंतर स्वाभाविक है। एक में स्थिरता है, सीमाओं की बंदिश है, तो दूसरे में गति है, प्रवाह है और है जीवन का उल्लास। शिक्षा का क्या अर्थ है? उससे हमें क्या प्राप्त होता है? और हमें कैसे उसके दुष्प्रभावों से बचना चाहिए? इस प्रश्न पर विस्तार से अपने विचारों को उन्होंने प्रस्तुत किया है और इन्हीं के माध्यम से उन्होंने अपना जीवन-दर्शन भी प्रस्तुत किया हैं।

सामान्यतः जिस रूप में हम बच्चों को स्कूल में शिक्षा देते हैं, उसका एक निश्चित प्रयोजन है। हम उनकी बुद्धि का विकास चाहते हैं, ताकि वे आगे चलकर समाज में प्रतिष्ठा एवं सम्मान की जिंदगी व्यतीत कर सकें। पर प्रतिष्ठा और सम्मान की चाह व्यक्ति में अभिमान का पोषण करती है। बच्चों में आरंभ से ही प्रतिस्पर्धा की भावना जग जाती है, और आगे चल कर यह भावना उन्हें जीवन भर गति एवं दिशा देती रहती है। ऐसे जीवन में दूसरों के लिए कोई स्थान नहीं रहता। हम सभी कुछ अपने लिए ही हासिल करना चाहते हैं, ताकि हम समाज में सभी दृष्टियों से सम्मान की जिंदगी प्राप्त कर सकें - धन से, पद एवं यश से और उन सभी से जो हमें सभी से अलग-थलग रखने में, विशिष्ट बनाने में सहायक हो सकती हैं। और इनसे संपन्न होकर तथा नाना प्रकार के अभिमानों से युक्त होकर हम खुशी से फूले नहीं समाते हैं। यही नहीं, जो हमारे बराबर नहीं हैं, उन्हें हम तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं। कहना न होगा कि हमें इन्हीं भावों को जो हममें हैं, बच्चों में भरने की कोशिश करते हैं, और उन्हें भी अपनी तरह की जिंदगी बिताने के लिए विवश करते हैं। उन्हें अपने अनुभवों का रक्षा-कवच पहनाकर सुरक्षित जीवन का आश्वासन देते हैं। कृष्णमूर्ति इस वृत्ति पर भरपूर प्रहार करते हुए कहते हैं कि हमें इस बात पर गौर करना चाहिए कि क्या सही में इस प्रकार का सुरक्षित जीवन वरदान है? क्या वह इसके विपरीत जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप तो नहीं है? क्या परंपराओं के तहत जीवन व्यतीत करने वाले लोग सही अर्थों में अच्छे इंसान हैं? क्या वे सही अर्थों में अपने साथ न्याय कर रहे हैं? क्या वे अपने भीतर हर्ष और उल्लास से वंचित होकर एक मृग-तृष्णा के पीछे तो नहीं भाग रहे हैं? इन प्रश्नों का समाधान कम से कम उनके पास नहीं है।

सुख और समृद्धि की चाह जीवन को गति देती है, पर उसे दिशा देने में वह सर्वथा असमर्थ है। मनुष्य के भीतर एक और मूल प्रवृत्ति है जिसकी सहज अभिव्यक्ति उसके शैशव काल में होती है, क्योंकि तब तक उसके हृदय में 'मेरा और तेरा' का भाव प्रकट नहीं हो पाया होता है। उसका हृदय तब निर्मल होता है और अपनी सहज गति से दूसरों की ओर प्रवृत्त होता है। वह

प्रकृति में स्वच्छंद विहार कर सकता है, दूसरों के प्रति सहानुभूति रखता है - चाहें वे हालात की दृष्टि से उससे बड़े हों या फिर छोटे। वह दूसरों के सुख-दुख में बिना किसी भेद-भाव के शामिल हो सकता है। यही जीने का सही तरीका है, इसी में जीवन जीने की सही दिशा दिखाई देती है और इसे हमें किसी भी कीमत पर विस्मृत नहीं होने देना हैं। इस मूल-वृत्ति को वे 'प्रेम' की संज्ञा देते हैं। प्रेम ही जीवन का वह मूल-स्वर है जो शैशव-काल में बिना किसी प्रयास के व्यक्त होता है। लेकिन जो जैसे-जैसे हम बढ़ते जाते हैं विलुप्त होता जाता है। पर इसे हमें अपने भीतर जीवित रखना है। तभी हम सही अर्थों में इंसान बन सकेंगे।[1]

कृष्णमूर्ति में विद्यमान बगावत का स्वर चौंकाने वाला तो था, पर धीरे-धीरे जब हम उसके प्रति गृहणशील होने लगते हैं, तो लगने लगता है कि वे सही बात ही तो कह रहें हैं और कहीं बहुत गहराई से वह अब हमें अपनी ही बात लग रही है। यही नहीं, हमें लगने लगता है कि उनका वह स्वर वृथा नहीं है। उसका अपना एक निश्चित प्रयोजन है, क्योंकि हम सभी जानते हैं कि जब तक हम कहीं बहुत गहरे से झकंझोर नहीं दिये जाते, किसी की बात हमें समझ में नहीं आती। कृष्णमूर्ति सभी प्रकार की परंपराओं से मुक्त होने की बात करते हैं। उनके लिए समाज की मान्यतायें भी उतनी ही घातक हैं, जितनी कि धर्म की। हमारे माता-पिता हमें कैसा बनाना चाहते हैं यह उनके लिए महत्त्वपूर्ण हो सकता है, पर वह हमारे लिए कैसे महत्त्वपूर्ण हो सकता है? उसमें अनुशासन की बू आती है। समाज की भी हमसे कुछ इसी प्रकार की अपेक्षायें हैं। कुछ सीमा तक हम उन्हें स्वीकार करते ही हैं। जैस हम क्या कपड़े पहने, किस प्रकार की भाषा बोलें, किस प्रकार की पुस्तकें पढ़ें। पर इसके बाद हमें क्या बनना है, किस प्रकार का जीवन व्यतीत करना है - यह हमारा ही निर्णय होना चाहिए। हमें किसी की बैसाखी का सहारा लेकर चलना

1. "While we are young many of us do experience this feeling — a Sudden outgoing sympathy for the villager, for dog, for those who are little or helpless and should it not be continually tended? Should you not give some part of the day to aiding another, to caring for a tree or a garden, to helping in the house or in the hostel, so that, as you grow to maturity, you will know what it means to be considerate naturally, without enforcement, without motive? Should you not have this quality of natural affection?" — Life ahead. P. 95.

"This spontaneity is the most precious thing in life. It is you, yourself minus the adornment heaped on you by tradition bound society. It is this which confers dignity on oneself as well as on others too All else is delusive and misleading." — Ibid P. 32-33.

किस प्रकार अच्छा लग सकता है? हम एक सृजनशील मानव हैं। हमें उसका अपनी सृजनशीलता का सम्मान करना ही चाहिए।[1] इसी प्रकार धर्म की मान्यताओं पर भी वे उसी प्रकार का प्रहार करते हुए कहते हैं : हमें किसी धर्म-गुरु की क्यों और किस प्रकार की आवश्यकता है? और ईश्वर की भी आवश्यकता किस लिए है? अपने इन प्रश्नों के माध्यम से कृष्णमूर्ति एक नयी जागृति लाना चाहते हैं ताकि हम सरलता से उपलब्ध पारंपरिक मान्यताओं के पथ पर न चलकर अपने लिए नितांत अपना रास्ता ढूँढ सकें और अपने व्यक्तित्व का निर्माण अपनी ही सृजनशीलता द्वारा कर सकें। यह सही है कि यह एक कठिन कार्य है। इस कार्य को संपन्न करने का एक ही रास्ता हमारे सामने है और वह यह है कि हम अपने को उन सभी अभिशापों से मुक्त कर लें जिनसे हम जाने-अनजाने बंधे हुए हैं। यह अभिशाप क्या है? इसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। कृष्णमूर्ति के दर्शन में हमें अस्तित्ववाद की झलक मिलती है। मार्टिन ब्यूबर ने "संप्रेषण" (communication) की बात की है जिसका सीधा अभिप्राय है तल का तल से संलाप। और अस्तित्ववाद ने आप्त जीवन व्यतीत करने की बात की है। पर कृष्णमूर्ति के संवादों में अस्तित्ववादी दर्शन का कोई जिक्र किसी भी संदर्भ में नहीं मिलता। बावजूद इसके उनके संवादों में जिस "उन्मुक्तता" (openness) की चर्चा की गई है, उसने भारतीय दर्शन को अवश्य एक नए स्वर से अलंकृत किया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि उनका प्रयास अनूठा है और इसलिए सराहनीय भी है। परन्तु व्यक्ति तथा समाज को पूर्णतः रूपांतरित करने की उनकी चाह कैसे पूरी होगी, यह समझ में नहीं आ रहा है।

सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

डॉ. राधाकृष्णन् की रुचि आरंभ से ही दर्शन शास्त्र में थी। मद्रास के प्रेसीडेन्सी कॉलेज में उनकी नियुक्ति दर्शन शास्त्र के अध्यापक के रूप में हुई। तत्पश्चात् 1926 में वे मैनचैस्टर कॉलेज, ऑक्सफर्ड में दर्शन के अध्यापन हेतु नियुक्त हुए, 1930 में शिकागो विश्वविद्यालय में तुलनात्मक धर्म के अध्यापन के लिए और 1933 से 1952 तक पुनः ऑक्सफोर्ड में प्राच्य धर्म एवं नीतिशास्त्र

1. "You are obliged in some ways to be inaitative as in the clothes you put on, in the books you read, in the language you speak. But it is necessary to go beyond this level, and feel free to think things out for yourself, so that you do not thoughtlessly accept what somebody else says - a teacher of the school, a parent or one of the great religious teachers. To think out things/thoughts for yourself and not to follow is very important for following indicates fean, does it not?" — Ibid P. 32-33.

के अध्यापन के लिए नियुक्त हुए। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह कार्य उन्होंने बड़ी निष्ठा से किया और इसी अवधि में अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियों की रचना भी की।

पूर्व एवं पश्चिम की दार्शनिक परंपराओं से वे भली भाँति परिचित थे। यही कारण है कि उन्होंने दोनों परम्पराओं के साथ न्याय करते हुए दोनों ही देश के लोगों को एक दूसरे के समीप लाने में सफलता प्राप्त की। और यदि यह कहा जाय कि दोनों संस्कृतियों के बीच उन्होंने "सेतु" का निर्णय किया, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। मुझे तो ऐसा लगता है कि वे एक खास मिशन लेकर आये थे। स्वामी विवेकानंद के कार्य को, उनके सपनों को पूरा करने में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है भारतीय संस्कृति में सर्वपल्ली राधाकृष्णन् की विशेष रुचि थी, यही नहीं, पूर्ण प्रतिबद्धता थी। इसलिए उसके बारे में जब भी वे कुछ बोलते अथवा लिखते थे, तो वह हमें कहीं बहुत गहराई से छू लेता था। यही नहीं, उनके शब्द हमें प्रेरित करते थे कि हम भी अपनी संस्कृति, में धर्म एवं दर्शन में उतनी ही आस्था विकसित कर लें जिससे न केवल हमारा निजी जीवन आलोकित हो बल्कि हमारे चिंतन और व्यवहार से देश का भी कल्याण हो।

यूँ तो राधाकृष्णन्, दर्शन की सभी धाराओं से, चाहे वे यहाँ की हों अथवा बाहर की, परिचित थे, पर वेदांत में उनकी विशेष रुचि थी। और क्यों न हो? यह युग ही स्वामी विवेकानन्द के नाते वेदांत का ही विशेष युग कहलाया, इसमें कोई संदेह नहीं। अनीश्वरवादी मानववाद की सीमाओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए डॉ. राधाकृष्णन् कहते हैं कि वह मानव की उच्चतम आकांक्षाओं के साथ न्याय करने में सर्वथा असमर्थ है। यदि मानव जीवन का वर्तमान धरातल ही उसका सब कुछ है, तो उसके लिए अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करना असंभव है, और समाज के जिन आदर्शों की कर रहे हैं, यथा, समता और सामाजिक न्याय, उन्हें हम कभी यथार्थ नहीं कर पायेंगे। मानव समाज तब पशु जैसा ही होगा – पशु की मूल वृत्तियों से शासित वहाँ तब जंगल राज्य की ही स्थापना हो सकेगी।

पर यदि हम मनुष्य को मात्र पशु ही न मानें वरन् उसमें निहित संभावनाओं के आधार पर उसके भावी जीवन का चित्र अंकित करें; यह मान कर चलें कि उसके वर्तमान जीवन की विसंगतियाँ एवं संघर्ष उसे देवत्व की ओर नहीं अपितु दिव्यत्व की ओर लिए जा रहे हैं, तभी हमारे सपने यथार्थ

हो सकते हैं, तभी समाज में राम-राज्य की स्थापना हो सकती है।

यह संभावना अपने वर्तमान को पूर्णतः अतिक्रमण करने की संभावना है, और वह यथार्थ हो सकती है। क्योंकि महान व्यक्तित्वों में वह यथार्थ हुई है। एक परमहंस का हम सभी को यही आश्वासन भी है कि मनुष्य में यदि आज हिंसा प्रबल है, तो, कालान्तर में, एक रूपांतरित मानव में प्रेम की, करुणा की, दया की, सहज अभिव्यक्ति हो सकती है। हममें से प्रत्येक मानव इसी दिशा की ओर प्रवृत्त है, यही उसके जीवन का अन्यतम लक्ष्य है। यही महावीर, बुद्ध तथा स्वामी विवेकानन्द का हमें संदेश है।

भारतीय संस्कृति का यही अन्यतम संदेश हमें है और इसी को डॉ. राधाकृष्णन् ने अपने व्याख्यानों तथा कृतियों में पूर्ण निष्ठा एवं प्रतिबद्धता से प्रस्तुत किया है।

कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य

डॉ. कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य राधाकृष्णन् के समकालीन थे। और उनकी आस्था भी वेदान्त में थी। पर ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी आस्था केवल इस एक बात को सिद्ध करने में सिमट कर रह गई कि मूल स्वर एवं तकनीक दोनों ही दृष्टियों से अद्वैत वेदान्त किसी भी पाश्चात्य दर्शन के सिद्धान्त से कम नहीं है। यही कारण है कि कांट के चिंतन के संदर्भ में वेदांत प्रस्तुत करते हुए वे हुसर्ल की पदावली का सार्थक प्रयोग करते हैं और उनके माध्यम से वेदांत के दार्शनिक निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं। हुसर्ल ने ब्रैकेटिंग (bracketing) तथा रिडक्शन (reduction) जैसे शब्दों का प्रयोग किया है, जो अपने माध्यम से जटिल दार्शनिक प्रक्रियाओं को प्रस्तुत करते हैं - जिनके माध्यम से प्राकृतिक, तथ्यात्मक संसार से युक्त होते हुए भी हम अ-वस्तुगत (non-objective) तथ्यों की ओर अग्रसर हो सकते हैं। ये अ-वस्तुगत तथ्य परिचित, ज्ञेय तथ्यों से नितांत भिन्न होते हैं, क्योंकि ये आधारभूत तथ्य हैं और इसीलिए इनके महत्व को नकारा नहीं जा सकता है। अनुभवातीत विमर्श की प्रक्रिया से गुजरते हुए तथा कुछ मध्यवर्ती सत्ताओं को स्थापित करते हुए कृष्णचन्द भट्टाचार्य वेदान्त के शुद्ध, विषयी रूप आत्मा को स्थापित करते हैं। उनके ये निष्कर्ष उनकी पुस्तक "द् सब्जेक्ट एज़ फ्रीडम" में प्रस्तुत किए गए हैं। पर उनकी 100 पृष्ठ की यह पुस्तक देखने में जितनी छोटी है उतनी ही कठिन है। कितनी सच है यह बात वे ही जानते हैं जिन्हें उससे जूझने का मौका मिला है। वे दर्शन को विज्ञान से पृथक करते हुए हमें यह बतलाना

चाहते हैं कि विज्ञान जिन तथ्यों का अध्ययन करता हैं और जिस विधि से करता है, उसका प्रयोग दर्शनशास्त्र में नहीं हो सकता है। उसे सभी को कोष्ठीकृत करके ही हम उन सत्ताओं की ओर अग्रसर हो सकते हैं, जिन्हें हम मूलभूत सत्तायें कह सकते हैं, जिन्हें कांट ने अनुभवातीत सत्तायें (Transcendental realities) कहा है ओर जो अनुभवातीत विमर्श द्वारा ही जानी जा सकती हैं। इन सत्ताओं के बारे में डॉ. कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य एक वाक्य का प्रयोग करते हैं, जो मुझे स्मरण आ रहा है : 'द सिगनिफिकेन्ट स्पीकेबल अदर देन द् मीनेवल' (The significant speak able other than the meanable) और सत्ताओं की इसी कोटि में वे अद्वैत-वेदान्त की शुद्ध, निर्विकार साक्षी रूप 'आत्मा' को भी रखते हैं, जो कि एक ऐसी सत्ता है जिसकी केवल प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति संभव है। इसमें संदेह नहीं कि डॉ. राधाकृष्णनन् तथा कृष्ण चन्द्र भट्टाचार्य का युग तुलनात्मक दर्शन का युग था। अतएव इस प्रकार का अध्ययन अनेक उच्च-शिक्षा के केन्द्रों में विश्वविद्यालयों में बराबर हो रहे थे। और इसका हमें लाभ भी मिला। हम एक दूसरे को जानने लगे, एक दूसरे की परंपराओं में जो कुछ अच्छा था - सीखने योग्य था, उसे आत्मसात् भी किया। पर मैं समझती हूँ कि अब वह समय आ गया है कि अब हम स्वतंत्र रूप से चिंतन करें। अपने में कुछ ऐसा सोच विकसित करें जिससे हमारी अपनी पहचान बने। आखिर कब तक हम बाहर के आयने में अपने दर्शन का प्रतिबिम्ब देखकर संतुष्ट होते रहेंगे कि हमारे पास भी कुछ ऐसा है जो हमें पश्चिमी देशों की पंगत में बैठने का अधिकार दे सकता है।

●●●

अध्याय 15

जीवन के प्रति एक सकारात्मक दृष्टिकोण : स्वामी रामानन्द

पृष्ठभूमि

आधुनिक काल में विज्ञान ने नवीन आविष्कारों के द्वारा व्यक्ति को प्रगति की तेज गति की दौड़ में धकेल दिया है। जिसका परिणाम, व्यक्ति में भौतिक सुखों के प्रति अदम्य लालसा के बढ़ने एवं नैतिक मूल्यों के निरन्तर ह्रास में देखा जा सकता है। अगर स्थिति का सही आकलन करें, तो ग्रह कहना अनुचित नहीं होगा कि भारत का प्राचीन गरिमामय जीवन एवं उसके शाश्वत मूल्य यदा कदा ही मनुष्य के जीवन में दिखायी देते हैं। दूसरी तरफ स्थिति और भी भयावह है, सुख की लालसा में मनुष्य इस भौतिक दौड़ में शामिल तो हो जाता है, किन्तु उसके मन का एक कोना, निरन्तर मानसिक शांति की तलाश करता रहता है। शान्ति की तलाश व्यक्ति को साधुसन्तों की संगत की ओर ले जाती है। यहाँ भी इच्छाओं का दमन कर पूजा पाठ या योग का एकांगी पक्ष उस पर थोपा जाता है। यह प्रक्रिया व्यक्ति को एक मशीन बनाकर रख देती है, वह यन्त्रवत् समस्त कर्मकाण्ड करता रहता है, पर लालसाओं से मुक्त न हो पाने के कारण उसका मन अतृप्त ही रहता है। इसका मुख्य कारण है, व्यक्ति में 'आत्म—ज्ञान' एवं 'पूर्ण समर्पण भाव' की कमी। दोराहे पर खड़ा मानव भौतिक सुख एवं आध्यात्म के बीच सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाता।

जीवन की इस ज्वलन्त समस्या को स्वामी रामानन्द जी ने बहुत पहले ही महसूस कर लिया था। जीवन जगत से जुड़े अनेक प्रश्नों का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक विवेचन इस महापुरुष ने इतनी सहजता से दिया, जो 'भारतीय दर्शन' की गरिमा को एक नया आयाम देता है।

यह जगत क्या है? कहाँ से इसकी उत्पत्ति हुई? क्या इसका प्रयोजन? क्या इसकी सत्यता सिद्ध की जा सकती है? विकास की प्रक्रिया क्या है? कौन इसका संचालक है? आध्यात्म क्या है? समाज को संचालित करने वाले तत्त्व, सुख—दुःख, शुभ—अशुभ, इच्छा—कामना, जरा—मरण जीवन और उसके विकास में कहाँ तक प्रभाव रखते हैं? यह सभी प्रश्न चिरन्तन काल से मानव की जिज्ञासा बढ़ाते रहे हैं।

समय—समय पर अनेकों दार्शनिकों ने इसका विवेचन भी प्रस्तुत किया है। किन्तु कोई भी दर्शन इसको पूर्णदृष्टि नहीं दे पाया। कारण यह रहा है कि आध्यात्म और भौतिक जगत को अलग—अलग कर देखा गया है एवं एकांगी मत की स्थापना हुई है। दोनों के बीच समन्वय की, उचित दृष्टि कहीं नहीं मिलती।

स्वामी रामानन्द जी ने अपना कोई मत या सम्प्रदाय स्थापित नहीं किया) किन्तु इन प्रश्नों पर अपनी सूक्ष्म, आनुभविक दिव्य दृष्टि डाली है। सरल एवं ग्राह्य रूप में प्रस्तुत ये विचार व्यक्ति की जिज्ञासाओं को शान्त करने के साथ—साथ व्यक्तिगत, नैतिक, आध्यात्मिक विकास की उचित दिशा भी दिखाते हैं। उनका ध्येय किसी पंथ या मत की स्थापना नहीं था) वह तो जीवन भर सामान्य मानव, विशेषकर गृहस्थों को सही दिशा दिखाते रहे। उनकी कोशिश व्यक्ति को जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टि प्रदान क़रना थी) जिससे वह जीवन जगत एवं उससे जुड़ी समस्याओं को भलीभाँति समझकर अपना आत्मिक विकास कर सकें। जीवन के प्रति सही दृष्टि ही जीवन के दुःखों को कम कर सकती है। जो संसार से भागकर नहीं, उसे सही रूप में समझकर, जीवन—यापन करके प्राप्त की जा सकती है।

विकास की प्रक्रिया में निहित दैवी प्रयोजन

जीवन की विभिन्नता, पारस्परिक संघर्ष एवं अन्तर्द्वन्द्व में एक महान प्रयोजन छिपा है। जीवन के आदि स्रोत के रूप में जो शक्ति है, जो प्रकृति के समस्त क्रियाकलापों में लगातार अपने को व्यक्त कर रही है एवं निरन्तर विकास की ओर ले जा रही है, वह आदि पुरुष, आदिशक्ति, 'परमसत्ता' है, 'ईश्वर' है। वह मुझमें व्याप्त है, वह जगत में व्याप्त है, वह जगत से परे भी व्याप्त है। फिर कैसे क्षुद्र सीमित बुद्धि उसे उसके पूर्ण रूप में जान सकती है या उसकी व्याख्या कर सकती है। 'वह परमसत्ता है। वह मुझमें अनुस्यूत है और मैं उसमें अनुस्यूत हूँ। मैं हूँ और वह है — वह अनुभवगम्य है। मस्तिष्क से ही नहीं, हृदय और इन्द्रिय से ही नहीं, शारीरिक चेतना भी इसे प्रतीत कर सकती है। वह रोम—रोम में रमता है, इन सबसे परे अन्तरात्मा तो यह प्रतीत करती ही है। 'मैं हूँ', 'तू है' यह एक ही अनुभूति के दो पक्ष हैं। अन्तरात्मा में रमा हुआ ध्रुव सत्य फिर मनन किया गया। यह उच्च मंत्र आत्मा में चैतन्य के अतिशय को स्फुरित कर सकता है।' 'मैं हूँ', 'तू है।'[1]

उसके अस्तित्व को प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। हमारी क्षुद्र बुद्धि कैसे उसके असीमित रूप को साक्ष्य प्रदान कर सकती है। उपनिषद् में इसे मन—वाणी से अगोचर बताया गया है। वह निर्गुण भी है, वह सगुण भी है। वह सत्व रजस तमस

1. अध्यात्म विकास, स्वामी रामानन्द, पृष्ठ 6

में व्याप्त है, वह उससे परे भी है। वह सबसे व्याप्त होकर भी उसका निरन्तर अतिक्रमण कर रहा है। हम जिस रूप में उसे देखना चाहते हैं, वह उसी रूप में हमें अपने अस्तित्व का बोध करा देता है।

उसकी वास्तविकता का प्रमाण हम जगत में निरन्तर होते विक़ास में देख सकते हैं। वह शक्ति है जो निरन्तर प्रकृति के माध्यम से संचालित होकर, पत्थर से पेड़—पौधे) पेड़—पौधों से क्षुद्र जीवों, जानवरों) तदुपरान्त मानव के रूप में विकसित होती दिखायी देती है। विकास की यह धारा निरन्तर उसकी शक्ति का आभास दिलाती है। इस विकास का प्रयोजन, शक्ति का प्रकृति की विभिन्नताओं के माध्यम से अभिव्यक्त होकर, अपने आत्मरूप को जानकर, पुनः उसी शक्ति में लीन हो जाना है।

दिव्य शक्ति एवं मानुषिक चेतना का भेद हमारी अपनी बुद्धि—रचना है। वह सूक्ष्म है, वह स्थूल है, वही चेतना है। स्थूल, मन एवं प्राण इन तीनों में विभक्त होकर, वह शक्ति, जीव का विकास करती है एवं सूक्ष्म रूप में रहकर उसे संचालित करती है। यह शक्ति की यौगिक क्रिया है। शरीर के क्षय के साथ यह सूक्ष्म रूप पुनः नये रूप में सुसज्जित होकर, अपने विकास पथ पर आगे बढ़ता है। विभिन्न जन्मों का प्रयोजन भी यही है। एक जन्म, इसकी पूर्णाभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त नहीं है।

विकास का सैद्धान्तिक पक्ष

मुख्यतः पाश्चात्य दर्शन में प्रचलित भौतिकवाद एवं वस्तुवादी विचारधारा के समर्थक कहते हैं — 'विस्तृत जगत से परे कुछ भी नहीं है। 'आध्यात्म' या 'अन्तर्निहित चेतना' की बात करना काल्पनिक है।' रामानन्द जी कहते हैं — ऐसे काल्पनिक निष्कर्ष किस तरह निकाले जा सकते हैं। वैज्ञानिक साक्ष्यता ही। किसी स्वीकृति या अस्वीकृति का प्रमाण नहीं हो सकती। हमारे अनुभव की सीमाएँ अक्सर इतना विस्तार करती दिखायी पड़ती हैं, जिसमें वे सत्य भी उजागर होते हैं, जिनका प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं दिया जा सकता है। दूसरी तरफ विज्ञानवादी पक्ष या आध्यात्मवादी पक्ष को लें) जो एक झटके से विस्तृत संसार को माया कहकर असत्य बताते हैं। बुद्धिवादी कहते हैं — जगत प्रत्ययात्मक है, सत्य नहीं। सब कुछ मस्तिष्क की उपज है, इसके बाहर कुछ भी सत्य नहीं।[1] किन्तु इस तरह की प्रतिस्थापना भी ज्ञान के एक पक्ष को ही प्रस्तुत करती है। विस्तृत जगत एवं उससे प्राप्त होने वाली प्रेरणाओं की हम अवहेलना कैसे कर सकते हैं। जो संवेदनाएँ वस्तु को देखकर उठती हैं एवं हमारे अपने अस्तित्व का बोध कराती

1. The Materialist says, "All that talk of spirit, is imagination". The Idealist says. "The world is ideal, not real. It is dilusion." "It is all the creation of the mind." – Evolutionary Spiritudism – Swami Ramanand, Page, 14-15

हैं, उस वस्तुगत जगत को कल्पना की प्रस्तुति कदापि नहीं बताया जा सकता है। संवेदनाएँ प्रदत्त के बिना वैचारिक स्तर पर कुछ भी ग्रहण नही कर सकती। दूसरी तरफ 'चेतना' मन, इन्द्रियों के परे भी अपना अस्तित्व रखती है। इसका प्रमाण भी हमें कहीं बाहर तलाशने पर नहीं मिल सकता) इसके लिए हमारी दृष्टि को अधिक सूक्ष्म धरातल प्राप्त करना होगा। यह सूक्ष्म दृष्टि ही दिव्य परम सत् को सूत्रधार के रूप में प्रस्तुत करती है।[1]

प्रकृति एवं चेतना का सम्बन्ध एवं जगत में विस्तृत होने का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए रामानन्द जी ने विकासवादी प्रयोजन की प्रामाणिकता दी है। क्रिया और प्रतिक्रिया विकास की धुरी हैं) इसका प्रमाण क्रियाशील चेतनाशक्ति एवं वातावरण के बीच स्थापित होते निरन्तर सामन्जस्य में देखा जा सकता है। सामन्जस्य की इस प्रक्रिया के बीच चेतना निरन्तर विकास करती चलती है। जैसे—जैसे विकास की इस प्रक्रिया में गति आती जाती है, क्रियाशील (Interaction) का यह दायरा और बढ़ता जाता है। दिव्य शक्ति, अपनी समस्त संभावनाओं को मूर्त रूप देने के लिए प्रकृति के माध्यम से व्यक्त होती है। व्यक्तिकरण की इस प्रक्रिया के मध्य वह अपनी इस चेतनशक्ति को छिपाकर रखती है। इस शक्ति का प्रसार संसार के हर एक 'अणु' में देखा जा सकता है। उचित वातावरण मिलने पर यह संभावना व्यक्त होकर अनावृत होती है। इसके लिए यह पत्थर की योनि से क्रमशः विकसित होकर, पशुवर्ग तदुपरान्त मानव की उन्नत आत्मशक्ति तक विकास करती है।

विकास प्रक्रिया के मूल अणु के रूप में रामानन्द जी परमतत्व को 'चेतनशक्ति' के रूप में प्रस्तुत करते हैं। जिसकी प्रस्तुति 'सत्ता' और 'होना' के द्वारा की जा सकती है। 'चेतना' सत्ता के अस्तित्व को व्यक्त करती है) एवं 'होना' शक्ति के माध्यम से उसके मूर्तमान रूप को व्यक्त करती है।[2] सृष्टि की रचना के रहस्य में यही सत्य छिपा हुआ है। चेतना है और निरन्तर स्वयं को व्यक्त कर रही है। प्रकृति के विस्तार एवं क्रियाशीलता में विकास की इस प्रक्रिया को देखा जा सकता है।

---

1. The ultimate reality must be tranxendental, with being and becoming as its two aspects. It must be capable of making the two manifest as a unity as the phenomenal world. It must be something beyond and above the two aspects and supporting both of the equally. – Ibid, Page 23
2. The supreme as the basic unity of evolution, we shall call 'conscious-energy'. It is a perfect epitome of the transcendental reality with its two aspects of being and becoming. In the term 'conscious energy.' The world conscious represents the being aspect and 'energy' the becoming aspect. – Ibid, Page 37

प्रगति का वाहक – प्रकृति में व्याप्त सुप्त संभावनाएँ

'चेतन शक्ति' में सुप्त संभावनाएँ होती हैं, जिन्हें वह विकास की प्रक्रिया के दौरान अपने अन्दर छिपाकर रखती है। अनुकूल अवसर आने पर यह पर्यावरण के माध्यम से उन्हीं के बीच अनावृ त्त होती है। 'दिव्य शक्ति' प्रकृति के माध्यम से उस पृष्ठभूमि को हमारे समक्ष विस्तार देती है, जिसमें इन सुप्त शक्तियों का प्रसार किया जा सके एवं विकास के रास्ते में आगे बढ़ा जा सके। 84 लाख योनियों की धारणा के पीछे यही निहितार्थ है। इस प्रक्रिया में संभावनाओं एवं व्यक्तीकरण के बीच पदार्थ का रूप बदलता रहता है, पर अन्तर्निहित संचालित चेतनशक्ति वही रहती है।

प्रकृति की इस सारी प्रक्रिया का प्रयोजन चेतना को उसके मूल आध्यात्मिक तत्व तक ले जाना है। जिस तरह सोने को अपना वास्तविक स्वर्णरूप प्राप्त करने के लिए अपने अस्तित्व को लोंदे के रूप में पिघलाना पड़ता है वैसे ही चेतना, पत्थर रूप से विकास प्रक्रिया में अग्रसर होती है।

चेतना को उसका स्वरूप दिलाने के लिए प्रकृति उसे निरन्तर प्रेरित करती है। इसमें विकास की गति के लिए उस 'संभावना' का होना सबसे महत्त्वपूर्ण बात है। जीव में प्राणशक्ति का विकास तभी होता है, जब वह एक निश्चित पड़ाव तक पहुँच जाता है। वहाँ से अग्रसर हो वह दूसरे पड़ाव 'बुद्धि के योजन' तक पहुँचता है। बौद्धिक चेतना, व्यक्ति में यह सामर्थ्य देती है कि वह इस जगत से सामन्जस्य स्थापित कर इसके गूढ़ अर्थों को जान सके। जब उसकी आत्मशक्ति इन अनुभवों को प्राप्त करने की शक्ति संजो लेती है, वह आध्यात्मिक पथ पर चलने के लिए अधिक सूक्ष्म स्थिर अन्तर्दृष्टि से युक्त हो जाता है।

विकास की इस प्रक्रिया में एक बात महत्त्वपूर्ण है, जब तक जीव के अन्दर की सुप्त संभावनाएँ प्रकाशित नहीं हो जातीं एवं आगे की गति के लिए वह संभावना अर्जित नहीं कर लेता, वह विकास की प्रक्रिया में आगे नहीं बढ़ सकता। यह ठहराव उसकी गति को रोक देता है। मनुष्य जाति अर्जित करने के लिए मानसिक चेतना से युक्त होना एवं पशु स्तर का अतिक्रमण करना आवश्यक होता है। इसी तरह व्यावहारिक चेतना का अतिक्रमण कर लेने के बाद जीव आध्यात्मिक चेतना के गुणों से युक्त संभावनाओं को अर्जित कर लेता है। वह शरीर की निर्लिप्तता के साथ अध्यात्म मार्ग में प्रविष्ट कर जाता है। इस सारी प्रक्रिया के दौरान दिव्य चेतना, प्रेरक शक्ति के रूप में प्रकृति के बीच कार्यरत रहती है।[1]

1. Moreover, further evolution of a principle (i.e. after it has reached a particular stage) becomes impossible without the coming in of the next one. We cannot think of the human organism being evolved without the appearance of human mentality. – Ibid, Page 118

स्पष्टतः यह बात सिद्ध होती है, विकास की यह सारी प्रक्रिया निरुद्देश्य नहीं चलती रहती है। इसके बीच एक बहुत महत्त्वपूर्ण उद्देश्य छिपा हुआ है जिसको हम अपनी सीमित बुद्धि द्वारा नहीं जान सकते। दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाने के उपरान्त यह समझ में आने लगता है कि परानुभविक परम तत्त्व चेतन शक्ति के रूप में विद्यमान रहकर स्वयं का अनावरण कर रहा है। इस पूरी प्रक्रिया को 'आवश्यकता का नियम' संचालित करता है। यह नियम विकास प्रक्रिया के दौरान हर संभावना को मूर्तमान रूप देता है और विकसित करता है।[1] इसका जीवन्त उदाहरण हम जीव जगत में देख सकते हैं। आवश्यकता के अनुरूप प्राणियों की आकृति परिवर्तन करती रहती है। प्रकृति, ठंडे प्रदेशों में रहने वाले जीवों को रोएँदार शरीर, पेड़—पौधों को मोटी छाल प्रदान करती है) जिससे वे अपनें अस्तित्व को बचा सकें एवं अपनी संभावनाओं का आवश्यकता के अनुरूप प्रकाशन कर सकें।

'आवश्यकता' का यह नियम व्यक्ति के जीवन में भी कार्यरत दिखायी देता है। व्यक्ति के अन्दर निहित संभावना के अनुरूप उसे कार्यक्षेत्र मिलता है। जिससे वह आवश्यकता के अनुरूप अपना विकास कर आत्म प्रकाशन कर सके। उद्देश्य पूरा हो जाने के पश्चात् आगे की संभावनाएँ अर्जित कर वह आगे बढ़ जाता है। इस सत्यता को भारतीय दर्शन में स्पष्ट रूप से वर्णित किया गया है। गीता में भी पुनर्जन्म की कल्पना आत्मा के विकास की गति के लिए आवश्यक बतायी गयी है। यह दृष्टि भारतीय दर्शन को पाश्चात्य दर्शन से अलग कर उच्च स्थान प्रदान करती है। चेतनशक्ति की विकास यात्रा अपने दिव्य रूप को प्राप्त कर स्वयं का अनावरण तो करती ही है, साथ ही पूरे समाज, पूरी मानव जाति का मार्गदर्शन करती है। व्यक्ति बौद्धिक स्तर पर जब तक विज्ञान के सत्य—असत्य प्रयोगों में फँसा रहता है और बौद्धिक स्तर पर ही प्रमाण खोजता रहता है, वह इस शक्ति का प्रसार करने वाली दृष्टि को प्राप्त नहीं कर पाता। किन्तु, जब बुद्धि इन्द्रियों के स्तर से ऊपर उठकर अतीन्द्रिय धरातल प्राप्त कर लेती है, उसकी दृष्टि भी परानुभविक सत्यों का विस्तार अपने समक्ष प्राप्त कर ज्ञानप्राप्ति का मार्ग तलाश कर लेती है। योग, इस धरातल को प्राप्त करने का माध्यम है। निश्चित ही पाश्चात्य दर्शन दृष्टि, इस दार्शनिक दृष्टि को प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं कर पायी और एक सीमित अर्थ में ही विवेचनाएँ प्रस्तुत करती रही है।

---

1. Infact the evolutionary process is not meant to evolve any principle for its own sake. It is for the perfect unfoldment of the transcendental supreme which lies involved in conscious energy. The law of necessity governs the entire process. The goal of evolution is never lost sight of even for a single moment it seems. It is in accordance with this law that every tendency makes its appearance and grows. – Ibid, Page 118.

रामानन्द जी की दार्शनिक दृष्टि जीवन जगत के सैद्धान्तिक विवेचन में बाह्य जगत का आधार, विकास की प्रक्रिया के रूप में देखती है। दूसरी तरफ, व्यक्ति के जीवन से जुड़े सामाजिक, व्यावहारिक पक्ष में भी वे सुख—दुःख, धर्म—अधर्म, कामना, मृत्यु का भी प्रयोजन विकासवादी दृष्टि के तहत जीव के विकास के लिए आवश्यक 'आवश्यकता' के नियम के तहत ही वर्णित करते हैं।

'स्व' का अतिक्रमण विकास का मूल लक्ष्य

जगत में व्याप्त संभावनाओं की तरफ दृष्टि डालें या फिर व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन की तरफ ध्यान आकर्षित करें, विकास की हर गति अपने वर्तमान, अपने स्व का अतिक्रमण कर प्रगतिपथ पर विकसित होती हुई दिखायी देती है। इस अतिक्रमण को रामानन्द जी ने 'त्याग' कहकर विकास के एक आवश्यक सिद्धान्त के रूप में बताया है। त्याग का अर्थ निषेधात्मक रूप में नहीं है। पुष्प के अर्थ में लें, बीज अपने बीज रूप का अतिक्रमण करके ही कली फिर पुष्प के रूप में अपना प्रस्फुटीकरण कर पाता है। अतः अपने स्व का अतिक्रमण कर लगातार विकास पर आगे बढ़ना जीवन का मूलमंत्र है। परिवर्तन की इस सारी प्रक्रिया के बीच चेतनशक्ति अपने मूलरूप में क्रियाशील रहती है। परिवर्तन, चेतनशक्ति की प्रेरणा से ही होता है किन्तु चेतनशक्ति पूरी प्रक्रिया में अपनी अखण्डता का समर्पण नहीं करती। वह पूरी प्रक्रिया में, व्यक्ति का वर्तमान से सामन्जस्य स्थापित करती चलती है। प्राणशक्ति के रूप में, चेतना व्यक्ति के पूरे जीवन में, उसके समस्त विकास में निहित रहती है। जीव अपने अनुभवों के द्वारा अपना विकास कर अपने वर्तमान का अतिक्रमण कर आगे बढ़ता है, किन्तु वह प्राण चेतनशक्ति उसकी समस्त प्रगति का साथी बन, उसको आत्मबोध कराती है। स्पष्ट है, समस्त परिवर्तनों के मध्य स्वयं अपरिवर्तनशील रहकर जो चेतनशक्ति जीव का विकास करती है, उसे दिव्य दृष्टि प्राप्त करने में सहायक बनती है, वह चेतनशक्ति दिव्य परमतत्त्व दी है।

रामानन्द जी ने प्रकृति एवं प्रकृति के समस्त क्रियाकलापों के पीछे दिव्य चेतन शक्ति की प्रामाणिकता स्थापित करके पिछली समस्त एकांगी धारणाओं की सीमितता दिखायी है। व्यापक दृष्टि का प्रसार न होने से ही हम अतीन्द्रिय दृष्टि से वंचित रहते हैं। दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाने के पश्चात् रामानन्द जी की दृष्टि इतनी व्यापक हो गयी थी कि इस संसार के हर अणु में उन्हें दैवीय चेतना की शक्ति दिखायी देने लगी थी। जगत की समस्त क्रियाशीलता एक संदेश देने लगी थी। विकास का मूलमंत्र जानकर उन्होंने इस संसार के समस्त बाह्य एवं आन्तरिक प्रतिक्रिया के मध्य एक प्रयोजन दिखाया एवं जीवन जगत के हर घटक, हर भावना, हर गतिविधि को, उस प्रयोजन को सिद्ध करने में उपयोगी बताया। यही कारण था, उन्होंने अपना मार्ग वैराग्य पथ

पर जाना न स्वीकार करके मानव समाज में फैली विसंगतियों को दूर करने में निश्चित किया।

बाह्य आडम्बरों से तो वे इतना दूर थे कि जीवित रहते उन्होंने किसी मंच पर आना स्वीकार नहीं किया। उनके विचारों को अधिक लोगों तक पहुँचाने के उद्देश्य से 'साधना धाम' की स्थापना, हरिद्वार में उनकी मृत्यु के पश्चात् ही संभव हो सकी। रामानन्द जी के विचार, वेद, उपनिषद, गीता के साथ—साथ व्यक्तिगत रूप से रामकृष्ण परमहंस एवं विवेकानन्द जी से प्रभावित थे, किन्तु फिर भी उन्होंने रामकृष्ण परमहंस का वैराग्य मार्ग नहीं अपनाया। रामकृष्ण की लगन की तीव्रता ने उन्हें प्रभावित किया था। गृहस्थों के लिए उनका संदेश गृहस्थ धर्म में रहकर भागवती भाव के प्रति लगन जगाकर, कर्तव्य पथ पर आगे बढ़ना था। यह लगन जब व्यक्ति के व्यक्तित्व को अनुप्राणित करने लगती है, व्यक्ति का जीवन मिथ्या अभिमानों से अपने आप ही दूर होने लगता है। आत्मा शरीर का अतिक्रमण कर उसकी भूलभुलैया से स्वयं को मुक्त पाती है। यह चेतना व्यक्ति को दैवी भाव में ओतप्रोत कर देती है, फलस्वरूप उसके कर्म स्वयं एक दैवी संदेश देने लगते हैं। उसका पूरा जीवन एक दिव्य संगीत बन जाता है। यह संगीत उसके माध्यम से पूरे समाज को प्रभावित करने लगता है। इसमें इतनी शक्ति होती है कि वह मानव मात्र को एक विशिष्ट दिशा दे सके।

उनका आह्वान था मानव के लिए, अपने आपको, अपने अभिमान को, पूर्णतः ईशभाव में समर्पण। संसार तपोभूमि है। हमारे मन की जागृति तो इसी रंगमंच पर होती है। यहाँ के सारे किरदार सारे धर्म निभाते हुए, उनकी सच्चाई पर मनन करते हुए जब हम उनकी सीमा का बोध कर लेते हैं) हम स्वयं को उनसे विरक्त पाते हैं। जीवन की आसक्तियाँ हमें बाँधती नहीं, उनकी बीच रहकर हमें उनकी निरर्थकता का बोध होता है। जीवन की अनुभूतियाँ ही आध्यात्म मार्ग को प्रशस्त कर हमारा मुख्य ध्येय, हमारे समक्ष प्रदत्त करती हैं। फिर संसार से भागना कैसा? रामानन्द जी ने संसार से भागकर तप, त्याग, वैराग्य की साधना को अपूर्ण बताया है। मन का वैराग्य उस पर हठपूर्वक अंकुश लगाकर नहीं प्राप्त किया जा सकता है। संसार के दुःखों से घबराकर वैराग्य पथ पर बढ़ना कायरता है। ईश्वर की कृति का उपहास उड़ाना है। हमारा ध्येय अपने माध्यम से ईश्वर के विकासवादी प्रयोजन को सिद्ध करना है।

जीवन के व्यावहारिक पक्ष की तर्कसंगत व्याख्या

जीवन के प्रति भौतिक दृष्टिकोण, भौतिक उपलब्धियों को अधिकतम महत्त्व देता है। यह उपलब्धियाँ प्राप्त करने के लिए व्यक्ति कोई भी रास्ता अपनाने को तैयार हो जाता है। ऐसा दृष्टिकोण व्यक्ति की दृष्टि को संकुचित कर मात्र बाह्य सुखों तक केन्द्रित कर देता है। रामानन्द जी कहते हैं, 'सुख को ही जीवन का लक्ष्य बनाना

इच्छाओं का और मनुष्य के अन्दर की निकृष्टतम प्रवृत्तियों का दास बन जाना है। यह स्थिति अधिक काल तक नहीं चलने दी जा सकती। समाज अथवा व्यक्ति की शारीरिक अवस्था इस स्थिति से विद्रोह करके उसके मीठे सपनों का अन्त कर देते हैं।'[1] भौतिकता के प्रति ऐसा दृष्टिकोण भ्रमपूर्ण है, आत्मविरोधी है। भौतिकता व्यक्ति को पूर्ण संतुष्टि नहीं दे सकती। विपरीततः वह उसे इंद्रियों का, वासनाओं का दास बना देती है। हमारी तर्कबुद्धि ही इस दृष्टिकोण को बढ़ावा देती है। जीवन में भौतिकता के विकासक्रम में इच्छा का स्थान विशेष महत्त्व रखता है। इच्छा विचारशील मस्तिष्क को, अपनी महत्त्वाकांक्षा को पूरा करने के लिए सांसारिक उपलब्धियों का दास बना देती है। साथ ही साथ निम्न प्रवृत्तियों को प्रश्रय मिलता है — प्रतियोगिता, अहंकार, ईर्ष्या। यह प्रवृत्तियाँ मानव को भौतिकता की दौड़ में तो उच्च स्थान प्रदान कराती हैं परन्तु धीरे—धीरे वह अपने मूल स्वभाव, अपने गन्तव्य से दूर होता जाता है।

भौतिक लक्ष्यों को जीवन की उच्चतम उपलब्धियाँ मानना विनाश को निमन्त्रण देना हैं। ऐसा करना तो स्वयं को निम्नस्तरीय प्रकृति के हाथों सौंपना है। कामना सम्मोहन करके दास बनाती है। वह ऐसी अग्नि प्रज्ज्वलित करती है जिसमें सर्वस्व भस्म हो जाता है।[2]

रामानन्द जी भौतिकता के प्रति बढ़ते हुए सम्मोहन को व्यक्ति की स्वाभाविक प्रकृति के प्रतिकूल मानते हैं। किन्तु इसी में मनुष्य के, इनसे मुक्त होने का मार्ग बताते हैं। जब इच्छाएँ अपनी अग्नि इतनी प्रज्ज्वलित कर लेती हैं कि मनुष्य उनका दास बन जाता है। वहीं मन का कोई कोना इनकी नश्वरता एवं अंशकालिकता को महसूस करने लगता है। सन्तुष्टि या आनन्द जब निर्मल न होकर वस्तुसापेक्ष हो जाती है) तभी व्यक्ति को भौतिक जगत के खोखलेपन का अहसास होता है। भौतिकवाद के प्रति यह आसक्ति ही इनसे ऊपर उठने की भूमिका बन जाती है।

भौतिकवाद में निहित अन्तर्विरोध अर्थात् भौतिकवादी उद्देश्यों की प्राप्ति का प्रयास उनके विनाश का कारण बनता है और इस प्रकार ऐसी भूमि का निर्माण करता है, जिसमें शुद्ध ज्ञान के सिद्धान्त का आविर्भाव होता है।[3]

रामानन्द जी व्यक्ति के जीवन में व्याप्त संवेगों की चर्चा करते हुए कहते हैं, विकास प्रक्रिया में उच्च संवेग निम्न संवेगों पर आधिपत्य जमाकर व्यक्ति की चेतना को उन्नत बनाने में मदद करते हैं। स्नेह, वात्सल्य, सौहार्द्र, परोपकार, त्याग जीवन के उच्च मूल्य हैं। जब ये मूल्य ईर्ष्या, क्रोध आदि निम्न संवेगों पर अंकुश लगाते हैं,

1. जीवन विकास — एक दृष्टि, स्वामी रामानन्द, पृष्ठ 2
2. वहीं, पृष्ठ 24
3. जीवन विकास — एक दृष्टि, पृष्ठ 25

उनका अतिक्रमण करते हैं, चेतना इनके माध्यम से पारदर्शी होकर विस्तार प्राप्त करती है। किन्तु इसी के साथ अक्सर 'अहं' की भावना भी प्रबल होने लगती है। उच्च भावनाओं के प्रबल होने से समाज में प्राप्त लोकप्रियता, व्यक्ति में 'अहं' का प्रादुर्भाव करती है। यह 'अहं' विकास प्रक्रिया में गतिरोध उत्पन्न करने में प्रभावी हो जाता है। इस 'अहं' भाव पर विजय प्राप्त कर, उच्च संवेगों के निर्मल प्रवाह को जीवन में उतारकर व्यक्ति सहज ही आध्यात्म मार्ग को प्रशस्त कर लेता है। रामानन्द जी ने यही संदेश अपने गृहस्थ भाई—बहनों को अपने पत्रों के माध्यम से दिया था। समाज में चेतना जाग्रत करने की उनकी यह अनूठी प्रणाली थी। अपने पास आयी समस्याओं का समाधान, वे व्यावहारिक शैली अपनाते हुए पत्रों के माध्यम से किया करते थे। साथ ही उनके हर भाव से व्यक्ति की चेतना अन्तर्मुखी हो, चिन्तनशील होने लगती थी। 'अहं' के त्याग की भावना किस तरह व्यक्ति के जीवन में सहज ही विकसित हो सकती है, इस पर अपने विचार उन्होंने एक पत्र द्वारा इस तरह व्यक्त किये हैं —

"... विवाह तो मंगलमयी माँ, महाशक्ति का दयामय देवाधिदेव का मंगलमय विधान है, मानव विकास के लिए आवश्यक सीढ़ी है, इसके द्वारा मंजता है व्यक्ति। निर्मल और उज्जवल होता है। यह तो साधना है, योग है। जिम्मेदारी कंधों पर पड़ती है तो व्यक्ति जिम्मेदार बनता है। संघर्ष होता है और व्यक्ति मंज जाता है। विवाह तो व्यक्ति को विकास—क्रम में आगे ले जाने के लिए मंगलमयी देव का दयामय विधान है। ... सबसे बड़ा पाठ जो पढ़ा जाता है, वह है अपने को मिटा देने का। पत्नी, पति में अपने को मिटा देना सीखती है। बच्चों में अपना आपा खो देना सीखती है। अपनेपन को खोकर ही वह नये परिवार का एक सजीव अंग बन जाती है। जितना कोई आपा खो सकता है, उतना ही भगवती भाव उसमें प्रकट होता है, उतना ही वह प्रभु का हो सकता है। आपा ही सबसे बड़ा बन्धन है। जितना कोई मिट सकता है, उतना ही खिल जाता है और खुल जाता है, फलता और फूलता है। बीज गलकर विकास को पाता ठीक वैसे ही है।"

आपा खोना — अहं भाव से ऊपर उठना आध्यात्म की ऊँची घाटी है। सती साध्वी स्त्री इस पाठ को घर में पढ़ सकती है। ईमानदार पति भी इस पाठ को गृहस्थी में पढ़ सकता है। कैसा अमूल्य अवसर है, इस पाठ को पढ़ने का।

कैसे मिटाया जाता है आपा? अपनी रुचियों और चाह का त्याग करके। अपने सुख की परवाह न करके। यह त्याग पति तथा पत्नी दोनों को ही उज्ज्वल कर देता है।

यही त्याग सेवा होती है। सेवा तो मनोवृत्ति है। दूसरों के लिए उपयोगी होने की सच्ची क्रियाशील भावना है। सेवा करके स्वार्थपरता दूर की जाती है। निःस्वार्थ हुआ जाता है। यज्ञमय हुआ जाता है। यज्ञमय पुरुषोत्तम का प्रत्यक्ष पूजन होता है — सेवा।

और पढ़ा जाता है प्रेम का मधुर पाठ। बिना प्रेम के तो मनुष्य—मनुष्य नहीं होता, सूखा ठूँठ होता है। और बिना प्रेम के प्रभु का द्वार भी तो नहीं खुलता। गृहस्थ जीवन में दिल पिघलना सीखता है। घर वालों के लिए पिघलना सीखकर वह प्रभु के लिए भी पिघल सकता है। पड़ोसी के लिए भी पिघल सकता है। परन्तु बिना पिघलता सीखे तो वह पिघलता ही नहीं, वह जग ही नहीं सकता। प्यार देना, प्यार कर सकना सुखी रहने का सार है। पति को पत्नी और पत्नी को पति प्यार सहज में ही दे सकता है। बच्चों को भी स्वभाव से ही प्यार दिया जाता है। मातृत्व और पितृत्व का सौभाग्य मिलता है) उस महान मातृ—पितृ शक्ति का अवतरण होता है। वह महाशक्ति का भाव और परमपिता का भाव उतरता है, लौकिक माँ और बाप में। वह ऊँचा कर देता है।

तुम कहोगी यह पाठ तो बहुत ऊँचे हैं, परन्तु इस प्रेम में बन्धन होता है, मोह होता है। व्यक्ति ममता—मोह के मायाजाल में फँस जाता है और दुःखी होता है। आसक्तियाँ पैदा हो जाती हैं।

तुम्हारा कहना ठीक है, परन्तु इन आसक्तियों की जागृति होने पर ही तो व्यक्ति उनसे छूट सकता है। वे जब प्रकट नहीं होतीं तब भी तो हमारे भीतर रहती हैं। आसक्ति तो चिपकने की योग्यता है। अवसर होने पर जग जाती है। वैवाहिक जीवन में ममता—मोह प्रकट हो जाता है। होता तो वह पहले से ही है। जब वह प्रकट होता है, तो उसका क्षय भी हो सकता है। रोग प्रकट हो तभी तो उसका इलाज होता है।

ममता—मोह का, आसक्ति का इलाज है — समर्पण। यह सब कुछ प्रभु का ही तो है। हम अपना समझ बैठते हैं, इसीलिए तो बँधते हैं। उसकी चीजों को, उसी को अर्पण कर देना होगा। सभी कुछ उसी का समझना होगा। बाल बच्चों को, पति को और घर—बाहर को भी उसी का समझना, बरतना होगा। उसी का समझकर, उसी की सेवा समझते हुए सभी काम करना होगा। . . . इस निष्ठा से कर्म करता हुआ व्यक्ति बन्धनरहित हो जाता है। . . .

काम और क्रोध भी लाँघा जाता है। इसी ग्राहस्थ्य के विद्यालय में। यदि सुख के लिए ग्राहस्थ्य किया जाय तो यह काम, क्रोध तथा लोभ के चक्कर में फँसना ही है। वैवाहिक जीवन में तो सुख भी आयेगा और दुःख भी। दोनों को प्रभु की देन समझकर, कल्याण मार्ग के कदम समझकर, विकास पथ के पग जानकर सहर्ष स्वीकार करना होगा। साधना समझकर ग्राहस्थ्य में प्रवेश करना ठीक है। विकास का ही एक महान पाठ मानकर इसे पढ़ना चाहिए। कर्तव्य की और पूजन की भावना ही

इसमें प्रधान रहनी चाहिए। तब दुःख से व्यथा न होगी। सुख पावों को हिला न पायेगा। यह सभी संभव है दृढ़ता और धैर्य से चलते चले जाने से। . . ."[1]

जीवन के प्रति यह सूक्ष्म दृष्टि जीव की विकास यात्रा में व्यावहारिक जीवन की सहज—सरल प्रगति को महत्त्वपूर्ण मानती है। आवश्यकता केवल व्यक्ति के दृढ़ संकल्प एवं उचित दृष्टि की है। साथ ही ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण भाव की।

रामानन्द जी ने जीवन में सुख—दुःख, शुभ—अशुभ को भी व्यक्ति के विकास में सहायक माना है। सुख को व्यक्ति बाह्य वस्तु सापेक्ष मानकर जीवन में दुःख को आमंत्रित करता है। सुख का बाह्य वस्तु सापेक्ष होना सही होता तो कुछ काल बाद हम इससे वंचित क्यों हो जाते? छोटी—छोटी तृष्णाओं की पूर्ति सुख नहीं है। सुख और भौतिक वस्तुओं के बीच कालिक सम्बन्ध है। सांसारिक सुख नश्वर है। परिवर्तनशील है। जो वस्तु कभी सुख देने का अहसास जगाती है, दूसरे समय वही वस्तु दुःख का अथवा उदासीनता का कारण बन जाती है। सुख—दुःख का कारण हमारी मनोवृत्ति से है। हमारी आत्मिक चेतना विकास के जिस सोपान पर स्थित होकर कार्यरत होगी, सुख प्राप्त करने की अनुभूति में भी उसी के अनुरूप बदलाव आता जायेगा।

सुख को बाह्य वस्तु की प्राप्ति का पर्याय समझना हमारी भूल है। इस संकुचित दृष्टि को व्यापक बनाकर मन के निर्मल शाश्वत आनन्द से परिचित हुआ जा सकता है। इसी के विपरीत दुःख भी हमारी संकुचित दृष्टि का ही प्रमाण होता है। जीवन के उन्नत मूल्यों को स्वीकार करके व्यक्ति, वस्तु सापेक्ष दुःखों की मात्रा में कमी ला सकता है। विकास के इसी क्रम में सुख—दुःख के बीच सामन्जस्य स्थापित कर चेतना की निर्लिप्तता को समझा जा सकता है।

सुख—दुःख का आध्यात्मिक मूल्य बताते हुए रामानन्द जी ने इन्हें आध्यात्मिक मार्ग में प्रविष्ट कराने का साधन बताया है। सामान्यतः सुख—दुख का कारण प्रारब्ध को माना जाता है। रामानन्द जी प्रारब्ध का कारण पूर्व जन्मों के कर्म से स्वीकार करते हैं। व्यक्ति का जीवन अपने आप में कई जन्मों के कर्मों को समेटे होता है। जिनका प्रत्यक्ष अहसास हमें नहीं होता। ये पूर्व कर्म व्यक्ति की चेतना की जागृति के अनुरूप फलीभूत होकर उसके अन्दर के 'स्व' का बोध कराते हैं। पूर्व कर्म हमारे समक्ष परिस्थितियों के रूप में फलीभूत हो रहे हैं। हमारी दृष्टि यदि इसे समझ लेती है, विकास की एक सीढ़ी चढ़ जाती है। दृष्टि में परिवर्तन आना आत्मिक विकास है। प्रेम, सेवा, त्याग, आत्मिक विकास के सूचक हैं) साधक का गुण हैं। आध्यात्म की राह में एक कदम है। जीवन का अर्थ मात्र लेना नहीं देना है। जीवन में समुचित सामन्जस्य आवश्यक है।

---

1. स्वामी रामानन्द, जीवनगाथा, जीवनदर्शन एवं साधना — लक्ष्मी सक्सेना, पृष्ठ 195—197

सामन्जस्य का अर्थ है — जीवन का यथार्थ ज्ञान, उसकी स्वीकृति और उसके प्रति व्यक्ति की प्रतिक्रिया। इस दृष्टि में विकास की गति तीव्र करने की शक्ति है। व्यावहारिक सुख का विरोधी दुःख व्यक्ति के आत्मिक विकास की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह व्यक्ति को बाह्य जगत की निर्लिप्तता से खींचकर बाह्य जगत की निःसारता का बोध कराता है। उसकी अन्तर्दृष्टि को विकसित करने में 'दुःख' अहम भूमिका निभाता है।

दुःख, व्यक्ति का जीवन से असामन्जस्य का सूचक है। जीवन के प्रति बढ़ता सामन्जस्य, उचित दृष्टि का प्रसार करके शाश्वत आनन्द की ओर ले जाता है। दुःख जीवन में प्रेम, सेवा, दया का मूल्य समझाता है। इसकी शक्ति व्यक्ति के 'मैं' को विनम्रता में बदलने लगती है। दंभी से दंभी व्यक्ति भी दुःख के क्षणों में विनम्रता का पाठ पढ़ जाता है। दुःख शक्ति और संतुलन प्रदान करता है। दुःख का भोग व्यक्ति को उसकी सहज शक्ति से परिचित कराता है। साथ ही ईश्वर से एकात्मबोध कराकर व्यक्ति में ईश्वर के प्रति समर्पण भाव जाग्रत करता है।

शुभ—अशुभ भी मानव की सहज प्रवृत्तियों के माध्यम से मूर्तमान होते दिखाई देते हैं। जहाँ ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध अशुभ प्रवृत्तियों का सूचक है, वहीं सत्य, प्रेम, सेवा, त्याग, करुणा मनुष्य के माध्यम से शुभत्व का प्रतिनिधित्व करते हैं। मनुष्य के उन उन्नत गुणों को शुभ माना जा सकता है, जो अशुभ से परे, अधिक से अधिक लोगों को सुख दे सकते हैं। शुभ व्यक्ति को व्यक्तिगत दृष्टि से उठाकर समस्त जीवों के एकात्म रूप का बोध कराता है। सामान्यतः अशुभ प्रवृत्तियाँ मनुष्य को आकर्षित करती दिखायी देती हैं। किन्तु शीघ्र ही अशुभ प्रवृत्तियों का अतिक्रमण कर शुभ प्रवृत्तियाँ व्यक्ति की चेतना का प्रतिनिधित्व करने लगती हैं। इस विकास—क्रम में मानवीय चेतना कर्तापन के भाव से मुक्त होकर अहंकार का अतिक्रमण करने लगती है। यह स्थिति व्यक्ति में दैवीय चेतना के प्रसार का वाहक बन जाती है। यह स्थिति शुभ—अशुभ दोनों को पीछे छोड़कर समाधि चैतन्य में परिवर्तित हो जाती है। इसमें व्यक्ति की चेतना की चंचलता गायब हो, स्थित होने लगती है। आध्यात्म में प्रवेश करने के लिए समाधि चैतन्य का आविर्भाव आवश्यक है। यह मानवीय चेतना की परिपक्वता का संकेत है। प्रज्ञान में मनुष्य संतुलित होता है। सुख—दुःख, शुभ—अशुभ के भावों से मुक्त निष्काम कर्म का प्रतिनिधित्व करता है। गीता में इसी भाव की व्यंजना 'निष्काम कर्मयोगी' के माध्यम से की गयी है। यह स्थिति शान्ति और निर्मल आनन्द का प्रवाह करती है।

स्पष्टतः सुख—दुःख, शुभ—अशुभ सभी मानव की विकास यात्रा के सोपान हैं, जिन पर चढ़ना मानव की नियति है। ये व्यक्ति के वे पाठ हैं जिन्हें जीवन में पढ़कर उसे आगे बढ़ना है। इन्हीं की भाँति कामना अथवा कामेच्छा को आध्यात्म मनीषियों

ने तिरस्कृत किया है। रामानन्द जी इसके प्रति भी अपने अलग विचार रखते हैं। उनके अनुसार कामना का तिरस्कार करना उचित नहीं है। यह प्रवृत्ति ही तो संसार के चलने का सूचक है। कामना, परिमार्जित हो, मनुष्य को पशु स्तर से ऊपर उठाती है। कामना की गति स्वतः ही निम्न संवेगों को गतिमान कर उनकी अस्थिरता का बोध करा अतिक्रमण कर जाती है। इसे आदम और हौवा का निषिद्ध फल मानकर इसका तिरस्कार करना, जगत के हर कण में व्याप्त उस दैवी चेतना का अपमान करना है। उसको सही अर्थों में समझने के लिए हमें अपनी दृष्टि परिमार्जित करनी होगी। अशुभ कामनाओं को, जबरन दबाना, गतिशील चेतना के साथ घोर अन्याय होगा। अनुभव इनकी नश्वरता का बोध अपने आप चेतना की जागृति के अनुरूप व्यक्ति को करवा देता है। संयम की स्वाभाविक प्रवृत्ति स्वयंमेव इन पर अंकुश लगाती है। आसक्ति एवं संयम के बीच का सामन्जस्य व्यक्ति की चेतना को स्वयंमेव इनका अतिक्रमण करा देता है। जहाँ से पुनः पतन की ओर इनकी वापसी का मार्ग बन्द हो जाता है। दिव्य ज्ञानी दृष्टि क्षुद्र पाशविक सुखों से स्वयंमेव मुक्त हो जाती है।

आज के आधुनिक युग में शुभ—अशुभ का गलत रूप ही व्यक्ति को तेजी से पतन के गर्त में फँसा रहा है। आध्यात्म मनीषियों द्वारा आध्यात्म का अपूर्ण प्रचार इनके दमन का आह्वान करता है। जबकि आवश्यकता इनके प्रति समुचित दृष्टि विकसित करने की है।

रामानन्द जी ने आध्यात्मिक साधना के लिए प्रथम आधारभूत दो मौलिक पाठ बताये हैं — सम्यक् ज्ञान और सम्यक् जीवन। सत्य को समझकर तद्नुरूप जीवन—यापन ही समाज की भटकी हुई स्थिति को संयमित कर सकता है एवं मानव जाति को सही दिशा देकर सुखी बना सकता है। जगत कारागार नहीं है, जहाँ से हमें मुक्त होना है। यह तो पाठशाला है जहाँ इस जगत का अधिष्ठाता नवीन अनुभवों द्वारा पाठ पढ़ाकर विकास के मार्ग पर आगे बढ़ाता है। मानसिक चेतना से ऊपर उठकर भागवती चैतन्य से सराबोर हो, व्यक्ति की चेतना स्वयंमेव मुक्त हो जाती है। यह निरासक्त भाव ही मोक्षमार्ग है। व्यक्ति का जन्म जीवन के पाठ पढ़ने के लिए होता है। एक जन्म, समुचित ज्ञान के लिए कम पड़ता है। पुनर्जन्म के पीछे यही धारणा है। अनुभव एवं कर्मों के फल का अटूट रिश्ता है। इनकी समुचित दृष्टि प्राप्त होते ही व्यक्ति के विकास की गति तेज हो जाती है। इस सांसारिक पाठशाला में मानसिक चेतना का अतिक्रमण करना है। मानसिक स्तर से परे जाने के लिए जीवन के पाठों को पढ़ना आवश्यक है। इन पाठों को पढ़ने में जितना समय लगता है, उसके अनुरूप हम जन्म—मृत्यु के चक्र में फँसे रहते हैं। इनसे मुक्ति दिव्य ज्ञान प्राप्त हो जाने पर ही संभव है। साथ ही पूर्व जन्मों के कर्मों का क्षय भी आवश्यक है। अक्सर व्यवहार

जगत में अत्यन्त साधु प्रवृत्ति वाले इंसान कष्ट भोगते दिखायी देते हैं। इसका कारण पूर्वजन्मों के कर्मों का फलीभूत होना ही होता है। सम्यक् ज्ञान की यह दृष्टि, एक छलाँग में विकास की कई सीढ़ियाँ चढ़ जाती है। आध्यात्म का लक्ष्य जरा मृत्यु के बंधनों से मुक्त होना नहीं वरन् इन सबका अतिक्रमण कर विकास—प्रक्रिया में अनुस्यूत दैवी चेतना में निमग्न हो जाना है। मोक्ष की कामना का सही अर्थ यही है, न कि जन्मों के बंधन से छुटकारा पाना। कर्म से त्याग का अर्थ, कर्मों से छुटकारा नहीं वरन् उचित दृष्टि विकसित कर कर्मपथ पर अनासक्त होना है।

पुनर्जन्म तथा कर्मवाद

पुनर्जन्म तथा कर्मवाद की पारस्परिक निर्भरता को व्यक्त करते हुए रामानन्द जी ने जीवन प्रवाह को एक नदी के समान बताया है। जिस प्रकार नदी के ऊपरी स्तर के प्रवाह का कारण उसके निचले सतह की तरंग गति होती है। उसी प्रकार एक जीवन के कर्मफल उसके पिछले जन्मों का प्रभाव होते हैं।

जीव के निर्माण में कई व्यक्त—अव्यक्त स्तरों का योगदान होता है। स्थूल शरीर, पंचतत्वों से बना है, जिसे अन्नमय कहते हैं। यह स्थूल शरीर प्राण का वाहक होता है, जो शरीर से अधिक सूक्ष्म तथा स्थायी होता है। जिससे शरीर सजीव रहता है। इसके विच्छिन्न हो जाने के पश्चात् शरीर मृत्यु को प्राप्त कर लेता है। अवसर आने पर प्राणमय भी विच्छिन्न हो जाता है। जैसे स्थूल के अणु, स्थूल पृथ्वी, आकाश, वायु, अग्नि, जल में मिल जाते हैं, वैसे ही सूक्ष्म प्राणमय अणु भी प्राणमय स्तर में मिल जाते हैं। प्राणमय का अवलम्बन अधिक सूक्ष्म मनोमय स्तर होता है। प्राणमय के विच्छिन्न हो जाने पर भी मनोमय स्तर बना रहता है। मनोमय स्तर में भाव की तरंगे और संकल्प विकल्पनात्मक स्पन्द संभव होते है। इससे अधिक सूक्ष्म तथा इसका आधार विज्ञानमय स्तर होता है। यह वह स्तर है जिसमें आत्मस्फुरण तथा सूक्ष्म दर्शनादि संभव होते हैं।[1] व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् जीव मनोमय के अणुओं से युक्त विज्ञानमय के स्तर को लेकर नये शरीर में प्रवेश कर प्राण एवं स्थूल चेतना का वाहक बनता है। विभिन्न अनुभूतियों से गुजरता हुआ जीव जब अपने इस 'विज्ञानमय', 'आत्मतत्व' की अनुभूति प्राप्ति की योग्यता प्राप्त कर लेता है। वह समाधि चेतना को प्राप्त हो जाता है।

रामानन्द जी विज्ञानमय स्तर से परे एक अन्य स्तर आनन्दमय को जीव का गन्तव्य मानते हैं। जिसकी प्राप्ति कर जीव आनन्द के महासागर, परमस त्ता के भाव में लीन हो जाता है।

---

1. आध्यात्म विकास — स्वामी रामानन्द, पृष्ठ 121

'विज्ञानमय' स्तर के परे भी एक स्तर है, जिसे आनन्दमय कहा जाता है। यह विज्ञानमय का अवलम्बन है और इसके अलग हो जाने से विज्ञानमय के अणु भी आनन्दमय में मिल जाते हैं और विज्ञानमय कोष विच्छिन्न हो जाता है। इस आनन्दमय का विच्छेद असम्भव है। यही सारी शक्ति का आदि स्रोत है। यही मनुष्य की आत्मा है। यही अविच्छेद सत्ता है।[1]

आनन्दमय की शक्ति ही अपने विशेष स्पन्दन के द्वारा अपने अनुकूल अणुओं का आकर्षण कर विज्ञानमय कोष का निर्माण कर देती है। यह पहला जन्म है आनन्दमय का। विज्ञानमय में पुनर्जन्म ; इसी प्रकार से यह नूतन विज्ञानमय, मनोमय में जन्म लेता है और अपने अनुकूल मनोमय कोष का निर्माण कर लेता है। यह विज्ञानमय का पुनर्जन्म है मनोमय में। इसी क्रम से प्राणमय की और अन्त में अन्नमय अथवा स्थूल शरीर की अभिव्यक्ति होती है। स्थूल शरीर की उत्पत्ति के लिए स्थूल शरीरधारी नारी—पुरुष के सहयोग की आवश्यकता रहती है। यह पुनर्जन्म है अन्नमय में) प्रायः इसी को पुनर्जन्म कहा जाता है।[2]

इनमें व्याप्त चेतन शक्ति आनन्दमय के रूप में जीव के समस्त जन्मों में एक सी रहती है। विज्ञानमय के कोष में संचित उसके कर्म कई जन्मों का कारण बनते हैं। विज्ञानमय के, आनन्दमय में पूर्णतः विच्छिन्न होते ही जीव अपने शाश्वत रूप में पुनः लीन हो जाता है।

आध्यात्म एवं पूर्णयोग

सामान्यतः आध्यात्म को जगत से अलग करके देखा जाता है। विकासवादी दृष्टि के तहत यह स्पष्ट है कि ईश्वर विकासवादी प्रक्रिया के माध्यम से स्वयं का स्फुरण जगत की समस्त विभिन्नताओं में करता हुआ आनन्दमय के अखंड रूप में समस्त रचना में विद्यमान है। अतः निश्चित ही जगत की समस्त रचना में उसकी इस लीला के वास्तविक अर्थ को समझना ही आध्यात्म है।[3]

---

1. आध्यात्म विकास, स्वामी रामानन्द, पृष्ठ 121
2. वहीं
3. Spritualism is an ondeavour to trace the divine tread through one and all alike. It is an attempt to recognize him work everywhere from the stirring in a living cell to human beings, from a speak of dust to a mountain, from the humble hearth of peasan to the palace of a king. It is to catch the glim of his light in the materialist and the spritualist in the sinner and the saints in the ant and the elephant alike. It comprises an infinite fredth of vision, a giddy of comprehension and embraces all at a glance. – Evolutionary outlook on life - Swami Ramanand, Page 17.

आध्यात्म का अधिष्ठाता ईश्वर है। ईश्वर को व्यावहारिक बुद्धि के द्वारा, तर्क के द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता। सामान्यतः विपत्ति में व्यक्ति ईश्वर की शरण में जाता है। इसका कारण यह नहीं है कि उसे ईश्वर की अनुभूति हो गयी है। विपत्ति हट जाने पर वह पुनः जगत के क्रियाकलापों में लीन हो जाता है। ईश्वर को जानने के लिए व्यक्ति को बुद्धि के स्तर से ऊपर उठकर आत्मचिन्तन में लीन होना होगा। अपने अहं का पूर्ण विलय करने के पश्चात् जीव में जिस अन्तर्दृष्टि का योग होता है वह ईश्वर की अनुभूति का मार्ग है।

ईश्वर हमारा सहायक है, मार्गदृष्टा है, वह माँ की भाँति हमारे अव्यवस्थित व्यक्तित्व को सँवारते हुए हमें रास्ता दिखाता है। इस सारी प्रक्रिया के दौरान वह हममें विद्यमान रहता है। वह आसानी से हमें अपने अस्तित्व का बोध नहीं कराता है। यह हमारी चेतना के गुण पर निर्भर करता है। बिना पूरी तैयारी के हमारी चेतना उसे ग्रहण कर ही नहीं सकती। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार निचली कक्षा का छात्र ऊँची कक्षा की पढ़ाई नहीं समझ सकता।

ईश्वर को तर्कों को बाना नहीं पहनाया जा सकता है। तर्क—वितर्क तो मानव बुद्धि की देन हैं। हम अपनी बौद्धिक क्षमता के अधीन होकर उसको बाँधने की कोशिश करते हैं। सांसारिक वस्तुओं, व्यक्तियों के रूप में उसे जानने की कोशिश करते हैं। 'देशकाल' 'सत्व रजस तमस' विवेचन के सभी रूप उसकी सत्ता को ग्रहण करने में असमर्थ हैं। वह इन सबका अतिक्रमण करता हुआ इन सबमें अनुस्यूत है। वह अपने अस्तित्व का प्रमाण इन सबके माध्यम से देता है, परन्तु तभी जब विश्वास का बाना पहनकर हमारी दृष्टि, ऐंद्रिक दृष्टि का अतिक्रमण कर अतीन्द्रिय स्तर प्राप्त कर लेती है।

आध्यात्म जगत का विस्तार ही इंद्रियों की सीमितता का अतिक्रमण करके होता है। आध्यात्म के मार्ग पर पदार्पण करने के साथ ही योग के साधन का विस्तार होता है। योग हमारी चेतना को परिपक्व कर ईश चेतना से सराबोर होने का सामर्थ्य प्रदान करता है।.

आध्यात्म मार्ग पर स्थित अनेक 'स्थितप्रज्ञ' सन्तों, महात्माओं ने योग को ईश्वर तक ले जाने वाला मार्ग बताया है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है। योग को भी प्रचलित अर्थों में मात्र शारीरिक स्वास्थ्य प्रदान करने वाले आसनों के रूप में लिया जाने लगा है। योग का यह रूप एकांगी अर्थ प्रदान करता है। वास्तव में योग व्यक्ति की चेतना को ऊर्ध्वमुखी कर शारीरिक तटस्थता प्रदान करते हुए एक भिन्न जगत में प्रवेश कराता है। यह व्यक्ति के चिन्तन को आत्मलीनता में विस्तार देता है। इसके प्रमुख वर्ग हैं — ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, राजयोग।

यह सारे रास्ते ही हमारी चेतना को व्यावहारिक स्तर से ऊपर उठाकर आत्म चिन्तन की ओर ले जाते हैं। इन सबमें सबसे कठिन 'ज्ञानयोग' का मार्ग है। ज्ञानयोग, साधक की दृढ़ आत्मशक्ति एवं कठिन देहसाधना के पश्चात् ही संभव है। इस रास्ते पर चलने वाला साधक, पुरुष (आत्मा) एवं प्रकृति के भेद को ग्रहण कर उससे अलगाव की अवस्था को प्राप्त कर चुका होता है एवं कठिन साधना के पश्चात् मात्र अपने 'स्थिरचित्त' में स्थित हो, ईश्वर की लीला का ज्ञान प्राप्त कर चुका होता है।

'ज्ञानयोग' के इस रास्ते पर चलने वाला साधक अपनी साधना से अपने स्वरूप में इस प्रकार स्थित हो जाता है कि उसे यह लगने लगता है कि यह संसार यथार्थ नहीं है और इसमें होने वाली सभी क्रियाएँ, उसमें होने वाली क्रियाएँ नहीं है। फलस्वरूप अपने शरीर में स्थित होते हुए भी उसमें यह स्पष्टबोध बना रहता है कि शरीर में जो कुछ भी हो रहा है, वह उसमें होने वाला परिवर्तन नहीं है। वह स्वयं तो विशुद्ध चैतन्य है। सारे परिवर्तनों के ऊपर, सारे परिवर्तनों का आधार और इसी नाते उनसे अप्रभावित मात्र उनका 'साक्षी।'[1]

यह साक्षी भाव प्राप्त करना सामान्य मानव के लिए संभव नहीं। जगत एवं उससे जुड़ी संवेदनाओं का पूरी तरह अतिक्रमण करके इस समाधि चैतन्य भाव को प्राप्त कर पाना आसान रास्ता नहीं। मानव की प्रकृति को देखकर भक्तियोग अधिक सुचारुमार्ग है। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, किसी का अवलम्बन पाने की। ईश्वर के रूप में परम तत्व के प्रति वह अपनी समस्त भक्ति, अपने समस्त प्रेम का समर्पण कर देता है। जैसे—जैसे संसार की अन्य चीजों, अन्य भावों की नश्वरता का बोध उसे होता जाता है। ईश भाव के प्रति उसका समर्पण और सुदृढ़ होता जाता है।

जगत के रचयिता, जगत के पालनकर्ता के रूप में ईश्वर जगत के हर कण में दिखायी देने लगता है। पूजा—अर्चना से शुरू हुई यह यात्रा व्यक्ति के अन्दर एक ऐसा प्रेममय भाव प्रकट करती है कि उसे स्वयं में और ईश्वर में कोई भेद नहीं दिखायी देता। ईश्वर से एकाकार हुआ उसका मन अपनी सुधबुध खोकर उसी में रम जाता है। जिसमें इस भाव की प्राप्ति कर ली वह एक झटके में ही विकास की सारी सीढ़ियाँ लाँघकर ईश्वरमय हो जाता है।

भक्तियोग की राह में भी कठिनाइयाँ आती हैं। जगत की आसक्तियाँ, पूर्ण समर्पण भाव प्राप्त करने में बाधक बनती हैं। किन्तु जीवन का अर्थ समझकर, इसके प्रति तटस्थ भाव अपनाते हुए दिल की सम्पूर्ण निष्ठा से ईशभाव से निश्छल प्रेम इस राह को सरल बना देता है। इस प्रेम में पूर्ण समर्पण होता है। प्रत्युत्तर में कुछ पाने की इच्छा शेष नहीं रह जाती।

---

1. स्वामी रामानन्द, जीवनगाथा, जीवन—दर्शन एवं साधना — लक्ष्मी सक्सेना, पृष्ठ 109

भक्ति भाव में स्थापित हुए जीव की उच्चतर अवस्था पराभक्ति में स्थापित होना है। यहाँ समर्पण भाव पूरा होकर 'मैं' और 'वह' के भेद से ऊपर उठ जाता है। पराभक्ति का उदाहरण रामकृष्ण परमहंस के भाव में देखा जा सकता है, जहाँ वे ईश्वर से एकलयता स्थापित कर काली माँ के साथ—साथ स्वयं पर भी फूल चढ़ाने लगते थे।

कर्मयोग का आह्वान गीता में कृष्ण ने अर्जुन के लिए किया था। अपने समक्ष अपने सगे—सम्बन्धियों को देखकर विह्वल अर्जुन को जगाते हुए श्री कृष्ण कहते हैं — कर्म की राह में कर्मफल से स्वयं को विमुक्त रखकर अपने धर्म की पूर्ति करना ही जीवन का ध्येय है। 'मैं' भाव से ऊपर उठकर ईश्वर द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर कार्यरत होना ही कर्मयोग है। यह भाव भी ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण भाव की माँग करता है। आसक्तियाँ तो हमें बाँधती है कर्म की राह में हमारे पाँव में मोह की जंजीर बनता है। किन्तु जिसने जीव के स्वभाव एवं उसमें विद्यमान ईशभाव को जान लिया, वह इन आसक्तियों का अतिक्रमण कर 'कर्म' की राह में अनासक्त भाव से चलकर ईश्वर को प्राप्त कर लेता है।

स्वामी रामानन्द जी ने कर्मयोगी के इसी भाव को अपने जीवन में उतार कर दिखाया था। ईश्वर के प्रति पूर्ण निष्ठा एवं समर्पण भाव को अपने जीवन में उतार कर भी उन्होंने अपना सारा जीवन संन्यास को नहीं अर्पित किया। आरम्भ में वे संन्यास पथ पर चले। दिव्यबोध हो जाने के पश्चात् वे कर्मयोगी बनकर रहे। वे मन से तो संन्यासी थे किन्तु व्यवहार में वे जीवन भर सामान्य मानव को दिशा दिखाते रहे। सभी के लिए उनका यही संदेश भी था कि जीवन तथा जीवन से जुड़ी सभी जिम्मेदारियों को पूरा करते हुए कर्त्तापन के भाव से ऊपर उठकर जीवन को सरल एवं निष्कपट बनायें। यह समर्पण अपने आप ही ईशभाव को व्यक्ति के दिल की गहराइयों से निकालकर, उसे उसमें निमग्न कर देगा। महाशक्ति के इस अवतरण का बोध व्यक्ति का अन्यों से भेद समाप्त कर देता है। मेरा, तेरा का भेद समाप्त होकर महाशक्ति में लीन हो जाता है।

कर्मयोग, भक्तियोग दोनों की धारा एक ही स्वर सुनाती है, पूर्ण समर्पण भाव) चाहे वह ईशप्रेम के प्रति हों, चाहे वह कर्तव्यपालन में, उसका आदेश मानकर हो। सामान्य मानव भी इन्हीं भावों को जीता हुआ स्वाभाविक रूप से एक छलाँग में कर्मयोगी संन्यासी के भाव को प्राप्त कर सकता है। अतः जीवन से भागने की आवश्यकता तो किसी तरह भी नहीं है। संसार की रचना में ही ईश्वर व्याप्त है तो संसार से भागना कैसा? आवश्यकता तो समस्त रचना में दैवी भाव को समझकर ज्ञान प्राप्त करने की है। रामानन्द जी ने पूर्णयोग के रूप में तीनों योगों का समागम जीव के लिए संभव माना है।

जीवन के प्रति स्वीकारात्मक दृष्टिकोण अपनाकर माँ महाशक्ति के हाथों 'स्व' को समर्पित करके सत्य, प्रेम, सेवा, त्याग का भाव अपनाकर, स्वार्थ एवं परार्थ भाव का अतिक्रमण करके, गृहस्थ धर्म में रहते हुए भी उस दिव्यशक्ति का अवतरण किया जा सकता है। इस तैयारी के अतिरिक्त जीव में महाशक्ति का अवतरण साधना पथ पर अग्रसर होने की माँग रखता है। जिसके लिए योग्य गुरु की आवश्यकता होती है जो जीव को सही दिशा निर्दिष्ट कर उसमें चैतन्य भाव निरूपित कर सके। आध्यात्मिक साधन खण्ड प्रथम व द्वितीय में स्वामी रामानन्द जी ने विस्तार से 'साधना पथ' पर प्रकाश डाला है।

पूर्णयोग व्यक्ति के आन्तरिक जगत का बाह्य जगत से पूर्ण समन्वय पर आधारित है। जैसा कि स्पष्ट हो चुका है, रामानन्द जी ने आध्यात्म के लिए बाह्य जगत का निषेध आवश्यक नहीं माना है। बल्कि जगत में रहकर सत्य, प्रेम, सेवा के निर्मल भावों से चेतना को विस्तार देकर व्यष्टि, समष्टि के भेद का अतिक्रमण करने में ही योग की पूर्णता बतायी है। योग, आत्मसंयम की भावना को सहज रूप से चेतना पर आरोपित करता है, जिससे अनुप्राणित हो चेतना समस्त भावों का अतिक्रमण कर 'ईश—प्रेम' के भाव में स्थित हो जाती है।

पूर्णयोग का अधिकारी बन जाने के पश्चात् व्यक्ति 'साधनापथ' पर अग्रसारित होकर अपने मन की लगन को तीव्रता देता है। पूर्ण समर्पण एवं आनन्दमयी माँ के आवाहन की अदम्य लालसा जब दिल की गहराइयों से पुकार बनकर निकलती है। उस क्षण भगवती चेतना एवं व्यक्तिगत चेतना के योग का मार्ग प्रशस्त होता है। इस राह पर चलना ही पूर्णयोग है, आन्तर योग है।

योग को परिभाषित करते हुए स्वामी रामानन्द कहते हैं — अन्तस्तल का नीरव नितान्त एकान्त गुहा में आत्मा का साधक का, अपने प्रियतम प्रभु से, कृपामयी जगतजननी महाशक्ति से माँ से गाढ़ सम्मिलन है — आन्तर योग।[1]

पूर्ण समर्पण का अर्थ यहाँ पर अपने को मिटा देना नहीं है, वरन् स्वयं को पूर्णता प्रदान करना है।

स्वामी जी हमें सचेत करते हुए तथा आत्मदान के अर्थ को और गहराई प्रदान करते हुए कहते हैं कि उस विश्वव्यापी, अन्तर्वर्ती 'एकता' से अपने को युक्त कर लेना, उसके लिए ही जीना तथा उसके प्रति पूर्णतः समर्पित हो जाने का अर्थ यही नहीं है कि हम अपने को पूर्णतः मिटा दें कि हमारा कुछ भी शेष न रह जाय। यह आत्मदान तो अपने को निहाल करना है। अहं को परम में परिवर्तित करना है। आत्मशक्ति को महाशक्ति में रूपान्तरित कर देना है। यह व्यक्तित्व की कृतकृत्यता

1. आध्यात्मिक साधन खण्ड 2, पृष्ठ 1

है। विनाश नहीं है, पूर्णत्व है। अपने को सबमें लीन करते हुए सबको अपने में लीन करना है।[1]

रामानन्द जी की साधना शैली की विशिष्टता यही है कि साधक, माँ महाशक्ति में लीन होने की जितनी लालसा रखता है, उतना ही माँ भी उसे स्वयं में समेट लेना चाहती है। क्योंकि यह शक्ति तो उसमें सदैव से विद्यमान है, उसे स्वयं में निमग्न होने के लिए प्रेरित कर रही है। यह कोई बाह्यशक्ति नहीं है जिसमें निमग्न होने के लिए स्वयं को मिटाना हो। अनन्यता का यह बोध ही उसे स्थिर शान्त आनन्दमयी बनाने में समर्थ है। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए साधना पथ अहंकार के समर्पण के बाद बुद्धि एवं हृदय के समर्पण की भी माँग करता है। बुद्धि को वाद—विवाद के घेरे से निकलकर आस्था में परिवर्तित होना होगा। प्रीति को भी स्वजनों के संकुचित दायरे से हटकर सभी जीवों के प्रति व्यापक होना होगा।

इस योग साधना की विशिष्टता इसके अवरोह पथ में है। साधक का पूर्ण समर्पण ही माँ महाशक्ति के अवतरण में सहायक है। इसके लिए संन्यास के मार्ग की आवश्यकता नहीं। गृहस्थ और संन्यास के बीच का सामन्जस्य ही इस दृष्टि की विशेषता है।

स्वामी रामानन्द जी एवं श्री अरविन्द

जैसा कि स्पष्ट हो चुका है रामानन्द जी का दर्शन अध्यात्म को जगत से अलग करके नहीं देखता। जगत व्यावहारिक बुद्धि का विषय है, अध्यात्म व्यावहारिक बुद्धि का अतिक्रमण करके साधना, योग एवं आस्था का विषय है। दृष्टि की तर्कगत बौद्धिक सीमाओं का अतिक्रमण करने के बाद जो योगिक दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है, वह समस्त सत्ता में दैवीय चेतना की प्रयोजनपूर्ण अभिव्यक्ति को देख पाती है।

श्री अरविन्द श्री अध्यात्मवादीमत एवं भौतिकवादी मत की एकांगिता बतलाते हुए जगत को अध्यात्म के रास्ते का रोड़ा नहीं मानते हैं। वे भौतिक जगत को आध्यात्मिक तत्व की ही व्यंजना मानते हैं। वे कहते हैं हम केवल आध्यात्मिक तत्व को ही सत् रूप में स्वीकार न करें, बल्कि भौतिक तत्व को भी उसकी अभिव्यक्ति हेतु समुचित माध्यम के रूप में स्वीकार करें। और यही नहीं परम सत् के रूप में स्वीकृत इस आध्यात्मिक तत्व तथा माध्यम के रूप में समर्थित विश्व के भौतिक स्वरूप के मूल एकत्व का भी उपनिषद की भाँति समर्थन करें।

यह दृष्टि व्यावहारिक दृष्टि को पूर्णता प्रदान करती है। चेतना के बौद्धिक स्तर

1. स्वामी रामानन्द, जीवनगाथा, जीवनदर्शन एवं साधना — लक्ष्मी सक्सेना, पृष्ठ 195

पर क्रियाशील बुद्धि की अपनी सीमाएँ हैं। व्यक्ति के अन्दर 'यथार्थता का बोध' अस्पष्ट रूप से होता है जो उसे 'स्व' का अतिक्रमण करने के लिए निरन्तर प्रेरित करता है। यह इस बात का संकेत है व्यक्ति में बुद्धि की तर्कगत सीमाओं का अतिक्रमण करने का सामर्थ्य है। यदि विचार को अपने लक्ष्य 'पूर्ण स्वरूप' को प्राप्त करना है तो व्यष्टित्व का समर्पण करके समष्टि से एकलयता स्थापित करनी होगी। योग का रास्ता व्यक्ति को अतिमानसिकीय स्तर पर स्थित करके इस संभावना को पूर्णता प्रदान करना है।

स्वामी रामानन्द एवं श्री अरविन्द दोनों ने पूर्णयोग या समग्रयोग की साधना शैली के माध्यम से व्यष्टि और समष्टि के योग को संभव बताया है। श्री अरविन्द कहते हैं अतिमानसिकीय स्तर पर प्राप्त 'अतिप्राज्ञ समन्वय' ही 'तेजोमय समन्वय' है जहाँ विचार खत्म होकर व्यष्टि समष्टि में लीन हो जाता है। रामानन्द जी भी व्यक्ति के पूर्ण समर्पण में व्यष्टि और समष्टि का, आनन्दमय रूप भगवती शक्ति में विलय मानते हैं।

परम सत् की वैविध्यता के प्रकटीकरण को अरविन्द 'अधिमानस' के रूप में प्रकट करते हुए कहते हैं, उसकी यह स्तुति इतनी सजीव एवं वास्तविकता के निकट होती है कि उसकी आन्तरिक एकता के प्रति भी संदेह होने लगता है। लेकिन अतिमानसिकीय स्तर पर यह व्यंजना अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए अपने मूल 'एकत्व तत्व' का बोध करा जाती है।

जीव उस समग्र स्तर का ही एक रूप है। अतएव अपने इसी स्वरूप को प्राप्त करना, इसी में स्थायी रूप से अवस्थित होना ही उसकी नियति है। मनुष्य का सचेतन प्रयास योग के माध्यम से इसे गति प्रदान कर सकता है। व्यष्टित्व के समर्पण का यह अर्थ नहीं है कि भागवती चेतना में व्यष्टित्व का सम्पूर्ण विलय हो जाए बल्कि यह कि व्यक्ति को उस भागवती चेतना के प्रसार का — उसकी व्यंजना का सजीव एवं सक्रिय माध्यम बन जाना है। इस संदर्भ में यज्ञ शब्द का यही अर्थ है।[1] यज्ञ रूप प्राप्त करना ही जीवन की सार्थकता है। यज्ञ का अर्थ है महती शक्ति के माध्यम के रूप में 'स्व' का अर्पण। व्यष्टि में इस भाव के अवतरण के साथ ही दैहिक, जैविकीय, मानसिकीय सभी स्तरों का समर्पण होने लगता है एवं व्यष्टि अध्यात्म के नेतृत्व को अतिमानसिकीय स्तर पर स्वीकार कर क्रियाशील होने लगता है। अध्यात्मयोग का यही प्रयोजन है। यह संसार और यह जीवन तपोभूमि है जहाँ व्यष्टि अपने अन्तस में दिव्य भाव जगाकर भागवती चेतना के दूत के रूप में परिवर्तित होकर पूरी मानव जाति का उत्थान करता है। श्री अरविन्द तो एक ऐसे समाज की भी कल्पना करते हैं जहाँ पर

1. समकालीन भारतीय दर्शन — श्रीमती लक्ष्मी सक्सेना।

पूरी मानव जाति पहुँचकर 'पार्थिव अमरत्व' को साकार कर सकेगी। रामानन्द जी ने श्री अरविन्द के इस प्रयास की सराहना की है एवं पार्थिक अमरत्व की कल्पना को भारतीय दर्शन के लिए महत्त्वपूर्ण माना है।

निश्चिततः दोनों योगियों ने अद्वैत की 'नीरव शान्ति' की अनुभूति को साधना का एक सोपान माना है। जहाँ से दिव्य दृष्टि प्राप्त करके संसार में रहते हुए जीव को गति प्रदान करना ही अध्यात्म का मुख्य ध्येय है। यह दृष्टि निश्चित ही व्यावहारिक जीवन के लिए भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। रामानन्द जी का दर्शन यद्यपि किसी मत या सम्प्रदाय की स्थापना नहीं करता किन्तु जनमानस के विचारों को अधिक प्रभावित करता है। श्री अरविन्द के विचार दर्शन को एक नया आयाम तो देते हैं किन्तु शैली थोड़ी क्लिष्ट होने की वजह से प्रबुद्ध लोगों की पहुँच तक ही सीमित रह जाते हैं। रामानन्द जी के विचार सामान्य मध्यम वर्ग की चेतना को झंझोड़कर जगाने का कार्य करते हैं। उनका यह प्रयास इतना सरल एवं सहज था कि व्यक्ति किसी भी स्तर पर रहता हुआ उत्कृष्टता की सीढ़ियाँ चढ़ने लगता है।

●●●

अध्याय 15 : जीवन के प्रति एक सकारात्मक दृष्टिकोण : स्वामी रामानन्द

1. स्वामी रामानन्द : अध्यात्म विकास
2. स्वामी रामानन्द : आध्यात्मिक—साधन 'खण्ड एक' 'खण्ड दूसरा'
3. Swami Ramanand : 'Evolutionary Spiritualism'
4. Swami Ramanand : 'Evolutionary Outlook on Life'
5. लक्ष्मी सक्सेना : स्वामी रामानन्द जीवन गाथा, जीवन दर्शन एवं साधना
6. डॉ. श्रीमती लक्ष्मी सक्सेना : समकालीन भारतीय दर्शन

संदर्भ ग्रंथ

अध्याय 1 : समकालीन भारतीय दर्शन की प्रवृत्तियाँ

1. श्वीट्ज़र अलबर्ट : इंडियन थाट एण्ड इट्स डेवलेपमेंट
2. जोड, सी.ई.एम. : काउण्टर एक्ट फ्राम द ईस्ट, फिलासिफी ऑफ राधाकृष्णन्
3. अंडरवुड, ए.सी. : कंटेम्पोरेरी इंडियन थाट
4. राधाकृष्णन्, आदि (सं.) : कंटेम्पोरेरी इंडियन फिलासफी
5. मूर्ति, के.स. (सं.) : समकालीन भारतीय दर्शन
6. – : दार्शनिक त्रैमासिक (1954 से आज तक)
7. पाण्डेय, संगमलाल : नव्य प्रयोग दर्शन (दि.स.)
8. पाण्डेय, संगमलाल : भारतीय दर्शनशास्त्र
9. गोपाल रे, विनय : कंटेम्पोरेरी इंडियन फिलासफी
10. नवरवणे, वी.एस. : आधुनिक भारतीय चिंतन
11. पाण्डेय, संगमलाल (सं.) : रानडे का दर्शन
12. शिल्प, आर्थरपाल : फिलासफी ऑफ राधाकृष्णन्
13. श्रीवास्तवा, रमाशंकर : कंटेम्पोरेरी इंडियन फिलासफी
14. एनिकोव, एन.पी. : माडर्न आइडोलाजिकल स्ट्रगल फॉर द एंशिएंट क्लासिकल हेरिटेज ऑफ इंडिया
15. नीलो, बिल्फ्रेड : इम्पैक्ट ऑफ इंडियन थाट आन जर्मन पोएट्स एण्ड फिलासफर्स
16. राधाकृष्णन् स. : महात्मा गांधी

●●●

अध्याय 2 : श्री रामकृष्ण देव

1. विवेकानन्द : मेरे गुरुदेव
2. ब्रह्मानन्द : श्री रामकृष्ण उपदेश
3. शंकर : शारीरिक भाष्य

●●●

अध्याय 3 : स्वामी विवेकानन्द

1. – : विवेकानन्द का जीवन; प्राच्य एवं पाश्चात्य शिष्य अद्वैत आश्रम, अलमोड़ा
2. रोलाँ, रोमा : विवेकानन्द का जीवन और सार्वभौम सिद्धांत
3. शारदानन्द : दिव्य भाव
4. मैक्समूलर : रामकृष्ण, हिज लाईफ एण्ड सेइंग
5. – : रामकृष्ण के सिद्धांत (गोस्पेल)
6. विवेकानन्द : हिन्दू धर्म
7. विवेकानन्द : विधि प्रसंग
8. विवेकानन्द : प्रान-योग
9. विवेकानन्द : ब्रह्मसूत्र
10. विवेकानन्द : गीता
11. विवेकानन्द : कठोपनिषद्
12. विवेकानन्द : इषोपनिषद्
13. विवेकानन्द : सेलेक्टेड वर्क्स

●●●

अध्याय 4 : महात्मा गांधी

1. नेहरू : ऑन गांधी
2. फिशर, लुइस : द एसेन्शल गांधी
3. गांधी : ऐन आटोबायोग्राफी (दि.स.)
4. राधाकृष्णन्, सं. : महात्मा गांधी, एसेज एण्ड रिफ्लेक्शन
5. प्रसाद, राजेन्द्र : श्रद्धांजलि, कलेक्टेड वर्क्स ऑफ गांधी भाग I
6. शार्य, गेने : गांधी हिम रेलेवेन्स फार आवर टाइम्स
7. नरवणे, वी.एस. : माडर्न इंडियन थाट
8. देसाई, महादेव : गांधी
9. शुक्ल, सी.एन. : गांधीज व्यू आफ लाइफ
10. गांधी : ऐन आटोबायोग्राफी
11. राधाकृष्णन् एण्ड म्यूरहेड : कंटेम्पोरेरी इंडियन फिलासफी

12. होल्टास : माई गांधी
13. फिशर, लुइश : इन गांधी
14. राजू, पी.टी. : आइडियलिस्टिक थॉट आफ इंडिया
15. तेंदलकर : दि महात्मा
16. दत्ता, डी.एम. : दि फिलासफी आफ महात्मा गांधी
17. नेहरू : आटोबायोग्राफी
18. ऐशो, जी. : गांधी
19. बोस, एन.के. : सेलेक्शन फ्राम गांधी
20. वेर्ग, वाइन (स.) : इंस्टेड आफ वायलेंस
21. – : कलेक्टेड वर्क्स आफ गांधी : भाग 13, 19, 21, 23, 27, 31
22. – : यंग इण्डिया : मार्च 3, 1925; अक्तूबर 14, 1929; फरवरी 22, 1926; सन् 1927
23. देसाई, महादेव : सोशल फिलासफी आफ गांधी
24. पट्टाभि सीतारम्मैया : गांधीवाद
25. रेय, वी.जी. : गांधियन इथिक्स

●●●

अध्याय 5 : रवीन्द्रनाथ ठाकुर

1. टैगोर, र.ना. : द रेलिजन आफ मैन
2. टैगोर, र.ना. : परसनाल्टी
3. टैगोर, र.ना. : क्रिएटिव यूनिटी
4. टैगोर, र.ना. : गीताञ्जलि
5. टैगोर, र.ना. : साधना
6. नरवणे, वी.एस. : रवीन्द्रनाथ टैगोर
7. नरवणे, वी.एस. : माडर्न इंडियन थाट
8. नरवणे, वी.एस. : इन्ट्रोडक्शन टू राधाकृष्णन्स फिलासफी आफ उपनिषद्स
9. दास गुप्ता, एस.एन. : रविदीपिता

10. दत्ता, डी.एम. : चीफ करेन्ट्स आफ कन्टेम्पोररी फिलासफी
11. श्रीवास्तवा, आर.एस. : दि कंटेम्पोररी इंडियन फिलासफी
12. राजू, पी.टी. : आइडियलिस्टिक थॉट ऑफ इंडिया
13. – : दार्शनिक त्रैमासिक
14. पन्त : टैगोर सेन्टेनरी सेमिनार; यूनिवर्सिटी आफ इलाहाबाद
15. डॉ नगेन्द्र : टैगोर सेन्टेनरी सेमिनार; यूनिवर्सिटी आफ इलाहाबाद

●●●

अध्याय 6 : मुहम्मद इक़बाल

1. इक़बाल : सिक्स लेक्चर्स
2. इक़बाल : मैक्टागर्ट्स फिलासफी
3. निकल्सन, आई.एस.(अनु.) : सीक्रेट आफ द सेल्फ
4. वाहिद, एम.ए. : इक़बाल हिज आर्ट एण्ड थॉट
5. दर, बशीर अहमद : ए स्टडी इन इक़बाल फिलासफी
6. हकीम, खलीफ़ा अब्दुल : रूमी, नीत्शे एण्ड इक़बाल
7. शरीफ, एम.ए. : इक़बाल्स कन्सेप्शन आफ गॉड
8. अनवर, हसरत हसन : द मेटाफिजिक्स ऑफ इक़बाल
9. राजू, पी.टी. : आइडियलिस्टिक थाट ऑफ इंडिया
10. कृष्णस्वरूप : इक़बाल
11. ख्याल, ताजमुहम्मद : इक़बाल ऐज थिंकर
12. वाहिद, सय्यद अब्दुल : इक़बाल : हिज आर्ट एण्ड थाट
13. शेख, अकबर अली : इक़बाल : हिज पोएट्री एण्ड मेसेज

●●●

अध्याय 7 : सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

1. राधाकृष्णन्, (स.) : ईस्टर्न रिलिजन एण्ड वेस्टर्न थॉट
2. राधाकृष्णन्, (स.) : ऐन आइडियलिस्ट व्यू ऑफ लाइफ
3. राधाकृष्णन्, (स.) : द हिन्दू व्यू आफ लाइफ

4. राधाकृष्णन् आदि (स.) : कंटेम्पोरेरी इंडियन फिलासफी
5. राधाकृष्णन् आदि (स.) : द आइडियलिज्म आफ प्रो. राधाकृष्णन्
6. राधाकृष्णन् स. : कालकी
7. राधाकृष्णन्, स. : द रेन आफ रिलिजन इन कंटेम्पोररी फिलासफी
8. राधाकृष्णन्, स. : इंडियन फिलासफी, भाग 1, 2
9. शिल्प, आर्थरपाल : राधाकृष्णन् : लाइब्रेरी आफ लिविंग फिलासफर्स
10. शिल्प, आर्थरपाल : फ्रैगमेण्ट आफ ए कन्फेशन : लिविंग फिलासफर्स
11. — : द स्पिरिट्स मैन : कंटेम्पोररी इंडियन फिलासफी
12. रामतीर्थ, एस. : इन वुड्स ऑफ गाड रियलाइजेशन
13. फिलिप्स : क्रिटिक ऑफ नेचुरलिज्म : लाइफ आफ लिविंग फिलासफी
14. जेम्स, वि. : वेराइटीज ऑफ रिलिजस एक्सपीरिएन्स

●●●

अध्याय 8 : श्री अरविन्द

1. श्री अरविन्द : लाइफ डिवाइन (वाल्यूम एक और दो)
2. श्री अरविन्द : पूर्ण योग
3. श्री अरविन्द : दि सुप्रमेण्टल योग (वाल्यूम 17)
4. श्री अरविन्द : लेख; योग एण्ड इट्स एम्स (वाल्यूम 16)
5. — : स्टडीज इन अरविन्द
6. श्री अरविन्द : दि सिन्थेसिस आफ योग
7. श्री अरविन्द : योगी साधना
8. श्री अरविन्द : आइडियल आफ ह्यूमन यूनिटी
9. श्री अरविन्द : इवोल्यूशन बाई अरविन्द
10. हिरियन्ना, एम. : ऐन आइटलाइन आफ इण्डियन फिलासफी
11. बैडले, एफ.एच. : एपीयरेन्स एण्ड रियलटी (दि.स.)

12. राजू, पी.टी. : आइडियलिस्टिक थाट आफ इंडिया
13. चौधरी, हरिदास आदि (स.) : इन्टेग्रल फिलासफी आफ श्री अरविन्द
14. पियर्सन, एन. : श्री अरविन्द एण्ड द सोल क्वेस्ट आफ मैन
15. राधाकृष्णन्, सं. : दि वेदान्त

●●●

अध्याय 9 : कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य

1. भट्टाचार्य, के.सी. : सब्जेक्ट ऐज फ्रीडम
2. भट्टाचार्य, के.सी. : स्टडीज एन फिलासफी (भाग 1, 2)
3. भट्टाचार्य, के.सी. : सजेशन्स फार एन आइडियलिस्ट थियरी ऑफ नालेज; कंटेम्पोररी इंडियन फिलासफी
4. भट्टाचार्य, के.सी. : नेचर आफ सेल्फ
5. भट्टाचार्य, के.सी. : दि फाउन्डेशन आफ नालेज
6. भट्टाचार्य, के.सी. : दि ईगोसेन्ट्रिक पैराडाक्स
7. भट्टाचार्य, के.सी. : प्लेस ऑफ इनडिफनिट इन लाजिक
8. दत्ता, डी.एम. : चीफ करेन्ट्स ऑफ कंटेम्पोररी फिलासफी
9. कान्ट, इमैनुएल : क्रिटिक ऑफ प्योर रीज़न
10. श्रीवास्तवा, आर.एस. : कंटेम्पोररी इंडियन फिलासफी

●●●

अध्याय 10 : प्रो. रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे : यौक्तिक रहस्यवाद

1. रानडे : एसेज एण्ड रिफ्लेक्शन
2. रानडे : क्रिटिसिज़्म आफ इलियाटिक्स
3. रानडे : फिलासफिकल एण्ड अदर एसेज
4. रानडे : वेदान्त
5. रानडे : प्रास्पेक्ट्स
6. रानडे : कंस्ट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषदिक फिलासफी
7. रानडे : भगवत् गीता ऐज ए फिलासफी ऑफ गाड रियलाइजेशन
8. रानडे : पाथ वे टू गाड इन हिन्दी लिटरेचर

9. रानडे : पाथ वे टू गाड इन कन्नड़ लिटरेचर
10. रानडे : मिस्टीसिज्म इन महाराष्ट्र
11. मैक्समूलर : सिक्स सिस्टम्स
12. देशपाण्डेय, एम.एस. : डॉ. रानडेज लाइफ ऑफ लाइट
13. राधाकृष्णन् आदि (स.) : कंटेम्पोररी इंडियन फिलासफी
14. राधाकृष्णन् आदि (स.) : ब्रह्मसूत्र : शंकर भाष्य
15. पतंजलि : योगसूत्र
16. पतंजलि : बृहदारण्यक उपनिषद्
17. पतंजलि : श्वेता उपनिषद्

●●●

अध्याय 11 : मानवेंद्रनाथ राय

1. राय, एम.एन. : लेटर्स फ्राम जेल
2. राय, एम.एन. : मेटिरियलिज़्म
3. राय, एम.एन. : रीज़न, रोमांटीसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन
4. राय, एम.एन. : इण्डियाज़ मेसेज
5. राय, एम.एन. : हाइकेल के, दि वंडर ऑफ लाइफ
6. राय, एम.एन. : फ्रैगमेंट्स ऑफ द प्रिजनर्स डायरी (वोल्यूम)
7. राय, एम.एन. : न्यू ह्यूमनिज़्म
8. राय, एम.एन. : न्यू ओरिएन्टेशन
9. काण्ट, इमैनुएल : प्रोलेगोमेना टू एनी फ्यूचर मेटाफिजिक्स
10. कर्णिक, वी.बी. : एम.एन. रायज़ मेमोरीज़
11. चट्टोपाध्याय, डी.पी. : इंडियन मेटिरियलिज्म
12. ईश्वरकृष्ण : सांख्य कारिका

●●●

अध्याय 12 : देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय : मार्क्सवादी दृष्टिकोण

1. चट्टोपाध्याय, डी.पी. : इंडियन एथिज़्म
2. चट्टोपाध्याय, डी.पी. : लोकायत
3. मार्क्स एण्ड एंज़ेल्स : सेलेक्टेड वर्क्स

4. ईश्वरकृष्ण : सांख्यकारिका
5. शंकर : ब्रह्मसूत्र भाष्य
6. दामोदरन, के. : भारतीय चिन्तन परम्परा
7. गौतम : न्यायसूत्र
8. जैमिनी : मीमांसा सूत्र
9. माधवाचार्य : सर्वदर्शन संग्रह

●●●

अध्याय 13 : जे. कृष्णमूर्ति

1. कृष्णमूर्ति, जे. : फ्रीडम फ्राम द नोन
2. कृष्णमूर्ति, जे. : स्टार बुलेटिन (मई-जून 1933), (जुलाई-अगस्त 1933)
3. कृष्णमूर्ति, जे. : द्यू ब्रिग्स द ट्रुथ
4. कृष्णमूर्ति, जे. : टाक्स बाइ कृष्णमूर्ति इन इंडिया (56-57, 58, 59
5. कृष्णमूर्ति, जे. : होलनेस आफ लाइफ
6. राजगोपाल, डी. (स.) : जे. कृष्णमूर्तिज कमेन्ट्रीज आन लिविंग
7. कृष्णमूर्ति, जे. : टेम्पुल टाक्स (1927)
8. मेरी, ल्यूटेन्स : कृष्णमूर्ति : दि इयर्स आफ अवेकनिंग

●●●

अध्याय 14 : आकलन-एक विशिष्ट काल खण्ड का

1. – : श्री रामकृष्ण वचनामृत
2. – : ए बायोग्राफी, आदित्य आश्रम कलकत्ता
3. स्वामी रामानन्द : 'एवोल्यूशनरी आउटलुक ऑन लाइफ'
4. स्वामी रामानन्द : 'अध्यात्म विकास' पुणे (प्रथम संस्करण)

●●●

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

दर्शनशास्त्र सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	मूल्य
•	चार्वाक दर्शन	आचार्य आनन्द झा	150.00
•	भारतीय दर्शन	डॉ0 उमेश मिश्र	190.00
•	योग दर्शन	डॉ0 सम्पूर्णानन्द	120.00
•	प्रतीक शास्त्र	परिपूर्णानन्द वर्मा	150.00
•	पतन की परिभाषा	डॉ0 परिपूर्णानन्द वर्मा	85.00 (60%)
•	पश्चिमी दर्शन	डॉ0 दीवान चन्द्र	75.00
•	ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य	रमाकान्त त्रिपाठी	40.00
•	सौन्दर्य शास्त्र एक तत्त्वमीमांसीय अध्ययन	डॉ0 लक्ष्मी सक्सेना	100.00
•	ललित विस्तर	मू0 भगवान बुद्ध की वाणी अनु0 प्रो0 शान्ति भिक्षु शास्त्री	445.00
•	एच0एफ0 ब्रेडले का दर्शन	डॉ0 लक्ष्मी सक्सेना	27.00 (60%)
•	कांट का दर्शन	प्रो0 सभाजीत मिश्र	120.00
•	नीति विज्ञान के मूल सिद्धान्त	डॉ0 लक्ष्मी सक्सेना	96.00
•	भारतीय दर्शन	डॉ0 देवराज	120.00
•	समकालीन पाश्चात्य दर्शन	डॉ0 लक्ष्मी सक्सेना	130.00

सम्पर्क सूत्र

निदेशक

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन

6, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ - 226001

ISBN : 978-93-82175-67-4

मूल्य रु. 200=00